मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय

राजा भोज मार्ग, कोलार रोड, भोपाल

पाठ्य सामग्री

एम.ए. पूर्वार्द्ध प्रथम वर्ष

हिन्दी

हिन्दी साहित्य का इतिहास

प्रश्न पत्र – तृतीय

Self learning Material

आपकी शिक्षा आपके द्वार

एम.ए पूर्वार्द्ध
तृतीय प्रश्न-पत्र

हिंदी साहित्य का इतिहास

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय, भोपाल

राजा भोज मार्ग (कोलार रोड), भोपाल-462016

दूरभाष : +91-755-2424660, फैक्स : +91-755-2424640

वेबसाइट : www.bhojvirtualuniversity.com

सर्वाधिकार सुरक्षित मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय, भोपाल (म.प्र.) के आधीन

इस प्रकाशन का कोई भी अंश म.प्र. भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय की अनुमति के बिना किसी भी तरह से पुनः निर्माण, मिमियोग्राफ, फोटोकॉपी या अन्य विधियों द्वारा नहीं किया जा सकता इस पुस्तक में छपे विचार लेखकों के हैं न कि म.प्र. भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय के।

तृतीय प्रश्न-पत्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास

प्रस्तावना

किसी भी देश के जनमानस की मनोवृत्ति, दशा एवं संवेदना के विविध स्वरूपों का संचित रूप वहाँ के साहित्य में परिलक्षित होता है।सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि विभिन्न परिस्थितियों के कारण चित्तवृत्तियों में परिवर्तन होता है। फलतः साहित्यिक रूपों में भी बदलाव आ जाता है। इस बदली हुई विकास प्रक्रिया को साहित्य के इतिहास के माध्यम से ही देखा-परखा जा सकता है। हिन्दी क्षेत्र की परिस्थितियों से कमोबेश पूरा भारत प्रभावित होता रहा है. जिसकी गूँज हिन्दी साहित्य में प्रतिध्वनित है। आठवीं-नवीं शताब्दी से लेकर आज तक के विकास परिदृश्य के साथ साहित्यिक सृजनशीलता के विविध रूपों, प्रवृत्तियों और भाषा-शैलियों का ज्ञान हिन्दी साहित्य के इतिहास के माध्यम से ही किया जा सकता है। अतः इसका अध्ययन सर्वथा सार्थक एवं समीचीन है।

पाठ्य विषय

प्रथम इकाई

- इतिहास - दर्शन और साहित्येतिहास।
- हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरा, आधारभूत सामग्री और साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की समस्याएँ।
- हिन्दी साहित्य का इतिहास : काल-विभाजन, सीमा-निर्धारण और नामकरण।

द्वितीय इकाई

- हिन्दी साहित्य के आदिकाल का ऐतिहासिक परिदृश्य, साहित्यिक प्रवृत्तियाँ, काव्यधाराएँ, गद्य साहित्य प्रतिनिधि रचनाकार और उनकी रचनाएँ।
- पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल) की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, सांस्कृतिक-चेतना एवं भक्ति-आंदोलन, विभिन्न काव्यधाराएँ तथा उनका वैशिष्ट्य।
- प्रमुख निर्गुण संत कवि और उनका अवदान।
- भारत में सूफी मत का विकास तथा प्रमुख सूफी कवि और काव्यग्रंथ, सूफी काव्य में भारतीय संस्कृति एवं लोकजीवन के तत्व।
- राम और कृष्ण काव्य, रामकृष्ण काव्येतर काव्य, भक्तीतर काव्य, प्रमुख कवि और उनका रचनागत वैशिष्ट्य। भक्तिकालीन गद्य-साहित्य।

तृतीय इकाई

- उत्तरमध्यकाल (रीतिकाल) की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, काल-सीमा और नामकरण, दरबारी संस्कृति और लक्षण-ग्रंथों की परंपरा,रीतिकालीन साहित्य की विभिन्न धाराएँ (रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त) प्रवृत्तियाँ ओर विशेषताएँ, प्रतिनिधि रचनाकार और रचनाएँ। रीतिकालीन गद्य साहित्य।

चतुर्थ इकाई

- आधुनिककाल की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, सन् 1857 ई. की राजक्रांति और पुनर्जागरण।

पंचम इकाई

- भारतेंदु युग : प्रमुख साहित्यकार, रचनाएँ और साहित्यिक विशेषताएँ।
- द्विवेदी युग : प्रमुख साहित्यकार, रचनाएँ और साहित्यिक विशेषताएँ।
- हिन्दी स्वच्छंदतावादी चेतना का अग्रिम विकास-छायावादी काव्य : प्रमुख साहित्यकार, रचनाएँ और साहित्यिक विशेषताएँ
- उत्तरछायावादी काव्य की विविध प्रवृत्तियाँ : प्रगतिवादी, प्रयोगवाद, नयी कविता, नवगीत, समकालीन कविता। प्रमुख साहित्यकार, रचनाएँ और साहित्यिक विशेषताएँ।

पाठ्यक्रम परिचय : हिंदी साहित्य का इतिहास

एम.ए. (उत्तरार्द्ध) के पाठ्यक्रम में तृतीय प्रश्न–पत्र के अन्तर्गत **हिंदी साहित्य का इतिहास** शामिल है। इसमें हिंदी साहित्य के इतिहास विषय की प्राथमिक जानकारी जो साहित्य के छात्रों के लिए आधार भूत सामग्री है ,दी जा रही है। इसके अर्न्तगत इतिहास–दर्शन साहित्येतिहास,तथा साहित्य के सामान्य रूप से विभाजित चारों कालखंण्डों की जानकारी दी जा रही हैं

(क) हिंदी साहित्य का कालविभाजन,नामकरण ,पुनर्लेखन की समस्याएं,साहित्येतिहास दर्शन और परंपरा ।

(ख) हिंदी साहित्य के आदिकाल,मध्यकाल,रीतिकाल और आधुनिक काल का परिचय। इन कालों के अन्तर्गत विभिन्न आंन्दोलनों की जानकारी।

(ग) आधुनिक काल के भारतेदु युग,द्विवेदी युग,स्वच्छंदतावादी चेतना , उत्तरछायावाद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद ,नईकविता ,समकालीन कविता,प्रमुख साहित्यकारों का परिचय।

(घ) हिंदी गद्य की प्रमुख विधाएं –कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध,संस्मरण ,रेखाचित्र, जीवनी, आत्मकथा, रिपोतार्ज आदि का विकास तथा हिंदी आलोचना का उद्भव और विकास।

उपर्युक्त शीर्षक हिंदी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान बनाए हुए हैं। किसी भी देख के जनमानस की मनोवृति ,दशा,एवं संवेदना के विविधि स्वरूपों का संचित रूप वहां के साहित्य में ही परिलक्षित होता है।सामाजिक,राजनीतिक,सांस्कृतिक आदि विभिन्न परिस्थितियों के कारण चित्तवृतियों में परिवर्तन होता है। फलतः सहित्यि रूपों में भी बदलाव आता है।इस बदली हुई विकास प्रक्रिय का साहित्य के इतिहास के माध्यम से ही देखा–परखा जा सकता है। अतः इनका अध्ययन करना अनिवार्य है।

उपर्युक्त पाठ्यक्रम में **हिंदी साहित्य का इतिहास** जिनका विस्तृत विवरण खण्डवार यहाँ दिया जा रहा है :–

खण्ड–1 : हिन्दी साहित्य का इतिहास

इतिहास–दर्शन और साहित्येतिहास,लेखन की परंपरा,आधारभूत सामग्री पुनर्लेखन की समस्याएँ। काल–विभाजन,सीमा निर्धारण और नामकरण

खण्ड–2 : आदिकाल एवं पूर्व मध्यकाल

खण्ड–3 : उत्तर मध्यकाल अथवा रीतिकाल

खण्ड–4 : आधुनिकाल :सामाजिक परिस्थितियां,भारतेंदु युग,द्विवेदी युग, हिंदीस्वच्छंदतावाद, उत्तरछायावाद।

खण्ड–5 : हिंदी गद्य की प्रमुखविधाओं एवं हिंदी आलोचना का उद्भव एवं विकास

इस प्रकार इस पाठ्यक्रम में कुल 17 इकइयाँ शामिल हैं। इनका अध्ययन कर आप न केवल हिंदी साहित्य के इतिहास की इन सभी विधाओं की आधारभूत रचनागत विशिष्टताओं को समझने में समर्थ होंगे अपितु आप पाठ्यक्रम में शामिल साहित्य का रसास्वादन भी साहित्य के इतिहास के जानकार के नाते कर सकेंगे।

तृतीय प्रश्न–पत्र : हिंदी साहित्य का इतिहास

प्रथम खण्ड : हिन्दी साहित्य का इतिहास : दर्शन, लेखन परंपरा, कालविभाजन और नामकरण

इकाई –1	इतिहास–दर्शन और साहित्येतिहास	13
इकाई –2	हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरा, आधारभूत सामग्री और साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की समस्याएँ।	55
इकाई –3	हिन्दी साहित्य का इतिहासः काल–विभाजन, सीमा निर्धारण और नामकरण	104

हिन्दी साहित्य का इतिहास –उत्तर मध्यकाल अथवा रीतिकाल

इकाई–1	रीतिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, कालसीमा और नामकरण, रीतिकालीन परिस्थितियाँ एवं पृष्ठभूमि, कालसीमा, नामकरण दरबारी संस्कृति और लक्षणग्रंथों की परंपरा	144
इकाई–2	रीतिकालीन साहित्य की विभिन्न धाराएँ, (रीतिवद्ध, रीतिसिद्धऔर रीतिमुक्त), प्रवृतियाँ और विशेषताएँ, प्रतिनिधि रचनाकार और रचनाएँ, रीतिकालीन गद्य साहित्य,रीतिकाल की साहित्यिक धाराएँ सामान्य परिचय	182
इकाई –3	आधुनिक काल की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक–पृष्ठभूमि, अठारह सौ सन्तावन की क्रांति एवं पुनर्जागरण	224

प्रथम खण्ड :

आदिकाल की प्रमुख कवि और उनकी रचनाओं का सामान्य परिचय

खण्ड परिचय–

एम.ए. उत्तरार्द्ध (हिन्दी) का तृतीय प्रश्न–पत्र 'हिंदी साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत खण्ड, एक इतिहस–दर्शन, लेखन परंपरा, कालविभाजन और नामकरण पर केन्द्रित है।

हिन्दी साहित्य का इतिहास

परिचय– किसी भाषा को केवल संख्या बल के कारण ही गरिमा या प्रतिष्ठा प्राप्त नही होती। वो तो उसी बात से मिलती है कि उसके माध्यम से कौन –सा जीवन दर्शन या विचारधारा प्रकट एवं प्रस्तुत की जा रही है। उसके द्वारा मानव जाति के कल्याण व मंगल के लिए किन स्वप्नों ,आदर्शो और चिंतन का निरूपण या प्रबोधन किया जा रहा है। इस दृष्टि से देखें तो हिदी प्रकृति से ही शांति परस्पर सद्भाव और एकता की प्रतीक रही है। वह युद्धप्रिय राजाओं और बादशाहों की भाषा के रूप में भूषण की भूषण रही तो तुलसीदास जो सारे सारे विश्व को एक मानकर प्रणाम करते हुए कहते हैं–'सिया राम मय सब जग जानी। करहु प्रणाम जोरि जुग पाणी।" की भी भाषा रही।

वहीं हिंदी के सतं कबीर बजार में खड़े होकर सब की खैर माग रहे हैं–

"कबिरा खड़ा बाजार में सबकी मांगे खैर,
ना काहू से दोस्ती न काहू से बैर।।"

फिर अमीर खुसरो की भाषा देखें–

छाप तिलक सब छीना रे
तोसे नैना मिलाइ के
बलि–बलि जाऊं मैं तो पे रंगरेजवा
टपनी सी रंग दीना रे तोसे नैना मिलाइ के।

आधुनिक युग में देखें तो हिंदी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचंद की प्रमुख कृति गोदान का पात्र होरी केवल एक ग्रामीण भारतीय किसान न होकर संपूर्ण विश्व मान की चेतना का प्रतिनिधित्व करता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिंदी साहित्य के इतिहास के बारे में लिखते हैं कि हिंदी साहित्य को संपूर्ण भारतीय साहित्य से विच्छिन्न करके न देखा जाए। वे अपनी पुस्तक हिंदी साहित्य की भूमिका में बार–बार संस्कृत,पाली,प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य की चर्चा करते

हैं। साथ ही वैदिक,बौद्व और जैन साहित्य के साथ ही जन साहित्यों की भी चर्चा करते हैं। हिंदी साहित्य के इतिहास के अध्ययन की आवश्यकता को प्रतिपादित करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं कि--

"हिंदी साहित्य के जन्म के साथ ही भारत के उत्तर--पश्चिम सीमांत से विजयदृप्त इस्लाम का प्रवेश हुआ,जो देखते--देखते इस महादेश के इस कोने से उस कोने तक फैल गया। इस्लाम --जैसे सुसंगठित धार्मिक और सामाजिक मतवाद से इस देश का कभी पाला नहीं पड़ा था, इसीलिए नवागत समाज की राजनीतिक,धार्मिक और सामाजिक गतिविधि इस देश के इतिहास का सारा ध्यान खींच लेती है।यह बात स्वाभाविक तो है,पर उचित नहीं है। 'दुर्भाग्यवाश, हिंदी--साहित्य के अध्ययन और लोक--चक्षु--गोचर करने का भार जिन विद्वानों ने अपने ऊपर लिया है,वे भी हिंदी साहित्य क संबंध हिंदू जाति के साथ ही अधिक बतलाते हैं और इस प्रकार अनजान आदमी को दो ढंग से सोचने का मौका देते हैं::एक यह कि हिंदी साहित्य एक हतदर्प पराजित जाति की संपत्ति है,इसलिए उसका महत्व उस जाति के राजनीतिक उत्थान--पतन के साथ अंगांगि--भाव से संबद्ध है,और दूसरा यह कि ऐसा न भी हो,तो भी वह एक निरंतर पतनशील जाति की चिंताओं का मूर्त प्रतीक है,जो अपने आप में कोई विशेष महत्व नही रखता। " आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

यदि इन दोनों बातों का प्रतिवाद भी किया जाय अथवा ये बातें मान भी ली जाएँ तो भी यह कहने का संकोच करने का कोई कारण नहीं कि इस साहित्य का अध्ययन करना नितांत आवश्यक है,क्योंकि निरन्तर हजार बारह सौ वर्षों तक दस करोड़ कुचले हुए मनुष्यों की बात भी मानवता की प्रगति के अनुसंधान के लिए एतिहासिक अध्ययन का आधार तैयार करने में सहायक है।

किसी भी देश के जनमानस की मनोवृति,दशा एवं संवेदना के विविध स्वरूपों का संचित रूप वहाँ के साहित्य में परिलक्षित होता है। सामाजिक,राजनीतिक,सांस्कृति आदि विभिन्न परिस्थितियों के कारण चितवृतियों में परिवर्तन आता है। फलतः साहित्यिक रूपों में भी बदलाव आ जाता हैं इस बदली हुई विकास प्रक्रिया को साहित्य के इतिहास के माध्यम से ही देखा--परखा जा सकता है। हिन्दी क्षेत्र की परिस्थितियों से कमोवेश पूरा भारत प्रभावित होता रहा है, जिसकी गूँज हिन्दी साहित्य में प्रतिध्वनित है। आठवीं--नवीं शताब्दी से लेकर आज तक के विकास परदृश्य के साथ साहित्यिक सृजनशीलता के विविध रूपों,प्रवृतियों और भाषा का ज्ञान हिन्दी साहित्य के इतिहास के माध्यम से ही किया जा सकता है। अतः इसका अध्ययन सर्वथा सार्थक एवं समीचीन है।

इकाइयों में बोध प्रश्न दिए गए हैं। अध्ययन कर सही उत्तर देने का प्रयास कीजिए।

इकाइयों के अंत में संदर्भ--ग्रंथों की सूची भी प्रस्तुत की गई है, जिनका अध्ययन विषयों की विस्तृत विश्लेषण के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

प्रस्तुत खण्ड में तीन इकाइयाँ हैं :–

इकाई :एक– इस इकाई के अन्तर्गत इतिहास–दर्शन और साहित्येतिहास की जानकारी दी जावेगी। इसके माध्यम से हमारे प्राचीन वांग्डमय में इतिहास को कैसे परिभाषित किया गया है। साथ ही इतिहास–दर्शन का निहितार्थ क्या है। क्या हम हिन्दी में भी अंग्रेजी के विजन की सार्थकता को ही देखते हैं या हमारे साहित्य–दर्शन का कुछ और भी अर्थ है। साथ ही साहित्य का अपना क्या कोई इतिहास है?

इकाई : दो – इसके अन्तर्गत हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरा और पुनर्लेखन की आवश्यकता एवं समस्याओं पर विचार होगा।

इकाई: तीन – के अन्तर्गत हिन्दी साहित्य के इतिहास के बारे में जानकारी दी जावेगी। विभिन्न विद्वानों के काल विभाजन तथा उसके नामकरण,सीमा निर्धारण पर विचार किया जावेगा।

उक्त इकाईयों के माध्यम से जहां शिक्षक एवं शिक्षार्थियों में इतिहास–दर्शन, इतिहास तथा साहित्य के इतिहास की सही जानकारी प्राप्त होगी वहीं इनके प्रति खुले दिलो–दिमाग से विचार करने का अवसर मिलेगा।

उद्देश्य–

पुस्तक का अध्ययन करने के पश्चात शिक्षक तथा शिक्षार्थी यह कहने की स्थिति में हो कि–

- इतिहास और वर्तमान दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।
- साहित्य की अपनी मौलिक शोध दृष्टि है और उसी के आधार पर प्रामाणिक साहित्यिक इतिहास परम्परा हमारे सामने आती है।
- बदलते युगबोध के परिपेक्ष्य में निरन्तर शोध अनुसंधान की आवश्यकता है।
- वर्तमान चिंतन वैसा ही नही है जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के काल में था।
- हिन्दी का रूपविस्तार कहां तक है।
- सहित्य की सीमा क्या है।
- आज कालविभाजन की पुनः आवश्यकता है या नही।
- साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता है या नही।

प्रथम खण्ड :
हिन्दी साहित्य का इतिहास :
दर्शन, लेखन परंपरा, कालविभाजन और नामकरण
इकाई –1
इतिहास–दर्शन और साहित्येतिहास

इकाई संरचना

1.1 परिचय

1.2 उद्देश्य

1.3 इतिहास

1.3.1– इतिहास का शाब्दिक अर्थ

1.3.2– इतिहास के लाक्षणिक अर्थ

1.3.3– इतिहास कला है या विज्ञान

1.3.4– इतिहास में हिन्दी प्रदेश और साहित्य

(क) इतिहास और साहित्य

1.4 इतिहास–दर्शन

1.4.1 भारतीय परम्परा में ऐतिहासिक अतीत

1.4.2 इतिहासदर्शन का प्रादुर्भाव

1.5 इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण

1.5.1 इतिहास के प्रति आदर्श और अध्यात्मवादी दृष्टिकोण

1.5.2 भारतीय इतिहास में युग–विभाजन

1.6 इतिहास के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण

1.6.1 इतिहास की पाश्चत्य दृष्टि और यर्थाथवाद

1.6.2 पश्चिम की ऐतिहासिक व्याख्या

(1). यूरोप की परम्परा और यूनान

(2) होमर और उसके पूर्व की स्थिति–

(3) पश्चिम के इतिहास के प्रथम व्याख्याकार–

(4) इतिहासतत्व की शास्त्रीय दृष्टि : 18वीं–19वीं शताब्दी

1.6.3 पाश्चात्य इतिहास में युग–विभाजन

1.7 साहित्य का इतिहास–दर्शन

1.8 साहित्येतिहास

1.9 इकाई सारांश / याद रखने की बातें

1.10 अपनी प्रगति की जांच

1.11 चर्चा और स्पष्टीकरण के बिन्दु

1.12 आगे की पढाई

1.1 परिचय

आज से लगभग बारह सौ साल पूर्व से हिंदी साहित्य का अस्तित्व सामने आता है। इन बारह सौ साल में हिंदी समुदाय कहा से कहा तक पहुंचा और उसकी सांस्कृतिक, सामाजिक रचना में क्या अमूल–चूल परिवर्तन आया इस बात की जानकारी यदि पानी है तो हमें विगत सालों की साहित्यिक पडताल करनी होगी। एक समय था जब हिंदी भारत वर्ष के मात्र आधे हिस्से हजार वर्षो की आशा आकांक्षा की मूर्तिमान् प्रतीक होती थी। आज भी जब हम इसकी यात्रा को देखते है तो विभिन्न प्रकार की यातनाओं ,अपमानों ,सरकारी अश्वासनों के सहारे धीरे–धीरे चलती हुई विश्व के कई कोने को छू रही है। अगर हिंदी को जहानना है तो हमें हिंदुस्तान को समग्रता में समझना होगा। भारत की आदि संस्कृति, सभ्यता, अस्मिता, पहचान और अंततः समग्र 'भारतीयता' की अवधारणा को समझाना होगा। कोई अपने देश को कैसे समझे ? अगर आप और हम एक भारतीय है तो यह प्रक्रिया और कठिन हो जाती है। भारत भव्य ,पुरातनता,महान उपलब्धियों ओर असंख्य दुर्बलताओं की एक सभ्यता –सहसा ही मन को संभ्रम से भर देता है। कतिपय श्रेष्ठ भारतीय मनीषियों –विदेशी यात्रियों और विद्वानों ने भारतीय साहित्य का वर्तमान प्राण हिंदी साहित्य की गुत्थी सुलझाने का प्रयत्न किया है। यही साहित्यिक धरोहर हमारे स्त्रोत का आधार है। हिंदी एक ऐसी भारतीय भाषा है जिसके इतिहास में भारत का सामाजिक ,आर्थिक ,धार्मिक एवं सांस्कृतिक धरोहर छिपी हुई है।

प्रस्तुत इकाई में हिन्दी साहित्य के इतिहास–दर्शन और साहित्य की उपादेयता पर विचार किया जा रहा है। साहित्य क्या है ? साहितय की प्रथम प्रतिबद्धता सृष्टि की संवादशीलता कोचेताए रखने की है। वह अलाव की भांति फूस–फास इकठ्ठा कर जलाता ही रहता है। और वह आमंत्रण देता है। सम्पूर्ण मानवता को । वह अनबोल को भी बुलाता है आओ और अपने अन्दर की वेदना को,अपने अन्दके के कौतूहल को अभिव्यक्ति दो।

साहित्यकार आपसी उष्मा को बाटता है। वह मनुष्य से पहले प्रतिबद्ध है सृष्टि से। सृष्टि के क्षण को विश्रृखलित करने वाल क्रोचबध के उपर आक्रोश से पहली काव्यपंक्ति फूटती है। अभिशाप के रूप में, जाने कब तक तुम्हारे ऊपर इस अपराध की छाया रहेगी। साहित्य भाषा है। वह चुप नहीं रहता। प्रश्नों को अपने ढंग से छेड़ाता है। प्रतिकूल परिस्थिति में नए नए ढंग से । इसलिए साहित्य का अपना प्रयोजन होता है। दूसरा प्रश्न उठता है कि क्या इसका भी कोई इतिहास है ? इतिहास को देखने की हमारी दृष्टि क्या है ? क्या इतिहास वर्तमान को प्रभावित करता है या वर्तमान भी इतिहास को पुनःपरिभाषित करता है। आज हम जिस साहित्य को पढ़ रहे है वह क्या किसी वैज्ञानिक दृष्टि से गुजरकर हमारे सामने आया है। वस्तुतः हिंदी साहित्य का अपना इतिहास है। विद्वान आचार्यो द्वारा समय–समय पर इसमें अपनी स्थापनाएँ दी गईं हैं जिसे तथ्यों के स्तर पर प्राप्त निष्कर्षों को नही बदला जा सकता। यह न तो उचित है और न ही संभव। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के पूर्व भी अनेक विद्वानों ने इस पर कार्य किया है,किंतु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास ग्रंथ में पूर्व से किये कार्य के साथ अपने काल की परिस्थिति को समेटते हुए ही हमारे समाने एक विस्तृत इतिहास क्रमबद्ध किया है। किंतु आचार्य शुक्ल के इतिहास को लिखे लगभग नब्बे वर्ष से अधिक हो रहा है। फिर तब से आज तक काफी कुछ कार्य हुआ है। विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं,संस्थाओं तथा अन्य स्त्रोतों से विगत वर्षो में हिंदी साहित्य का काफी विकास हुआ है,जिसके परिणाम हमें प्रकाशित पत्र–पत्रिकाओं, शोध–आलेखों में प्राप्त होते हैं। खासतौर पर 1980 के बाद इस पर काफी कार्य हुआ है जिसे आधार बनाकर अध्ययन करना आज की आवश्यकता है। यहाँ इन्ही प्राप्त तथ्यों,तर्को के आधार पर अध्ययन किया जावेगा।

वेदकालीन भाषा का संशोधित स्वरूप संस्कृत में स्थिर हुआ,किंतु जन–साधारण की भाषा प्रगति–गामिनी होकर पाली में परिवर्तित हो गई। पाली प्राचीन प्राकृत का उन्नत रूप था। पाली की परिपक्वता पर लोक–भाषा (प्राकृत)फिर आगे चली और तीन धाराओं में प्रवाहित होने लगी–प्राचीन,मध्यकालीन और उत्तरकालीन। यह साहित्यिक प्राकृत चार मुख्य भागों में विभाजित हो गई–महाराष्ट्री,शौरसेनी,मागधी और अर्द्धमागधी। इन प्राकृतों में भी जब गंभीर साहित्य का सर्जन होना प्रारंभ हो गया,तथा व्याकरण की श्रृंखलाओं में ये कस दी गईं तब लोक–भाषा की विभिन्न धाराएं,जो स्वाभाविक रूप से अग्रसर होरही थी,'अपभ्रंश' कहलाने लगी। अपभ्रंश के तीन प्रमुख रूप थे–नागर,ब्राचड और उपनागर। अपभ्रंशो में नागर अपभ्रंश अधिक महत्वपूर्ण थी। सुप्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र ने नागर अपभ्रंश को अपनाकर इसकी मान्यता बढ़ाई । किंतु काव्य–क्षेत्र में इसके दो रूप निर्धारित हुए–डिंगल और पिंगल। राजस्थान और ब्रज की साहित्यिक भाषा का नामकरण क्रमशः डिंगल और पिंगल हुआ। यहीं से हिन्दी का आविर्भाव हुआ। इतिहासकारों ने इसका जन्म विक्रम –संवत् 700 माना है।ऐसे एक लम्बे अंतराल से गुजरती यह भाषा –साहित्य आज अपने बदले कलेवर में प्राचीन को सम्हाले और वर्तमान को सवारते हमारे सामन है। उसका समग्र

विश्लषण पूरी वैज्ञानिकता के साथ करना हमारा काम है। इतिहास को हम केवल जानकारी के लिए नही पढ़ते। इतिहास हमें गढ़ता है। वह हमे निराशा से उबारता है। आशा की नई उर्जा देता है। बोली से लेकर भाषा के परिष्कृति रूप तक साहित्य को पहुचने में हजारों साल लग गए। वही धरोहर हमारे सामने है जिसे हमें आज की परिस्थिति में विश्लेषित करना है। यही साहित्येइतिहास के अध्ययन की भूमिका है।

1.2 उद्देश्य

"साहित्य उस अपराजेय मनुष्य की तलाश है जो सुख में बिखरता नहीं,दुःख में टूटता नहीं,जो रोकर –हँसकर दुःख–सुख में मुक्त होता रहता है। "आचार्य विद्यानिवास मिश्र

आचार्य विद्यानिवास मिश्र एक प्रश्न उठाते हैं कि प्रायः आज सुनने को मिलता है कि साहित्य आम आदमी के लिए लिखा जाना चाहिए;पर आम आदमी है कौन–इसकी परिभाषा नहीं की जाती।

"इसकी परिभाषा की भी जाती है तो इस रूप में कुछ लोग हैं,जो आम हैं खास नहीं,मिहनत–मजूरी करते हैं,चाटते हैं और कुछ दूसरे हैं जो खास हैं,उन आम आदमियों से काम लेते हैं,उनके श्रम का शोषण करते हैं। पर अपरिभाषित रूप में तीसरे हुए हैं, जो यह दो टूक विभाजन करके आम आदमी की वकालत करने का दम भरते हैं,वे कुछ अधिक आम आदमी बनने की कोशिश करते हैं; क्योंकि उन्हें लगता है, वे आम आदमी को चला सकते हैं। अपने समय में अधसनकी कहे जाने वाले आनंद कुमार स्वामी ने आम आदमी (कामन मैन) की परिभाषा इस प्रकार की है कि हर मनुष्य के भीतर जो मानुष है ,मनुष्य भाव है,जो उस मनुष्य का सत्व है और जो सबमें है,वहीं आम आदमी है। चंडीदास और उनका पद गानेवाले बाउल 'मनेर मानुष' की बात करते हैं, वहीं 'कामन मैन' है , सही–सच्चा आम आदमी है । वही आम आदमी प्रसाद की 'मधुआ' कहानी के उस शराबी में है,जो एक बच्चे को देखता है,उसकी सारे संसार से विछिन्नता का नाटक यकायक थम्ह जाता है,उसके भीतर लाचारी होती है। इसे भूख लगी है,इसकी भूख मेरी भूख से बड़ी से बड़ी है। " पं. विद्यानिवास मिश्र

जहां संसार के पदार्थ परिवर्तनशील है,उनका सौदर्य परम सौंदर्य से घटकर है ,वहां भी संसार आसार नहीं है। ये भी किसी के प्रतिबिम्ब हैं। कभी कभी विचार करे तो साहित्य ही है जो हमें बताता है कि संसार क्या है? ये पदार्थ क्या हैं? किसके बनाये हुए हैं,आदि क्या है, अंत क्या है, इन प्रश्नों से तंग आकर ,विद्धानों ने अनुभूति को अभिव्यक्ति का रूप दिया। जो आगे रचना की उर्जा बनकर हमारे सामने आती हैं ।

इतिहास के क्रम में यह स्पष्ट नहीं है कि कब भारतीय चेतना ने ललित कला,कविता,दर्शन और विज्ञान की गहरी खोज आरंभ की। पोराणिक कथाओं एवं किंवदंतियों

,उपासना पद्धतियों और अनुष्ठानों के साथ ही कृषि कार्य तथा हस्तशिल्प संकेत करते हैं कि भारत में सभ्यतापरक उपलब्धियां 5000 वर्ष से भी पहले आरंभ हो गई थीं। सिंधु घाटी सभ्यता जो 2400–1888 ईसा पूर्व के दौरान फली फूली, भारतीय ऐतिहासिक अनुभूति के आरंभ को दर्शाती है। इस सभ्यता से संबद्ध मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, धौलावीर जैसे स्थलों पर किए गऐ पुरातत्वीय खनन यह पूर्णतया सिद्ध करते हैं कि भारत में इस काल में सुविकसित नागर जीवन ,सिचाई व्यवस्था तथा कृषि व्यवहार अस्तित्व में था।

पर्याप्त समय बाद (लगभग 1500 ई .पू.मुख्य रूप से आर्यो से) अवचेतन मन की रूपक कथाओं ,काव्यात्मक प्रतीकवाद,प्रकृति के मानवीकरण अथवा आत्माओं की उपासना के कारण दैवी आख्यान जोड़ दिए गए। किंतु इस सबमें मानव मन ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई यह भारतीय चेतना की ही विशेषता है जो भारतीय दर्शन ,अन्वेषणों कं द्रुत संबर्धन और गणित तथा खगोल विज्ञान के विकास के लिए उत्तरदायी है।

1500 ईसा पूर्व के लगभग संस्कृत में रचित वेदिक मंत्रों से भारतीय साहित्य के आरंभ का पता चलता है। आरंभिक साहित्यिक यपों में दक्षिण के तमिल पद्य,मुख्य भूमि की प्राकृत ओर पालि कथाएं तथा पर्वतीय क्षेत्रों और उच्च भूमियों की जनजातीय अनुश्रुतियां सम्मिलिति हैं । आरंभिक काल में अनुश्रुत जो श्शाश्वत है स्वयंभू तथा दैवी रूप से प्रकट है एवं एवं स्मृति 'अनुस्मरण' जो मानव कर्तृत्य का परिणाम है। समस्त वैदिक साहित्य श्रुति है। भगवद्गीता,उपनिषद तथा धर्मशास्त्र सहित रामायण और महाभारत ,स्मृति परंपरा के अनूठे उदाहरण हैं।

ग्रीक राजदूत मेगस्थनीज (तीसरी शती ई.पू.) ,चीनी तीर्थयात्री फाहियान (ईसा की चौथी सती),हेवेनसांग (ई. की सातवीं श्शती),तथा अलबेरूनी (ईसा की ग्यारहवी श्शती)द्धारा लिपिबद्ध किए गए आलेख इस समाज ,धर्म,दर्शन ,साहित्य ,राजनीति के जीवंत वर्णन करते हैं।

वस्तुत: साहित्य और उसका इतिहास आज भी इसी भूमिका में है जो कल था। इस इकाई को पढ़ने के बाद यह बतला सकेंगे कि–इतिहास–दर्शन का सही अर्थ क्या है। इतिहास का अध्ययन हम क्यों करते हैं तथा इसको देखने की दृष्टि कैसी होनी चाहिए। इतिहास और साहित्येतिहास में अन्तर क्या है। हिन्दी साहित्य का इतिहास कितना पुराना है। इसकी प्रमाणिकता कितनी है। साथ ही साहित्य का जानकार शिक्षार्थी तैयार करना। इस बात की पड़ताल भी कि क्या साहित्य का आधार लोकभाषाओं से भी तैयार होता है। क्या साहित्येतिहास से संस्कृति,प्राकृत,अपभ्रंश का क्या संबध है। इस प्रकार की सामग्री तैयार करना जिससे हिन्दी साहित्य का निरन्तर चिंतन होता रहे साथ ही साहित्य परम्परा के साथ समृद्ध होता चले।

भारत की सर्जनात्मक शक्ति कहां अवस्थित है? पश्चिमी लेखक भारतीय चेतना की तात्विक प्रवृति और दृढ़ नैसर्गिक धर्मिकवृति से गहरेतक प्रभावित है।

1.3 इतिहास– अर्थ और स्वरूप

इतिहासकार तथा अतीत में तथ्यों के मध्य के अन्तःसंबंध की सतत प्रक्रिया ही इतिहसा है। यह वर्तमान और अतीत के मध्य निरंतर चलने वाला संवाद है। वर्तमान परिवेश और चिंतन की समझ के आधार पर ही इतिहासकार अतीत को समझने की चेष्टा करता है। वर्तमान के वातायन से इतिहासकार की दृष्टि अतीत के आर–पार चली जाती है और तीसरा अतीत सिमटकर दृष्टि में समा जाता है।वर्तमान के आधार पर अतीत को और अतीत के आधार पर वर्तमान को समझने में सहायता मिलती है। अतीत से वर्तमान तक की इतिहास के विकास की परंपरा एक अविच्छिन्न कारण–कार्य–श्रृंखला में गुंथी रहती है। इ.एच.कर के अनुसार–

"अतीत की घटनाओं को क्रमबद्धता देकर कारण और प्रभाव के क्रम से रखना ही इतिहास है।"

संगति की खोज करता है। कोई भी तथ्य निरर्थक ,असंगत और अप्रसंगिक नहीं होता। तथ्यों की प्रासंगिकता की खोज इतिहास कार की प्रतिभा और विवके पर आश्रित है। अपने आदर्श रूप में इतिहास काल–क्रम में नियोजित तथ्यों और उनसे संबद्ध आशयों,वियारधाराओं और अनुभवों का सुसंबध्द्ध दस्तावेज है।

जो बात इतिहास पर लागू होती है वही साहित्य के विकास क संबंध में भी सही है। सामाजिक जीवन के विकास के अखण्ड सातत्य में रचित साहित्यिक कृतियां ही साहित्येतिहास के तथ्य हैं,जिनमें निहित प्रवृतियों,प्रेरणाओं आदि की मीमांसा करते हुए उनकी ऐतिहासिक प्रासंगिकता और मूल्यांवत्ता की खोज करना साहित्येतिहासकार का काम है।युगीन संदर्भ और साहित्यकार की मानसिकता के संपर्क से ही साहित्यिक कृतियों की सृष्टि होती है।जिस प्रकार युगीन संदर्भ ऐतिहासिक परंपरा के विकास–क्रम के परिणाम होते है,उसी प्रकार साहित्यकार की मानसिकता में युगीन यथार्थ की क्रिया भी रहती है और प्रतिक्रिया भी।इसीलिए साहित्यिक कृति युगीन यर्थाथ से संबद्ध रहती है और उसे अतिक्रांत भी करती है।इसी से परंपरा में प्रयोग होत चलते हैं।परंपरा प्रयोग के डग रखती हुई प्रत्येक युग जीवन की धरती से संपर्क साधती चलती है। साहित्यकार की मानसिकता ही वह व्यष्टि केन्द्र हैजिसमें समष्टि–परिधि में व्याप्त क्रियाएं–प्रतिक्रिआएं तीव्रतर एवं उदात्ततर स्तर पर प्रतिबिबिंत होती हैं।साहित्य और साहित्येदर्शन के उक्त आधारभूत तत्व को पहली बार पूरी गंभीरता के साथ,रेखांकित करते हुए आचार्य श्शुक्ल ने लिखा है–

"जबकि प्रत्येक देश का सहित्य वहां की जनता की चितवृति के परिवर्तन के साथ–साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।आदि से अंत तक इन्हीं

चितप्रवृतियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य–परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास 'कहलाता है।

(1.3.1)– इतिहास का शाब्दिक अर्थ

" इतिहास पद अंग्रेजी के हिस्टरी शब्द का अनुवाद नहीं,न इनका अर्थबोध की सीमाओं में परस्पर संबंध ही स्थापित हो पाता है। दोनों की अर्थतत्वमूलक आधार भूमि सिमैन्टिक्स भिन्न हैं । हिस्टरी शब्द का अर्थ है इन्कवायरी,वहां सम्भावना मूलक अर्थ की प्रधानता है। अतः हिस्ट्री सर्वत्र अपने अर्थबोध की सीमा में एक संभावना मूलक इन्क्वायरी मात्र है।विज्ञान से न जुड़पाने के कारण उसका अर्थविस्तार संभावना की सीमाओं में ही संकुचित होकर रहगया है, सिद्धांत की सीमाओं तक नहीं पहुच पाया।"– डॉ वासुदेव पोद्दार

इतिहास इस पद में तीन पदो के शक्तिग्रह उसके अर्थ को स्पष्ट करते हैं–'इति–ह–आस'। इति पद का अर्थ है–ऐसा वा इस प्रकार, ह–निश्चित,आस–था,अतः संपूर्ण पद का शाब्दिक दृष्टि से ('इतिहास') का अर्थ है : 'ऐसा निश्चित था' या 'ऐसा निश्चित हुआ था। 'इति' पद यहां अतीत में वर्तमान घटना के प्रकार अर्थ में है, जो उसकी कालगत संपूर्णता का सूचक है, 'ह' पद का प्रयाग विनिश्चय के अर्थ में है,'आस' क्रिया भूतकाल में घटना के समापन के अर्थ को स्पष्ट करती हैं। अतः इतिहास पद को 'हिस्ट्री' शब्द का अनुवाद स्वीकार करना समुचित नहीं, इसे यहां समानार्थ में प्रयुक्त करना भारतीय इतिहास दृष्टि के साथ न्याय न होगा –भारतीय इतिहास दर्शन वैज्ञानिक है।

दूसरे तरह से इस पर विचार करें तो श्शाब्दिक दृष्टि से 'इतिहास' का अर्थ है:'ऐसा ही था'या 'ऐसा ही हुआ'। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं–एक तो यहकि इतिहास का संबंध अतीत से है ,दूसरे यह कि उसके अंतर्गत केवल वास्तविक या यथार्थ घटनाओं का ही समावेश किया जाता है। उसमें उन सभी लिखित या मौखिक वृतों को सम्मिलित किया जाता है।, जिनका संबंध अतीत की यथार्थ परिस्थितियों व घटनाओं से है और साथ ही उसका संबंध केवल 'प्रसिद्ध घटनाओं ' से ही नहीं अपितु उन घटनाओं से भी है,जो प्रसिद्ध न होते हुए भी यथार्थ में घटित हुई हों। वस्तुतः आज 'इतिहास' श्शब्द को इतने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है कि उसके अंतर्गत ,अतीती की प्रत्य स्थिति,परिस्थिति,घटना,प्रक्रिया एवं प्रवृति की व्याख्या का समावेश हो जाता है। अतः संक्षेप में ,अतीत के किसी भी तथ्य ,तत्व एवं प्रवृति के वर्णन ,विवरण ,विवेचन व विश्लेषण को ,जो कि कालविशेष या कालक्रम की दृष्टि से किया गया हो,इतिहास कहा जा सकता है।

प्राचीनकाल से ही इतिहास को अध्ययन के एक स्वतंत्र विषय के रूप में मान्यता प्राप्त है,किंतु अध्येताओं के दृष्टिकोण एवं पद्धति के अनुसार उसका स्वरूप बदलता रहता है। इसलिए कभी उसे कला के क्षेत्र में कभी विज्ञान के क्षेत्र में उसे स्थान दिया गया। वस्तुतः इतिहास कला है या विज्ञान यह आज भी विवाद का विषय बना हुआ है। इस विवाद के मूल

में यही धारणा है कि वैसा कोई भी विषय अपने आप में कला या विज्ञान की कोटि में आ सकता है। जबकि वस्तुस्थिति यह है कि कला या विज्ञान का निर्णय विषयवस्तु के आधार पर नहीं,अपितु उसकी अध्ययन पद्यति पर निर्भर है। इतिहास हमें अतीत का इतिवृत प्रदान करता है। किंतु यह हम पर निर्भर है कि हम उस इति वृत का प्रयोग किस प्रकार करते हैं।यदि अतीत के इतिवृत को हम आत्मपरक दृष्किोण,वैयक्तिक अनुभूति एवं ललित श्शैली में प्रस्तुत करते हैं तो वह 'कला' है,जबकि वस्तुपरक,,दृष्टिकोण,तर्कपूर्ण श्शैली एवं गवेषणात्मक पद्धति से प्रस्तुत कियागया अतीत काविवरण 'विज्ञान' की विशेषताओं से युक्त माना जा सकता है । इतिहास एक ऐसा क्षेत्र है जिससे कवि,साहित्यकार ,उपदेशक, श्शोधकर्ता आदि विभिन्न वर्गो के लोग प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं तथा उनकी दृष्टि व पद्धति के अनुसार उसका स्वरूप भी बदलता रहा है,ऐसी स्थिति में इतिहास के भी विभिन्न रूप उपलब्ध होंतो कोई आश्चर्य नही किया जाना चाहिए।

फिर भी आधुनिक युग में इतिहास को कला की अपेक्षा विज्ञान के ही अधिक निकट माना जाता है। अतः प्रत्येक इतिहासकार से दृष्टिकोण की तटस्थता या वस्तुपरकता ,तथ्यों की यर्थाथता और निष्कर्षो की प्रामाणिकता की अपेक्षा की जाती है, यह दूसरी बाता है कि विषय वस्तु की अविद्यमानता व अप्रत्यक्षता के कारण 'भौतिक विज्ञान' की –सी वैज्ञानिकता का आविर्भाव उसमें श्शायद संभव हो। वास्तव में विषय भेद से स्वयं विज्ञान भी अनेक श्रेणियों एवं कोटियों में विद्यमान है

(1.3.2)– इतिहास के लाक्षणिक अर्थ

(क)– इससे इतिहास का संबंध अतीत से होना होता है तो दूसरा यह कि उसके अंतर्गत केवल वास्तविक या यर्थाथ घटनाओं का ही समावेश होता है। उसमें उन सभी लिखित और मौखिक वृत्तों को सम्मिलित किया जाता है,जिनका संबंध अतीत की यथार्थ परिस्थितियों व घटनाओं से है। वस्तुः आज 'इतिहास' शब्द को इतने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है कि उसके अंतर्गत ,अतीत की प्रत्येक स्थिति ,परिस्थिति,घटना,प्रक्रिया एवं प्रवृति की व्याख्या का समावेश हो जाता है।

"अतीत के किसी भी तथ्य ,तत्व एवं प्रवृति के वर्णन,विवरण,विवेचन व विश्लेषण को ,जो कि कालविशेष या कालंक्रम की दृष्टि से किया गया हो,इतिहास कहा जा सकता है।" डॉ नगेन्द्र

लाक्षणिक अर्थ में इतिहास का प्रयोग अतीत की घटनाओं के विवरण के स्थान पर स्वयं अतीत कालीन घटनाओं और व्यक्तियों के लिए भी होता है। जैसे सम्राट आशोक भारत के इतिहास निर्माता था आदि। आधुनिक ऐतिहासिक शैली में इतिहास देखने की अपनी दृष्टि है। इसकी अपनी समय–सीमा की मर्यादा है। किन्तु भाषा के रूप परिर्वतन से इतिहास नही बदलता और न ही उसका काल छोटा होता। रामायण को इतिहास ग्रंथ मानते हुए इतिहास

की परिभाषा इस प्रकार दी गई है–

"धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्
पूर्ववृतं कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते।" विष्णुधर्म (3.15.1)

इतिहास को महत्व देने का अर्थ क्या है? वस्तुतः कारण के रूप में पिछली घटना को और कार्य के रूप में आगे की घटना को लेना। साहित्य के इतिहास पर एक मत देखें जो कुछ इस प्रकार व्यक्त किया गया हैं–

"पर क्या सब कुछ नियत पूर्ववर्ती कारण से ही होता है? क्या मनुष्य में कुछ अप्रत्याशित घटाने वाली शक्ति नहीं है ? क्या इतिहास की तरह सीधी रेखा में कोई भी सर्जनात्मक व्यापार घटित होता है ? इतिहास को छोड़ें,इतिहास के अधिदेवता काल क्या प्रत्यावर्ती और दोलायमान नहीं होते ? ऋतुचक्र के परिवर्तनों का इतिहास देखें तो लगेगा कि ऋतुएँ खिसकती–खिसकती फिर अपने मूल बिंदु पर दीर्घकाल में लौटती रहती हैं इसलिए अकेले इतिहास ही कारक नहीं होता,कुछ अप्रत्यासित भी,कुछ अकल्पनीय घटक भी कारण बनता रहता है।"हमारे साहित्य के साथ भी कुछ ऐसा ही है।" पं.विद्यानिवास मिश्र

अगर हम मिश्र जी की बात को कुछ इस तरह समझने का प्रयत्न करें कि क्या इतिहास अपने को दुहराता है ?तो पाते हैं कि यह अर्ध्यसत्य है; क्योंकि पूरा दुहराना असंभव है,हर दुहराना कुछ न कुछ नया होता ही है। हॉ,सादृश्य बराबर सक्रिय रहता है। इस रूप में इतिहास मनुष्य को समझने का अनेक मानदंडों में एक आवश्यक मानदंड है। परिमापन का प्रारंभ इसी से होता है तो आगे चलकर सब कुछ साफ–साफ और अधिक बारीकी से देख जा सकता हैं। इसीलिये इतिहास की इस सीमित सार्थकता को स्वीकार करते हुए प्रत्येक विधा सक्रिय होती है। साहित्य भी इतिहास की इस शक्ति को पहचानता है तभी वह इतिहास के परे उडान भरने की सोचता है। साहित्य को समझने में इसीलिए कुछ हद तक इतिहास की पृष्ठभूमि का ज्ञान आवश्यक होता है। पर यदि अध्ययन कोरा ऐतिहासिक होकर रह जाता है तो साहित्य के भीतर बहनेवाली निरंतरता की धारा को नहीं देख पाता । साहित्य इतिहास की अनदेखी नहीं करता,करे तो कालव्यत्यय दोष आता है। साथ ही साहित्य मिथक तो नया रचता है,पुराने को संवारता है;पर वह इतिहास के तथ्य को विकृत करने का अधिकार नहीं पाता,सिर्फ इसलिए कि वह साहित्य होने के नाते स्वयंभू है। ऐतिहासिक कथाकृति या नाटक में इतिहास के झरोखे से मानव स्वभाव और उस स्वभाव की स्वाभविक परिणति की संवेदना पहचानी जाती है। वहॉ इतिहास दृश्य नहीं है,वह दृश्य का चौखटा है। हम पाते हैं कि स्कंदगुप्त के काल के भीतर गृहकलह और देशरक्षा की चुनौतियों में मनुष्य कितना ऊँचे उठता है,ऊँचे उठकर कितना अकेला पड़ता है,यह पीड़ा ही मुख्य रूप से अनुभव करते हैं। स्कंदगुप्त की पराक्रम गाथा का क्रमबद्ध इतिहास हम उतना ही वहाँ पाना चाहते हैं। इतिहास को भी ऐसी गाथाओं की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए,यह बात अब

अच्छे इतिहास वेत्ताओं के ध्यान में आने लगी है। साहित्य चूँकि संयोजन का व्यापार है,लिपिबद्व सामग्री में जहाँ–जहाँ जगह चाही है वहाँ अनुश्रुतियों से उसे भरने का काम करता है। इस प्रकार हम एक निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि साहित्य–इतिहास की अपनी मर्यादा है,उसे तथ्य की प्रामाणिकता को भी बरकरार रखना है और पाठक के अंदर रस भी प्रवाहित करना है।

(ख)– इतिहास का व्यापक अर्थ – मानव चेतना के विकास को संजोए इतिहास,विचारों और आस्थाओं को एक पीढ़ी से दूसरी को सोंपने का एक सरल मार्ग है। स्मृति के संरक्षण के आसाधारण कार्य के रूप में स्मृति और श्रुति की परंपरा के माध्यम से हिंदू ,रामायण ,महाभारत, भगवद्गीता तथा अन्य पवित्र ग्रंथें को वर्तमान समय तक पहुंचा पाएंहै। भारतीयों की चेतना का यह ऐतिहासिक पक्ष रवींन्द्रनाथ टैगोर ने अपने लेख 'भारतीय इतिहास की अंतर्दृष्टि ' में यू उजागर किया था: –

"मैं भारत से प्रेम करता हूँ ,इसलिए नहीं कि मुझे इसके स्वरूप में अंधश्रद्धा है,इसलिए भी नहीं कि मैंने इसकी रजकण में जन्म लेने का अवसर पाया,बल्कि इसलिए कि इसने विध्वंसकारी युगों से उस जीवंत वाणी को सुरक्षित रखा जो इसके महान्पुत्रों की ज्येतिर्मय चेतना से निसृत हुई थी।"

रामायण और महाभारत अनादिकाल से सामूहिक भारतीय चेतना का हिस्सा रहे है। उसी प्रकार लोकसाहित्य ,लो कथाएं भरतीय चेतना को समझने में दूर तक हमारी सहायता करती हैं। गित शताबदी के उत्तरार्द्ध में दूरदर्शन पर रामायण और महाभारत के श्रृखंलाबद्ध प्रदर्शन ने इन्हरें इतना लोकप्रिय सिद्ध करदिया की तब इनके प्रसारण के समय श्शहरों में यातायात पर विाम लग जाता था। ग्रामीण खेत्रों में कामकाजी लोगऔर बच्चे सामुदायिक केंन्द या घर पर टेलीविजन सेट के सामने सिरि मंत्रमुग्ध –से बैठ जाते। वे दृश्य केअनुसार रोतेअथवा हंसते।

विगत के वर्षो में रिचर्ड एटनबरो की 'गांधी' शीर्षकवाली फिल्म ने भारत के स्वाधीनता संघर्ष और उसके मूल्यों को समझने में महतवपूर्ण योगदान दिया। न्यूयांर्क पोस्ट इसे ऐसी फिल्म बताता है जो मस्तिष्क को चोंका देती है और आत्मा को तृप्त करती है। गांधी का मन के प्रभावों और प्रेम की श्शक्ति में अटल विश्वास था। कठोरतम तंतु प्रेमाग्नि में पिघल जाने चाहिए अगर नहीं पिघलते तो सिर्फ इसलिए कि अग्नि के प्र्याप्त ताप नही है। विगत दो शताब्दियों में जूम्स मिल से लेकर डोमिनिक लेपियर और मार्क टयूली तक पश्चिमी विद्धानों द्धारा भारत पर लिखे गए साहित्य का प्रभावोत्पादक संग्रह एक आश्चर्यजनक वर्णक्रम है। यह राजनीति ,इतिहास ,साहित्य ,धर्म ,राजनीति और भारत के जन को समझने की अर्न्तदृष्टि प्रदान करता है।

(1.3.3)– इतिहास कला है या विज्ञान

प्राचीनकाल से ही इतिहास को अध्ययन के एक स्वतंत्र विषय के रूप में मान्यता प्राप्त है,,किंतु अध्येताओं के दृष्टिकोण एवं पद्धति के अनुसार उसका स्वरूप बदलता रहा है,इसलिए कभी उसे कला के क्षेत्र में और कभी विज्ञान के क्षेत्र में स्थान दिया जाता रहा। वस्तुतः इतिहास कला है या विज्ञान ,यह प्रश्न आज भी विवाद का विषय है। इस विवाद के मूल में यह भ्रांति विद्यमान है कि कोई भी वस्तु या विषय अपने आप में कला या विज्ञान की कोटि में आ सकता है,जबकि वास्तविकता यह है कि कला या विज्ञान का निर्णय विषयवस्तु के आधार पर नहीं ,अपितु उसकी अध्ययन द्धति या रचनापद्धति पर निर्भर है। इतिहास हमें अतीत का इतिवृत प्रदान करता है,किंतु यह हम पर निर्भर है कि हम उस इतिवृत का उपयोग किस प्रकार करते हैं। यदि अतीत के इतिवृत को हम आत्मपरक दृष्किोण, वैयक्तिक अनुभूति एवं ललित शैली में प्रस्तुत करते हैं तो वह 'कला' की संज्ञा से विभूषित हो सकता है,जबकि वस्तुपरक दृष्किोण, तर्कपूर्ण शैली एवं गवेषणात्मक पद्धति से प्रस्तुत किया गया अतीत का विवरण 'विज्ञान' की विशेषताओं से युक्त माना जा सकता है। वस्तुतः इतिहास से कवि,साित्यिकार,उपदेशक,शोधकर्ता आदि विभिन्न वर्गो के लोग प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं तथा उनकी दृष्टि व पद्धति के अनुसार उसका स्वरूप भी बदलता रहा है,ऐसी स्थिति में इतिहास के भी विभिन्न रूप उपलब्ध हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

फिर भी,आधुनिक युग में इतिहास को कला की अपेक्षा विज्ञान के ही अधिक निकट माना जाता है। अतः प्रत्येक इतिहासकार से दृष्टिकोण की तटस्थता या वस्तुपरकता,तथ्यों की यथार्थता और निष्कर्षो की प्रामाणिकता की अपेक्षा की जाती है। यह दूसरी बात है कि विषयवस्तु की अविद्यमानता व अप्रत्यक्षता के कारण 'भौतिक विज्ञान' की–सी वैज्ञानिकता का आविर्भाव उसमें शायद ही संभव हों। वास्तव में,विषय–भेद से स्वयं विज्ञान भी अनेक श्रेणियों एवं कोटियों में विभक्त है। वह चाहे मनोविज्ञान हो या भौतिकविज्ञान या रसायनशास्त्र और जीवविज्ञान। अतः इतिहास को भी हम उसी श्रेणी के विज्ञान में स्थान दे सकते हैं,जिस श्रेणी में भाषाविज्ञान व समाज विज्ञान को देते हैं।

(1.3.4)– इतिहास में हिन्दी प्रदेश और साहित्य

डॉ रामविलास शर्मा लिखते हैं –'' बहुत से अंग्रेजी पत्रकार काउबेल्ट,हिन्दी बेल्ट की चर्चा बराबर करतेहैं। इस तरह वे हिंदी प्रदेश का अतिस्त्व स्वीकार करते हैं। उसे घृणा के साथ उन्होंने उसे काउबेल्ट नाम दिया। पर इस बेल्ट का अस्तित्व है इसे अस्वीकार नही किया जा सकता।इस बेल्ट को पहले मध्यदेश फिर हिन्दुस्तन कहा जाता था। यह बात साहित्य के श्शोधकर्ता, भाषाविज्ञान के आचार्य और इनसे अलग अन्य विषयों के विद्वान भी अच्छी तरह जानते हैं।

"गंगा के ऊपरी मैदानों का पुराना नाम आगरा और अवध का संयुक्त प्रांत था। नाम के तौर पर यह बहुत भद्दा नहीं था। इससे इस क्षेत्र की कुछ विशेष मौलिक भिन्नताओं का पता चलता था। साथ ही उसमें काफी बुनियादी एकता है जिससे कि उस सबको एक ही क्षेत्र में शामिल किया जा सके। चाहे हम उसकी पूर्वी सीमाओं,बिहार के मैदान तक उसका विस्तार कर दें और कम से कम पटना तथा सोन और गंडक के संगम को उसमें शामिल करलें और उत्तर पश्चिमी सीमाओं पर यमुना और सतलुज के बीच घाघर का मैदान उसमें आ जाये।"–एस.एम.अली आचार्य भूगोल,सागर विश्वविद्याल म.प्र.

इस तरह यमुना और सतलुज से लेकर सोन और गंडक तक का पूरा क्षेत्र हिंदीभाषी क्षेत्र है। और यह इकाई पौराणिककाल में स्वीकार की जाती थी।

"यह महाभारत और रामायाण महाकाव्यों तथा पुराणों का मध्यदेश है । महाभारत युद्ध उसके उत्तर पश्चिमी सीमांत भाग मेंहुआथा कृष्ण का प्रारंभिक कार्यक्षेत्र उसका पश्चिमी भाग था। अयोध्या राम कीनिवास भूमि थी और वाराणसी ब्रह्मणत्व काकेन्द्र था। बुद्ध और उनक मत का जन्म यहाँ हुआ था। यह अशोक के साम्राज्य का उपयुक्त केन्द्र था। पटना की धरती की निचली सतहों पर उनके पाटलिपुत्र के चिन्ह अब भी बचे हुए है। यह मुस्लिम इतिहासकारों का हिन्दुस्थान था। दिल्ली, आगरा ,इलाहाबाद ,जौनपुर और लखनऊ मध्यकालीन राजधानियाँ थीं। यह सदा भारत का हृदया रहा है, भारत की विशेषताएँ आर सुनिश्चित भारतीयता लिये हुए।"'–एस.एम.अली आचार्य भूगोल,सागर विश्वविद्याल म.प्र.

इतिहास और साहित्य परस्पर पूरक हैं किंतु दोनों की अपनी स्वयतता भी है। इतिहास से पहले के लोग कितना भी राजनीतिक ,अर्थ–व्यवस्था ,समाज–व्यवस्था की चर्चा करने का लक्ष्य बोध रखते हों,आज लोग उस पूरी मानवीय अंतःप्रक्रिया को इतिहास में समेटते हैं ,जो किसी –न–किसी रूप में आख्यान है;लिखित या वाचिक किसी भी रूप में भाषा में और स्थापत्य ,अनुष्ठान–अंकर या संगीत की बंदिश के रूप में उसके बाहर।

(क) इतिहास और साहित्य

इतिहास और दृष्टि एक लम्बे समय तक विश्व में चर्चा के विषय रहे हैं। एक स्थिति ऐसी भी आई कि कई–कई देशों के अस्तित्व भी इतिहास पर निर्भर हो गये। हाल ही के कुछ वर्षो में पाकिस्तान जैसे देश भी अपने देश का पांच सौ वर्ष पुराना इतिहास लिखाया। विश्व के कई ऐस देश है जहां पुरतात्विक प्रमाण जुटाने के प्रयास किये गये। भारत में भी यह प्रयत्न हुआ। किंतु यहां ऋगवेद की परंपरा इतनी प्राचीन रही कि उसका साहित्य विश्व के सामने अकाट्य प्रमाण के रूप में सामने आया। इतिहास को महत्व देने के पीछे का तर्क यह है कि कारण के रूप में पिछली घटना को और कार्य के रूप में आगे की घटना को लेना। इस प्राकर इतिहास मनुष्य और उसके अस्तित्व को समझने का एक मापदण्ड बन गया। पर यदि अध्ययन कोरा ऐतिहासिक होकर रह जाता है तोसाहित्य के भीतर बहनेबाली निरतंरता

की धारा को नहीं देखा जा सकता। जिसमें इतिहास के क्रम को लांघकर कहां की कथा ,कहा। का बिंब ,कहां की बात और कहां का शब्द लहर पर लहर की भांति ढकेल कर आगे आ जाते हैं। साहित्य में इतिहास भी मिथक में रूपांतरित होकर आता है या कहें मिथक के मुकुर में परादृश्य होकर आता है।बहुत सी साहित्यिक कृतियों में इतिहास के ऐसे लेखे–जोखों का उपयोग होता है,जिन्हें निजंधरी गाथा या कथा कहा जा सकता है। जिनका कोई लिपिबद्ध प्रमाण नहीं होता। इसलिए साहित्य में स्वप्न और स्वप्न जैसे अनुभव की चर्चा भी उतनी ही सार्थक है,जितना इंद्रियगोचर पदार्थो का प्रत्यक्ष अनुभव सार्थक है। आखिर स्वप्न अभ्यांतर यथार्थ का ही तो प्रकाशन है,भले ही अधूरा लगे। कल्पना और स्वप्न के बिना स्थूल यथार्थ केवल हड्डियों का ढ़ाचा है। जाग्रत अवस्था जिसे कहा जाता है ,वह तो मात्र इच्छाओं का वितान है। वहां आदमी भीतर से कुछ समझ पाता है,वह बस भोगता रहता है। भोग के लिए तरसता रहता है। साहित्य में दोनों व्यापारों की भूमिका है। पूरे अनुभव को साहित्य–रचना में डुबोता है तब साहित्य क्रियाशक्ति बनता है। साहित्य में तब कुछ घटित करने की क्षमता आती है।साहित्य भी इतिहास का भाग बनता है। घटनाओं के साथ–साथ साहित्य की घटना गुंफित न हो तो इतिहास लूलू–लंगड़े की तरह दिखता है। बाण और भवभूति के बिना सातवीं–आठवी श्शती का इतिहास कुछ अर्थ ही नहीं रखता।कबीर,जायसी ,मीरा ,सूर ,तुलसी के बिना पूर्व मध्यकाल का इतिहास क्या रह जायेगा। स्वाधीनता –प्राप्ति के पहले का इतिहास प्रसाद,निराला, नवीन और प्रेमचंद,जैनेन्द्र के बिना समझा ही नहीं जा सकता। यह सही है कि साहित्य की क्रियाशीलता कभी –कभी अपने जमाने में सक्रिय लक्षित नहीं होती और वह आगे आने वाले जमाने में छा जाती है। पर उसकी सक्रियता के कारण उसका समकालीन राजनीतिक,आर्थिक,सामाजिक परिवेश कुछ अधिक साकार दिखाई पड़ता है।

1.4 इतिहास–दर्शन

"कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः
सहस्त्रक्षो अजरो भूरिरेताः।
तमा रोहन्ति कवयो विपश्चित'
स्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा।।

–अथर्ववेद 19–53–1

कोऽन्यः कालमतिक्रान्तं नेतुं प्रत्यच्तां क्षमः।
कविप्रजापतीस्त्यक्त्वा रम्यनिर्माणशालिनः।।

–महाकवि कल्हण

प्रत्येक देश की अपनी धार्मिक और दार्शनिक परंपराएं होती है। जिनसे उस देश के

अधिकांश लोग अपना जीवन –दर्शन बनाते हैं। धर्म और दर्शन मानव मस्तिष्क की विशेषताएं हैं। दर्शन ने उसे सूक्ष्म चिंतन के क्षेत्र में प्रोत्साहित किया है उसके आचार–विचार को प्रभावित किया है। साहित्य भी मनन एवं चिंतन में दर्शन से प्रभावित होता है। ग्रीक दार्शनिक प्लेटो का काव्य पर चिंतन उसके दर्शन का हीं प्रतिफलन है।रोमांटिक युग में भी रूसों ,कांट,मिल प्रभृति दार्शनिको का प्रभाव रहा।इसी प्रकार भारतीया साहित्य–शास्त्र भी भारतीय दर्शन से बहुत अधिक अनुशाशित है। भरत के रस–सूत्र की व्याख्या में विभिन्न आचार्य द्वारा प्रस्तुत तर्क और स्थापनाएं उनके दार्शनिक विचारों से ही उद्भूत हैं।दर्शन की भांति धर्म ने भी साहित्य को प्रभावित किया है।साहित्यिक कृतियों मे भक्ति,धर्म–प्रचार एवं धार्मिक मतों की स्थापना का प्रयास तो कृतिकार के उद्देश्य का एक अंग रहा है। हिंदी ही नहीं विश्व की तमाम कृतियों की रचना में धर्म और दर्शन दोनों ने प्रभावित किया है। मिल्टन के महाकाव्य 'पैराडाइज लास्ट' में एडम और श्शैटन के संबंध धर्म और दर्शन दोनों से ओतप्रोत हैं।भारत में धर्म और दर्शन प्रायः पश्चिम की अपेक्षा अधिक सम्पृक्त रहे हैं। पश्चिम ने दर्शन बौद्धिक व्यायाम एवं तर्कजाल का प्रयास है और धर्म विशेषतः अनेक शाखा प्रशाखाओं में विस्तृत ईसाई धर्म–विश्वास पर आधारित है। किंतु भारत में धर्म और दर्शन एक दूसरे को अनुप्राणित करते रहे हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में–

" भारतवर्ष के दार्शनिक साहित्य के आलोचकों को आश्चर्य हुआ कि इस देश में उस चीज का कभी विकास ही नहीं हो पाया जिसे 'फिलासफी' कहते हैं। भारतवर्ष के दर्शन–धर्म पर आधारित बनाये गये हैं" –हजारी प्रसाद द्विवेदी

1.4.1 भारतीय परम्परा में ऐतिहासिक अतीत–

"भारतीय परम्परा ने ऐतिहासिक अतीत की पहचान अनेक प्रकार से प्राप्त की है। उसके प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अनेक मनोवैज्ञानिक प्रकार हैं,उसके भौतिक और आध्यात्मिक अनेक आधार हैं,जो धर्म,दर्शन और विज्ञान के तत्वचिन्तन पर प्रतिष्ठित हैं। ईजिप्ट ने अतीत की स्मृति प्राप्त की ,पश्चिम की परम्परा का अतीत चिन्तन वा इतिहास–चिन्तन कब्रों से जुड़ा है ममी,पिरामिड,स्टैच्यू,म्यूजियम इसी मृतक प्रतीकवाद के परिपोषक हैं। मृतकों के प्रतीकवाद के पास भविष्य–दर्शन की कोई विधा व रूपरेखा नहीं ,जहां तक कब्रों का अस्तित्व प्राप्त होता है–वहीं तक उनके मानवीय इतिहास का अस्तित्व है, वहीं तक है उनके ऐतिहासिक काल की परिसीमा। यही कारण है कि जहां तक मानवीय हड्डियों के खण्ड प्राप्त होते हैं।,वहीं उनके वैज्ञानिक चिन्तन की सीमा स्थिर हो जाती है,पुनः नये टुकड़े के प्राप्त हो जाने पर वह फिर बदल जाती है। भौतिक नृतत्वशास्त्र (फिजिकल एन्थ्रोपोलोजी) का अभी तक यही इतिहास रहा है। अतीत का वर्तमान से क्या सम्बंध है–इस दृष्टि का समुचित सूत्रपात यूरोप में 19वीं शती में वहां के विद्यापीठों में भारतीय विद्याओं के प्रवेश एवं उनके तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् प्रारंभ हुआ हैं। भारतीय संस्कृति में इतिहास के तत्व–चिन्तन की सीमा

अपने वर्तमान के लिए–अतीत की स्मृति के रूप में रही है। इतिहास की दृष्टि से 'पारिप्लवाख्यान' का महत्व पुराणपाठ के संन्दर्भ में असाधारण है (सतपथ ब्राह्मण–13–4–3–15) महर्षि कात्यायन कृत श्रौतसूत्र में इस अनुष्ठान का संपूर्ण प्रयोग भली–भांति समझाया गया (कात्यायन श्रौतसूत्र–1)। धार्मिक दृष्टि से इतिहास ग्रहण याज्ञिक कर्मकाण्ड की सीमा में एक आवश्यक विधि के रूप में घोषित हुआ, अतः यह प्रशिक्षण का एक प्रधान विषय भी रहा है।"–डा वासुदेव पोद्दार

इतिहास से पहले के लोग कितना भी राजनीति ,अर्थ–व्यवस्था और समाज–व्यवस्था के चर्चा का लक्ष्य रखते हों,आज लोग उस पूरी मानवीय अंतः प्रक्रिया को इतिहास में समेटते हे।,जो किसी –न किसी रूप में आख्यान है। इतिहास इन सब के बीच में क्या घटित हो रहा है जांचता है। और आगे के एतिहासिक ज्ञान को थाती सौंपता है कि इसे संभालकर रखो,इससे सीख लो। हमारे शास्त्रों में इतिहास को मित्र की तरह सलाह देनेवाला कहा है । इतिहास हितचिंता तो करता है ,पर वह आवेग में नहीं चलता। वह प्रिय–अप्रिय की चिंता न करके हितकारी होन की चिंता करता है। यह इतिहास की अपनी स्वायत्तता है कि सभी शक्तियों को एक तराजू पर रखे,किसी को कमोबेशी महत्व न दे।यह स्वयत्तता यहीं समाप्त हो जाती है। इतिहास प्रेमी को विस्थापित नहीं करता,वह स्वयं जहां संवेदनाओं का क्षेत्र है,चुपचाप खिसक जाता है। आवेग के क्षण में काल या तो जम जाता है या फिर इतना तेज दौड़ता हैकि पता ही नहीं चलता कहां–से कहां पहुंच गया। साहित्य की स्वयत्तता की बात देखें–

"यद्यपि हमारी आंखों में अब न यह काशी है और न वह बुढ़वा मंगल;क्योंकि न वे लोग हैं ,और न ही वह समय,न वे मित्र,न वह मंडली,न वह अपना सामान,न वह ममत्व ,और न वह मन का उत्साह है,न अपने को किसी से मिल बैठने का चाव और न अपने में किसी का अभिन्न भाव,न उस उत्कंठित और अकृतित्रम चित्त से किसी का स्वागत और सत्कार की लालसा,और न अपने को उस आनंद अनुभव को कभी भूलने की आशा है । हां ! कुछ बहुत दिन की बात भी नहीं है,मानो अभी कल काशी के अमल आकाश का चंद्र वह प्यारा हरिश्चचंद्र–जिसे लोग भारतेन्दु भी कहते हैं–प्रकाशित था, और काशी प्रभा –पुंज सी हो गई। यद्यपि बड़े–बड़े और ऊंचे स्थान के रहने वाल नक्षत्र–तुल्य असंख्य सज्जन और सूर्य तुल्य अनेक महानुभाव आद्यावधि यहीं विद्यमान हैं,परंतु वह प्रकाश,वह मनोहरता,वह सुधा–सिंचन –शक्ति कहां है। नवीन व सामान्य जनों के लिए काशी वही है,बुढवा मंगल भी वैसा ही होता है;पर हां जिसके चित पर उस चंद्र के चंद्रिका की चमक पड़ी है और सुधा–समीर का स्पर्श हुआ है उनके लिए अवश्य ही वह बनारस बिना रस है।" –बदरीघन चौधरी प्रेमघन (बनारस का बुढ़वा मंगल)

यह अनुभव आवेग प्रधान अनुभव है। अपनी ही आंखों से गुजरे समय के साथ यह

भावुक तादात्म्य इतिहास की दृष्टि से अप्रमाणिक हो ,पर साहित्य में यही अधिक प्रामाणिक है;क्योंकि यह रागात्मक जुड़ाव देता है। साहित्य का आयाम जितना व्यापक है उतना ही गहरा भी। वह अछोर अनुभव है जिसकी इयत्ता नही है। इसी से इतिहास की बात पिछले पन्नें में बासी पड़ जाती है। वह पुराना किस्सा बन कर रह जाती है। उसी समय की अनुभव की बात कभी–कभी पुरानी नहीं पड़ती। भाषा पुरानी पड़ भी जाय पर उसमें निहित अनुभव पुराने नहीं पड़ते। इसलिए साहित्य को साहित्य के द्वारा ही समझा जाना चाहिए नही तो वह पकड़ में नहीं आता।भारतीय साहित्य की प्रकृति बार–बार आकार को तोड़न और उसे नया रूप देने बाली रही है। इतिहास हमारे लिये नियामक नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं की वह उपेक्षणीय है। वस्तुतः भारतीय मूल्य परीक्षण का मापदण्ड सब के हित का चिंतन ही रहा है। साहित्य और कला इतिहास के लक्ष्य की पूर्ति नहीं ,वे इतिहास का उपयोग लक्ष्यों के लक्ष्य के अनुसंधान में करते हैं ,यही हमारा बल भी है।

इधर वह बल ऐकांतिक ऐतिहासिकता के ओढ़े हुए आग्रह के कारण कम हुआ है,पर हर भारतीय भाषा के साहित्य में मंथन शुरू हो गया है

1.4.2–इतिहासदर्शन का प्रादुर्भाव

इतिहासदर्शन का प्रादुर्भाव इस बात पर ही हुआ कि इतिहास के अध्ययन में विभिन्न विद्वान विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोण का प्रयोग करते रहे हैं तथा ये दृष्टिकोण भी समय–समय पर बदलते रहे हैं,इसी तथ्य के आधार पर 'इतिहासदर्शन' विषय की स्थापना हुई। जिसमें इतिहास के संबंध में प्रयुक्त व प्रचलित विभिन्न दृष्किोणों,धारणाओं व विचारों का अध्ययन किया जाता है।

चूकि 'इतिहासदर्शन' के अन्तर्गत इतिहास के संबंध में प्रयुक्त व प्रचलित विभिन्न दृष्टिकोणों ,धारणाओं व विचारों का अध्ययन किय जाता है इसलिए इतिहास संबंधी इन्ही विचारों,धारणाओं को समूहरूप में 'इतिहासदर्शन' की संज्ञा दी जाती है। भारतवर्ष की संस्कृति में काल और इतिहास की धारणा अत्यन्त प्राचीन हैं । आचार्यप्रवर यास्क ने निरूक्त में इसका संबंध ऋगवेद से जोड़ा है–

"यह सूक्त कूप में गिरे हुए त्रितके मन में प्रकट हुआ था । इस प्रसंग में एक प्रार्थना है, जो कि इतिहास ,मंत्र तथा गाथा से मिश्रित है।" .

त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ।

तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृड.मिश्रमृग्ड़मिश्रं गाथामिश्रं भवति।। –निरूक्त 4–6

रिरूक्त में 'इतिहासमाचक्षत' जैसे स्पस्ष्ट प्रयोग भी प्राप्त हैं यास्क केसम तक इतिहास एक स्वतंत्र अध्ययन काविषय बन गया था। अध्ययन की विभिन्न शाखा एववं विषय विस्तार में इतिहास काअपना विशिष्ट स्थान था– निरूक्त में –'इतिऐतिहासिकाः' जैसे प्रयोग

प्राप्त होते हैं ।

यह एक दुर्भाग्य रहा कि पश्चिम के विद्वानों ने 'इतिहासदर्शन' (चीपसवेवचील वि भ्पेजवतल) का प्रयोग संकीर्ण अर्थ में किये जिसका परिणाम यह हुआ कि हम उसमें उनके अपने –अपने दृष्टिकोणों को ही आरोपित करने का प्रयास पाते हैं। सर्वप्रथम वोल्तेर ने इस संज्ञा का प्रयोग करते हुए इसके अर्थ को केवल 'आलोचनात्मक या वैज्ञानिक इतिहास' तक सीमित रखने का प्रयास किया। हीगल ने इसका प्रयोग विश्वइतिहास के अर्थ में तथा परवर्ती युग के कुछ विद्वानों ने केवल परीक्षणात्मक यथार्थवादी दृष्टिकोण के लिए किया। इतिहास के अध्ययन में उपलब्ध पूर्व से पश्चिम तक तथा प्राचीन से आधुनिक काल तक के सभी दृष्किोण प्रयुक्त हुए हैं। ऐसी स्थिति में,हमें एकांगी और एकपक्षीय धारणाओं से बचना भी है और साथ ही उसको व्यापक और सर्वग्राही बनाने हेतु उसका समन्वित अर्थ ग्रहण करना होगा। तभी 'इतिहासदर्शन'सभी दृष्टिकोणों,विचारों और अध्ययन पद्यतियों के समूह का सूचक होगा तथा इतिहास के अध्ययन में सहायक होगा। तात्पर्य यह कि 'इतिहासदर्शन' की सार्थकता इतिहास के अध्ययन को सरल,सटीक और तथ्यात्मक बनाने में सहयोग करना ही है।

1.5 इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण

1.5.1–इतिहास के प्रति आदर्श और अध्यात्मवादी दृष्टिकोण

इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण आदर्शमूलक एवं अध्यात्मवादी रहा है, इसीलिए उसमें भौतिक जगत की स्थूल घटनाओं में भी आध्यात्मिक तत्वों व प्रवृतियों के अनुसंधान की प्रवृति रही है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में प्रायः सामयिक तत्वों की अपेक्षा चिरंतन मूल्यों को अधिक महत्व दिया जाता रहा है,अतः यहाँ के प्राचीन इतिहासकारों ने अतीत की व्याख्या भी इसी दृष्टिकोण से की,अर्थात वे परिवर्तनशील अतीत में से भी उन प्रवृतियों का अनुसंधान करते रहे जो मनुष्य को स्थायी एवं अमर बनाती हैं।उन्होंने घटनाओं एवं क्रिया–कलापों की व्यवस्था भौतिक उपलब्धियों एवं वैयक्तिक सफलताओं की दृष्टि से कम करके समष्टिहित की दृष्टि से अधिक की। इसलिए महाभारतकार ने जहाँ इतिहास को एक ऐसा पूर्ववृत माना,जिसके माध्यम से धर्म,अर्थ,काम और मोक्ष का उपदेश दिया जा सके,तो पौराणिकों ने ऋषियों एवं महापुरुषों के चरितगान को इतिहास के रूप में स्वीकार करते हुए घटना की अपेक्षा चरित्र को अधिक महत्व दिया।

भारतीय चिन्तन–दर्शन की परंपरा में इतिहास कला नहीं,वह विज्ञान और शास्त्र है। इसीलिए भारतीय इतिहास दृष्टि का विषयप्रवर्तन हिरण्यगर्भ की संरचना से होता है,इस इतिहास श्शास्त्र की सामग्री अत्यन्त प्रचीन है,अतः इसका सर्वप्रसिद्ध नाम पुराण है–

यस्मात् पुरा ह्याच्चैतत् पुरार्ण तेन तत् स्मृतम्।

प्राचीनकाल में ऐसा हुआ था,इस अर्थ में पुराण है। प्राचीन इतिहास के पांच लक्षण

स्थिर किये हैं अर्थात् संम्पूर्ण विवेच्य सामग्री को पांच भागों में विभक्त कर दिया गया– (1)सर्ग (2)प्रतिसर्ग, (3)मन्न्तर,(4)वंश और (5)वंशनुचरित

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्।।

यद्यपि आगे चलकर बाण,कल्हण आदि इतिहासकारों ने इतिहास अन्तर्गत आध्यात्मिक,नैतिक एवं चारित्रिक तत्वों की अपेक्षा यथार्थपरक वस्तु एवं तथ्यों को अधिक महत्व प्रदान किया,किंतु काव्यात्मकता एवं अलंकृति का मोह वे भी नहीं त्याग सकें। इसीलिए जहाँ प्राचीन युग में भारतीय इतिहासकारों की रचनाएं चारित्रिक मूल्यों, नैतिक उपदेशों व आध्यात्मिक रूपकों से युक्त होकर पौराणिक रूप में परिणत हो गयी,वहाँ परवर्ती इतिहासकारों की रचनाएँ शुद्व इतिहास की अपेक्षा काव्यात्मक इतिहास या ऐतिहासिक काव्य के रूप में विकसित हुई।

वस्तुतः भारत का प्राचीन इतिहासकार सत्य–शोधन तक ही सीमित नहीं रहा,वह 'शिव' और 'सुन्दरम्' के समन्वय के लिए भी बराबर सचेष्ट रहा। वास्तव में भारतीय इतिहासकार ने अपनी संस्कृति एवं जीवन के आदर्शो के अनुरूप ही इतिहास के क्षेत्र में भी संश्लेषणात्मक व समन्वयात्मक दृष्टिकोण का परिचय देते हुए उसमें 'सत्यं','शिवं' व 'सुन्दरम्' के समन्वय का प्रयास किया जो उसकी परंपराओं को देखते हुए उचित व स्वाभाविक कहा जा सकता है। भारतवर्ष के महर्षियों ने इतिहासपुरूष के महान्विग्रह की पूजा सर्वदा महाकाल के मंदिर में की है ।

अहोकालसमुद्रस्य न लच्यन्तेऽतिसंतताः।
मज्जन्तोऽन्तरनन्तस्य युगान्ताः पर्वता इवं

यहां काल और इतिहास में बिम्ब–प्रतिबिम्ब भाव है, काल बिम्ब है;इतिहास प्रतिबिम्ब। भारतीय काल गणना का प्रारंभ किसी राजवंश या धार्मिक गुरूओं के नाम निर्देश से नहीं होता,उसका प्रारंभ सृष्टि संवत् से होता हैं –विश्व का समुद्भव और विकास।

"इस अर्थ में वह धर्म निरपेक्ष और राजतंत्र के प्रभाव से सर्वथा मुक्त है। कालसमुद्र की गहनता के भीतर अवतरित होता है इतिहास पुरूष कादिव्रू विग्रह,उसके प्रतिमाविन्यास की भव्यता उसके तात्विक स्वरूप को भली–भांति उजागर कर देती है। सृष्टिसंवत् का प्रारंभ श्वेतवाराह कल्प से होता है ,अतः इतिहास पुरुष वाराह मुख है,काल प्रवाह का विपुल स्वरूप उसके उदर में समाहित है सलिए वह महोदर है, पृथ्वी का रंग–रूप उसकी वर्ण–छटा है–अतः कुशाभास है। उसके एक हाथ में अक्षसूत्र है–काल का संख्यात्मक निर्देश ,जो वहां स्फटिक की तरह स्वच्छ यथार्थ गणना के साथ प्रस्तुत है। ज्ञानामृत का दान उसका पावन उद्देश्य है इसलिए उसके द्वितीय कर में सुधा घट विद्यमान है। भारतीय संस्कृति के इतिहास पुरूष का यह अनुपम विग्रह कमल के आभूषणों से शोभायमान है–कमल स्वयं

सौन्दर्य,विकास,आनन्द,शुचिता और निरपेक्षता का प्रतिमान है–

इतिहासः कुशाभासः सूकरास्यों महोदरः।
अक्षसूत्रं घटं बिभ्रत्पङ्कजाभरणान्वितः।

किंतु सैद्धान्तिक दृष्टि से यह उसका सबसे बड़ा दोष भी माना जा सकता है,क्योंकि उसने इतिहास के कलेवर में कला और नीति को स्थान दे कर उसे शुद्ध ऐतिहासिकता से वंचित रखा। फिर भी ,यदि इतिहांस के कलात्मक या काव्यात्मक रूप का किसी भी दृष्टि से कोई महत्व है तो उस दृष्टि से भारतीय इतिहासकार को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया जा सकता है। अतः कहा जा सकता है कि भारतीय इतिहासकार की दृष्टि सदैव जीवन को उच्चतर मूल्यों में स्थापित करने की रही है। इसलिये वह जब भी इतिहास को देखता है तो उसमें संश्लेषणात्मक और समन्वयत्मक दृष्टिकोण अवश्य रखता है।

1.5.2–भारतीय इतिहास में युग–विभाजन–

काल के अखण्ड प्रवाह में मानवीय अस्तित्व का गतिमय स्वरूप इतिहास है। मानवीय प्रज्ञा द्वारा किया गया इस गति का विभाजन युग। प्रज्ञा काल के अखण्ड स्वरूप को विभाजन के माध्यम से ही ग्रहण करती है। भाषा इसे भूत,भविष्य और वर्तमान के निर्देश द्वारा व्यक्त करती है। ऐसी अवस्था में इस प्रवाह के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए संख्यात्मक संकेत आवश्यक हो जाता है। मात्र भूत और वर्तमान शब्द का व्यवहार संख्यात्मक निर्देश के बिना पर्याप्त नहीं– जो भविष्य और वर्तमान है,वही कालांतर में अतीत हो जाता है,ऐसी अवस्था में अनादि–अनन्त कालप्रवाह में किसी भी घटना को पुनः काल के संदर्भ में संकेतित करना कठिन ही नहीं, असम्भव हो जाता है। शताब्दी और सहस्त्राब्दी तो बहुत दूर, यदि कालगत संकेत का मात्रक सुनिश्चित न हो तो हम किसी भी कालबिन्दु की पहचान वर्ष के लघुतम मान में भी नहीं कर पाते, ऐसी अवस्था में इतिहास की वही अवस्था होती है,जो यूनान के इतिहास की हुई है। हमारे इतिहासकार जहां क्षेपकों के गठ्ठर को माथे पर रख कर ईसामसीह के चारों ओर परिक्रमा कर रहे हैं,वही कालिया सिद्धांत समग्र बौद्धिक चेतना के साथ हमारे अतीत और वर्तमान के नये आयामों का उद्धघाटन कर रहा हैं ।

भारतीय इतिहास में प्रायः पांच प्रकार का युग–विभाजन रेखांकित किया गया है–

1. एक वह युग–विभाजन जो सृष्टि के तिथि–क्रम पर आधारित है,इसका व्यवहार भारतवर्ष में प्राचीन इतिहास की परम्परा को रेखांकित करने की दृष्टि से हुआ ,यथा –कल्प,मन्वन्तर,महायुग,युग।
2. यह परम्परा संवत् प्रधान संवत्सर के गणनाक्रम पर आधारित है–यथा सृष्टि संवत्,युधिष्ठिर संत्,विक्रम संत्,शक संवत्,शालिवाहन संवत्,इसाई संवत् आदि –आदि।

3. यह प्रकार न्यूनाधिक रूपकात्मक है, इसका संबंध जहां इतिहास से है वहीं विकासवाद से भी है,यथा– पाषाणयुग, ताम्रयुग ,लौहयुग आदि।
4 इस विभाजन का आधार सांस्कृतिक इतिहास की युग प्रधान काल्पनिक भावना है– स्वर्णयुग,रजतयुग,रेनेसां,वरोक ,इन्लाइटन्मेन्ट,एज आंफ रीजन आदि।
5. यह विभाजन काल के रूपकात्मक परिवेश की प्रतिबद्धता के आधार परकिा गया है– आदिमयुग,प्राचीनयुग, मध्ययुग आदि–आदि।

कुछ इसी तरह पाश्चत्य में कालविभाजन की परंपरा मिलती है जिसे आगे देखेगें

1.6 इतिहास के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण

"यूरोप के विद्यापीठों में भारत के काल–चिन्तन और इतिहास–दर्शन का मखौल मेक्समूलर जैसे विद्वान उड़ा रहे थे। गौरांग शासकों के विज्ञान और इतिहास चिन्तन से इस पराधीन देश के पण्डित और इतिहासज्ञ भी आक्रान्त थे,क्योंकि उनका रोब और प्रभाव भी सामान्य न था। भारतीय विद्वान समझते थे कि कल्प ,मन्वनतर और महायुग की काल–गणना के उच्चारण मात्र से ही उन्हें दकियानूस और पोगा–पंण्डित की उपपत्तियों का खिताब मिल जाएगा,अतः भारतीय सृष्टितत्व की प्रमाण–मीमांसा को कालगणना की उपपत्यिों के साथ प्रस्तुत करने का साहस यहां के इतिहासज्ञों में नहीं था। वे भी सुर में सुर मिलाकर पश्चिम के इतिहास चिन्तकों की हां में हां मिला रहे थे। "–डां वासुदेव पोद्दार

वस्तुतः जातीय चेतना का गहरा संबध इतिहास बोध से है। यूरोप में हर देश के फासिस्ट पुराना इतिहास खखोल रहे थे। जो पुराने वीर हुए थे,महापुरुष थे,जिनके नाम से जनता परिचित थी,उनके जीवन को वे अपने आन्दोलन से जोड़ रहे थे। इतिहास के बारे में भ्रांतियां फैला रहे थे लेकिन नामों का उपयोग व कर रहे थे। दिमित्रोव लिखता है–

"प्रत्येक जाति के समूचे इतिहास को फासिस्ट टटोल रहे हैं जिससे कि वे साबित कर सकें कि अतीत में जो कुछ वीरतापूर्ण था,उसके वारिस वे हैं और उसे आगे बढ़ा रहे हैं। आम जनता की जातीय भावना को ठेस पहुंचानेवाला जो कुछ भी घृणित या पतित है,उसका उपयोग वे फासिस्टवाद के श्शुत्रओं के खिलाफ करते हैं।"

इटली में गैरीबाल्डी राष्ट्रीय योद्धा के रूप में प्रसिद्ध थे,उनके नाम का उपयोग वहां के फासिस्टों ने किया। अमरीका में एक गुट ने वाशिंगटन और लिंकन के नाम का उपयोग किया।

इतिहास और अतीत की घटनाओं को जिस प्रकार से दिमित्रोव समझता है ,उससे इतिहास का महत्व हमारे समाने तो आता ही है ,यूरोप में इतिहास का दृष्टिकोण भी हमारे समाने आता है।

" जो कम्युनिष्ट अतीत के प्रति आम जनता को सचेत नहीं करते और समझते हैं

कि उससे हमे कुछ लेना देना नहीं है,वे जाति के ऐतिहासिक अतीत में जो भी मूल्यवान है, वह सब अपने हाथों फासिस्ट मिथ्यावादियों को सौंप देते हैं जिससे कि वे उसका उसका उपयोग करके जनता की आंखों में धूल झोंक सकें।"– दिमित्रोव

1.6.1 इतिहास की पाश्चत्य दृष्टि और यर्थाथवाद

"जहाँ भारतीय इतिहासकारों के दृष्किोण में आदर्शवादिता की प्रमुखता रही,वहीं पाश्चात्य इतिहासकार प्रायः यथार्थवाद दृष्टिकोण से अनुप्राणित रहे हैं। – आचार्य नगेंद्र

"पश्चिम की इतिहास दृष्टि बाइबिल के धार्मिक विश्वास से आक्रांत और संस्कारित है– वहां न काल की अवधारणा है ,न इतिहास की दीर्घदृष्टि । वहां इतिहास और मानवीय समुद्भव के सुदूर अतीत की खोजविराट् शून्य में महानगर की खोज जैसा ही कार्य है। " डां वासुदेव पोद्दार

" पश्चिम के जगत में इतिहास का तत्व दर्शन ईसाई धर्म के विश्वास पर टिका है। सेंट आंगस्टाइन से हेगल तक का कार्य आडम्बर के अनुक्रम पर टिका है, इस विश्वास ने ईश्वर के कार्यकलाप को इतिहास के माध्यम से देखा है।हेगल ही अब तक ऐस कहते हैं–सम्पूर्ण इतिहास ईसामसीह तक जाता है और वहां से आता है। ईश्वर के पुत्र के आविर्भाव संपूर्ण संसार के इतिहास की धुरी है । हमारा कालानुक्रम विश्व के इतिहास का प्रतिदिन का साक्षी है ,जिसका निर्माण ईसाई धर्म के द्वारा हुआ है। – कार्ल जैस्पर्स

उक्त पंक्तियों में लेखक ने पश्चिम की इतिहास दृष्टि को प्रस्तुत किया है। वस्तुतः यह ईसाईयों का अपना विश्वास हो सकता है,इतिहास या उसका तत्व –दर्शन नहीं। कार्ल जैस्पर्स ने स्वयं इसका खण्डन करते हुए लिखा है–

" ईसाई धर्म की यह निष्ठा तो केवल एक विश्वास मात्र है ,पर संपूर्ण मानव जाति का विश्वास नहीं। जागतिक इतिहास का यह दृष्टिकोण भूल से भरा है, जो मात्र एक ईसाई धर्मावलम्बी के लिए प्रमाण है। तदुपरांत मात्र पश्चिम में ही ईसाइयों ने इतिहास की अनुभववादी अवधारणा को अपनी निष्ठा से नहीं बांध रखा है। विश्वास का विषय यथार्थ इतिहास के सन्दर्भ में अनुभववादी अन्तर्दृष्टि का विषय नहीं हो सकता, जो अपने अर्थ की दृष्टि से नितांत भिन्न है। एक ईसाई धर्मावलम्बी भी इस धार्मिक परंपरा की गवेष्णात्मक दृष्टि से परीक्षा कर सकता है।– कार्ल जैस्पर्स

"बीमार अवस्था में सोचते समय यह ध्यान में आया कि सामान्यतः चरित्र जिस प्रकार लिखे जाते हैं, उसी प्रकार गिरी क्षुद्रता तथा प्रमादों पर पर्दा डालकर यदि कोई मेरा चरित्र लिखेगा तो वह पूर्णरूपेण असत्य होगा। जो कोई मेरा चरित्र लिखना चाहता है उसे सम्पूर्ण सत्य लिखना चाहिए। लेखक को ऐसा लिखने में कितना भी संकोच हुआ तो भी संम्पूर्ण सत्य पर प्रकाश डालने वाला चरित्र ही अन्ततोगत्वा पाठकों के लिए हितप्रद सिद्ध होगा।"– टॉलस्टॉय

उक्त कथन इतिहास को परिभाषित करने में सहायक हैं।

1.6.2 पश्चिम की ऐतिहासिक व्याख्या

1. यूरोप की परम्परा और यूनान–

योरोप की परम्परा यूनान से प्रारंभ होती है । यह संस्कृति संपूर्ण रूप से इतिहास विरोधी ही रही है क्योंकि यहां के दर्शन में इतिहास के लिए कोई चिन्तन नहीं था। इन्होंने यहूदियों की तरह कभी यह नहीं सोचा था कि यह सृष्टि किसी उल्लेखनीय अन्त या उद्देश्य को सम्मुख रखकर प्रवर्तित हुई है, न आधुनिकों की तरह इनके पास काल की ही कोई सर्जनात्मक अवधारणा थी। इतिहास के सुप्रसिद्व विद्वान हर्बर्ट बटरफील्ड ने इस सत्य को बड़ी स्पष्टता के साथ अपने महतवपूर्ण प्रबन्ध हिस्टोरियोग्राफी में उजागर किया है।

(2) होमर और उसके पूर्व की स्थिति–

आज यह सुनिश्चित हो चुका है कि होमर के पूर्व एक बहुत बड़ी संस्कृति यूनान में थी, जिसे 'माइसेनियन' संस्कृति के नाम से प्रसिद्ध है,पर होमर के माध्यम से हम उसका संकेत मात्र ही प्राप्त करते हैं। वहां के इतिहास पण्डितों की दृष्टि में होमर के भीतर जनश्रुति और कल्पना का इतना अधिक अंश है कि स्लीमान से पूर्व 19 वीं शती तक के संपूर्ण इतिहासकार इस सुविशाल सांस्कृतिक परंपरा को मिथक ही मानते रहे हैं निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि वहां इतिहासतत्व का इतना बड़ा अभाव था,फलतः इतने दीर्घ इतिहास के अस्तित्व को ही अस्वीकार कर दिया गया। इतिहासतत्व का यह अभाव जनित प्रभाव इतना प्रबल है कि आज भी निश्चय के साथ यह कहना कठिन है कि होमर के पूर्व यूनान की भाषा ग्रीक ही थी । यहां तक कि यूनान के इतिहास का दीर्घ युग बीतने पर भी वहां के इतिहासकारों की दृष्टि में यह दीर्घकाल ,मात्र कुछ सौ वर्षो का ही था। कुछ लीगल ट्रिटाइजेज ऐसी मिली हे। जिसपर सौ वर्ष लिखे हुए भी हैं, पर तिथि आदि का कोई संकेत वहां न होने के कारण पांच–दश वर्ष में कहीं भी यह सौ की संख्या समाप्त हो जाती है। यही कारण है यूनान का ट्रोजन–युग से लेकर सैकड़ो वर्षो का संपूर्ण इतिहास ही अन्धकारमय है। होमर का समय 9 बी.सी. अनुमानित है। लगता है ,इस दिशा में वहां न किसी सम्राट का ही ध्यान गया ,न किसी इतिहास चिन्तक का ही।

(3) पश्चिम के इतिहास के प्रथम व्याख्याकार–

पश्चिम के इतिहास के प्रथम व्याख्याकार युनानी विद्वान हिरोदोतस (456–545ई.पू.)ने इसे 'खोज', गवेषणा या अनुसंधान के अर्थ में ग्रहण करते हुए इसके चार लक्षण निर्धारित किए थे। एक तो यह कि इतिहास वैज्ञानिक विद्या है,अतः इसकी पद्वति आलोचनात्मक होती है। दूसरे,यह मानव–जाति से संबंधित होने के कारण मानवीय विद्या(मानविकी) है। तीसरे तर्कसंगत विद्या है,अतः इसमें तथ्य और निष्कर्ष प्रमाण पर आधारित होते हैं। चौथे,यह अतीत के आलोक में भविष्य पर प्रकाश डालता है, अतः यह शिक्षाप्रद विद्या है तथा इसके अतिरिक्त

हिरदोतस मानता है कि इतिहास का लक्ष्य प्राकृतिक या भौतिक परिवर्तन की प्रक्रिया की व्याख्या करना है।

आचार्य नगेंद्र का कहना है कि प्राचीन युग में सामान्यतःहिरोदोतस का ही दृष्टिकोण मान्य रहा,किंतु आधुनिक युग के विभिन्न विद्वानों ने इसके संबंध में नये दृष्टिकोण से विचार किया। इटैलियन इतिहासकार विको (1668–1744) ने इतिहास का संबंध न केवल अतीत से अपितु वर्तमान से भी स्थापित करते हुए प्रतिपादित किया कि इतिहास का निर्माता स्वयं मनुष्य होता है और मनुष्य की मूलभूत प्रवृतियाँ सदा समान रहती हैं,अतः विभिन्न युगों के इतिहास में भी समान प्रवृतियों का मिलना स्वाभाविक है। इतिहास लेखन की पद्यति के संबंध में भी विको ने अनके सुझाव देते हुए इतिहासकारों को अतिरंजना व अतिशयोक्ति से बचने और अतीत को अधिक महत्व न देने की बात कही।

(4) इतिहासतत्व की शास्त्रीय दृष्टि : 18वीं–19वी शताब्दी–

"पश्चिम की परम्परा के पास इतिहास की अवधारणा कभी भी स्पष्ट नहीं रही, आज भी नहीं है। यूनान,रोमनयुग और मध्ययुग का तो प्रश्न ही नहीं–योरोप में इस दृष्टि का किंचित् उन्मेष हमें 18वीं–19वीं शती में दिखलाई देता हैं। इतिहास दृष्टि का किंचित ऊहापोह का क्रम सर्वप्रथम जी.वाइको (1725) एवं हार्डर (1774) से प्रारभ होता है। इतिहास की तत्वदृष्टि का आश्रय है – काल का तत्व–दर्शन, जिसकी अवधारणा के बिना हम इतिहास को ही नहीं समझ सकते। योरोप की सभ्यता के पास इसका अभाव प्रारंभ से ही रहा है । यही कारण था कि यूनान के इतिहास चिंतक अपने संपूर्ण इतिहास को सर्वदा कुछ सौ वर्ष काही समझाते रहे। " डा वासुदेव पोद्दार जर्मन दार्शनिक कान्त (1724–1804) ने इतिहास की नयी व्याख्या करते हुए प्रतिपादित किया कि सृष्टि का बाह्य विकास प्रकृति की आंतरिक विकास–प्रक्रिया का प्रतिबिंब मात्र है, अतः इतिहास को भी इसी रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए। अर्थात ऐतिहासिक घटनाओं के पीछे प्राकृतिक नियमों की प्रवृति को समझने का प्रयास किया जाना चहिए। हीगेल (1770–1831) ने कान्त की विचारधारा को आगे बढ़ाते हुए स्पष्ट किया कि इतिहास केवल घटनाओं का अन्वेषण एवं संकलन मात्र नहीं है, अपितु उसके भीतर कारण–कार्य की श्रृंखला विद्यमान है। हीगल के अनुसार इतिहास की प्रक्रिया का मूल लक्ष्य मानव–चेतना का विकास है, जो द्वंद्वात्मक पद्वति पर आधारित है। इस द्वंद्वात्मक पद्वति या प्रक्रिया के अनुसार वाद एवं प्रतिवाद के द्वंद्व से समवाद का विकास होता है। इतिहास की व्याख्या भी इसी द्वंद्वात्मक पद्वति के आधार पर होनी चाहिए।

उन्नीसवीं शती में डारविन ने अपने विकासवादी सिद्धांत की स्थापना के द्वारा इतिहास को एक नूतन–दृष्टि,शक्ति और गति प्रदान की। उसका मानना है कि इतिहास का अर्थ घटना–समूह का संकलन न होकर विकास–क्रम का विवेचन है। कार्ल मार्क्स,एंजल्स,मारमन,हक्सले प्रभृति अनेक विद्वानों ने विकासवाद के विभिन्न पक्षों की

व्याख्या अपनी–अपनी दृष्टि से की। बीसवीं सदी के अनेक विद्वान इतिहासकारों–स्पेंगलर, टायनबी, टर्नर आदि ने विश्व–संस्कृति और सभ्यता के इतिहास की व्याख्या विकासवादी नियमों व प्रवृतियों के आधार पर करने की चेष्टा की। किन्तु अनेक दृष्टियों से यह दृष्टिकोण भी अभी तक पूर्ण विकसित नहीं कहा जा सकता।

किंतु आज पाश्चात्य इतिहासदर्शन के सर्वप्रमुख एवं सर्वाधिक विकसित दृष्टिकोण के रूप में विकासवादी दृष्टिकोण को स्वीकार किया जा सकता है। किंतु अनेक दृष्टियों से यह दृष्टिकोण भी अभी तक पूर्ण विकसित नहीं कहा जा सकता। एक तो अर्थशास्त्र,समाजशास्त्र,मनोविज्ञान,संस्कृति आदि विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने वाले विकासवादी चिंतकों के सिद्धांतो में भी परस्पर अन्विति एवं एकरूपता का आभाव है,जहाँ डारविन का विकासवाद प्राणिशास्त्र में लागू होता है,वहीं मार्क्स का विकासवादी सिद्धांतों के विरोध में भी प्रतिक्रिया हो रही है,विद्वानों का एक वर्ग इन्हें 'विधेयवादी' कहकर ठुकराने का प्रयास कर रहा है। सार्त्र आदि के वे अनुयायी,जो कि नियमबद्धता, पूर्वनिश्चितता एवं पूर्वनिर्धारण के विरोधी हैं,इतिहास को भी किसी नियम से संबद्ध करना कैसे स्वीकार कर सकते हैं।

वस्तुतः पश्चिमी विकासवाद की यह अवधारणा विभिन्न विधाओं में तथा विभिन्न वैज्ञानिकों में अलग–अलग प्रकार से मिलती है। अस्तित्ववादियों का मानना है कि जब प्रकृति एवं मनुष्य ही नियमों से मुक्त हैं तो उनके इतिहास को भी किसी नियम से आबद्ध करना कैसे सम्भव है। कदाचित हीगल के शब्दों में यह भी वाद का प्रतिवाद ही है। इस प्रकर पश्चिम में इतिहास की अवधारणा स्पष्ट और सुसंगत नही है।

1.6.3– इतिहास में पाश्चात्य काल विभाजन

पश्चिम में यह विभाजन 'एरा' शब्द के द्वारा प्राप्त होता है। रोमन राज्यकाल के प्रसिद्ध इतिहासकार लिवी ने 2 बी.सी. में इसका प्रथम बार उपयोग किया,जिसका आधार रोम की स्थापना से संबन्धित दन्तकथाएं थीं।ओल्ड टेस्टामेन्ट की सृष्टि कथा के आधार पर ईसाई धर्मावलम्बियों ने एक नये संवत् की सृष्टि की, यह सृष्टि छः दिनों में बनी,प्रत्येक दिन का मानवीय मान 500 वर्ष है। अतः इस दृष्टि से सृष्टि को माने तो ईसा तक 4000 वर्ष व्यतीत हो चुके थे, 17वीं–18वीं शती तक तो यह व्यवहार ईसाई मत की दृष्टि से ही होता रहा, पर कालान्तर में यह धर्म से हट कर सामान्य कालमान के रूप में स्वीकृत हुआ ,फलतः बी.सी.(ईसापूर्व) के माध्यम से सुदूर अतीत का भी अनुमान ग्रहण कर लिया गया, ए.डी.(ईसा पश्चात) का व्यवहार मध्ययुग से ही प्रचलित होना प्रारम्भ हो गया ,ईसा के अवतरण की घटना को यहां केन्द्र में रख दिया गया । सेन्चुरिया या शती शब्द का व्यवहार भी अति नवीन है– इसका प्रथम प्रयोग 17वीं–18वीं शती के मानवतावादियों ने किया,प्राचीन एवं मध्ययुगीन लेटिन में इसका व्यवहार कहीं नहीं देखा जाता। पूर्व में प्राचीनता की दृष्टि से देखा जाय तो इसका प्रथम व्यवहार ऋगवेद में प्राप्त होता है–जीवेम शरदः शतम्, पश्चिम

की परम्परा में इतिहास का शती या 'सेंचुरी' के रूप में विभाजन अपेक्षाकृत नूतन या मार्डर्न है। यह मांडर्न या माडर्नस शब्द का प्रयोग ऐन्टीक या ऐन्टीकूज के विरूद्ध अर्थ में मध्ययुग में प्रचलित हो चुका था। इस शब्द संकेत द्वारा काल का स्पष्ट विभाजन तो नहीं होता ,पर प्राचीन सन्दर्भ में नूतन की अवधारणा भर होती है। पूर्व की संस्कृति में प्रत्न ,पुराण, पुरा ,पूर्व शब्द का बहुशः प्रयोग ऋगवेद में प्राप्त होतेहे। यहां तक कि 'पूर्व' और 'नूतन ' दोनों पे शब्दो का एक साथ प्रयोग विश्व की प्राचीनतम पुस्तक ऋगवेद में ठीक प्रारम्भ के प्रथम मंत्र को छोड़कर दूसरे में ही हुआ है।

"ईश्वर के द्वारा इतिहास के नियत्रंण के सिद्धांत को प्रथम बार चुनौती 'रेनेंसा' युग के माध्यम से ही दी गई,उस युग के मानवतावादी दृष्टिकोण के आचार्यो ने कला और ज्ञान के नव जन्म या पुनर्जन्म की घोषणा रीनासीता या रेनेसां शब्द से इस नवोदय में मध्यवर्ती काल खण्डों डार्कएज ,मेडिवल एज अन्धयुग की संज्ञा प्रदान की गई, चाहे कारण कुछ भी रहा हो यह प्रथम वज्रपात सोलहवीं शती के मध्य के प्रोटेस्टेन्टों द्वारा ही हुआ था। अन्धा मध्ययुग की ईसाई संस्कृति को अंधकार–युग की संज्ञा दे दी गई,फलतः ईसाईधर्म निःस्यूत सरल–रेखा में गमन वाला इतिहास–दर्शन पुनः चक्रवात गतिक्रम में सोचा जान लगा,जिसे कभी यूनान ने भारतीय प्रभावों के कारण सोचा था। सत्रहवी सती में हार्नियस (1666) ने प्रचीन और नवीन के मध्य एक नया युग विभाजन उत्तर प्राचीन युग के नाम से व्यवहृत किया, जिसकी चर्चा कभी पेट्रार्क ने की थी। प्राचीनता और नवीनता के मध्य वाल्टेयर के द्वारा 18वी शती मे मध्य स्पष्ट रेखा खींची गई । रोमन राज्य के अधःपतन के पश्चात् नवीन युग का प्रारम्भ स्वीकार किया गया। इस नवीन युग का नाम इन्लाइटन्मेन्ट शब्द के द्वारा हुआ। 19वीं शती में योरोप के विश्वविद्यालयों में मांडर्न हिस्टरी के पीठ स्थापित होने लगे, कालान्तर में माडर्न शब्द अपने अर्थ वितार की प्रक्रिया में संकुचित होत–होते रीसेन्ट और कान्टेम्पोरैरी के अर्थ में व्यवहृत हुआ। फांस के इतिहास पण्डितों ने इसका व्यवहार वहां की प्रसिद्ध क्रांति से जोड़ दिया,पश्चिम की परंपरा में इतिहास और युग दोनों का स्वरूप स्पष्ट नही है। युग व पीरियड शब्द ग्रीक भाषा के पेरी और होडांज शब्द की उपज है, जिसका अर्थ है पेरी अर्थात अराउण्ड एवं होडांज यानी वे , मैनर उसी प्रकार एपीसोड पद की निरूक्ति है – एपी–स होडांज । जिसका अर्थ मेथड अर्थात मेटा–होडांज वहां इनका महत्व एक 'मनोविचार' से अधिक कभी नहीं रहा। उसी प्रकार काल की सैद्धन्तिक अवधारणा एक सरल–रेखा की तरह रही है, जो दो पांच सहस्त्र वर्ष पश्चात कहीं भी दिखाई नहीं देती।" डॉ वासुदेव पोद्दार

1.7 साहित्य का 'इतिहासदर्शन'

साहित्य ने जो श्रेय अर्जित किया है,वह इसके गहरे स्थायी भावात्मक महत्व के कारण हुआ है। साहित्य के अध्ययन से हम जीवन के साथ व्यापक अंतरंग एवं नित्यनवीन

संबधों की स्थापना करते हैं। हम जीवन के नित्य रागात्मक सम्पर्क में आते हैं। यही कारण है कि साहित्य का हम पर इतना प्रभाव पड़ता है। मानव जाति ने जो देखा,परखा,पाया उन सबका साहित्य इतिवृत है। सामान्यतः साहित्य में साहित्यकार के व्यक्तिगत अनुभव –उसके वाह्य और आम्यातंरिक जीवन,उसके निजी भावों और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति रहती है। परंतु साहित्यकार केवल निजी भावों और आकांक्षाओं को लेकर ही जीवन धारण नहीं करता;वह मानव–जाति का एक सदस्य भी है,वह समाज के संबंधों के बीच जीता है। अतएव उसकी रचना में मानव–जाति के सुख–दुख,राग–विराग की अनुभूतियां ,जनम–मरण, पाप–पुण्य आदि धारणाओं,ईश्वर–नियति इतयादि गहन सत्ताओं के प्रति संवेदनीयता भी रहती है। साहित्यकार की यही व्यापक संवेदनशीलता उसे कालक्रम में जीवन और जगत के प्रति निजी दृष्टिकोण दे देती है,विश्व के विभिन्न पक्षों के प्रति मान्यताएं एवं दृष्टिकोण एक सुनिश्चित अनुबंध प्राप्त कर साहित्यकार के जीवन दर्शन की संज्ञा प्राप्त कर लेते हैं। साहित्यकार का अनुभव क्षेत्र जितना व्यापक होगा,उसकी अनुभूतिक्षमता जितनी तीव्र और परिष्कृत होगी,जीवन के विभिन संबंधों और धारणाओं का उसके द्वारा आकलन उतना ही प्रामाणिक होगा।

सामन्यतः 'इतिहास' शब्द से राजनीतिक व सांस्कृतिक इतिहास का ही बोध होता है किन्तु वास्तविकता यह है कि सृष्टि की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसका इतिहास से संबंध न हो। अतः साहित्य भी इतिहास से असंबद्व नहीं है। साहित्य के इतिहास में हम प्राकृतिक घटनाओं व मानवीय क्रिया–कलापों के स्थान पर साहित्यिक रचनाओं का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से करते हैं। कोई भी रचना मानवीय क्रिया कलापों के इर्द–गिर्द ही घूमती है। वह मनुष्य के वृतियों की सूचक होती है। जिस प्रकार राजनीतिक इतिहास में राजनेताओं के जीवन, क्रिया–कलापों, घटनाओं को संकलित किया जाता था,इसी प्रकार साहित्य के इतिहास में भी रचना और रचनाकार का स्थूल परिचय संकलित किया जाता था। किन्तु अन्य विधाओं की तरह साहित्य के इतिहास का भी समय के साथ विस्तार हुआ जिससे साहित्येतिहास के दृष्टिकोण में भी तदनुसार सूक्ष्मता व गंभीरता आती गयी। यद्यपि यह मानने में कोई संकोच नही है कि आज भी अन्य की तुलना में साहित्य का साहित्यदर्शन उतना विकसित रूप में सामने नही आ सका है।

दर्शन जीवन और जगत की बौद्धिक व्याख्या है। सत्य का निरन्तर और निरपेक्ष अनुसंधान इसका ध्येय है। चेतना की अनय वृत्तियों को छोड़ इसमें केवल बोधवृति ही सक्रिय रहती है। बोधवृत्ति के संचरण में अन्य वृत्तियों का विशेष जितना कम होगा,सत्य का शोध उतना ही अधिक प्रामाणिक होगा। विभिन्न प्रमेयों के निरीक्षण,वर्गीकरण,संबंधी–निर्धारण आदि इसके व्यापार हैं। सत्य शोधन के इस अभियान और सत्यों के क्रमबद्ध प्रत्यक्षीकरण की क्रिया में दार्शनिक हमारे सामने कुछ ऐसी उपपत्तियां रखता है जो सामान्य मानवीय

संवेदना से संबद्ध है।दर्शन का जन्म ही मनुष्य की इस जिज्ञासा से हुआ कि बाहय घटनाओं के पीछे कौन--सी शक्ति या नियम व्यापारशील हैं,विविध घटनाओं में कौन--सा क्रम है! मानव--मन विश्व में दृश्य पार्श्व में कोई मूलभूत एकता है अथवा नहीं;बाह्य अव्यवस्था और असंगतियां किसी मूल व्यवस्था के बाह्य रूप में हैं अथवा नहीं। मानव बुद्धि की विविधता के पीछे किसी मूल एकता के अन्वेषण की उत्कट लालसा ही दर्शन की मूल प्रवृति है। दर्शन का उद्देश्य ज्ञान की उस अखंडता को प्राप्त करना है जो अव्यस्था ओर असंगति से मुक्त हो। वह इसके लिए मानव--मन की इच्छाओं और आकांक्षाओं का,जीवन की स्थितियों का ,बाह्य जगत् की घटनाओं का विश्लेषण--परीक्षण करता हैं और प्रकृति और जीवन के मूल में स्थित अव्यक्त नियमों और व्यवस्था--सूत्रों की खोज करता है।

मानवीय दृष्टि से साहित्य और दर्शन दोनों का ही महत्व असंन्दिग्ध है। दोनों ही मनुष्य की दृष्टि की विस्तीर्ण ,सन्तुलित और अखण्ड बनाने का प्रयास करते हैं। दोनों का ही उदात्त उद्देश्य जगत् और मानव--जीवन में व्याप्त सत्य को प्रकाश में लाना है। दर्शन का उद्देश्य विवेकपूर्ण मूल्यदृष्टि उत्पन्न करना है। हेगेल के शब्दों में "philosophy only unfolds itself when it unfolds religion and in unfolding itself it unfolds religion" अर्थात दर्शन अपने स्वरूप का निरूपण तभी कर पाता है जब यह धर्म का निरूपण करता है। तात्पर्य यह कि दर्शन का मूलतः संबंध धर्म अर्थात मूल्यभावना से है।साहित्य जीवन--स्थितियों अथवा मानवीय संबंधों के प्रति हमारी भावात्मकता को उद्बुद्ध कर देता है और फिर उन जीवन की स्थितियों और संबंधों के प्रति हमारा सारा व्यक्तित्व सजग हो जाता है। यही कारण है कि दर्शन भी साहित्यिक प्रयत्न को मान्यता और प्रतिष्ठा देता है।

जिस प्रकार साहित्य दर्शन को महत्व देता है उसी प्रकार दर्शन भी साहित्य को महत्व देता है। साहित्य गरिष्ठता और स्थायित्व के लिये दर्शन का मुखापेक्षी है।महान साहित्यकारों--वाल्मीकि, दांते, तुलसीदास, टाल्सटाय इत्यादि--का महत्व इस बात में है कि उनकी अनुभूतियों में एक विशिष्ट दृष्टि का अनुबंध है। उन्होने रसोद्रेक करने के साथ ही जीवन--दर्शन दिया,इसमें एक विशिष्ट आस्था का संचार हुआ। समाज में उसी लेखक को स्थान मिलता है जिसने जीवन को समग्रता में देखकर उसे प्रभावपूर्ण और सुनियोजित अभिव्यक्ति दी।

जीवन में दर्शन की दो कोटियां होती हैं। एक को हम वैयक्तिक जीवन--दर्शन कह सकते हैं और दूसरे का परम्परागत। प्रथम कोटिका जीवन--दर्शन अर्जित है। इसके लिए व्यक्ति की जीवननिष्ठा,अनुभूति की क्षमता और विस्तार तथा अन्वीक्षण की सूक्ष्मता की आवश्यकता होती है। दूसरे प्रकार का दर्शन परंपरा या धर्म के माध्यम से मुक्त अथवा अध्ययन से प्राप्त होता है। इसमें व्यक्तिगत अनुभूति की आवश्यकता नहीं होती। साहित्य में प्रथम कोटि के जीवन--दर्शन का महत्व है। साहित्य का कार्य नयी जीवनदृष्टि प्रस्तुत करना

है। साथ ही पुराने दार्शनिक विश्वासों को नवीन आकांक्षाओं के अनुरूप ढ़ालना हैं। किसी घिसी–पिटी दार्शनिक अवधारणा का यथावत अवतरण करना साहित्य का उद्देश्य नहीं है। साहित्य में दार्शनिक अनुभूति जीवनानुभूति के निष्कर्ष–रूप में उपस्थित होती है। जब कोई जीवन–दर्शन साहित्यकार के अनुभवों में से आता है तो उसमें रसानुभूति होती है और साहित्यकार के विचार उसकी आस्था में ढ़ल कर प्रकट होते हैं। ऐसे विचार साहित्य को पौढ़,उर्जास्वित और बलिष्ठ बनाते हैं।

साहित्य और दर्शन दोनों का ही संबंध मानव–जीवन से है। अतः दोनों में गहरा साम्य हैं। किंतु सहित्य में न तो दार्शनिक ऊहापोह का स्थान है और न दर्शन में कल्पना का। साहित्य सुखद भाव का जगत् है तो दर्शन बुद्धि का। दर्शन का कार्य विश्लेषण का कार्य है। दर्शन का उद्देश्य जीवन और जगत् से संबद्ध शाश्वत नियमों अथवा सिद्धांतों का निरूपण है। दर्शन बुद्धि के सहारे सत्यनुसंधान करता है। साहित्यकार इतिहास की क्षणिक घटनाओं को महत्व देता हुआ कह उठता है–

पल–भर की आंधी भर देती युग के रंध्रों में कोलाहल।
पल भर का गतिवैषम्य मचा देता जीवन में उथल–पुथल।।

1.7.1 तैन की अवधारणा–

अंग्रेजी साहित्य में तो यह धारणा है कि किसी भी साहित्य का इतिहास उस जाति के सामिजिक एवं राजनीतिक वातावरण को ही प्रतिबिंबित करता है या साहित्य की प्रवृतियाँ उस समाज की प्रवृतियों की सूचक हैं। या साहित्य की प्रवृतियाँ संबंधित समाजकी प्रवृतियों की सूचक होती हैं, फिर भी इस धारणा को एक सुव्यवस्थित सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठित करने श्रेय फ्रेंच विद्वान तैन (Taine) को जात है। इन्होने माना कि साहित्य की विभिन्न प्रवृतियों के मामले में मुख्यतः तीन प्रकार के तत्व सक्रिय रहते हैं: जाति (race) वातावरण (milieu) क्षणविशेष (moment)। तेन ने अपनी व्यख्या के द्वारा यह भलीभांति स्पष्ट किया कि किसी भी साहित्य के इतिहास को समझने के लिए उससे संबंधित जातीय परंपराओं,राष्ट्रीय और सामाजिक वातावरण एवं सामयिक परिस्थितियों का अध्ययन विश्लेषण आवश्यक है।

तेन के इस सिद्धांत की आलोचना करते हुए हडसन ने इसमें न्यूनता माना किंतु फिर भी हम इस तथ्य को अस्वीकार नहीं कर सकते कि पूर्ववर्ती इतिहासकारों की तुलना में तेन ने अपेक्षाकृत अधिक व्यापक, स्पष्ट एवं विकसित सिद्धांत प्रस्तुत किया था, जिसके आधार पर साहित्य की विकास प्रक्रिया को बहुत कुछ स्पष्ट किया जा सकता है।

रामविलास शर्मा लिखते हैं– जातीय चेतना का गहरा संबंध इतिहास बोध से है। यूरोप में हर देश के फासिस्ट पुराना इतिहास खखोल रहे थें जो पुराने वीर हुए थे ,महापुरूष थे,जिनके नाम से जनता परिचित थी, उनके जीवन को वे अपने आन्दोलन से जोड़ रहे थे। इतिहास के बारे में भ्रांतियां फैला रह थे लेकिन नामों का उपयोग वे कर रहे थे,कम्युनिस्ट

इस ओर से उदासीन थे।

"प्रत्येक जाति के समूचे इतिहास को फासिस्ट टटोल रहे हैं जिससे कि वे साबित कर सकें कि अतीत में जो कुछ वीरतापूर्ण और गौरवपूर्ण था,उसके वारिस वे हैं और उसे आगे बढ़ा रहे हैं। आम जनता की जातीय भावना को ठेस पहुंचानेवाला जो कुछ भी घृणित या पतित है,उसका उपयोग वे फासिस्टवाद के शत्रुओं के खिलाफ करते हैं।"– दिमित्रोव

1.7.2 जर्मन चिंतकों की अवधारणा

साहित्येतिहास की व्यवस्था में जर्मन चिंतकों का भी कम योगदान नहीं है। वैसे तो उनके द्वारा कई सिद्धांत स्थापित हुए, किंतु उनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण 'युगचेतना' (चपतपज वि हम)का सिद्धांत है। इस सिद्धांत के अनुसार साहित्य के इतिहास की व्याख्या तद्युगीन चेतना के आधार पर की जानी चाहिए। ए.एच.कॉफे ने महान कवि गेटे की साहित्यिक प्रवृतियों की व्याख्या युगीन चेतना के आधार पर करके इस सिद्धांत की महत्ता को प्रमाणित किया है। किंतु डॉ नगेन्द्र कहते हैं कि हमारे विचार में यह सिद्धांत भी एकांगी है,क्योंकि साहित्य के विकास में युगीन चेतना का ही नहीं,पूर्ववर्ती परंपराओं का भी नयूनाधिक योगदान रहता है,अतः उनकी उपेक्षा करके सारा श्रेय युगीन चेतना को ही दे देना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता।

" जो कम्युनिस्ट अतीत के प्रति आम जनता को सचेत नहीं करते और समझते हैं कि उससे हमें कुछ लेना देना नहीं है,वे जाति के ऐतिहासिक अतीत में जो भी मूल्यवान है, वह सब अपने हाथें फासिस्ट मिथ्यावादियों को सौंप देते हैं,जिससे कि वे उसका उपयोग करके जनता की आंखों में धूल झोंक सकें।"–दिमित्रोव

जातीय सम्मान की रक्षा कैसे करनी चाहिए,इसका उदाहरण दिमित्रोव ने दिया।फासिस्टों ने जर्मन लोकसभा के भवन को जलाने का आरोप उन पर लगाया था उन पर मुकदमा भी चला। उस मुकदमें के दौरान उन लोगों ने दिमित्रोव के साथ बल्गारिया की जाति पर भी आरोप कसे और कहा कि इस देश के रहनेवाले सब बर्बर और असभ्य हैं जर्मन फासिस्ट अपने को तो संस्कृति में सबसे ऊपर मानते थे लेकिन पड़ोसी देशों को और उनकी संस्कृति को बिल्कुल तुच्छ समझते थे इसका जबाब दिमित्रोव ने दिया।

" हमारी जनता पांच सौ साल तक विदेशी शासन के नीचे रही है लेकिन उसने अपनी भाषा और जातीय चरित्र की रक्षा की है। यह जाति मजदूरों और किसानों से बनी है जो बल्गारिया का फासिस्टवाद से लड़े हैं और अभी लड़ रहे हैं । ऐसी जनता बर्बर नहीं है, असभ्य नहीं है।" "– दिमित्रोव

इतिहास के दर्शन वहां के स्वाभिमान को उजागर करते हैं। बल्गारिया जब एक ओर सब प्रकार की शत्रु सेना से जूझ रहा था दूसरी ओर जर्मन के अभिजात वर्ग और राजा जर्मन भाषा का व्यवहार करते थे और उसके लिए वहां के संतो ने लिपि का अविष्कार किया था।

सांस्कृतिक विरासत का उपयोग फासिस्ट विरोधी संग्राम में कैसे करना चाहिए,इसका बहुत अच्छा उदाहरण दिमित्रोव ने दिया। उन्होंने कहा –

" इतिहास के ऐसे दौर में जब जर्मन सम्राट कार्ल पंचम ने प्रतिज्ञा की थी कि वे जर्मन भाषा का व्यवहार केवल अपने घोड़े से करेंगे,जिस समय अभिजात वर्ग और जर्मनी के बुद्धिजीवी हलके केवल लेटिन लिखते थे और अपनी मातृभाषा का व्यवहार करना शर्म की बात समझते थे,उस समय संत सिरिल और मैथसेदियस ने बल्गारिया की पुरानी लिपि ईजाद की और उसके व्यवहार को प्रसारित किया।"

हिटलर के अभ्युदय के समय जो स्थिति जर्मनी के वामपक्ष की थी,उससे मिलती जलती स्थिति बीसवीं सदी के अंत में भारत के और विशेष रूप से हिंदी प्रदेश की थी।

1.7.3 मार्क्सवादी अवधारणा–

इधर मार्क्सवाद से प्रभावित आलोचकों ने द्वंद्वात्मक भौतिक विकासवाद,वर्ग–संघर्ष और आर्थिक परिस्थितियों के संदर्भ में साहित्य की विकास–प्रक्रिया को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए ,सैक्युलिन ने रूसी साहित्य के इतिहास की व्याख्या करते हुए साहित्य की विभिन्न प्रक्रियाओं व प्रवृतियों का संबंध आर्थिक परिस्थितियों एवं वर्ग–संघर्ष की प्रतिक्रिया से स्थापित किया है। किंतु कई बार मार्क्सवादी आलोचक साहित्य की सभी प्रवृतियों के मूल में अर्थ को ही स्थापित करके एक ऐसा अनर्थ कर देते हैं,जो एकांतिक व अतिवादिता का प्रमाण होता हैं। वैसे भी मार्क्सवादी ऐतिहासिक भौतिकवाद के पक्षधर रहे हैं। उनका दृष्किोण समाजशास्त्रीय नही रहा। मार्क्स भारत के इतिहास का अध्ययन कर रहे थे। इस अध्ययन के क्रम में उन्होंने यहां की घटनाओं पर कुछ टिप्पणियां लिखी थीं। उल्लेखनीय है कि वे जातीय प्रदेशों का एवं उनकी घटनाओं का वर्णन करते हैं।केरल, कर्नाटक,आंध्र,उड़ीसा आदिका अलग अलग उल्लेख किया गया है। शिवाजी के प्रसंग में मार्क्स ने लक्ष्य किया था,"इस प्रकार मराठे एक जाति बने जिन पर एक स्वतंत्र राजा शासन करता था।" मार्क्स का अध्ययन कितना दोषपूर्ण है ,वह कहता है–"भारत का इतिहास उसकी जातियों का इतिहास है। बहुजातीय राष्ट्र का इतिहास हिन्दुओं का इतिहास नहीं है,मुसलमानों का इतिहास नहीं है। किंतु उसकी इस बात से सहमत हुआ जा सकता है कि भारत का यदि समग्र अध्ययन करना है तो विभिन्न प्रदेशों में रहने वाली जातियों के इतिहास का अध्ययन करना पड़ेगा। यह बात आज विमर्श की हो सकती है।

मार्क्स की एक बात यहां उल्लेखनीय है –"तुलनात्मक भाषाशास्त्र यह सिद्ध करता है कि जर्मन लोग धातुओं का ज्ञान अपने साथ अपने एशियाई मूल देश से लाये थे।" मार्क्स ने यूरोपीय भाषाओं का स्त्रोत भारत को कहा। इस तरह मार्क्स कहना चाहता है कि यूरोप और भारत का कहीं न कही आपस में संबंध था। या जर्मन ,ग्रीक, लैटिन आदि जन भारत के संपर्क में थे।

1.7.4 अन्य पाश्चात्य चिंतकों की दृष्टि

मनोवज्ञिान,मनोविश्लेषण और अर्थविज्ञान के आधार पर भी साहित्य के विभिन्न पक्षों के,विशेषतः शैली पक्ष के विकास की व्याख्या विभिन्न पांश्चात्य विद्वानों द्वारा हुई है,जिनमें आई.ए.रिचर्ड्स, विलियम एम्पसन,सी.एस.लेविस,डब्ल्यू.पी कर,एफ डब्ल्यू .बैटसन जैसे विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों द्वारा विभिन्न दृष्टियों से शैलीगत प्रवृतियों के विश्लेषणों एवं उनके आधारभूत कारणों को खोजने का प्रयास हुआ है,जिससे आंशिक रूप में साहित्येतिहास को भी समझने में सहायता मिल सकती है। किन्तु इनके निष्कर्षों में एकरूपता नहीं है।

अस्तु यह कहा जा सकता है का साहित्येतिहास की व्याख्या के लिए विभिन्न दृष्टियों से प्रयास होते रहे हैं,जो हमें किसी निश्चित,स्पष्ट एवं समन्वित निष्कर्ष तक नहीं पहुंचाते फिर भी इनसे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि आज साहित्य का अध्ययन–विश्लेषण केवल साहित्य तक सीतिम नहीं किया जा सकता। उसकी विषयगत प्रवृतियों व शैलीगत प्रक्रियाओं के स्पष्टीकरण के लिए उससे संबंधित राष्ट्रीय एवं सामाजिक परंपराओं आर्थिक परिस्थितियों,युगीन चेतनाओं एवं साहित्यकार की वैयक्तिक प्रवृतियों, उसके वैचारिक अवधारणाओं का विवेचन–विश्लेषण करना ही होगा। अतः कहा जा सकता है कि पूर्वोक्त सिद्धांत साहित्य की विकास–प्रक्रिया के विभिन्न अंगों ,पक्षों व तत्वों के सूचक हैं। यद्यपि इनमें कोई भी सिद्धांत परिपूर्ण नहीं है,किंतु आशिंक सत्य से भी वे दूर नहीं हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए किसी भी साहित्य की विकास–प्रक्रिया के अध्ययन के लिए उससे संबंधित इन पांच तत्वों पर विचार किया जाना चाहिए–

1– सर्जनशक्ति (साहित्यकार की प्रतिभा और उसका व्यक्तित्व),

2– परंपरा (साहित्यिक व सांस्कृतिक परंपराएं)

3– वातावरण

4– द्वंद्व

5– संतुलन

वस्तुतः यह सिद्धांत सृष्टि की सामान्य विकास–प्रक्रिया की दृष्टि से प्रतिपादित है,जिसे साहित्य पर लागू करते हुए संक्षेप में कहा जा सकता है–साहित्य के क्षेत्र में भी प्राकृतिक सर्जन–शक्ति अर्थात साहित्यकार की नैसर्गिक प्रतिभा, परंपरा (साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परंपरा) और वातावरण (युगीन परिस्थितियों,प्रवृतिओं तथा चेतना) के द्वंद्व से प्रेरित होकर गतिशील होती हैं, जिसका चरम लक्ष्य द्वंद्व के दोनों पक्षों में संतुलन स्थापन होता हैं वस्तुतः यह द्वंद्व साहित्यकार की मूल प्रेरणा है। किंतु स्थिति विशेष व व्यक्तिविशेष के अंतर से द्वंद्व का क्षेत्र परिवर्तित होता रहता है। अतः कोई साहित्यकार अपने ही आंतरिक या मानसिक द्वंद्व से परिचालित होता है तो कोई पारिवारिक,सामिजिक,आर्थिक,राजनीतिक

या अंतरराष्ट्रीय द्वंद्व से। एक क्षेत्र का द्वंद्व संतुलन शांत हो जाने पर साहित्यकार या साहित्यकारों की सर्जन–शक्ति किसी अन्य क्षेत्र के द्वंद्व की ओर उन्मुख होती हैं वस्तुतः परंपरा और युगीन वातावरण के अंतर्विरोध से उत्पन्न द्वंद्व ही साहित्य के विभिन्न आंदोलनों,उसकी धाराओं और प्रवृतियों को गति देता हुआ साहित्य की विकास–प्रक्रिया को संचालित करता हैं अतः साहित्येतिहास की विकासवादी व्याख्या के लिए उन सभी तथ्यों पर विचार करना आवश्यक है, जो साहित्यकार के व्यक्तित्व एवं उससे संबंधित पूर्व परंपरा,युगीन वातावरण ,द्वंद्व के स्त्रोत व अभीष्ट लक्ष्य आदि पर प्रकाश डालते हैं।

साहित्य विकास के उपर्युक्त सामान्य सिद्वांत के अतिरिक्त कुछ ऐसे सिद्वांत भी प्रतिपादित किये गये हैं, जिनमें साहित्य के रूपात्मक, प्रवृत्यात्मक तथा गुणात्मक विकास के अध्ययन में सहायता मिल सकती हैं। डॉ. नगेन्द्र कहते है कि यह अलग बात है कि जो लोग विकासवादी सिद्धातों का आधार ग्रहण करने का क्षेत्र मानते हुए उसे कला की श्रेणी में स्थान देते हैं,वे विकासवादी दृष्टिकोण और वैज्ञानिक पद्धति दोनों को ही व्यर्थ समझते हैं।

1.8 साहित्येतिहास

साहित्य –युग का प्रतिबिंब होता है। साहित्य में युग की आकांक्षाएं सामाजिक जीवन की विशषताएं,राजनीतिक प्रयत्न,धार्मिक चेतना आदि प्रतिफलित होती है। जिस काल की जो विशेषता रहती है वह उस काल की युगचेतना कहलाती है।आधुनिक युग में वैज्ञानिक अनुसंधानों के द्वारा नये सत्य अथवा सृष्टि के नये अन्तर्निहित संबंध प्रकाश मेंआ रहे हैं। पुरानी मान्यताएं अपर्याप्त सिद्ध हो रहीं हैं। चिंतन के क्षेत्र में भी स्वतंत्रता और मौलिकता दिखाई दे रही हैं।

युग को ललकार रहा भौतिक विज्ञान आज।
मनव को निर्मित करना होगा नव समाज।।

साहित्य के ऊपर युगीन चेतना का अनिवार्य रूप से प्रभाव काल के अनुरूप पड़ता है। हिंदी साहित्य को भी वीरगाथाकाल,भक्तिकाल रीतिकाल और आधुनिक काल आदि के नाम से बांटा। भक्तिकाल में धार्मिक और अध्यात्मिक रचनाओं का प्रभाव रहा। तत्कालीन संस्कृति अपनी रक्षा के लिए संघर्षरत रही। रीतिकाल की काव्यभूमि पर ,किसी विदेशी संकट के अभाव में ,समाज में आ जानेवाली निश्चिन्तता की भावना का और राजाओं के दरबारें में विलासितापूर्ण वातावरण का प्रभाव लक्षित होताहै। आधुनिक काल के साहित्य में कालक्रम के साथ बदलती हुई युक की आवश्यकताएं और आकांक्षएं यथाक्रम व्यंजित हुई हैं। यूरोप के पुनरुत्थानवादी साहित्य में समसामयिक धर्म और विज्ञज्ञन के द्वन्द्व से लोगों केमन में जाग्रत धार्मिक उपचारों की कृत्रिमता के प्रति वितृष्णा का भाव है । भारतीय साहित्य में एक ही राम के रूप में युगानुरूप कितने परिवर्तन हुए!इस संबध में परंपरा का बड़ा महत्व दिखाई देता है। परंपरा केवल कुद बद्धमूल विश्वासों कोही नहीं कहते,बल्कि उन समस्त रीतिनीतियों

के समूह को भी कहते हैं जो सामाजिक जीवनयापन के क्रम में सजीव हो गईं हैं। चेतना के तीनां ही व्यापार कालक्रम में सामाजिक संबंधों के बीच ,परंपरा के विभिन्न तत्वों के रूप में प्रस्तरीभूत हो जाते हैं । अतः परंपरा में जातीय चिंतन,विश्वास और आचार तीनों ही चले आते हैं। हमारे यहां साहित्यिक परंपरा वेदान्तदर्शन,भक्ति और वर्णाश्रम धर्म से प्रसूत हुई। यह निर्विवाद है कि मूलरूप में चिन्तन ,विश्वास ओर कर्म के ये स्त्रोत प्राकृत एवं शुद्ध हैं। कभी–कभी लगता है कि परंपरा को युगचेतना ने अपदस्थ किया है किंतु यह शंका क्षणिक है। भारत में परंपरा और युगचेतना साथ साथ चलती हैं । हम कालबाह्य हो चुकी चीजों को छोड़ते है और युगानुकूल आवश्कता पर कई नवीन चीजे प्राप्त भी करते हैं। विज्ञान से प्रभावित इस युग की तीन उपलब्धियां हैं–

1– बुद्धि का विस्तार और तार्किक विश्लेषण की प्रवृति

2– दृष्टि का विस्तार और अखण्ड मानववाद की भावना

3– स्वतंत्रता की आकांक्षा

इसके विपरीत दो प्रमुख हानियां भी हैं–

1– भावबोध की अस्तव्यस्तता और व्यक्तिकेन्द्रितता

2–एकरसता और हृदयहीनतां

कवि या ग्रंथकार पर तीन मुख्य बातों का प्रभाव पड़ता है। वेही उसके कृतिजन्य रूप को स्थिर करने में सहायक होती हैं, वे तीन बाते हैं जाति,स्थिति और काल। जाति से तात्पर्य किसी जनसमुदाय से नहीं बल्कि उसके स्वभाव से है। स्थिति से तात्पर्य उस सामाजिक ,राजनीतिक,धार्मिक और प्राकृतिक अवस्था से है जो उस जनसमुदास पर अपना प्रभाव डालती हैं और काल से तात्पर्य उस समय के जातीय विकास की अवस्था से है।

इस प्रकार हमें किसी युग के साहित्य को अर्थात एक ही युग के अनेक साहित्यकारों की रचनाओं की युग की विशेषताओं की दृष्टिगत करतेहुए परखना पड़ता है। प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में हर्ष–विषाद,नैतिक उत्थान और पतन के समय आते हैं।उसके जीवन में कभी सबल आस्था और आदर्श कभी श्शंका,सघर्ष और निराशा के काल दीख पड़ते हैं।

रेनन ने कहा है– प्रत्येक व्यक्ति अपनी जाति और युग का ही बना रहताहै,उसमें अपनी जाति और युग की भावनाओं के प्रति प्रतिक्रिया ही क्यों न रहे।"

साहित्य के इतिहास की बात आते ही संम्पूर्ण भारतीय साहित्य हमारे सामने आ जाता है।भारतीय संस्कृति उसकी गौरवपूर्ण परंपरा को आधार बनाकर अनेक साहित्यकारों ने अपनी रचना धर्मिता को परिपुष्ट किया है।अतीत की पृष्ठभूमि में साहित्यकार वर्तमान के परिपेक्ष्य में भविष्य की संभावना को खोजता है।वस्तुतः इतिहास अतीत की घटनाएं नही होती वह समाज और संस्कृति का आइना भी होती है।

सामन्यतः साहित्य के इतिहास में आलोचनात्मक दृष्टिकोण का उपयोग किया जाता है। साहित्येतिहास के साथ एक और शब्द आता है साहित्यलोचन। यहाँ थोड़ा सा दोनों का मिला–जुला विचार कर लेना उचित होगा जिससे दोनों के अन्तर भी स्पष्ट होगें और समझने में सारलता भी होगी। कभी कभी हम दोनों को एक मान बैठते हैं किन्तु सत्य इतना ही है कि ये दोनों एक दूसरे के पूरक व सहयोगी सिद्व होते हैं किन्तु मूलतः भिन्न हैं। इतिहास का लक्ष्य सदा अतीत की व्याख्या करते हुए विवेच्य वस्तु के विकासक्रम को स्पष्ट करने का होता है, जबकि आलोचना काव्य वस्तु के गुण–दोष पर विचार कर सकता है। किंतु वहाँ भी उसका लक्ष्य उन्हें युगीन प्रवृतियों के संदर्भ में देखने का रहता है; स्वतंत्र रूप से मूल्यांकन का नहीं। दूसरे आलोचना देश और काल को दृष्टिगतकर चलती है वहीं इतिहासकार कालक्रम और युगीन संदर्भ से जुड़कर चलता है। आलोचक व्यक्ति या कृति विशेष का मूल्यांकन स्वतंत्र रूप में भी कर सकता है,जबकि इतिहासकार ऐसा नही कर सकता उसे परंपरा और युगीन वातावरण और सन्दर्भ को लेकर ही चलना होगा।

अस्तु कहा जा सकता है कि साहित्य का इतिहासकार जहाँ अतीत के रचनाकार एवं उसके कार्य को विभिन्न विभिन्न परंपराओं और धाराओं के रूप में ग्रहण करते हुए युग विशेष के सन्दर्भ में विश्लेषण करता है वहीं आलोचक किन्हीं स्थापित मूल्यों के आधार पर या नये मूल्यों की स्थापना को उद्घाटित करता है। एक के द्वारा 'ऐसा क्यों हुआ' का उत्तर दिया जाता है, वहीं दूसरा 'इसमें क्या विशेषता है' की व्याख्या कारता है। किंतु अनेक कारणों से आज साहित्येतिहास और साित्यालोचन की सीमाएँ घुलमिल–सी गयी हैं, जिसके अनेक कारण हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि दोनों में अलग–अलग प्रकार की प्रतिभा,दृष्टि और पद्वतियों की आवश्यकता होती है। आज आधुनिक आलोचक आलोचना को विकृत कर आलोचना द्वारा आत्मप्रशंसा,वैयक्तिक प्रतिक्रिया,एकपक्षीय विवरण प्रस्तुत करते हैं। वही हाल कमोवेस इतिहास के साथ भी हो रहा है जिसमें परंपराओं, धाराओं व युगीन प्रवृतियों के तटस्त विश्लेषण की जगह वर्गविशेष की मानसिकता का पोषण,वादविशेष का प्रस्तुतीकरण,किया जा रहा है।

1.9 इकाई सारांश/याद रखने की बातें

(क) क्या इतिहास वर्तमान को प्रभावित करता है या वर्तमान भी इतिहास को पुनःपरिभाषित करता है। आज हम जिस साहित्य को पढ़ रहे हैं वह क्या किसी वैज्ञानिक दृष्टि से गुजरकर हमारे सामने आया है।

(ख) रामायाण को इतिहास ग्रंथ मानते हुए इतिहास की परिभाषा इस प्रकार दी गई है–

"धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्
पूर्ववृतं कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते। " (विष्णुधर्म–3.15.1)

(ग) शाब्दिक दृष्टि से 'इतिहास' का अर्थ है: 'ऐसा ही था'या 'ऐसा ही हुआ'। इससे इतिहास का संबंध अतीत से होना तथा वास्तविक या यर्थाथ घटनाओं का समावेश होता है। लाक्षणिक अर्थ में इतिहास का प्रयोग अतीत की घटनाओं के विवरण के स्थान पर स्वयं अतीत कालीन घटनाओं और व्यक्तियों के लिए भी होता है।

(घ) इतिहास अपने को दुहराता है ? यह अर्ध्यसत्य है; क्योंकि पूरा दुहराना असंभव है, हर दुहराना कुछ न कुछ नया होता ही है। हाँ,सादृश्य बराबर सक्रिय रहता है। इस रूप में इतिहास मनुष्य को समझने का अनेक मानदंडों में एक आवश्यक मानदंड है। परिमापन का प्रारंभ इसी से होता है तो आगे चलकर सब कुछ साफ–साफ और अधिक बारीकी से देख जा सकता हैं।

(ङ) इतिहास की सीमित सार्थकता को स्वीकार करते हुए प्रत्येक विधा सक्रिय होती है। साहित्य भी इतिहास की इस शक्ति को पहचानता है तभी वह इतिहास के परे उड़ान भरने की सोचता है।

(च) साहित्य को समझने में कुछ हद तक इतिहास की पृष्ठभूमि का ज्ञान आवश्यक होता है। किन्तु यदि अध्ययन कोरा ऐतिहासिक होकर रह जाता है तो साहित्य के भीतर बहनेवाली निरंतरता की धारा को नहीं देख पाता।

(छ) साहित्य इतिहास की अनदेखी नहीं करता,करे तो कालव्यत्यय दोष आता है। साथ ही साहित्य मिथक तो नया रचता है,पुराने को संवारता है;परन्तु वह इतिहास के तथ्य को विकृत करने का अधिकार नहीं पाता,क्योंकि उसे साहित्य होने के नाते स्वयंभू होने का अधिकार नही होता है।

(ज) इतिहासदर्शन के अन्तर्गत इतिहास के संबंध में प्रयुक्त व प्रचलित विभिन्न दृष्टिकोणों, धारणाओं व विचारों का अध्ययन किय जाता है। अस्तु,इतिहास संबंधी इन्हीं विचार धारणाओं को समूहरूप में 'इतिहासदर्शन' की संज्ञा दी जाती है।

(झ) इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण आदर्शमूलक एवं अध्यात्मवादी रहा है,इसीलिए उसमें भौतिक जगत की स्थूल घटनाओं में भी आध्यात्मिक तत्वों व प्रवृतियों के अनुसंधान की प्रवृति रही है।

(ट) हिरदोतस मानता है कि इतिहास का लक्ष्य प्राकृतिक या भौतिक परिवर्तन की प्रक्रिया की व्याख्या करना है।

(ठ) पश्चिम के इतिहासकार ही मानते है कि चूकि मनुष्य स्वयं में स्वतंत्र विचार का प्राणी हैं अतः उसके इतिहास को भी किसी नियम से आबद्ध करना कैसे संम्भव है। अतः

पश्चिम की इतिहास की अवधारणा आपस में ही भ्रमपूर्ण है।

(ड) सामन्यतः 'इतिहास' शब्द से राजनीतिक व सांस्कृतिक इतिहास का ही बोध होता है किन्तु वास्तविकता यह है कि सृष्टि की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसका इतिहास से संबंध न हो।

(त) किसी भी साहित्य की विकास–प्रक्रिया के अध्ययन के लिए उससे संबंधित इन पांच तत्वों पर विचार किया जना चाहिए:1–सर्जनशक्ति (साहित्यकार की प्रतिभा और उसका व्यक्तित्व), 2– परंपरा (साहित्यिक व सांस्कृतिक परंपराए),3–वातावरण,4– द्वंद्व,5– संतुलन

(थ) इतिहास का लक्ष्य सदा अतीत की व्याख्या करते हुए विवेच्य वस्तु के विकासक्रम को स्पष्ट करने का होता है, जबकि आलोचना काव्य वस्तु के गुण–दोष पर विचार कर सकता है।

(द) साहित्य का इतिहासकार जहाँ अतीत के रचनाकार एवं उसके कार्य को भिन्न–भिन्न परंपराओं और धाराओं के रूप में ग्रहण करते हुए युग विशेष के सन्दर्भ में विश्लेषण करता है वहीं आलोचक किन्हीं स्थापित मूल्यों के आधार पर या नये मूल्यों की स्थापना को उद्घाटित करता है।

(ध) इतिहास के ऐसे दौर में जब जर्मन सम्राट कार्ल पंचम ने प्रतिज्ञा की थी कि वे जर्मन भाषा का व्यवहार केवल अपने घोड़े से करेंगे,जिस समय अभिजात वर्ग और जर्मनी के बुद्धिजीवी हलके केवल लेटिन लिखते थे और अपनी मातृभाषा का व्यवहार करना शर्म की बात समझते थे,उस समय संत सिरिल और मैथसेदियस ने बल्गारिया की पुरानी लिपि ईजाद की और उसके व्यवहार को प्रसारित किया। –दिमित्रोव

(न) " हमारी जनता पांच सौ साल तक विदेशी शासन के नीचे रही है लेकिन उसने अपनी भाषा और जातीय चरित्र की रक्षा की है। यह जाति मजदूरों और किसानों से बनी है जो बल्गारिया का फासिस्टवाद से लड़े हैं और अभी लड़ रहे हैं । ऐसी जनता बर्बर नहीं है, असभ्य नहीं है।" "– दिमित्रोव

(प) "इस प्रकार मराठे एक जाति बने जिन पर एक स्वतंत्र राजा शासन करता था।" मार्क्स

(फ) "तुलनात्मक भाषाशास्त्र यह सिद्ध करता है कि जर्मन लोग धातुओं का ज्ञान अपने साथ अपने एशियाई मूल देश से लाये थे।"– मार्क्स

(ब) 'जो लोग विकासवादी सिद्धातों का आधार ग्रहण करने का क्षेत्र मानते हुए साहित्य को कला की श्रेणी में स्थान देते हैं,वे विकासवादी दृष्टिकोण और वैज्ञानिक पद्धति दोनों को ही व्यर्थ समझते हैं। डॉ. नगेन्द्र

1.10 अपनी प्रगति की जांचिए

(क) दीर्घ प्रश्न–

(1) इतिहास के शाब्दिक एवं लाक्षणिक अर्थ समझाइये

(2) इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण क्या है।

(3) इतिहास के प्रति पश्चिम का दृष्टिकोण क्या है ,पश्चिम एवं भारतीय दृष्टि में अन्तर समझाइये।

(4) 'इतिहासदर्शन' क्या है विस्तार से प्रकाश डालते हुऐ परिभाषित कीजिए ।

(5) साहित्येतिहास और साहित्यलोचन में अन्तर बताइये।

(6) साहित्य के विकास प्रक्रिया के अध्ययन के लिये किन तत्वों पर विचार किया जाना चाहिये।

(ख) पचास शब्दों में उत्तर दें–

(1) साहित्येतिहास का उद्देश्य बताइये

(2) इतिहास का शाब्दिक अर्थ बताइये

(3) इतिहास के लाक्षणिक अर्थ बताइये

(4) इतिहास का व्यापक अर्थ समझाइये

(5) इतिहास कला है अथवा विज्ञान

(6) हिंदी प्रदेश और इतिहास

(7) इतिहास और साहित्य

(8) भारतीय परम्परा और ऐतिहासिक अतीत

(9) पाश्चात्य दृष्टि और यर्थाथवाद

(10) तेन की अवधारणा

(11) मार्क्सवाद की अवधारण

(12) जर्मन चिंतको की अवधारणा

(13) साहित्येइतिहास एवं पाश्चत्य का कालविभाजन

(14) साहित्य का इतिहास दर्शन

(15) इतिहास के प्रति आदर्श और आध्यत्मिक दृष्टिकोण

(16) भारतीय साहित्येतिहास में युग विभाजन

(17) इतिहास और पाश्चात्य दृष्टिकोण

(18) पाश्चात्य दृष्टि और यर्थाथवाद

(ग) वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

(सही उत्तर पर चिन्ह लगाएं)

(1) इतिहास के प्रथम व्याख्याता यूनानी विद्वान का नाम –

(क) हिरोदोतस (ख) विलियम

(ग) जोन (घ) आर्कपिट

(2) हिरोदोतस ने इतिहास के कितने लक्षण निर्धारित किए:

(क) 1 (ख) 4

(ग) 5 (घ) 7

(3) विको कहा का रहने वाला था :

(क) इटली (ख) जर्मनी

(ग) भारत (घ) श्रीलंका

(4) दार्शनिक कांत कहां का रहने वाला था:

(क) जर्मन (ख) इटली

(ग) फ्रांस (घ) अमरीका

(5) डार्विन का विकासवाद किस पर लागू होता है

(क) प्राणियों (ख) पत्थरों

(ग) देवताओं (घ) साहित्यों पर

(6) मार्क्स का कौन सा सिद्धांत था:

(क) द्वंद्वात्मक भौतिक विकासवाद (ख) समन्वयवाद

(ग) युगचेतनावाद (घ) क्षणवाद

(7) 'तेन' साहित्य की विभिन्न प्रवृतियों के मूल में कौन से तीन तत्वों को मानता है:

(क) जाति,वातावरण और क्षणविशेष (ख) जाति,देश और काल

(ग) जाति,अर्थ और बल

(8) क्या सब कुछ नियत पूर्ववर्ती कारण से ही होता है ? क्या मनुष्य में कुछ अप्रत्याशित घटाने वाली श्शक्ति नहीं है ? यह कथन किसका है

(क) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (ख) विद्यानिवास मिश्र (ग) केशव

(9) आचार्य नगेन्द्र कहा के रहने वाले हैं

(क) भारत (ख) मारीसस (ग) घना

(10) महान कवि गेटे की साहित्यिक प्रवृतियों की व्यख्या किसने की

(क) ए.एच.कांफे (ख) हीगल (ग) जोक

(11) मार्क्सवादी यर्थावाद' के प्रवर्तक हैं–

(क) एंजिल (ख) हीगल (ग) मार्क्स

(12) 'इतिहास के ऐसे दौर में जब जर्मन सम्राट कार्ल पंचम ने प्रतिज्ञा की थी कि वे जर्मन भाषा का व्यवहार केवल अपने घोड़े से करेंगे,जिस समय अभिजात वर्ग और जर्मनी के बुद्धिजीवी हलके केवल लेटिन लिखते थे और अपनी मातृभाषा का व्यवहार करना शर्म की बात समझते थे,उस समय संत सिरिल और मैथसेदियस ने बल्गारिया की पुरानी लिपि ईजाद की और उसके व्यवहार को प्रसारित किया।' उक्त कथन किसका है–

(क) दिमित्रोव (ख) नीत्से (ग) तेन

(13) "हमारी जनता पांच सौ साल तक विदेशी शासन के नीचे रही है लेकिन उसने अपनी भाषा और जातीय चरित्र की रक्षा की है। यह जाति मजदूरों और किसानों से बनी है जो बल्गारिया का फासिस्टवाद से लड़े हैं और अभी लड़ रहे हैं। ऐसी जनता बर्बर नहीं है, असभ्य नहीं है।" उक्त कथन किसका है–

(क) दिमित्रोव (ख) नीत्से (ग) तेन

(14) "इस प्रकार मराठे एक जाति बने जिन पर एक स्वतंत्र राजा शासन करता था।" उक्त कथन किसका है–

(क) मार्क्स (ख) नीत्से (ग) तेन

(15) अपनी मातृभाषा का व्यवहार करना जब जर्मन सम्राट कार्ल पंचम शर्म की बात समझते थे, उस समय किस संत ने बल्गारिया की पुरानी लिपि ईजाद की और उसके व्यवहार को प्रसारित किया।"

(क) लूथर (ख) नीत्से

(ग) सिरिल और मैथसेदियस

(16) हिटलर के अभ्युदय के समय जो स्थिति जर्मनी के वामपक्ष की थी,उससे मिलती जलती स्थिति बीसवीं सदी के अंत में भारत के और विशेष रूप से हिंदी प्रदेश की थी। उक्त कथन किसका है–

(क) लूथर (ख) नीत्से

(ग) डॉ रामविलास शर्मा

(17) "तुलनात्मक भाषाशास्त्र यह सिद्ध करता है कि जर्मन लोग धातुओं का ज्ञान अपने

साथ अपने एशियाई मूल के देश भारत से लाये थे।''– उक्त कथन किसका है–

(क) लूथर (ख) नीत्से (ग) मार्क्स

(18) 'जो लोग विकासवादी सिद्धातों का आधार ग्रहण करने का क्षेत्र मानते हुए साहित्य को कला की श्रेणी में स्थान देते हैं,वे विकासवादी दृष्टिकोण और वैज्ञानिक पद्धति दोनों को ही व्यर्थ समझते हैं। उक्त कथन किसका है–

(क) लूथर (ख) नीत्से (ग) डॉ. नगेन्द्र

(19) कोऽन्यः कालमतिक्रान्तं नेतुं प्रत्यच्तां क्षमः।
कविप्रजापर्तीस्त्यक्त्वा रम्यनिर्माणशालिनः।।

(क) भास (ख) कालिदास

(ग) महाकवि कल्हण

(20) भौतिक नृतत्वशास्त्र को अंग्रेजी में क्या कहते हैं

(क) फिजिकल एंथ्रोपोलाजी (ख) साइकोलोजी (ग) पैरामेडिकल

(21) 'वनारस का बुढ़वा मंगल' --किसका आलेख है

(क) विद्यानिवास मिश्र (ख) बद्रीघन चौधरी

(ग) केदारनाथ सिंह

(22) भारतीय साहित्येतिहास में युग विभाजन कितने प्रकार के हैं–

(क) पांच (ख) चार (ग) तीन

(23) पश्चिम में कालविभाजन किस शब्द से संम्बोधित है:

(क) एरा (ख) युगाब्द (ग) शताब्दि

(24) बी.सी. का कालगणना में अर्थ होता है–

(क) ईसा पूर्व (ख) ईसा पश्चात (ग) शताब्दि

(25) माडर्न शशब्द का प्रयोग किसके विरूद्ध अर्थ में हुआ है–

(क) एन्टीक (ख) ईसा पश्चात (ग) शताब्दि

(26) रोमनराज्य के अधःपतन के बाद जिस युग का आरंभ हुआ ,वह है–

(क) इनलाइन्टमेंट (ख) डार्क ऐज (ग) शताब्दि

(27) 'पीरियड' शब्द किस भाषा का है

(क) ग्रीक (ख) इटेलियन (ग) हिंदी

(28) होमर के पूर्व की यूनान संस्कृत का नाम था

(क) माइसेनियन (ख) इटेलियन (ग) बाइसेनियन

(29) होमर का अनुमानित समय था

(क) 9वीं शताब्दि (ख) 8 वीं शताब्दि (ग) 6 वीं शताब्दि

उत्तर–

(1) क हिरोदोतस (2) ख 4 (3) क इटली
(4) क जर्मन (5) क प्राणियों, (6) क द्वंद्वात्मक भौतिक विकासवाद,
(7) क जाति,वातावरण और क्षणविशेष, (8) ख विद्यानिवास मिश्र,
(9) क भारत , (10) क ए.एच.कांफे, (11) ग मार्क्स,
(12) क दिमित्रोव, (13) क दिमित्रोव, (14) क मार्क्स,
(15) ग सिरिल और मैथसेदियस, (16) ग डॉ रामविलास शर्मा,
(17) ग मार्क्स, (18) ग डॉ. नगेन्द्र, (19) ग महाकवि कल्हण,
(20) क फिजिकल एंथ्रोपोलाजी, (21) ख बद्रीघन चौधरी,
(22) क पांच, (23) क एरा, (24) क ईसा पूर्व,
(25) क एन्टीक, (26) क इनलाइन्टमेंट, (27) क ग्रीक,
(28) क माइसेनियन (29) क 9वीं शताब्दि

1.11 चर्चा और स्प टीकरण के बिन्दु

इस इकाई को पढ़ने के बाद यदि कोई चर्चा करनी है तो उसके विन्दु निकालिये–

(1.11.1) चर्चा के बिन्दु

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

(1.11.2) स्पष्टीकरण के बिन्दु

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

1.12 आगे की पढाई

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास :डा नगेन्द्र
2. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास:डा गणपति चन्द्र गुप्त
3. हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास :डा किशोरी लाल गुप्त
4. रामायण महाभारत डॉ वासुदेव पोद्दार
5. हिन्दी साहित्य की भूमिका –हजारी प्रसाद द्विवेदी
6. साहित्य का खुला आकाश –विद्या निवास मिश्र
7. हिंदी साहित्य भाग – डां धीरेन्द्र वर्मा

इकाई – 2

हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरा, आधारभूत सामग्री और साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की समस्याएँ

इकाई संरचना

2.1 परिचय

2.2 उद्देश्य

2.3 हिंदी–भाषा :उद्भव ,विकास एवं स्वरूप

2.3.1 संस्कृत कालीन भाषा–

2.3.2– हिंदी प्रदेश की भाषा,बोलिया तथा उनका वर्गीकरण

2.3.3 –बोलियों का सामान्य परिचय–

2.3.4 –हिंदी ,हिंन्दुई ,हिंदुस्थानी एवं उर्दू–

2.3.5–हिंदी नाम,उसके विभन्न रूप तथा हिंदी का विकास

2.4 हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा

2.4.1–उन्नीसवीं शती से पूर्व

2.4.2–भारतीय परंपरा

2.4.3– अन्य भारतीय परंपरा के प्रयास

2.5 लेखन की आधारभूत सामग्री

2.6 पुनर्लेखन की आवश्यकता

2.7 इतिहास लेखन का आधार

2.8 इतिहास लेखन की समस्याएँ

2.9 इकाई सारांश / याद रखने की बाते

2.10 अपनी प्रगति की जांच

2.11 उत्तर–समाधान

2.12 चर्चा और स्पष्टीकरण के बिन्दु

2.13 संदर्भ ग्रंथ

साहित्य के अभिव्यक्ति का साधन उसकी भाषा होती है। जिस देश जाति की जो भाषा होती है वहां का कवि,साहित्यकार अथवा रचनाकार जो भी कहें वह उसमें अपनी अभिव्यक्ति करता है। जाहिर है हिंदी साहित्य के अभिव्यक्ति का साधन उसकी अपनी भाषा हिंदी है। हिन्दी शब्द का संबंध संस्कृत शब्द 'सिंधु' से माना जाता है। 'सिंधु' भारत की प्राचीन नदियों में से है। इसी के आधार पर उसके आसपास की भूमि को 'सिंध' कहने लगे। यह 'सिंधु' शब्द इारनी में जाकर 'हिन्दु' और फिर हिन्द हो गया। ....इसी में ईरानी का 'ईक' प्रत्यय लगने से 'हिंदीक' बना, जिसका अर्थ है 'हिन्दका'। यूनानी शब्द इंदिका या अंग्रेजी शब्द 'इंडिया' आदि इस 'हिंदीक' के ही विकसित रूप हैं। हिंदी भाषा का प्राचीनतम शब्द प्रयोग शरफुद्दीन के 'जफरनामा' (1424) में मिलता है।

हिन्दी शब्द का प्रयोग आज मुख्य रूप से तीन अर्थों में हो रहा है–

(क) 'हिन्द' शब्द अपने विस्तृततम अर्थ में हिन्दी प्रदेश में बोली जाने वाली सत्रह बोलियों का द्योतक है। हिंदी साहित्य के इतिहास में 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग इस अर्थ में होता है, इसलिए इसके अंतर्गत ब्रज,अवधी,डिंगल,मैथिली,खड़ीबोली आदि प्रायः सभी में लिखित साहित्य का विवेचन किया जाता है।

(ख) भाषा विज्ञान में प्रायः 'पश्चिमी हिंदी' और 'पूर्वी हिदी' को ही हिंदी मानते रहे हैं। ग्रियर्सन ने इसी आधार पर हिंदी प्रदेश की अन्य उपभाषाओं को राजस्थानी, पहाड़ी,बिहारी कहा था,जिनमें 'हिंदी' शब्द का प्रयोग नहीं है,किंतु अन्य दो को हिंदी मानने के कारण 'पश्चिमी हिंदी' तथा पूर्वी हिंदी नाम दिया था।इस प्रकार इस अर्थ में हिंदी आठ बोलियों (ब्रज,खड़ीबोली,बुंदेली,हिरयाणी,कन्नौजी, अवधी,बघेली,छत्तीसगढ़ी{जो अब छ.ग.राज्य की सरकारी कामकाजी भाषा है}) का सामूहिक नाम है।

(ग) हिंदी शब्द का संकुचिततम अर्थ है :खड़ीबोली साहित्यिक हिंदी रूप जो आज हिंदी प्रदेशों की सरकारी भाषा है,पूरे भारत की राजभाषा है,समाचार पत्रों और फिल्मों में जिसका प्रयोग होता है,जो हिदी प्रदेश में शिक्षा का माध्यम है और जिसे 'परिनिष्ठित हिन्दी',या 'मानक भाषा' आदि नामों से भी अभिहित करते हैं।

श्री कुप्पी हल्ली सीतारम्मया 'शुदर्शन' जी कहते हैं कि हिन्दी भारत की संम्पर्क भाषा घोषित होनी चाहिए। जिसे तामिलनाडु एवं सभी दक्षिण–पूर्वी राज्य मानने को तैयार हैं। हिंदी साहित्य की परंपरा में सर्वोच्च स्थान आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा रचित 'हिंदी साहित्य का इतिहास'(1929)को प्राप्त है,जो मूलतः नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित'हिन्दी शब्द–सागर'की भूमिका के रूप में लिखा गया था तथा जिसे आगे परिवर्द्धित एवं विस्तृत कर स्वतंत्र पुस्तक का रूप दे दिया गया। आचार्य शुक्ल ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए कहा था–

"जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चितवृति की संचित प्रतिबिंब होता है,तब यह निश्चित है कि जनता की चितवृति के परिवर्तन के साथ–साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है, आदि से अंत तक इन्हीं चितवृतियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चितवृति बहुत कुछ राजनीतिक,सामाजिक,सांप्रदायिक तथा धर्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।"

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल ने साहित्सेतिहास के प्रति एक निश्चित व सुस्पष्ट दृष्किोण का परिचय देते हुए युगीन परिस्थितियों के संदर्भ में साहित्य के विकास–क्रम की व्याख्या करने का प्रयास किया। अतः यह माना जा सकता है कि आचार्य जी ने साहित्सेतिहास को साहित्यालोचन से पृथक रूप में ग्रहण करते हुए विकासवादी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचय दिया और यह परंपरा आगे और सुदृढ़ तथा वैज्ञानिक होती गयी।

2.2 उद्देश्य

साहित्य के इतिहास लेखन की दिशा में हिंदी में अभी उचित प्रगति नहीं हुई है। अन्य भाषाओं में तो स्थिति और खराब है। इसका कारण यह है कि इतिहासविधा की हमारे देश में विकसित परंपरा नहीं रही है और आज भी हम इस दिशा में विशेष उन्नति नहीं कर पाये हैं। परिणाम यह है कि सौ से ऊपर इतिहासग्रंथों के प्रकाशन के बाद भी हिंदी में सर्वाधिक प्रामाणिक इतिहास आचार्य शुक्ल का ही है, जिसकी रचना सन् 1929 में हुइ थी। यह स्थिति हिंदी के गौरव के अनुकूल नहीं हैं,विशेषतः तब जबकि हिंदी का आलोचना –साहित्य इतना समृद्ध हो चुका है। नागरी प्रचारिणी सभा ने बृहत इतिहास की योजना द्वारा एक महान कार्य प्रारंभ हुआ।

आज साहित्य ही नहीं सभी क्षेत्रों में निरन्तर शोध हो रहे है। प्रत्येक दशक में विभिन्न प्रकार की रचनाएं सामने आ रही है। इतिहास लेखन से अद्यतनश्शोध–परिणामों और विकसित साहित्य चेतना को सामने लाना।

ऐतिहासिक दृष्टि और आलोचना शक्ति से युक्त लेखको को इस बात की जानकारी देना कि जनता की चितवृतियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाय जाय,'साहित्य का इतिहास' लिखने का उद्देश्य है।

नवीन शोध परिणामों और विकसित साहित्यचेतना को ध्यान में रखते हुए कुछ लेखकों का समुदाय तैयार कर हिंदी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन के आवश्यकता की जानकारी देना।

घनिष्ठ सम्पर्क एवं सहयोग के आधार पर शैलीभेद होन पर भी ऐतिहासिक परिदर्शन की एकता एवं युगचेतना और साहित्यतिक चेतना के समन्वय पर आधारित साहित्य

के इतिहास के संश्लिष्ट स्वरूप का ज्ञान कराना।

हिन्दी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता क्यो? वस्तुतः आज आवश्यक है कि युगचेतना और साहित्यचेतना के समन्वय पर आधृत साहित्य के इतिहास के संश्लिष्ट स्वरूप को हम स्वीकार करें और इसी आधार पर एक सामंजस्य रूपरेखा का निर्माण कर अर्थात हिंदी भाषी भू–भाग के सांस्कृतिक इतिहास के परिवेश में उसके प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष प्रभाव में विकसित और हिंदी के विविध रूपों के माध्यम से अभिव्यक्त,साहित्य–चेतना के विकासक्रम का साहित्यिक प्रतिमानों के आधार पर आकलन करना ।

.साहित्य के मौलिक प्रतिमानों की जानकारी प्राप्तकर नवीन श्शोधसामग्री का उपयोग करना। नवीन स्थापनाओं का परीक्षण करना ,प्रकृति विश्लेषण, तथा प्रमुख कवि ,लेखकों और कृतियों के योगदान का स्थान –निर्धारण करना।

.हिन्दी साहित्य के इतिहास की जानकारी–– साहित्य लेखन का परिचय

एक समन्वयात्मक दृष्टि से अवलंबन करना एवं नवीन साहित्य परंपरा जैसे बाल साहित्य परंपरा के साथ नवीन विकसित हो रहीं विधाओं का परिचय कराना।

इतिहास लेखन में साहित्य की सीमा कहां तक (भौगोलिक एवं काल दोनों की) कहां तक जाती है का निर्धारण करना ।

इतिहास लेखन की अपनी एक परंपरा रही है ,विदेशी लेखकों से लेकर हिंदी साहित्य के इतिहास लेखकों की जानकारी तथा उनके ग्रंथों का वर्तमान परिपेक्ष्य में मूल्यांकन करना।

2.3 हिंदी–भाषा :उद्भव ,विकास एवं स्वरूप

हिंदी साहित्य के विद्यार्थी के लिए जितना महत्व साहित्य के उद्भव एवं विकास का है उतना ही महत्व इस बात का है कि जिस साहित्य को हम पढ़ते हैं और आखिर उसकी भाषा का क्या स्वरूप है।

'हिंदी' भारत की प्राचीनतम भाषाओं की जननी संस्कृत से ही उद्भूत है। संस्कृत का काल सामान्य रूप से 1500 से 500 ई.पू. तक माना जाता है। इस काल में संस्कृत सामान्य जन से लेकर सभ्रांत जनों की भाषा रही है। इसी भाषा का शिष्ट एवं मानक रूप संस्कृत वाड्मय में प्रयुक्त हुआ ।संस्कृत भाषा के भी दो रूप मिलते हैं । एक है वैदिक संस्कृत तो दूसरी है लौकिक। वैदिक संस्कृत में वैदिक वाड्मय की रचना हुई।लौकिक या क्लासिकल संस्कृत में वाल्मीकि,व्यास ,भास,अश्वघोष आदि की रचनाएं हैं। इस संस्कृत –काल के अंत तक मानक या परिनिष्ठित भाषा तो एक थी,किंतु तीन क्षेत्रीय बोलियां विकसित हो चली थी। जिन्हें पश्चिमोत्तरी,मध्यदेशी तथा पूर्वी नाम से अभिहित किया जा सकता है।

2.3.1–**संस्कृत कालीन भाषा–** संस्कृतकालीन बोलचाल की भाषा विकसित होत–होते 500 ई.पू. के बाद प्रवृतितः काफी बदल गयी,जिसे'पालि' की संज्ञा दी गयी है। इसका काल 500 ई.पू. से पहली ईसवी तक है। बौद्ध ग्रंथो में पालि का जो रूप मिलता है वह इस बोलचाल की भाषा का ही शिष्ट और मानक रूप था। इस काल में क्षेत्रीय बोलियों की संख्या चार हो गयी थीः– पश्चमोत्तरी, मध्यदेशी, पूर्वी और दक्षिणी।

प्राकृतों से ही विभिन्न क्षेत्रीय अपभ्रंशों का विकास हुआ। अपभ्रंश भाषा का काल मोटे रूप से 500 ई से 1000 ई तक है । आज के प्राप्त अपभ्रंश साहित्य में मुख्यतः पश्चिमी और पूर्वी दो ही भाषा रूप मिलते हैं किंतु प्राकृत के मुख्यतः पांच क्षेत्रीय रूपों तथा आज की नौ(लहंदा,पंजाबी,सिंधी,गुजराती,मराठी,हिंदी,उड़िया,बंग्ला,असमिया) आर्य भाषाओं के बीच की अपभ्रंश रूप में प्राप्त कड़ी के क्षेत्रीय रूपों की संख्या छह से दस के बीच में ही होगी;इससे कम नहीं हो सकती । इससे यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि अपभ्रंश के सभी क्षेत्रीय रूपों का नाम के अभाव में प्राकृत नामों से ही अभिहित करें तो आधुनिक आर्य भाषाओं का जन्म अपभ्रंश के विभिन्न क्षेत्रीय रूपों से इस प्रकार माना जा सकता हैः

अपभ्रंश और आधुनिक भाषाएं तथा उपभाषाएं–

1–शौरसेनी– पश्चिमी हिंदी,राजस्थानी ,पहाड़ी ,गुजराती

2– पैशाची– लहंदा ,पंजाबी

3– ब्राचड़– सिंधी

4– महाराष्ट्री– मराठी

5– मागधी –बिहारी,बांग्ला,उड़िया,असमिया

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि हिंदी भाषा का उद्भव अपभ्रंश के शौनसेनी ,अर्धमागधी और रूपों से हुआ है।

2.3.2– हिंदी प्रदेश की भाषा एवं बोलिया तथा उनका वर्गीकरण–

अब थोड़ा सा परिचय हिंदी प्रदेश और उपभाषाएं एवं बोलिओं का किया जाय। हिंदी भाषा का क्षेत्र हिमाचल प्रदेश ,पंजाब का कुछ भाग,हिरयाणा, राजस्थान,दिल्ली उत्तर प्रदेश,उत्तरांचल ,छत्तीसगढ़ झारखंड मध्यप्रदेश तथा बिहार है जिसे हिंदी प्रदेश कहते हैं। यहां प्रायः साहित्य में मानक हिंदी का प्रयोग होता है। इस पूरे क्षेत्र में हिंदी की पांच उपभाषाएं है जिनके अंतर्गत 10 बोलियां हैंः

भाषा, उपभाषा और बोलियों का वर्गीकरण निम्नानुसार है–

भाषा – हिंदी

उपभाषाएं

1– पश्चिमी हिंदी–(उपभाषा)

बोलियां:

1– खड़ीबोली या कौरची

2–ब्रजभाषा

3–हरियाणी

4–बुंदेली

5 – कन्नौजी

2–पूर्वीहिंदी– (उपभाषा)

बोलियां:–

1–अवधी

2–बघेली

3–छत्तीसगढी (वर्तमान में छत्तीसगढ़ प्रांत की भाषा)

3– राजस्थानी (उपभाषा)

बोलियां:–

1–पश्चिमी राजस्थानी (मारवाड़ी),

2–पूर्वी राजस्थानी (जयपुरी)

3–उत्तरी राजस्थानी (मेवाती)

4–दक्षिणी राजस्थानी (मालवी)

4– पहाड़ी (उपभाषा)

बोलियां:–

1–पश्चिमी पहाड़ी

2–मध्यवती पहाड़ी (कुमाऊंनी गढ़वाली)

5–बिहारी (उपभाषा)

बोलियां–

1–भोजपुरी

2–मगही

3–मैथिली

2.3.3– बोलियों का सामान्य परिचय–

1–खड़ी बोली – 'खड़ी बोली 'शब्द का प्रयोग दो अर्थो में होता है: एक तो

साहित्यिक हिंदी खड़ी बोली के अर्थ में और दूसरे ,दिल्ली–मेरठ आसपास की लोक बोली के अर्थ में। यहां दूसरे अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग किया जा रहा है । इसी अर्थ में 'कौरवी' का भी प्रयोग कुछ लोग करते है। खड़ीबोली में 'खड़ी' शब्द का अर्थ विवादास्पद है। कुछ लोगों ने 'खड़ी' अर्थात स्टैण्ड तो कुछ लोगों ने इसे अधिकता के निहतार्थ प्रयोग माना। खड़ीबोली या कौरवी का उद्भव श्शौरशेनी अपभ्रंश के उत्तरी रूप से हुआ है तथा इसका क्षेत्र देहरादून का मैदानी भाग,सहारनपुर,मुजफ्फरपुर,मेरठ,दिल्ली का कुछ भाग ,बिजनौर रामपुर तथा मुरादाबाद है। लोक साहित्य की दृष्टि से खड़ी बोली बहुत संपन्न है। और इसमें पवाड़ा,नाटक ,लोककथा,लोकगीत आदि पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इनका काफी अंश प्रकाशित भी हो चुका है। हिंदी ,उर्दू हिंदुस्तानी तथा दक्खिनी एक सीमा तक खड़ी बोली पर आधारित है।

2–ब्रजभाषा– ब्रज का पुराना अर्थ 'पशुओं' या गौओ का समूह या चारागाह आदि है। पशुपालन के प्राधान्य के कारण यह क्षेत्र ब्रज कहलाया। और इसी आधार पर इसकी बोली ब्रजभाषा कहलायी। इसका विकास शैरसेनी अपभ्रंश के मध्यवर्ती रूप में हुआ। ब्रजभाषा आगरा,मथुरा,अलीगढ़,धौलपुर ,मैनपुरी ,एटा बदायू करेली तथा आसपास के क्षेत्रों में बोली जाती है। साहित्य और लोकसाहित्य दोनों ही दृष्टियों से ब्रजभाषा बहुत संपन्न है। हिंदी प्रदेश के बाहर भी भारत के बाहर भी अनेक क्षेत्रों में ब्रज भाषा में साहित्य का सृजन होता है।तुलसी,सूर,नन्ददास,रहीम,रसखान,बिहारी,देवआदि इसके प्रमुख कवि हैं।

3– हरियाणी– हरियाणी की व्युत्पत्ति की विवादास्पद है। हरि +यान अर्थात कृष्ण का यान ,कहते हैं कृष्ण इधर से ही द्वारका गये थे। दूसरा अर्थ है हरि +अरण्य अर्थात हरा वन प्रदेश।किंतु यह सब मत केवल कपोल कल्पना पर आधारित है,अतः मान्य नहीं। हरियाणी का उद्भव और विकास शौरसेनी अपभ्रंश के पश्चिमी रूप से हुआ है ।खड़ीबोली ,अहीरवाटी,पंजाबी,मारवाड़ी से घिरी इस बोली को कुछ लोग खड़ीबोली का पंजाबी से प्रभावित रूप मानते हैं। इसका क्षेत्र मोटे रूप में हरियाणा तथा दिल्ली का देहाती भाग है। हरियाणी में केवल लोक साहित्य है जिसका कुछ भाग प्रकाशित है।

4–बुंदेली– बुंदेले राजपूतों के कारण मध्यप्रदेश तथा उत्तर प्रदेश की सीमा रेखा के झांसी ,छत्रपुर ,सागर आदि तथा आसपास के भाग को बुंदेलखण्ड कहते हैं ,वहीं की बोली बुंदेली या बुंदेलखंण्डी है। इसका क्षेत्र झांसी ,जालौन ,हमीरपुर ,ग्वालियर ,ओरछा ,सागर ,नरसिंहपुर ,सिवनी ,होशंगाबाद तथा आस–पास का क्षेत्र है। बुंदेली का विकास श्शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। बुंदेली में लोकसाहित्य काफी है। जिसमें ईसुरी के फाग बड़े प्रसिद्ध है। कहा जाता है किहिंदी प्रदेश की प्रसिद्ध लोकगाथा आल्हा जिसे हिंदी साहित्य में भी स्थान मिला है ,मूलतः बुंदेली की एक बोली 'बनाफरी' में लिखा गया था।

5–कन्नौजी– कन्नौजी संस्कृत 'कान्यकुब्ज' इस बोली का केन्द्र है अतः इस बोली

का नाम कन्नौजी है। यह इटावा ,फर्रखाबाद ,शाहजहांपुर ,कानपुर ,हरदोई ,पीलीभीति आदि में बोली जाती है। कन्नौजी भी श्शौर सेनी अपभ्रंश से निकली है। यह ब्रजभाषा से इतनी सामान्य है कि कुछ लोग इसे ब्रजभाषा की उपबोली मानते हैं। कन्नोजी में केवल लोक साहित्य मिलता है। जिसमें से कुछ अंश प्रकाशित भी हो चुका है।

6—अवधी—इस बोली का केन्द्र अयोध्या है। अयोध्या का ही विकसित रूप अवध है जिससे अवधी श्शब्द बना है। इसके उद्भव के संबंध में विवाद है। अधिकांश विद्धन इसका संबंध अर्द्धमागधी अपभ्रंश से मानते है। किंतु कुछ लोग इससे पाली की समानता के आधार पर इस मत को नहीं मानते। अवधी का क्षेत्र लखनउ, इलाहाबाद ,फतेपुर ,मिर्जापुर ,उन्नाव ,रायबरेली ,सीतापुर ,फैजाबाद,गोंडा,बस्ती ,बहराइच ,सुल्तानपुर ,प्रतापगढ़ बाराबंकी आदि है। अवधी में साहित्य तथा लोकसाहित्य प्र्याप्त मात्रा में हैं। इसके प्रसिद्ध कवि मुल्लादउद,कुतुवन, जायसी,तुलसीदास,सबलसिंह आदि हैं।

7— बघेली — बघेली राजपूतों के आधार पर रीवा तथा इसके आसपास का इलाका बघेलखण्ड कहलाता है। वहां की बोली को बघेलखण्डी या बघेली कहते है। इसका उद्भव अर्द्धमागधी अपभ्रंश के ही एक क्षेत्रीय रूप से ही हुआ है। यद्यपि जनमत इसे एक अलग बोली मानता है। किंतु भाषा वैज्ञानिक के आधार पर यह अवधी की एक उपबोली ज्ञात होती है। इसे दक्षिणी अवधी भी कह सकते हैं । इसका क्षेत्र रीवा, नागोद,शहडोल ,सीधी,सतना ,मैहर तथा आसपास का क्षेत्र है। कुछ अपवादों को छोड़कर बघेली में केवल लोकसाहित्य है। किंतु इधर बघेली ने काफी विकास किया है । उसमें कविता ,गीत ,नाटक,व्याकरण ,लोककहावते आदि का विकास हुआ है।

8— छत्तीसगढ़ी —मुख्यक्षेत्र छत्तीसगढ़ होने के कारण इसका नाम छत्तीसगढ़ी पड़ा। अर्द्धमागधी के दक्षिणी रूप से इसका विकास हुआ। इसका क्षेत्र सरगुजा ,कोरिया ,बिलासपुर ,रायगढ़,खैरागढ़ के साथ पूरे वर्तमान छत्तीसगढ़ की शासकीय कार्य की भाषा मान्य हो गई है। इसमें प्रचुर मात्रा में लोक साहित्य है। अभी इसमें फिल्म निर्माण भी हुई है।

9— पश्चिमी—राजस्थानी— राजस्थानी का यह रूप पश्चिमी राजस्थान अर्थात जोधपुर अजमेर ,किशनगढ़, मेवाड़ ,सिरोही ,जैसलमेर ,बीकानेर आदि में बोली जाती है। इसे मारवाड़ी भी कहते हैं। शौरसेनी अपभ्रंश से इसका विकास हुआ।मारवाड़ी में साहित्य तथा लोकसाहित्य दोनों ही पर्याप्त मात्रा में है। मीर कै पद इसी भाषा में हैं ।

10—उत्तरी राजस्थानी — उत्तरी राजस्थान में इसका क्षेत्र अलवर ,गुड़गांव ,भरतपुर तथा आसपास है। मेव जाति के इलाके मेवाड़ के नाम पर इसे मेवाती कहते हैं। इसकी एक मिश्रित बोली अहीरवाटी है जो गुड़गांव ,दिल्ली के पश्चिमी क्षेत्र में बोली जाती है। इस पर हरियाणी का बहुत प्रभाव है। मेवाती में केवल लोक साहित्य है । इसका उद्भव

शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ।

11–पूर्वी राजस्थानी – राजस्थान के पूर्वी भाग में राजस्थानी अजमेर ,किशनगढ़ आदि में यह बोली जाती है। इसकी प्रतिनिधि बोली जयपुरी है ,जिसका केन्द्र जयपुर है। जयपुरी को ढुढाड़ी भी कहते हैं । क्योंकि इस क्षेत्र का नाम ढुढाण है। शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित इस बोली में केवल लोक साहित्य है।

12–दक्षिणी राजस्थानी– इन्दोर ,उज्जैन ,देवास ,भोपाल के आसपास इसका क्षेत्र है। इसकी प्रतिनिधि बोली मालवी है । जिसका मुख्यक्षेत्र मालवा है। श्शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित इस बोली में कुछ साहित्य तथा पर्याप्त लोक साहित्य है।

13–पश्चिमी पहाड़ी –जौनसार ,सिरमोर ,शिमला,मंण्डी तथा आसपास इसका क्षेत्र है। श्शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित इस बोली में केवल लोक साहित्य है।

14–मध्यवर्ती पहाड़ी –शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित इस बोली का क्षेत्र गढ़बाल ,कुमाउ तथा आसपास का क्षेत्र है। वस्तुतः यह गढ़वाली तथा कुमाउनी इन दो बोलियों का सामूहिक नाम है। इन बोलियों में लोक साहित्य पर्याप्त मात्र में है तथा कुछ साहित्य भी है।

15– भोजपुरी –विहार के शाहाबाद के भोजपुर गांव के नाम पर इस बोली का नाम भोजपुरी पड़ा। मागधी अपभ्रंश के पश्चिमी रूप से विकसित इस बोली का क्षेत्र बनारस जौनपुर ,मिर्जापुर ,गाजीपुर ,बलिया,गोरखपुर ,देवरिया ,आजमगढ़ ,वस्ती ,चम्पारन आदि है। हिंदी प्रदेश की बोलियों में भोजपुरी बोलने वाले सर्वाधिक है। इसमें मुख्यतः लोकसाहित्य ही मिलता है। भारतेन्दु ,प्रसाद इस क्षेत्र के रहे हैं। किंतु साहित्य में इन्होने इसका प्रयोग नहीं किया।

16–मैथिली– मगधी अपभ्रंश के मध्यवर्ती रूप से विकसित यह बोली हिंदी और बांग्ला क्षेत्र की संधि पर मिथिला में बोली जाती है। दरभंगा ,मुजफ्रपुर ,पूर्णिया आदि इसके क्षेत्र है। लोक साहित्य की दृष्टि से मैथिली बहुत है। इसमें साहित्य रचना अत्यन्त प्राचीन है। हिंदी साहित्य को विद्यपति जैसे रससिद्ध कवि देने का श्रेय मैथिली को ही है।

2.3.4– हिंदी ,हिन्दुई ,हिंदुस्थानी एवं उर्दू–

खड़ीबोली का एक प्रयोग साहित्यिक हिंदी ,उर्दू,हिंदूस्तानी आदि की आधार भाषा या आज की साहित्यिक हिंदी के लिए भी होता है। वस्तुतः हिंदी ,उर्दू,हिंदुस्तानी नामों का प्रयोग जिन भाषा रूपों के लिए होता है,व्याकरणिक स्तर पर वे प्रायः एक ही हैं। और उनकी आधार भाषा वह मिश्रित बोली है जो मुख्यतः कौरवी,पंजाबी,ब्रज आदि के योग से बनती है। जिसमें अरबी,फारसी,मिश्रित अन्य बोलियों का भी प्रयोग होता है उसे हिंदुस्तानी कहते है। उन शब्दों के साथ ही जब संस्कृत के अल्प प्रचलित तत्सम शब्द का भी प्रयोग होता है तो उसे साहित्यिक हिंदी कहते हैं।

और जब उन शब्दों के साथ अरबी ,फारसी ,तुर्की के कठिन शब्दों का प्रयोग होने लगता तो उसे उर्दू कहते हैं।

इस तरह खड़ी बोली की यह सामान्य हिंदी की ये तीन शैलियां है।

हिन्दुई शब्द हिंदू और ई को मिलाकर बना है। हिंदी ,हिन्दुई या हिंदवी का प्रयोग प्राचीन हिंदी के लिये काफी पहले से मिलता है। तेरवीं शदी में औफी और अमीर खुसरो ने इसका प्रयोग किय था। खालिकबारी ने हिदी और हिंदवी दोनों का एक ही प्रयोग एक ही भाषा के लिए हुआ है । किंतु हिंदी का प्रयोग केवल पांच वार है। जबकि हिंदवी का प्रयोग तीस बार है । धीरे –धीरे हिंदी का प्रयोग ज्यादा होने लगा।

गार्सा द तासी के इतिहास में हिंदुई तथा हिंदुस्तानी नाम इसी अर्थ में आए हैं। अब प्रायः लोग केवल दखिनी या उसके पहले के उत्तर भारत के मसउद ,खुसरो तथा सकरकंजी आदि के साहित्य की भाषा के लिए हिंदुई या हिंदवी का नाम प्रयोग करते हैं।

हिंदुस्तानी शब्द हिंदुस्तान और ई से बना है। ग्रियर्सन ,धीरेन्द्र वर्मा आदि का मत है कि यह नाम अंग्रेजों का दिया हुआ है किंतु वास्तविकता यह है कि 'तुजकेवावरी' में भाषा के अर्थ में हिंदुस्तानी शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रारंभ में यह शब्द हिंदी या हिंदवी का समानार्थी था किंतु आगे चलकर इसका अर्थ वह हो गया जो आज उर्दू का है।

हिन्दुस्तानी–अर्थात हिंदी का वह रूप जिसमें अरवी ,तुर्की ,फारसी शब्दों का प्रयोग अधिक होता है। हिंदुस्तानी हिंदी उर्दू के बीच की उस भाषा को कहने लगे जिसमें न संस्कृत के कठिन शब्द होते है न अरबी ,फारसी के इसमें तद्भव तथा तत्सम और अरवी ,फारसी के वे शब्द होते है जो बहुत प्रचलित है। गांधी जी ने इसका प्रयोग इसी अर्थ में किया है।

उर्दू शब्द मूलतः तुर्की भाषा का है जिसका अर्थ होता है पड़ाव शाही–शिविर या खेमा। तुर्को के साथ ही यह शब्द भारत में आया और इसका यह प्रारंभिक अर्थ खेमा या फौजी पड़ाव था। इस अर्थ में उत्तरी भारत के अनेक नगरों में उर्दू बाजार फौजी पड़ाव का बाजार नाम आज भी मिलता है। मुगलबादशाहों के फौजी पड़ाव में धीरे –धीरे पूर्वी पंजाब,हरियाणी,ब्रज मिश्रित एक ऐसी बोली विकसित हुई जिसमें अरबी,फारसी,तुर्की के शब्द काफी थे। बोलियों का मिश्रण स्थानीय प्रभाव तथा इन खेमों के सिपाहियों के कारण था तो तुर्की शब्द मुगलों के अपने भाषा तुर्की और उनकी दरवारी भाषा फारसी के कारण थी।

2.3.5 –हिंदी नाम और उसके विभन्न रूप तथा हिंदी का विकास

'हिंदी' शब्द का संबंध 'सिंधु' से माना जात है। 'सिंध' शब्द ईरानी में जाकर हिंद हो गया। हिंदी भाषा के लिए इस शब्द का प्राचीनतम प्रयोग सरफुद्दीन यज्दी के 'सफरनामा' सन्1424 में मिलता है।वस्तुतः शब्दों में अरबी ,फारसी तथा संस्कृति के आधिक्य की बात छोड़ दे तो हिंदीऔर उर्दू में कोई खास अंतर नहीं है। दोनों ही एक ही भाषा की दो श्शैलियां हैं। इसीलिए प्रारंभ में हिंदी शब्द का प्रयोग हिंदी और उर्दू के लिए होता था।

हिंदी का विकास– खड़ीबोली हिंदी का उद्भव शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। किंतु यदि हिंदी को पश्चिमी हिंदी और पूर्वी हिंदी की आठ बोलियों का प्रतिनिधि माने तो उसका उद्भव शौरसेनी तथा अर्द्धमागधी अपभ्रंश से हुआ। किंतु हिंदी भाषा का वास्तविक आरंभ एक हजार ई. से माना जात है। भाषा की विकास की दृष्टि से इस पूरे समय को तीन कालों में बांटा जा सकता है।

1–आदिकाल –1000 से 1500 ई.

2–मध्यकाल 1500–1800ई

3–आधुनिककाल 1800–अबतक

1– आदिकाल –हिंदी भाषा अपने आदिकाल में सभी बातों में अपभ्रंश के बहुत निकट थी। आदि कालीन हिंदी में मुख्यतः उन्हीं ध्वनियों (स्वर और व्यंजनों) का प्रयोग मिलता है जो अपभ्रंश में प्रयुक्त होती थी।

अपभ्रंश और हिंदी में अन्तर–

1–अपभ्रंश में केवल आठ स्वर थे। अ,आ,इ,ई ,उ ,ऊ,ए ओये आठो स्वर मूल स्वर थे। आदिकालीन हिंदी में दो नये स्वर आये –ए ,औ जो संस्कृत स्वर थे।

2– च छ ज झ संस्कृत ,पाली ,प्राकृत में स्पर्श व्यजंन थे। किंतु आदिकालीन हिंदी में आकर ये स्पर्श संघर्षी हो गये तब से अब तक ये स्पर्श संघर्षी ही हैं।

3– न र ल स संस्कृत ,पाली ,प्राकृत और अपभ्रंश में दंत ध्वनियां थी। आदि काल में ये वत्सर्य हो गये।

4– अपभ्रंश में ढ और ड़ नहीं थें ,आदिकालीन हिंदी में इनका विकास हुआ।

5– न्ह,ह्म,पहले संयुक्त व्यंजन थे ,अब वे क्रमशः न म ल के महाप्राण रूप हो गये । अर्थात संयुक्त व्यंजन न रहकर मूल व्यंजन हो गये।

6– संस्कृत फारसी आदि से कुछ शब्दों के आ जाने के कारण कुछ नए संयुक्त हिंदी में आ गये जो अपभ्रंश में नहीं थे। आदि कालीन हिंदी का व्याकरण 1000 या 1100 ई. के आसपास तक अपभ्रंश के बहुत निकट था। धीरे–धीरे 1500 ई तक आते–आते हिंदी अपने पैरो पर खड़ी हो गई और अपभ्रंश के रूप प्रायः प्रयोग से निकल गये। आदिकालीन हिंदी का व्याकरण समवेततः अपभ्रंश व्याकरण से इन बातों में भिन्न है।

1.अपभ्रंश काफी हद तक संयोगात्मक भाषा थी।

2– आदिकालीन हिदी प्रयोगों में नपुषक लिंग का प्रयोग प्रायः समाप्त हो गये।

3– हिंदी वाक्य रचना में श्शब्दक्रम धीरे–धीरे निश्चित होने लगा था। आदि कालीन हिंदी का श्शब्द भंण्डार अपने प्रारंभिक चरण में अपभ्रंश का ही था। किंतु धीरे –धीरे कुछ परिर्वतन आते गये। जिनमें उल्लेखनीय दो –तीन हैं–

1– भक्ति आंदोलन का प्रारंभ हो गया था। अतः अपभ्रंश की तुलना में तत्सम शब्दावली कुछ बढ़ने लगी थी।

2– मुसलमानों के आगमन से कुछ शब्द पस्तो ,फारसी तथा तुर्की भाषा से हिंदी में आ गये ।.

3– भक्ति आन्दोलन तथा मुसलमानी आगमन का प्रभाव समाज पर भी पड़ा जिसके परिणाम स्वरूप इस बात की भी संभावना हो सकती है कि कुछ ऐसे पुराने शब्द जो अपभ्रंश में प्रचलित थे ,इस काल में अनावश्यक या अल्पावश्यक होने के कारण या तो हिंदी शब्द-भंण्डार से निकल गये या तो उनका प्रयोग बंद हो गये।

4– इस काल के साहित्य में प्रमुखतः डिंगल,मैथिली ,दक्खिनी,अवधी,ब्रज तथा मिश्रित रूपों का प्रयोग मिलता है ।

5– इस युग के प्रमुख साहित्यकार –गोरखनाथ,विद्यपति,नरपतिनाल्ह,चंदवरदायी,कबीर आदि हैं।

2– मध्यकाल 1500–1800ई – इस काल में ध्वनि व्याकारण तथा श्शब्द भंण्डार के क्षेत्र में निम्न परितवर्तन हुए जिनमें कुछ बातें उल्लेखनीय हैं।

1– फारसी की शिक्षा की कुछ व्यवस्था तथा दरवार में फारसी का प्रयोग होने से उच्चवर्ग में प्रचार हुआ। जिसके कारण उच्च वर्ग के लोगों में हिंदी में क़ ख़ ग़ ज़ फ़ ये पांच नये व्यजंन आ गये।

2– शब्दांत का अ कम से कम मूल व्यंजन के बाद आने पर लुप्त होगया। अर्थात राम का उच्चारण राम् होने लगा। किंतु भक्त जैसे शब्दों में जहां आ के पूर्व संयुक्त व्यजंन था अ बन गया।

3– ह के पहले का अ कुछ स्थितियों में ए जैसा उच्चरित होने लगा जैसे –अहमद का एहमद ,व्याकरण के क्षेत्र में मुख्यतः तीन बाते ही उल्लेखनीय है। इस काल में हिंदी भाषा पूरी तरह अपने पैरों में खड़ी हो गई।

1– अपभ्रंश के रूप प्रायः हिंदी से निकल गये। जो कुछ बचे थे वे ऐसे थे जिन्हे हिंदी ने आत्मसात कर लिया था।

2– भाषा आदिकालीन भाषा की तुलना में और भी वियोगात्मक हो गई । परसर्गो तथा सहायक क्रियाओं का योग और भी बढ़ गया।

3– उच्चवर्ग में फारसी का प्रचार होने के कारण हिंदी वाक्य रचना फारसी से प्रभावित होने लगी थी। श्शब्द भंडार की दृष्टि से ये बाते मुख्य हैं।

1– इस काल में आते–आते काफी श्शब्द लगभग 3500,अरबी लगभग 2500 ,पस्तो 50,तुर्की लगभग 125 से हिंदी में आ गए ।

2– भक्ति आंदोलन चरम विंदु पर पहुचने के कारण तत्सम श्शब्दों का प्रयोग भाषा में और भी बढ़ गया।

3– यूरोप से संपर्क होने के कारण कुछ पुर्तगीज ,स्पेनिस,फ्रांसीसी शब्द भी हिंदी में आ गये।

इस काल में धर्म की प्रधानता के कारण राम जन्म स्थान की भाषा अवधी तथा कृष्ण जन्म स्थान की भाषा ब्रज में ही विशेष रूप से साहित्य रचा गया।

इस काल के प्रमुख साहित्यकार जायसी,सूर,मीरा,केशव ,भूषण,बिहारी,देव

3– आधुनिककाल 1800–अबतक–

आधुनिक काल की हिंदी में ध्वनि के क्षेत्र में चार –पांच बाते उल्लेचानीय हैं।

1– आधुनिक काल में शिक्षा के व्यवस्थित प्रचार के कारण तथा प्रारंभ में हिंदी प्रदेश के अनेक क्षेत्रों में कचहरियों की भाषा उर्दू होने के कारण क़ ख़ ग़ ज़ फ जो मध्यकाल में केवल फारसी पढ़े लोगों तक प्रचलित थे,इस काल में प्रायः 1947 ई तक सुशिक्षित लोगों तक प्रचलित हो गये। किंतु स्वतंत्रता के बाद स्थिति बदली और अंग्रेजी में प्रयुक्त होने के कारण ज़ फ एक सीमा तक अब भी प्रयोग में है किंतु क़ ख़ ग़ के ठीक प्रयोग में कमी आई है।

2– अग्रेजी शिक्षा के प्रचार के कारण कुछ बहुशिक्षित लोगों द्वारा ऑ ध्वनि भी हिंदी में प्रयुक्त हो रही है।

3– अंग्रेजी श्शब्दों के प्रचार के कारण कुछ नये संयुक्त व्यजंन जैसे –ड्रा भी हिंदी में प्रयुक्त होने लगे हैं।

4– स्वरों में ऐ,औ हिंदी में आदिकाल में आऐ थे ।

5– आधुनिक काल में मुख्यतः 1940 के बाद स्थिति ए ,औ की स्थिति कुछ भिन्न हो गई है। इस संबंध में तीन बातें उल्लेखनीय हैं

क– पश्चिमी हिंदी क्षेत्र में यह स्वर सामान्यतः मूल स्वर में उच्चरित होते हैं

ख– पूर्वी हिंदी क्षेत्र में अभी भी ऐ अए,औ के रूप में संयुक्त स्वर के रूप में प्रयुक्त हो रहे है।

हिंदी में पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता बढ़ी है क्योंकि हिंदी अब विज्ञान,वाणिज्य ,संचार आदि की भी भाषा है। संविधान के 391 अनुच्छेद के अनुसार संपर्क भाषा के रूप में जिस हिंदी का विकास होना है वह कम–से–कम शब्द भंण्डार के क्षेत्र में भारत की प्रायः सभी भाषाओं से कुछ न कुछ ग्रहण करेगी।

2.4 हिन्दी साहित्य इतिहास लेखन की परम्परा

"आज से लगभग हजार वर्ष पहले हिंदी साहित्य बनना शुरू हुआ था। इन हजार वर्षो में भारत वर्ष का हिंदी भाषी जन–समुदाय क्या सोच–समझ रहा था,इस बात की जानकारी का एकमात्र साधन हिंदी साहित्य ही है। "– हजारी प्रसाद द्विवेदी

अचार्य रामचंद्र ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रथम संस्करण के वक्तव्य में लिखा हैं कि हिंदी के कवियों का एक वृत–संग्रह शिवसिंह सेगर ने सन् 1833 ई. में प्रस्तुत किया था। उसके पीछे सन् 1889 में डॉ ग्रियर्सन ने 'मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव नार्दर्न हिंदुस्तान' के नाम से एक वैसा ही बड़ा कवि–वृत–संग्रह निकाला। काशी की नागरी प्रचारिणी सभा का ध्यान आरंभ ही में इस बात की ओर गया कि सहस्त्रों हस्तलिखित हिंदी पुस्तके देश के अनेक भागों में, राजपुस्कालायों तथा लेागों के घरों में अज्ञात पड़ी हैं। अतः सरकार की आर्थिक सहायता से उसने सन् 1900 से पुस्तकों की खोज का काम हाथ में लिया और सन् 1911 तक की खोज की अपनी आठ रिपोर्टो में सैकड़ो अज्ञात कविया कें तथा ज्ञात कवियों कें अज्ञात ग्रंथो का पता लगाया। सन् 1913 में इस सारी सामग्री का उपयोग करके मिश्र बंधुओं (श्रीयुत् पं. श्यामबिहारी) ने अपना बड़ा भारी कवि–वृत–संग्रह 'मिश्रबंधुविनोद',जिसमें वर्तमान काल के कवियों और लेखकों का भी समावेश किया गया है ,तीन भागों में प्रकाशित हुआ।

(2.4.1) उन्नीसवीं शती से पूर्व:

उन्नीसवीं शती से पूर्व विभिन्न कवियों और लेखकों द्वारा अनेक ऐसे ग्रंथों की रचना हो चुकी थी,जिनमें हिंदी के विभिन्न कवियों के जीवनवृत एवं कृतित्व का परिचय दिया गया है।

जो निम्नानुसार हैं–

1–चौरासी वैष्णव की वार्ता'

2–दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता

3–भक्तमाल

4–कविमाला

5–कालिदास हजारा–आदि।

उक्त सामग्री के बारे में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं–"किंतु इनमें कालक्रम सन्–संवत आदि का आभाव होने के कारण इन्हें इतिहास की संज्ञा नहीं दी जा सकती। "

वस्तुतः अब तक की जानकारी के अनुसार हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन का सबसे पहला प्रयास एक फ्रेंच विद्वान गार्सा द ताँसी का ही समझा जाता है। जिन्होनें फ्रेंच भाषा में 'इस्त्वार द ला लितरेत्युर एंन्दुई ऐ ऐन्दुस्तानी'ग्रंथ लिखा,जिसमें हिंदी साहित्य के

इतिहास लेखन का विवरण वर्णक्रमानुसार दिया गया है,इसका प्रथम भाग (1839ई.) में तथा द्वितीय भाग (1847ई.) में प्रकाशित हुआ था। (1871ई.) में इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ जिसमें इसे तीन खंडों में विभक्त करते हुए पर्याप्त संशोधन परिवर्तन किया गया। इस ग्रंथ का महत्व केवल इसी दृष्टि से है कि इसमें हिंदी काव्य का सर्वप्रथम इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस पुस्तक के संबध में लिखते हैं–"किन्तु इसमें कवियों के रचनाकाल का काल–विभाजन एवं युगीन प्रवृतियों के विवेचन का कोई प्रयास न करना इस ग्रंथ की प्रमुख कमी थी। साथ ही हिंदी के कवियों में इतर भाषाओं को घुलामिला देना आदि ऐसी त्रुटियॉ हैं,जिनके कारण यह इतिहास मानने के सामान्य मापदण्डों में भी खरा नही उतरता। फिर भी भारत से दूर बैठ कर विदेशी भाषा में सर्वप्रथम इस प्रकार का प्रयास करना भी अपने आप में कम महत्वपूर्ण नहीं है।"

डॉ.नगेंद्र कहते हैं–"वस्तुतः किसी भी क्षेत्र में किए गए प्रारंभिक एवं प्राकृतिक प्रयास का महत्व प्रायः उसकी उपलब्धियों की दृष्टि से नहीं,अतिपु नयी दिशा की ओर अग्रसर होन की दृष्टि से ही माना जाता है,यह बात तासी के प्रयास पर भी लागू होती है। अस्तु,उनके ग्रंथ में अनेक त्रुटियों व न्यूनताओं के होते हुए भी हम उन्हें हिंदी साहित्येतिहास–लेखन की परंपरा में,यह उसके प्रवर्त्तक के रूप में,गौरवपूर्ण स्थान देना उचित समझते हैं।"

इसके पश्चात डा.ग्रियर्सन की पुस्तक "द मांडर्नवनेक्युलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान" सामने आती है।

इस पुस्तक पर डॉ किशोरीलाल गुप्त ने अपने 'हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास' में लिखा है कि –

"सन् 1888 में एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल की पत्रिका के विशेषांक के रूप में जार्ज ग्रियर्सन द्वारा रचित 'द मांडर्नवनेक्युलर लिटरेचर आंफ हिंदुस्तान' का प्रकाशन हुआ,जो नाम से इतिहास न होते हुए भी सच्चे अर्थ में हिंदी साहित्य का पहला इतिहास कहा जा सकता है। इसमें लेखक ने कवियों और लेखकों का कालक्रमानुसार वर्गीकरण करते हुए उनकी प्रवृतिओं को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। "

डा.ग्रियर्सन अपनी लेखन की नीति को स्पष्ट करते हुए भूमिका में लिखा–

"मैं आधुनिक भाषा–साहित्य का ही विवरण प्रस्तुत करने जा रहा हूँ,अंतः मैं संस्कृत में ग्रंथ रचना करने वाले लेखकों का विवरण नहीं दे रहा हूँ। प्राकृत में लिखी पुस्तकों को भी विचार के बाहर रख रहा हूँ।"

ग्रियर्सन ने अपने ग्रंथ के आधार स्त्रोत के रूप में तासी एवं शिवसिंह सेंगर के ग्रंथों के अतिरिक्त भक्तमाल, गोसाईचरित्र ,हजारा, काव्य–संग्रह आदि सत्रह रचनाओं का उल्लेख करते हुए स्थान–स्थान पर मूलाधारों के संदर्भ–संकेत भी दिये हैं, जिससे उनकी

तटस्थता ,प्रामाणिकता और ईमानदारी का बोध होता है,जो किसी भी इतिहासकार के लिए आवश्यक है। यहाँ एक बात ध्यान देने लायक है कि डॉ ग्रियर्सन ने यथासम्भव उस समय की साहित्य की प्राप्त सामग्री को काल क्रमानुसार प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

आचार्य श्शुक्ल लिखते हैं कि– " उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में जब हिंदी भाषा एवं उसके साहित्य की आलोचना एवं अनुसंधान का श्री गणेश भी नही हुआ था उस समय ऐसी स्पष्ट,सूक्ष्म एवं प्रामाणिक इतिहास की व्यख्या प्रस्तुत कर देना ग्रियर्सन की प्रतिभा एवं गहन अध्ययनशीलता को प्रमाणित करता है। यद्यपि वह ग्रंथ अंग्रेजी में होने से हिंदी के अध्येताओं का विषय नही बन सका। "

2.4.2 भारतीय परंपरा:

(क) ताँसी की परंपरा को आगे बढ़ाने का श्रेय शिवसिंह सेंगर को जाता है,जिन्होंने हिंदी भाषा में हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास 'शिवसिंह सरोज' (1883) लिखा जिसमें लगभग एक सहस्त्र भाषा–कवियों का जीवन चरित उनकी कविताओं के उदाहरण सहित प्रस्तुत करने का प्रयास किया। कवियों के जन्मकाल,रचनाकाल आदि के संकेत भी दिए।

नगेंद्र जी कहते हैं कि "यह दूसरी बात है कि वे संकेत बहुत विश्वसनीय नहीं हैं। इतिहास के रूप में इसका महत्व भी नहीं है। किंतु फिर भी इसमें उस समय तक उपलब्ध हिंदी कविता संबंधी ज्ञान को संकलित कर दियागया है,जिससे परवर्ती इतिहासकार लाभ उठा सकते हैं,इस दृष्टि से इसका महत्व है।"

(ख) मिश्र बंधुओं,द्वारा रचित 'मिश्रबंधु–विनोद"। यह ग्रंथ चार भागों में विभक्त हैं जिसका प्रथम तीन भाग (1913ई.) में प्रकाशित हुए तथा चतुर्थ भाग (1934ई.) में प्रकाशित हुआ।

डॉ नगेन्द्र लिखते है कि – "मिश्रबंधुओं ने अपने ग्रंथ को इतिहास की संज्ञा न देते हुए भी भरसक इस बात का यत्न किया कि यह एक अच्छा इतिहास सिद्व हो। इसे परिपूर्ण और सुव्यवस्थित बनाने के लिए उन्होंने एक ओर तो इसमें लगभग पांच हजार कवियों को स्थान दिया है तथा दूसरी ओर इसे आठ से भी अधिक काल–खंडों में विभक्त किया है। इस क्षेत्र में उन्हें पूर्ववर्ती इतिहासकारों से अधिक सफलता मिली है। काव्य समीक्षा में परमपरा का ही अनुसरण किया है।"

रामचद्रशुक्ल ने स्वीकार किया है कि " कवियों के परिचयात्मक विवरण मैंने प्रायः 'मिश्रबंधु–विनोद' से ही लिये हैं। किन्तु यह साहित्य के इतिहास का वह स्थान नही पा सका जिससे प्रामाणिक सामग्री लेकर आगे व्याख्या की जा सके।"

(ग) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखित ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'– सन् (1929ई)। यह इतिहास ग्रंथ सर्वप्रथम 'हिंदी शब्द सागर' की भूमिका में 'हिंदी साहित्य का विकास' नाम से प्रकाशित हुआ था।

"वस्तुतः हिंदी का मान्य इतिहास सर्वप्रथम सामने आया। उन्होंने अपने लेखन का आधार देशकाल और जनता की चितवृति को बनाया। उन्होंने इतिहास के मूल विषय को आरंभ करने से पूर्व ही कालविभाग के अंतर्गत हिंदी साहित्य के 900 वर्षो के इतिहास को चार सुस्पष्ट भागों में बांट दिया । जिसके कारण पाटक के मन में पहले ही सारी शंकाएं दूर हो जाय। दूसरी बात है कि उन्होंने काल विभाजन का आधार न देकर केवल तत्संबधी निष्कर्षो को दिया।" –डा नगेन्द्र

आचार्य शुक्ल के इतिहास लेखन की एक अन्य विशेषताएं–

1– आचार्य शुक्ल पूरे भक्तिकाल को पहली बार चार भागों या शाखाओं में बांटकर उसे शुद्व दार्शनिक एवं धार्मिक आधार पर प्रतिष्ठत कर दिया।

2– इस काल के विभाजन के साथ साहित्य को पहले निर्गुण धारा और सगुण धारा में और फिर प्रत्येक को दो–दो शाखाओं–ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी शाखाओं में बांट दिया।

3– जो धार्मिक एवं भक्त परम्परा और साहित्यानुसंधान करने वालों को एक रास्ता मिला।

4– शुक्ल जी ने सबसे बड़ा कार्य यह किया की उन्होंने रचनाकार को ज्यादा महत्व न देकर उसके रचना को अपना विषय बनाया।

5– मिश्र बन्धु विनोद के इतिहास ग्रंथ में जहां कवियों की संख्या लगभग पांच हजार तक पहुच गई थी ,आचार्य शुक्ल ने उनमें से लगभग एक हजार को ही अपने इतिहास ग्रंथ में लिया।

6– आचार्य श्शुक्ल ने अपने इतिहास ग्रंथ में रचनाकारों को उनकी साहित्यिक महत्ता और लघुता के आधार पर स्थान दिया।

7– विभिन्न काव्यधाराओं और युगों की साहित्यिक प्रवृत्तियों का वैज्ञानिक निर्धारण किया।

8– रीतिग्रंथकारों के आचार्यत्व एवं कवित्व का सूक्ष्म विश्लेषण कर उनकी उपलब्धियों और सीमाओं का निर्धारण किया।

वस्तुतः इतिहास के इतने संक्षिप्त कलेवर में भी इतने कवियों का जैसा प्रामाणिक,सारगर्भित एवं सोदाहरण विवेचन वे प्रस्तुत कर पाये हैं,उससे इतिहासकार शुक्ल की महानता प्रमाणित होती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरा में आचार्य शुक्ल का यह योगदान मील का पत्थर सिद्व हुआ तथा भारतीय मनीषियों शोधर्थियों, अध्येताओं के लिए दुर्लभ सामग्री तथा दिशा प्रदान की।

" हिन्दी साहित्य के लिए शुक्ल जी का यह कार्य वास्तव में उन्हें आचार्य के पद पर विभूषित करता है। उनका इतिहास ही कदाचित अपने विषय का ऐसा पहल ग्रंथ है जिसमें अत्यंत सूक्ष्म एवं व्यापक दृष्टि ,विकसित दृष्टिकोण सुस्पष्ट विवेचन,विश्लेषण और प्रामाणिक निष्कर्ष का हमें पहली बार सन्निवेश मिलता है। यह भी एक महत्व का पहलू है कि उन्होंने उस समय इतिहास को लिखा जिस समय अधिकांश सामग्री अप्रात और अज्ञात थी। "–डा नगेन्द्र

किंतु यह नहीं भूलना चाहिए कि उनके द्वारा इतिहास की रचना उस समय हुई थी,जबकि हिंदी का अधिकांश प्राचीन साहित्य अज्ञात ,लुप्त एवं अप्रकाशित अवस्था में पड़ा था तथा उसका प्रामाणिक अध्ययन ,विश्लेशण नहीं हो पाया था। वस्तुतः इतिहासकार से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वह इतिहास सहस्त्राधिक रचनाओं का स्वयं ही अनुसंधान ,अध्ययन,विश्लेषण करके उपलब्ध निष्कर्षो के आधार पर इतिहास की रचना करे, अपितु वह अन्य अनुसंधानकर्ताओं द्वारा उपलब्ध तथ्यों और निष्कर्षो की ऐतिहासिक व्याख्या वह अपने ढ़ंग से ,स्वतंत्र रूप में करता है। किंतु आचार्य शुक्ल के इतिहास लेखन के समय तो हिदी–अनुसंधान का आरंभ मात्र ही हो पाया था। इस तथ्य की पुष्टि इस बात से होती है कि सन् 1929 तक सारे हिंदी जगत में लिखे गये शोधप्रबंधों की संख्या तीन–चार से अधिक नहीं थी। ऐसी स्थिति में इतिहास क जिस पक्ष का संबंध उनकी स्वतंत्र चिंतना एवं विवेचना–शक्ति से था,उसमें तो उन्हें स्थायी सफलता मिली,किंतु जो पक्ष इतिहास की आधरभूत सामाग्री से संबद्ध था,उसमें उन्हें अनुमान और कल्पना से काम लेना पड़ा,जिसका परिणाम यह हुआ कि इस पक्ष से संबंधित उनके अनेक निष्कर्ष अब अप्रमाणिक सिद्ध हो गये हैं। जिसका प्रभाव निम्न प्रकार से हुआ–

1– इससे उनके इतिहास में अनेक ऐसी त्रुटियों तथा असंगतियों का प्रादुर्भाव होगया है,जो आज की स्थिति उनके इतिहास के दुर्बल पक्ष को प्रस्तुत करती हैं।

2– इसी प्रकार वीरगाथा काल में उल्लिखित रचनाओं के अस्तित्वहीन ,अप्रामाणिक ,परवर्ती य अन्य भाषा में रचित सिद्ध हो जाने के कारण भी यह काल आज अत्यंत विवादग्रस्त हो गया है।

3– भक्तिकाल के नामकरण और वर्गीकरण में एक कठिनाई यह हो सकती है कि धर्म–निरपेक्ष दृष्टि से राजाश्रय एवं लोकाश्रय में काव्य–रचना करने वाले कवियों के लिए या राम–कृष्ण के अतिरिकत किसी अनय अवतार या देवी –देवता की उपासना करने वाले कवि के लिए उसमें समुतचित स्थान नहीं है।

4– भक्तिकाल की ही भांति रीतिकाल में भी नामकरण,सीमा–निर्धारण,परंपराओं व काव्यधाराओं का वर्गीकरण वर्गविशेष के एकपक्षीय बोध का सूचक है,

5– रीतिकाल के रीतिमुक्त प्रेममार्गी कवियों ,वीररसात्मक काव्यों के रचयिताओं तथा राजनीति एवं वैराग्य संबंधी मुक्तको के रिचयिताओं कवियों के साथ न्याय नहीं हो पाता। केशवदास जैसे आचार्य को 'अलंकारवादी'तथा परवर्ती रीतिकवियों को रसवादी घोषित करते हुए उन्होंने रीति–परंपरा के प्रवर्तक के पद से वंचित करना भी संगत प्रतीत नहीं होता। केशव का 'रसिकप्रिया' इसका उदाहरण है।

6– विभिन्न काव्य धाराओं तथा परंपराओं के मेल उत्सों के यथार्थ अनुसंधान में श्शुक्ल जी का युगवादी दृष्टिकोण भी बाधक सिद्ध हुआ।

7– आचार्य शुक्ल ने साहित्यिक परंपराओं और प्रवृत्तियों को युगविशेष की चित्तवृति के प्रतिबिंब के रूप में ही ग्रहण किया,उन तत्वों तथा स्त्रोतों की उपेक्षा की जिनका संबंध पूर्व परंपरा से है।

परिणाम यह हुआ कि उन्होंने पूरे मध्यकाल की विभिन्न धाराओं परंपराओ आंदोलनों ,प्रवृतियों को मुस्लिम प्रभाव की देन के रूप में स्वीकार कर लिया। जैसे 1– भक्ति तद्युगीन निराशा की देन है। 2–संतमत इस्लाम के एकेश्वरवाद का परिणाम है।3–प्रेमाख्यान परंपरा सूफीमसनवियों से अनुकृत है,आदि।

इसमें संदेह नहीं कि इन सब पर आंशिक प्रभाव हो सकता है किंतु यदि हम संस्कृत साहित्य की पौराणिक परंपराओं,प्राकृत–अपभ्रंश के प्रेमाख्यानों व मुक्तकों की धाराओं ,सिद्धों व नाथ पंथियों की गुह्य वाणियों की उपेक्षा करके मध्यकालीन हिंदी काव्य की विभिनना काव्यधाराओं के वतमान स्वरूप की आलोचना भले ही की जा सके किंतु उसके आधार–स्त्रोत का अनुसंधान और उनके विकासक्रम की ऐतिहासिक व्याख्या संभव नहीं है।

डॉ नगेन्द्र लिखते है कि –" आचार्य श्शुक्ल की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा एवं प्रौढ़ विवेचना–शक्ति के महत्व के समक्ष नतमस्तक होते हुए भी हमें यह कटु सत्य स्वीकार करना पड़ता है कि इतिहासकार शुक्ल की उपलब्धियां उसी सीमा तक ग्राह्य हैं ,जहां तक वे उनके आलोचक रूप से संबद्ध है;किंतु जहां वे आलोचक से पृथक हो कर शुद्ध इतिहासकार के रूप में अवतरित होते हैं ,वहीं उनकी अनेक सीमाएं स्पष्ट होने लगती है। "

फिर भी यह नामकरण और वर्गीकरण व्यवहारिक दुष्टि से सरल ,सुगम एवं मान्य सिद्ध हुआ। वस्तुतः युग की सीमित ज्ञानराशि को लेकर उन्होंने जैसा रूप दिया, वह निश्च ही उनके जैसे व्यक्तित्व के लिए ही संभव था। इतिहास लेखन की परंपरा में आचार्य शुक्ल का महतव सदा अक्षुण्ण रहेगा,इसमें कोई संदेह नहीं।

(घ) आचार्य शुक्ल के लेखन के लगभग एक दशाब्दी बाद आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस क्षेत्र में आए और उन्होंने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' नाम से क्रम और पद्वति की दृष्टि से इतिहास के रूप में पहला ग्रंथ हिन्दी साहित्य जगत को प्रस्तुत किया। उनकी सबसे महत्वपूर्ण मान्यता उनके इस बात से स्पष्ट होती है,वे कहते हैं कि–

"मै ईस्लाम के महत्व को भूल नहीं रहा हूँ,लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम न आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।" हजारी प्रसाद द्विवेदी

यहां द्विवेदी जी की यह स्पष्ट घोंषणा दो बातों को उजागर करती है:-

(एक), यह कि अपने जाति और परंपरा का अभिमान किस तरह होना चाहिए।

(दूसरा),साथ ही यह अभिमान बिना अपने संस्कृत ग्रंथों के अध्ययन के नही हो सकता।

किन्तु दुर्भाग्य यह है कि आज भी द्विवेदी जी की इस बात को वह स्थान नहीं मिल पाया जो उसे मिलना चाहिए। यह राष्ट्रीय चरित्र निर्माण और आज की ही नहीं भविष्य की समस्या का अचूक समाधान है।

जब आचार्य शुक्ल कहते हैं कि इतिहास जनता कि चितिवृति का प्रतिबिंब होता है तो यह भी विचार करना पड़ेगा कि क्या आज की जनता के चितवृति का जिस प्रकार का निर्माण हो रहा है उससे यह भय या आशंका नही खड़ी होती कि वह हमारे भविष्य के इतिहास लेखन को प्रभावित नहीं करेगी।

मध्यकालीन हिदी काव्य के विविध स्त्रेातों के अनुसंधान के अतिरिक्त आचार्य द्विवेदी ने संत साहित्य और वैष्णव भक्ति काव्य के ऐतिहासिक मूल्यांकन के लिए नया दृष्टिकोण भी हमारे सामने प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने हिंदी 1-सहित्यःउद्भव और विकास

2- हिंदी साहित्य का आदिकाल

आदि रचनाएँ हिन्दीं संसार को दीं। वस्तुतः वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने आचार्य शुक्ल की कुछ धारणाओं का खण्डन किया।आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा आचार्य द्विवेदी के साथ हिन्दी साहित्य में इतिहास लेखन की विस्तृत परंपरा खड़ी हुई। किंतु उन सबका आधार उक्त ग्रंथ ही रहे। द्विवेदी जी की कुछ विशेषताएं निम्न प्रकार हैं-

1- हिंदी साहित्य की भूमिका' क्रम और पद्धति की दृष्टि से इतिहास के रूप में प्रस्तुत नहीं है,किंतु उसमें प्रस्तुत विभिन्न स्वतंत्र लेखों में कुछ ऐसे तथ्यों और निष्कर्षो का प्रतिपादन किया गया है।

2- हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन के लिए नई दृष्टि,नयी सामग्री और नयी व्याख्या प्रदान करते हैं

3- जहां आचार्य श्शुक्ल की एंतिहासिक दृष्टि'युग की परिस्थितियों को प्रमुखता प्रदान करती थी,वहीं आचार्य द्विवेदी ने परंपरा का महत्व प्रतिष्ठित करते हुए उन धारणाओं को खंण्डित किया,जो युगीन प्रभाव के एकांगी दृष्टिकोण पर आधारित थीं।

4— हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अत्यन्त सशक्त स्वरों में उद्घोषित किया कि भक्ति आन्दोलन न तो तद्युगीन पराजित हिंदू जाति की निराशा से उद्वेलित है और न ही इस्लाम की प्रतिक्रिया है। प्रमाण यह है कि सातवीं–आठवीं शती में ,जबकि भारत की धरती पर इस्लाम की छाया भी नहीं पड़ीथी। दक्षिण के वैष्णसंतों में भक्ति अपने पूर्ण वैभव के साथ विद्यमान थी।

5— संत काव्य परंपरा के स्त्रोतो का अनुशंधान करते हुए सिद्धों और नाथपथियों की वाणियों,विचार–सरणियों,पद्धतियों व काव्यशैलियों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा यह स्पष्ट कियाकि किस प्रकार कबीर आदि इनसे प्रभावित थे।

6— वस्तुतः भाव,विचार, तर्कपद्धति ,भाषा,शैली आदि के आधार पर उन्होंने सिद्ध किया कि हिंदी का संतकाव्य पूर्ववर्ती सिद्धों व नाथपथियों के साहित्य का सहज विकसित रूप है,अतः उसे केवल इस्लाम पर आधारित मानने की आवश्यकता नहीं।

7— हिंदी के प्रमाख्यानों के भी मूल स्त्रोतों का अनुसंधान करतें हूए उन्होंने प्रतिपादित किया है कि इनकी कथावस्तु,कथानक–रूढिया,रचना–शैली ,छंद–योजना आदि संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश की काव्य परंपराओं पर आश्रित है।

8— मध्यकालीन हिंदी काव्य के विविध स्त्रोतों के अनुसंधान के अतिरिक्त आचार्य द्विवेदी ने संत साहित्य और वैष्णव भक्तिकाव्य के ऐतिहासिक मूल्यांकन के लिए नया दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया।

आचार्य द्विवेदी ने वस्तुस्थिति की गहराई घोषित करते हुए लिखा है:– "कभी–कभी हास्यास्पद भाव से कबीरदास को शास्त्रज्ञानहीन ,सुनी–सुनायी बातों का गढ़ने वाला आदि कह दिया जाता हैं, मानो उस युग में जुलाहे ,मोची,धुनिसे और अन्यान्य नीखे कही जाने वाली जातियों के लिए श्शास्त्र और वेद का दरवाजा खुला था और कबीर दास आदि ने जानबूझ कर उसकी अवहेलना की थी। सच पूंछा जाये तो श्शास्त्रज्ञान तत्वज्ञान केमाग्र में सबसमय सहायक ही नहीं होता; और कभी–कभी तो युग की तथोक्त नीच जातियों में से आये हुए महापुरूषो का श्शास्त्रीय तर्कजाल से मुक्त होना श्रेयस्कर जान पड़ता है।"–हजारी प्रसाद द्विवेदी

जहां तक ऐतिहासिक चेतना और पूर्व परंपरा के बोध की बात है,निश्चय ही आचार्य द्विवेदी हिंदी के सबसे अधिक सशक्त इतिहासकार हैं । पूर्ववर्ती सांस्कृतिक धाराओं,सरणियों और पद्धतियों का जेसा गंभर अनुशीलन उन्होंने किया तथा मध्यकालीन जनमानस की भाव–धाराओं में जैसी गहरी डुबकी उन्होंने लगायी है,वह किसी और के लिए संभव नहीं। किंतु फिर भी,उन्होने अपना लक्ष्य आचार्य शुक्ल द्वारा स्थापित इतिहास के स्थूल ढांचे में ही अपनी धारणाओं को समेट देने तक का रखा है,जबकि उसे आमूलचूल परिवर्तित कर देने की श्शक्ति का भी उनमें अभाव नहीं था।कदाचित यहीं कारण है कि उनके इतिहास की

रूपरेखा, काल–विभाजन–पद्धति व काव्य धारा की नियोजना बहुत–कुछ आचार्य शुक्ल के इतिहास के ही अनुरूप है

(ड) इनके साथ ही इस क्षेत्र में डॉ. रामकुमार वर्मा 'हिदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (1938ई.) लिखा।

इस ग्रंथ की कुछ विशेषताएं इस प्रकार हैं: 1– डॉ वर्मा ने इस ग्रंथ में 693 से 1693 ई.तक की कालावधि का साहित्यिक इतिहास लिखा।

2– संम्पूर्ण ग्रंथ को सात प्रकारणों में विभक्त करते हुए सामान्यतः रामचंद्र शुक्ल के ही वर्गीकरण का अनुसरण किया है।

3– डा.वर्मा ने युगों व धाराओं के नामकरण में किंचित् परिवर्तन कर उन्हें सरल रूप दे दिया गया है। यथा–'निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा',निर्गुण प्रेममार्गी (सूफी) शाखा,जैसे लम्बे–लम्बे नामों के स्थान पर 'संतकाव्य' 'प्रेमकाव्य' आदि का प्रयोग किया गया है ,जो अधिक सुविधा जनक है।

4– ऐतिहासिक व्याख्या की दृष्टि से यह इतिहास आचार्य शुक्ल के गुण–दोषों का ही विस्तार है,कवियों के मूल्यांकन में अवश्य लेखक ने अधिक सहृदयता और कलात्मकता का परिचय दिया है।

डॉ नगेद्र कहते हैं कि– " अनेक कवियों के काव्य–सौन्दर्य का आख्यान करते समय लेखक की लेखनी काव्यमय हो उठी है, जो कि डॉ.वर्मा के कवि पक्ष का संकेत देती है। शैली की इसी सरसता और प्रवाहपूर्णता के कारण उनका इतिहास पर्याप्त लोकप्रिय हुआ। तथा पाठको को इस बात का अभाव प्रायः खलता रहा है कि यह भक्तिकाल तक ही सीमित क्यों रह गया।"

(2.4.3) अन्य भारतीय परंपरा के प्रयासः

(क) नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा भी 'हिंदी साहित्य का बृहद इतिहास'प्रकाशित करने की विशाल योजना बनी और फलीभूत भी हुई। इसके अंर्तगत –

1– समस्त हिंदी साहित्य के इतिहास को सोलह भागों में प्रस्तुत किया गया है।

2– इस ग्रंथ के लेखन के लिए कुछ सामान्य सिद्धांतों और पद्धतियों का निर्धारण किया गया है,

3– प्रत्येक खंड अलग–अलग विद्धानों के संपादन में तथा विभिन्न लेखकों के सहयोग से निर्मित हुआ है

4– संपूर्ण ग्रंथ के लेखन में शताधिक लेखकों का सहयोग लिया गया है।

5– ऐसी स्थिति में इसकी उपलब्धियां और सीमाएं सामान्य रूप से प्रभावी होकर सामने नही आ पाईं।

6– वस्तुतः प्रत्येक खंड की सफलता–असफलता बहुत'–कुछ उसके संपादक व सहयोगी मंडल पर निर्भर रहा है।

डॉ नगेन्द्र का मत है–" यदि सभी क्षेत्रों के शताधिक लेखकों के स्वतंत्र सहयोग की अपेक्षा कुछ चुने हुए अधिकारी विद्वानों के सामूहिक योग से इसका निर्माण होता तो निस्संदेह इसमें अपेक्षाकृत अधिक एकरूपता ,अन्विति एवं सजीवता आ पाती।"

(ख) डॉ धीरेन्द्र वर्मा का 'हिंदी साहित्य'

वस्तुतः यह विभिन्न विद्वानों के सामूहिक सहयोग के आधार पर लिखित इतिहास ग्रंथ डॉ धीरेन्द्र वर्मा द्वारा संपादित है।

इसमें संपूर्ण हिंदी साहितय का तीन कालों –आदिकाल, मध्यकाल एवं आधुनिक काल में विभक्त करते हुए प्रत्येक काल की काव्य–परंपराओं का विवरण अविच्छिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है।

इस ग्रंथ के संबंध में अपने विचार रखते हुए डॉ नगेन्द्र ने लिखा है–" जहाँ नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा नियोंजित इतिहास में आचार्य शुक्ल के इतिहास की रूपरेखा को अधिक ध्यान में रखा गया है,वहीं इसमें यत्र तत्र अधिक स्वतंत्रता से काम लिया गया है।यही कारण है कि इसमें हम 'रासोकाव्य–परंपरा' जैसी नयी काव्य–परंपराओं को भी स्थापित देखते हैं। "

साथ ही इसमें कुछ दोष भी हैं,जैसे विभिन्न अध्यायों में विभिन्न लेखकों ने इतिहास –लेचान की विभिन्न दृष्टियों और पद्धतियों का उपयोग किया है,जिसमें इसमें एकरूपता ,अन्विति एवं संश्लेषण का अभाव परिलक्षित होताहै। फिर भी ,हिंदी साहित्य की इतिहास–लेखन की परंपरा में इसका विशिष्ट स्थान है।

(ड.) इतिहास ग्रंथों की सूची– उपर्युक्त इतिहास ग्रथों के अतिरिक्त भी अनेक शोध–ग्रंथ और समीक्षात्मक ग्रंथ लिखे गये जो हिन्दी साहित्य के संपूर्ण इतिहास को तो नहीं किंतु उसके किसी एक पक्ष ,अंग या काल को नूतन ऐहतिहासिक दृष्टि से नयी वस्तु प्रदान करते हैं। अतः यहां पर अभी तक के प्राप्त सभी इतिहास ग्रंथों की सूची छात्रों–शोधार्थियो की सुविधा के लिए दी जा रही है–

साहित्येतिहासकार	साहित्येतिहास
1– गार्सां द तासी –	इस्तवार द ला लितरेत्यूर ऐन्दोई ऐन्दुस्तानी–1939 (फ्रेंच में लिखा गया हिंदी साहितय का पहला इतिहास–दो भागों में)।
2– ठाकुर शिवसिंह सेंगर–	शिवसिंह सरोज,1883 (हिंदी भाषा में लिखा गया हिंदी साहित्य के इतिहास का पहला ग्रंथ)।

3–	जार्ज ऐ ग्रियर्सन–	माडर्न वरनाक्यूलर लिटरेचर आंफ हिन्दोस्तान 1889 (काल विभाजन और नामकरण का सर्वप्रथम प्रयास)
4–	मिश्रबंधु (गणेश बिहारीमिश्र, श्याम बिहारी मिश्र,शुकदेव बिहारी मिश्र)	– मिश्रबंधु –विनोद (चार भाग)
5–	रामचंद्र शुक्ल –	हिंदी साहित्य का इतिहास,1929–30(एक हजार कवियों का परिचय)
6–	हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	– डां रामकुमार वर्मा
7–	हजारी प्रसाद द्विवेदी–	हिंदी साहित्य की भूमिका,हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास
8–	राहुल सांकृत्यायन –	हिंदी काव्यधरा
9–	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र–	हिंदी साहित्य का अतीत (दो भाग)
10–	गणपतिचन्द्र गुप्त–	हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास
11–	डा नगेन्द्र–	हिंदी साहित्य का इतिहास (संपादन)
12–	नंददुलारे वाजपेयी–	हिंदी साहित्य का वृहद इतिहास (संपादित –दस भाग)
13–	अज्ञेय–	आधुनिक इतिहास
14–	रामस्वरूप चतुर्वेदी–	हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास
15–	राममूति त्रिपाठी–	हिंदी साहित्य का इतिहास
16–	शिवकुमार श्शर्मा –	हिंदी साहित्यः युग और प्रवृतियां
17–	नामवर सिंह–	आधुनिक साहित्य की प्रवृतियां
18–	प्रो. महेन्द्र कुमार –	हिंदी साहित्य का उत्तर मध्यकाल
19–	प्रभाकर माचवे–	हिंदी साहित्य की कहानी
20–	डॉ भगीरथ मिश्र –	हिदी काव्यशास्त्र का इतिहास
21–	डॉ. नगेन्द्र –	रीतिकाव्य की भूमिका
22–	श्री परशुराम चतुवेदी –	उतरी भारत की संत परंपरा
23–	श्री प्रभुदयाल मित्तल –	चेतन्य संप्रदाय और उसका साहित्य
24–	डॉ. विजयेन्द्र स्नातक –	राधवल्लभ संप्रदाय :सिद्वांत और साहित्य

25 – चंद्रकांतबाली – पंजाब प्रांतीय हिंदी साहित्य का इतिहास आदि।

26– डॉ हाकिम सिंह तोमर– हिन्दी वीरकाव्य

27– डॉ मोतीलाल मेनारिया– राजस्थनी भाषा और साहित्य व राजस्थनी पिंगल साहित्य

28– डॉ सियाराम तिवारी – मध्यकालीन खंडकाव्य

इसके अतिरिक्त डॉ सरला शुक्ल, डॉ हिरकांत श्रीवास्तव,डॉ ओमप्रकाश शर्मा प्राकृति विद्वानों के प्रेमाख्यान के काव्य संबंधी शोधप्रबंध आदि ऐसे शताधिक ग्रंथ हैं जिनके द्वारा हिंदी साहित्य के विभिन्न कालखंडों,काव्यरूपों ,काव्य धाराओं, उपभाषाओं के साहित्य आदि पर प्रकाश पड़ता है।

इनके बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि इन सबने साहित्य जगत को कुछ न कुछ नया अवश्य दिया तथा इन सब के आलोक में हिन्दी साहित्य की नूतन व्यख्या प्रस्तुत करने का प्रयास दिखाई देता है।

इस प्रकार गार्सा द ताँसी से ले कर अब तक की परंपरा के संक्षिप्त अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि लगभग एक शताब्दी की ही अवधि में हिन्दी साहित्य का इतिहास–लेखन अनेक दृष्टियों,रूपों और पद्धतियों को अपने में समेटे हिंदी साहित्य की सम्यक जानकारी प्रस्तुत करता है।

2.5 लेखन की आधारभूत सामग्री

यह एक विचारणीय तथ्य है कि आखिर उक्त इतिहास ग्रंथों के लेखन में इतिहासकारों ने लेखन सामग्री कहां से जुटाई। इसका आधार क्या है। जब हम इस पर दृष्टिपात करते हैं तो इन्हें हम पांच वर्गो में विभक्त पाते हैं।

(1) साहित्यकारों की प्रकाशित व अप्रकाशित रचनाएं

(2) साहित्यकारों वा साहित्यिक रचनाओं का परिचय प्रस्तुत करने वाली कृतियां

(3) साहित्य के विभिन्न अंगों,रूपों,धाराओं व प्रवृतियों की व्याख्या से संबंधित आलोचनात्मक व अनुसंधानपरक ग्रंथ

(4) प्राचीन साहित्यकारों के काल–निर्धारण व रचनाकाल के निर्णय में योग देने वाली ऐतिहासिक सामग्री,जैसे–शिलालेख, वंशावलियां, प्रामाणिक उल्लेख आदि

(5) विभिन्न युगों की आंतरिक और बाहय परिस्थितियों व स्थितियों पर प्रकाश डालने वाली सामाग्री

उपयुर्क्त वर्गो में से प्रथम वर्ग के अंतर्गत आने वाली प्रकाशित रचनाओं की उपलब्धि तो विशेष कठिन नही है,किंतु अप्राकाशित सामग्री की उपलब्धियाँ अवश्य दुष्कर हैं।

नागरीप्रचारिणी सभा तथा अन्य कई साहित्यिक संस्थाए इस कार्य में वर्षो से लगी हुई हैं और उनके द्वारा उपलब्ध रचनाओं का विवरण खोज रिपोर्टो में प्रकाशित होता है। दुर्भाग्य इस प्रकार की सहस्त्राधिक रचनाएँ अभी तक अप्रकाशित पड़ी हैं।

द्वितीय वर्ग की प्राचीन रचनाओं में–

'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता',

'चौरसी वैष्णवन की वार्ता',

'भक्तमाल',

'गुरुग्रंथ साहब' में भक्तनामावली',

'कविमाला',

'कालिदास हजारा'

,संतकवि गिराविलास',

'कवि नामावली',

'रगसागरोद्भव'

'रागकल्पद्रुम',

'श्रृगांर संग्रह' अदि उल्लेखनीय हैं।

इनका रचनाकाल सत्रहवीं सती से लेकर उन्नसवीं शती के अंत तक का है। तथा इनसे प्राचीन और मध्यकालीन कवियों और काव्यों के संबंध में विभिन्न तिथियों का पता चलता है।

जहाँ तक आधुनिक काल के साहित्य के परिचय देने वाले ग्रंथों की बात है, डॉ माता प्रसाद गुप्त और डॉ प्रेम नारायण टंडन व अन्य कई लेखकों द्वारा समकालीन लेखकों और उनकी रचनाओं के वृत संग्रह, निर्देशिकाओं के रूप में प्रकाशित हुए जो इतिहास लेखकों के लिए उपयोगी सिद्व हो सकते हैं।

2.6 पुनर्लेखन की आवश्यकता

डॉ नगेन्द्र कहते हैं– "हिंदी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता है, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। इसके दो स्पष्ट कारण हैं– साहित्यचेतना का विकास और नवीन शोधपरिणाम।"

यहां एक बात विचारणीय है कि क्या आज वैसा समय और चिन्तन है जो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के जमाने में था,स्पष्ट है नही बल्कि उसका विस्तार हुआ है। शोध कार्य बढ़े हैं । इंटरनेट और वेवसाईट के कारण हम विश्व से जुड़ गये हैं। इतना ही नही आज केवल हिंदी जगत ही नही विश्व के कोने कोने में रह रहे हिंदी प्रेमी इस विषय पर अपनी कलम

चला रहे है,उनमें भारतीय मूल के एवं अभारतीय दोनों है। फिर ऐसे बातावरण में हम कूपमंण्डूक कैसे रह सकते हैं । आज हमारे शोध में सामग्री जुटाने में प्रिंट एवं इलेक्ट्रानिक मीडिया पूरा हस्तक्षेप कर रही है। इसलिये साहित्य के मौलिक प्रतिमान भले ही अधिक नही बंदले हो और वे ज्यादा बदल भी नही सकते किन्तु पिछले शोध परिणामों के कारण नवनी सामग्री प्रकाश में आयी है और अनेक स्वीकृत तथ्यों का संशोधन हुआ है, जिसमें पूर्ववर्ती निर्णय और निष्कर्ष अनिवार्यतः बदले गये हैं। इनके अतिरिक्त एक सूक्ष्मतम कारण और भी हैं, जैसा कि इलियट ने कहा है,–केवल अतीत ही वर्तमान को प्रभावित नहीं करता,वर्तमान भी अतीत को प्रभावित करता हैं। इस तर्क से प्रत्येक युग में साहित्य के नये विकिसत रूप उसके पूर्वरूपों के मूलयांकन को प्रभावित करते रहते हैं। उदाहरण के लिए,मिश्रबंधुओं के समय श्रेष्ठ कवियों की जो परंपरा थी उसमें मैथिलीशरण गुप्त,प्रसाद,निराला,पंत आदि के अविर्भाव के बाद निश्चय ही परिवर्तन हो गया। हिंदी में काव्य –परम्परा में 'रामचरितमानस' की रचना के बाद आज फिर से विचार करना पड़ेगा। अतः नवीन शोध परिणामों के आधार पर विकासशील साहित्य चेतना के आलोक में,संपूर्ण परिदृश्य का पुनरावलोकन सर्वथा उचित एवं समय की मांग है।

इसके साथ ही जब हम साहित्य के इतिहास लेखन के बारे में विचार करते है तो हमारे सामने दो प्रश्न सहज खड़े होते हैं

(1)– हिंदी का स्वरूप विस्तार कहां तक है?

(2)– साहित्य की सीमा क्या है?

(1)– **हिंदी का स्वरूप विस्तार :** स्वरूप विस्तार के दो विचार आज के वातावरण में करना आवश्यक है। एक तो हिन्दी रचना की दृष्टि से रचना संसार ने देशकाल की भौगोलिक सीमा का सीमोलघ्न किया है और आज के वातावरण में हम चाह कर भी उसके विस्तार को रोक नही सकते और रोकना उचित भी नही हैं । हां उसे उसके क्षेत्र के रूप में परिभाषित करना है तो हिंदी के विद्वान और अन्य भाषाविद आरंभ से ही यह स्वीकार करते आये हैं कि भारतवर्ष के जितने भूभाग में वर्तमान हिंदी या खड़ीबोली,सामाजिक व्यवहार ,अर्थ, पत्राचार, शिक्षा–दीक्षा,सार्वजनिक आयोजन,विचार–विनिमय तथा साहित्यिक अभिव्यक्ति आदि की माध्यम भाषा है, वह सब का सब हिंदी का क्षेत्र है।

हां यह विचार नया नही है,इसका स्वरूप उस समय निर्धारित हो गया था जब भाषाई राज्यों और उनके प्रलोभनों की कल्पना भी नही थी। हिंदी का यह 'वृहत्तर 'या विशाल' रूप राजनीतिक उद्देश्यों से विस्तारित रूप नहीं है। स्वाभाविक तर्कसम्मत रूप है जिसके विषय में अभी कुछ समय पूर्व तक कोई विवाद नहीं था। जहां आज मैथिली और राजस्थानी स्वतंत्र भाषाएं है, वहीं यह अवधारणा पुष्ट हो गई है कि उर्दू भी हिन्दी की ही एक इकाई है और इन दोनों बातों को मानने वालों की संख्या बढ़ी है। किंतु क्या हम प्रसाद और

इकबाल को एक ही भाषा के कवि मान सकते हैं। ठीक है कुछ तत्वों की समानता मिल सकती है किन्तु इसके कारण दोनों को एक कैसे मान सकते हैं। यह बात सत्य है कि एक समय था जब विभिन्न बोलियों चाहे राजस्थानी, छत्तीसगढ़ी हो या बिहारी,मैथली आदि के साहित्य के विकास का साधन नही था। इसी आधार पर आज विद्यापति, चंद ,नरपति नाल्ह ,पृथ्वीराज आदि कवियों को हिंदी साहित्य के इतिहास में जो निरंतर महतवपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है उसे कमतर करने का प्रयत्न चल रहा है। अतः इस विषय में बड़ी सतर्कता से विचार करना पड़ेगा। इस संपूर्ण तांड़पग का हिन्दी साहित्य के इतिहास में विवेकपूर्ण उपयोग करना चाहिए क्योंकि हिंदी की सही परिभाषा के आधार पर ये सब हिंदी के ही अंग हैं। अन्यथा जो एक विषय हिन्दी साहित्य के आदिकाल के बारे में उठ रहा है कि हिंदी का स्वरूप अपभ्रंश,डिंगल–पिंगल और सीमांतवर्ती क्षेत्रों में गुजराती,पंजाबी आदि भाषाओं के साथ इस प्रकार उलझा और जुड़ा है कि इतिहासकार भी भ्रम में पड़ जाता है। वस्तुतः आज विचार करते समय दो बातों कों ध्यान में रखना पड़ेगा ,एक– विभिन्न बोलियों का विकास जिस गति से हो रहा है क्या वे भविष्य में हिंदी के साथ रहेंगी ?क्योकि उनका हिंदी का उस समय का संबंध है जब आदिकाल था तथा सभी प्रकार से ये बोलियां अपने विकास का अवसर तलाश रहीं थी। किन्तु दूसरी बात यह है कि क्या इनको हम हिंदी के एक बड़े परिवार में समाहित नही रख सकते। यदि नही तो क्या यह बोली भाषा का अस्तित्व क्षेत्र और प्रांत का राजनीतिक हथकंडा नही बन जावेगीं ? अतः यह छूट रखते हुए की प्रत्येक बोलियों को अपना विस्तार करने की पूरी स्वयतता है ,फिर भी व्यावहारिक दृष्टिकोण यही है कि ऐसी सभी रचनाओं को ,जिनके अधिकाश भाषिक रूप हिंदी की उपभाषओं के भाषिक रूपों से अभिन्न हैं,हिंदी के अंतर्गत मान लेना चाहिए। दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से हिंदी संसार को मान्यता देनी चाहिए।

(2)– दूसरा प्रश्न **साहित्य की सीमा** कहा तक जाती है? आज इतिहासकार के सामने एक प्रश्न है कि वह साहित्य के प्राण रस को कायम रखे या ज्ञान के भंण्डार को अपने अन्दर समेटे। इसमें थोड़ा सा पीछे देखकर निणर्य करना चाहिए। जैसे आदिकाल में प्रचलित गोरखनाथ आदि की बानी या परवर्ती युग की वार्ता –साहित्य शुद्व साहित्य की परिधि में नहीं आते हैं किंतु क्या इतिहासकार उनकी उपेक्षा कर सकता है,उनके अभाव में विकास पंरपरा की कुछ आवश्यक कड़ियाँ लुप्त नही हो जावेंगी। इसी तरह आधुनिक काल के आरंभ में दयानंद का सत्यार्थप्रकाश निश्चय ही ललिति साहित्य का अंग नहीं, परंतु क्या आलोचना की भाषा के विकास का अध्ययन उसके बिना संभव है? इसी प्रकार वर्तमान युग में भी ज्ञान के साहित्य भाषाविज्ञान,पाठविज्ञान,कोंशविज्ञान,पत्रकारिता का हम क्या करे जो हिन्दी में ऐसे प्रवेश कर गये हैं कि रस के आभाव में भी इनके बिना हम नहीं चल पार रहे हैं।दूसरी तरफ इतिहास,दर्शन,भूगोल, राजीनीतिशास्त्र आदि के क्षेत्रों की उपलब्धियाँ किस प्रकार साहित्य में योगदान करती है अवश्य विचार करना होगा। तब इनका निषेध कैसे हो ? यह ठीक है कि

जैसे साहित्य शब्द का प्रयोग आर्युवेद ,ज्योतिष आदि के लिय होता है वैसे का वैसा प्रयोग साहित्य में हम न भी करें तो क्या ललित साहित्य के निर्माण में इनके योगदान को भुलाया जा सकता है।

वस्तुतः यही वे प्रश्न है जो आज हिन्दी साहित्य इतिहास लेखन को पुनर्लेखन में ला खड़ा करते हैं।

2.7 इतिहास लेखन के आधार

पिछले कुछ दशकों से या यूं कहें की साठोत्तर के बाद से लगभग सभी दिशाओं में अनुसंधान का कार्य बढ़ा है उससे साहित्य भी अछूता नही रहा। जिसके कारण अनेक नवीन आधार स्त्रोतों का उद्घाटन हुआ और प्रचुर सामग्री प्रकाश में आयी है। वर्तमान शती के प्रथम चरण तक इस प्रकार के साधन अत्यंत सीमित थे और इतिहासकार को प्रायः सभा की खोज रिपोर्टो या विद्वानों के व्यक्तिगत प्रयास पर ही निर्भर करना पड़ता था परंतु आज सभी क्षेत्रों में अनेक संस्थाएं व्यवस्थित रूप से कार्य कर रही हैं और नित्य नवीन सामग्री का प्रकाशन हो रहा हैं। स्वभावतः इन शोध परिणामों का उपयोग करना इतिहासकार के लिय आवश्यक हो गया है । परंतु इस विषय में काफी सावधान होकर कार्य करना चाहिए। इतिहास में ऐसी सामग्री का ही उपयोग करना चाहिए जिसकी प्रामाणिता असंदिग्ध है। संदिग्ध सामग्री का भी,यदि वह साहित्य के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है,उल्लेख करना आवश्यक हो सकता है ,परंतु उस पर प्रश्नवाचक चिंह अवश्य रहना है उसके प्रति मोह अनुचित है और इतिहासकार के सामने वस्तुथिति को स्वीकार करने के अतिरिकत और कोई विकल्प नही रहता हैं किंतु प्रामाणिकता के प्रश्न पर भी अत्यंत सतर्कता की आवयकता है।प्रत्येक नवीन शोध–परिणाम प्रामाणिक नहीं होता,प्रमाण सिद्व स्थापनाओं को भी समय सिद्व होने में देर लगती है;अतः नवीनतम के प्रति आग्रह भी इतिहास का गुण नहीं है। जिस प्रकार अप्रामाणिक मान्यताओं से चिपके रहना गलत हैं,उसी प्रकार हर नयी कच्ची–पक्की स्थापना के आधार पर समय सिद्व धारणाओं को नकारना भी खतरनाक है।

डॉ. रामविलास गुप्त लिखते हैं कि इतिहास–लेखन एक सहज नहीं ,अपितु दुष्कर कार्य है।यह विगत कालीन देश–समाज की गतिविधियों का वह दर्पण है,जिससे अपेक्षित स्वस्थ दृष्टि प्राप्त होती है। आचार्य रामचन्द्र ने हिंन्दी में जिस वैज्ञानिक आलोचना का भव्य भवन निर्मित किया,उससे वे हिन्दी साहित्य के इतिहास–लेखन के क्षेत्र में नवीन युग के प्रवर्तक कहे जाते है। सामान्यतः इतिहास–लेखक प्रतिपाद्य विषय से सम्बद्ध आनुषंगिक विषयों की चर्चा यथार्थ भूमि पर करते हुंए विचारों के कसाव को बढ़ा देता है,लेकिन शुक्ल जी ने अपने औदार्यपूर्ण व्यक्तित्व की झलक दिखाते हुए इसे कुछ मधुर और हल्का कर दिया है। इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने पाश्चात्य साहित्य पर अपनी पैनी नजर रखकर और उसके स्वस्थ प्रभाव को ग्रहण कर इतिहास–लेखन के प्रति अपने विशद पाण्डित्य,

प्रौढ़–चिन्तन,सूक्ष्म–विश्लेषण,व्यापक अनुभव आदि सब कुछ अपने उत्कर्ष पर पहुँचा दिया। इससे वे हमारे सामने एक आचार्य और दार्शनिक के रूप में आते हैं।

आचार्य रामचनद्र शुक्ल के साहित्य–इतिहास लेखन का उल्लखनीय वैशिष्ट्य यह भी है कि उसमें उन्होंने अपने व्यापक और गम्भीर अध्ययन से रचनाकार विशेष के गुण–दोष को प्रकट करते हुए उसकी रचनागत मूल प्रवृतियों की छानबीन करके अपनी अद्‌भुत क्षमता और विश्लेषण–बुद्धि का अभूतपूर्व उत्कर्ष प्रदान किया है। इससे उन्होंने न केवल निहित देशकाल सापेक्ष और शाश्वत तत्वों का उद्‌घाटन किया, अपितु व्यापक मानव–मूल्यों की दृष्टि से उसका महत्वांकन करने की एक ऐसी परिपाटी को जन्म दिया,जिसका विकास परवर्ती इतिहास–लेखन में दिखायी देता हैं । इसीलिए उनका शोधपूर्ण ,विश्वसनीय, प्रामाणिक और अप्रतिम 'हिन्द साहित्य का इतिहास' छात्रों के लिये ही नही आज विद्यार्थियों और शोधकर्ताओं के लिए भी उपयोगी हैं।

वस्तुतः उक्त टीप हमारे सामने वह सब रहस्य उद्‌घाटित करती है जिसे आधार पर हम इतिहास लिख सकते हैं या जो हमें इतिहास लिखने के लिए आवश्यक है।अतः कहा जा सकता है कि इतिहास लेखन का आधार जहाँ शोधपूर्ण सामग्री है वही लेखक की अपनी प्रौढ़ता और देश–काल का अध्ययन महत्वपूर्ण है।अतः इतिहास न केवल सोचने से लिखा जा सकता और न केवल साहित्य की उपलब्धता से। अतः रचनाकार में नीर–क्षीर विवके भी होना आवश्यक है।

2.8 इतिहास लेखन की समस्याएँ

इतिहास के क्षेत्र में मौलिकता का केद्र बिंदु है – परिकल्पना अर्थात विकास–परंपरा का परिवर्तन वास्तव में इतिहास–लेखन, ऐतिहासिक अनुसंधान का पर्याय नहीं है। एतिहासिक अनुसंधान जहां जहां नवीन तथ्यों के अन्वेषण और उपलब्ध तथ्यों के नवीन आख्यान पर बल देता है, वहॉ इतिहास –लेखक इन दोनों दिशाओं में एक सीमा से आगे नहीं बढ़ सकता। उसके लिए नवीन की अपेक्षा प्रामाणिक और समय सिद्व का अधिक महत्व हैं, नये तथ्यो कें और नये श्शोध –निष्कर्षो का वह आदर करता है,किंतु उसके लिए वे तब तक ग्राहय नहीं होते, जब तक कि समय का प्रमाण पत्र उन्हें प्राप्त न हो जाये। इसी प्रकार कृतियों तथा कृतिकारों की समीक्षा एवं मूल्यांकन में उसका अपना मौलिक दृष्टिकोण हो सकता है,जो आलोचना के क्षेत्र में निश्चय ही महत्वपूर्ण है,परंतु इतिहास में एक सीमा से आगे उसका आग्रह करने से संतुलन भंग हो सकता है। इतिहास में तो समन्वयात्मक दृष्टिकोण और संतुलित विवेचन ही अधिक काम्य है। उपयुर्क्त विवेचन का निष्कर्ष इस प्रकार है–

1– नवीन श्शोधपरिणामों और विकसित साहित्यचेतना को ध्यान में रखते हुए हिंदी साहित्य के इतिहास का पुनर्लेखन हो।

2– ऐतिहासिक दृष्टि और आलोचनाशक्ति से युक्त एक अलोचक यदि यह कार्य संपन्न कर सके तो उत्तम होगा किंतु यदि यह संभव ना हो तो सुनिश्चित परियोजना के अंतर्गत,निदेशक सिद्वांतों का निर्धारण करं कुछ लंखकों का समुदाय, घनिष्ठ संपर्क सहयोग के आधार पर यह अनुष्ठान पूरा करे।

3– शैलीभेद होने पर भी ऐतिहासिक परिदर्शन की एकता इस प्रकार के समवेत प्रयास में एकान्विति स्थापित कर सकती है।

4– युगचेतना और साहित्यचेतना के समन्वय पर आधृत साहित्य के इतिहास के संश्लिष्ट स्वरूप को ही हमें स्वीकार करना चाहिए।

5– हिंदी भाषी भू–भाग के सांस्कृतिक इतिहास के परिवेश में उसके प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष प्रभाव में विकसित और हिंदी के विविध रूपों के माध्यम से अभिव्यक्त,साहित्य चेतना के विकासक्रम का आंकलन करना चाहिए अन्यथा इसमें कठिनाई होती है।

6– नवीन शोधसमग्री का उपयोग आवश्यक है पर इसमें सतर्कता बरतनी चाहिए की स्थापित विषय प्रामाणिक है अथवा नहीं,अन्यथा गलत तथ्य स्थापित होने का भय रहता है।

7– विषय प्रतिपादन में समन्वयात्मक पद्वति का अवलंबन करना ही उचित है, किंतु प्रकृति विश्लेषण तथा प्रमुख कवि ,लेखकों और कृतियों के योगदान स्थान –निर्धारण का भी साहित्य के इतिहास में उतना ही महत्व है।

8– जीवन वृत तथा ग्रंथ –विवरण साहित्यिक विवेचन से पूर्व देना ही अधिक संगत है। कुछ इतिहास ग्रंथों में इस का विवरण पाद टिप्पणी के रूप में देने की व्यवस्था है, जो विवेचन की स्वच्छता की दृष्टि से ग्राहय हो सकती है।

9– समानुपात की रचना और उचित मूल्यांकन के लिए इतिहास के समग्र रूप की कल्पना उसके अनुसार पूर्व योजना तथा रूपरेखा की रचना अनिवार्य है ,विषय –विवेचन का कलेवर विषय के महत्व के अनुरूप ही होना चाहिए। अन्यथा संतुलन और परिदर्शन में व्याघात उत्पन्न हो सकता हैं

10– विक्रम संवत तथा अन्य संवत् से आज के पाठक का जीवंत संपर्क न होने के कारण ईसवी सन् का संवत के साथ प्रयोग अवश्य होना चाहिए।

सारांश रूप में यह कहना ठीक होगा कि साहित्य के इतिहास लेखन की दिशा में हिंदी में अभी उचित प्रगति नहीं हुई हैं अन्य भाषाओं में तो स्थिति और भी खराब है इसका कारण यह है कि यद्यति प्राचीन काल से हमारे देश में रामायण,विभिन्न पुराणों की लम्बी परंपरा रही है जो हमारे इतिहास विधा के प्रतिनिध ग्रंथ है किन्तु हमने उनकी उपेक्षा की और यह धारणा बना ली कि हमारे देश में विकसित परंपरा नहीं रही है और आज भी हम इस

दिशा में विशेष उन्नति नही कर पाये हैं। परिणाम यह है कि सौ से ऊपर इतिहास ग्रंथों के प्रकाशन के आद भी हिंदी में सर्वाधिक प्रामाणिक इतिहास आचार्य शुक्ल का ही है,जिसकी रचना सन् 1929 में हुई थी। यह स्थिति हिंदी के गौरव के अनुकूल नहीं है,विशेषतः तब,जबकि हिंदी का आलोचना–साहित्य इतना समृद्ध हो चुका है।

नागरी प्रचारिणी सभा ने बृहत इतिहास की योजना बना एक महान अनुष्ठान का उपक्रम किया है। किन्तु इस प्रकार के सार्वजनिक कार्य की अपनी सीमाएं होती हैं, फिर भी इस महत्प्रयास के फलस्वरूप साहित्य–सामग्री की एक विशाल राशि भावी इतिहासकार के लिए एकत्र हो गयी है और हमारा विश्वास है कि शीघ्र ही साहित्य के कुछ प्रामाणिक इतिहास हमें हिंदी में उपलब्ध होगें।

2.9 इकाई सारांश/याद रखने की बातें

1. प्रत्येक साहित्य के अभिव्यक्ति का साधन उसकी भाषा होती है। जिस देश जाति की जो भाषा होती है वहां का कवि,साहित्यकार अथवा रचनाकार जो भी कहें वह उसी भाषा में अपनी अभिव्यक्ति करता है।
2. हिन्दी शब्द का संबंध संस्कृत शब्द 'सिंधु' से माना जाता है।
3. इसी में ईरानी का 'ईक' प्रत्यय लगने से 'हिंदीक' बना, जिसका अर्थ है 'हिन्दका'। यूनानी शब्द इंदिका या अंग्रेजी शब्द 'इंडिया' आदि इस 'हिंदीक' के ही विकसित रूप हैं।
4. 'हिन्द' शब्द अपने विस्तृततम अर्थ में हिन्दी प्रदेश में बोली जाने वाली सत्रह बोलियों का द्योतक है। हिंदी साहित्य के इतिहास में 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में होता है,
5. जनता की चितवृतियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखना ही 'साहित्य का इतिहास' लिखने का उद्देश्य है।
6. श्री कुप्पी हल्ली सीतारम्मया 'शुदर्शन' जी कहते हैं कि हिन्दी भारत की संम्पर्क भाषा घोषित होनी चाहिए। जिसे तमिलनाडु एवं सभी दक्षिण–पूर्वी राज्य मानने को तैयार हैं।
7. हिंदी साहित्य की परंपरा में सर्वोच्च स्थान आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा रचित 'हिंदी साहित्य का इतिहास'(1929)को प्राप्त है,जो मूलतः नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित'हिन्दी शब्द–सागर'की भूमिका के रूप में लिखा गया था तथा जिसे आगे परिवर्द्वित एवं विस्तृत कर स्वतंत्र पुस्तक का रूप दे दिया गया।
8. आचार्य शुक्ल के अनुसार " प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चितवृति की संचित प्रतिबिंब होता है,तब यह निश्चित है कि जनता की चितवृति के परिवर्तन के

साथ–साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है, आदि से अंत तक इन्हीं चितवृतियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चितवृति बहुत कुछ राजनीतिक,सामाजिक,सांप्रदायिक तथा धर्मिक परिस्थिति के 'अनुसार होती है।''

9. उन्नीसवीं शती से पूर्व विभिन्न कवियों और लेखकों द्वारा अनेक ऐसे ग्रंथों की रचना हो चुकी थी,जिनमें हिंदी के विभिन्न कवियों के जीवनवृत एवं कृतित्व का परिचय दिया गया है,जैसे'चौरासी वैष्णव की वार्ता','दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता', 'भक्तमाल','कविमाला','कालिदास हजारा'आदि।

10. हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन का सबसे पहला प्रयास एक फ्रेंच विद्वान गार्सा द तॉसी का ही समझा जाता है। जिन्होनें फ्रेंच भाषा में 'इस्त्वार द ला लितरेत्युर एंन्दुई ऐ ऐन्दुस्तानी'ग्रंथ लिखा,जिसमें हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन का विवरण वर्णक्रमानुसार दिया गया है,इसका प्रथम भाग (1839ई.) में तथा द्वितीय भाग (1847ई.) में प्रकाशित हुआ था।

11. डॉ.नगेंद्र कहते हैं–वस्तुतः किसी भी क्षेत्र में किए गए प्रारंभिक एवं प्राकृतिक प्रयास का महत्व प्रायः उसकी उपलब्धियों की दृष्टि से नहीं,अतिपु नयी दिशा की ओर अग्रसर होन की दृष्टि से ही माना जाता है,यह बात तासी के प्रयास पर भी लागू होती है। अस्तु,उनके ग्रंथ में अनेक त्रुटियों व न्यूनताओं के होते हुए भी हम उन्हें हिंदी साहित्येतिहास–लेखन की परंपरा में,यह उसके प्रवर्त्तक के रूप में,गौरवपूर्ण स्थान देना उचित समझते हैं।

12. डॉ किशोरीलाल गुप्त ने अपने 'हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास' में लिखा है कि सन् 1888 में एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल की पत्रिका के विशेषांक के रूप में जार्ज ग्रियर्सन द्वारा रचित 'द मांडर्नवनेक्युलर लिटरेचर आंफ हिंदुस्तान' का प्रकाशन हुआ,जो नाम से इतिहास न होते हुए भी सच्चे अर्थ में हिंदी साहित्य का पहला इतिहास कहा जा सकता है।

13. ग्रियर्सन ने कहा– ''मैं आधुनिक भाषा–साहित्य का ही विवरण प्रस्तुत करने जा रहा हूँ,अंतः मैं संस्कृत में ग्रंथ रचना करने वाले लेखकों का विवरण नहीं दे रहा हूँ। प्राकृत में लिखी पुस्तकों को भी विचार के बाहर रख रहा हूँ।''

14. ग्रियर्सन ने अपने ग्रंथ के आधार स्त्रोत के रूप में तासी एवं शिवसिंह सेंगर के ग्रंथों के अतिरिक्त भक्तमाल, गोसाईचरित्र ,हजारा, काव्य–संग्रह आदि सत्रह रचनाओं का उल्लेख करते हुए स्थान–स्थान पर मूलाधारों के संदर्भ–संकेत भी दिये हैं,

15. तॉसी की परंपरा को आगे बढ़ाने का श्रेय शिवसिंह सेंगर को जाता है,जिन्होंने 'शिवसिंह सरोज'(1883) में लगभग एक सहस्त्र भाषा–कवियों का जीवन चरित उनकी

कविताओं के उदाहरण सहित प्रस्तुत करने का प्रयास किया।

16. मिश्र बंधुओं द्वारा रचित 'मिश्रबंधु–विनोद' चार भागों में विभक्त हैं जिसका प्रथम तीन भाग (1913ई.) में प्रकाशित हुए तथा चतुर्थ भाग (1934ई.) में प्रकाशित हुआ।

16 मिश्र बन्धुओं ने मिश्रबंधु–विनोद को परिपूर्ण और सुव्यवस्थित बनाने के लिए एक ओर इसमें लगभग पांच हजार कवियों को स्थान दिया है तथा दूसरी ओर इसे आठ से भी अधिक काल–खंडों में विभक्त किया है।

17. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का सन् (1929ई.) का लिखा हिन्दी साहित्य का इतिहास वस्तुतः हिंदी का मान्य इतिहास सर्वप्रथम सामने आया।जिसमें शुक्ल जी ने सबसे बड़ा कार्य यह किया की उन्होंने रचनाकार को ज्यादा महत्व न देकर उसके रचना को अपना विषय बनाया।

18. आचार्य शुक्ल के इतिहास लेखन की एक अन्य विशेषता यह है उन्होंने पूरे भक्तिकाल को पहली बार चार भागों या शाखाओं में बांटकर उसे शुद्व दार्शनिक एवं धार्मिक आधार पर प्रतिष्ठत कर दिया। इस काल के विभाजन के साथ साहित्य को पहले निर्गुण धारा और सगुण धारा में और फिर प्रत्येक को दो–दो शाखाओं–ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी शाखाओं में बांट दिया, जो धार्मिक एवं भक्त परम्परा और साहित्यानुसंधान करने वालों को एक रास्ता मिला।

19. हिंदी साहित्य की परंपरा में सर्वोच्च स्थान आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा रचित 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (1929) को प्राप्त है,जो मूलतः नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी शब्द–सागर' की भूमिका के रूप में लिखा गया था तथा जिसे आगे परिवर्द्वित एवं विस्तृतकर स्वतंत्र पुस्तक का रूप दे दिया गया।

20. आचार्य शुक्ल के लेखन के लगभग एक दशाब्दी बाद आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस क्षेत्र में आए और उन्होंने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' नाम से क्रम और पद्वति की दृष्टि से इतिहास के रूप में पहला ग्रंथ हिन्दी साहित्य जगत को प्रस्तुत किया।

21. हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं –"मै इस्लाम के महत्व को भूल नहीं रहा हूँ,लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम न आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।"

22. इसके अतिरिक्त द्विवेदी ..जी ने हिंदी 'सहित्यःउद्भव और विकास', 'हिदी साहित्य का आदिकाल' आदि रचनाएँ हिन्दीं संसार को दीं। वस्तुतः वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने आचार्य शुकल की कुछ धारणाओं का खण्डन किया।

23. डॉ. रामकुमार वर्मा ने 'हिदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (1938ई.) में 693 से 1693 ई.तक की कालावधि का साहित्यिक इतिहास लिखा। संम्पूर्ण ग्रंथ को सात

प्रकारणों में विभक्त करते हुए सामान्यतः रामचंद्र शुक्ल के ही वर्गीकरण का अनुसरण किया है।

24. नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा भी 'हिंदी साहित्य का बृहद इतिहास'प्रकाशित करने की विशाल योजना बनी और फलीभूत भी हुई।इसके अंर्तगत समस्त हिंदी साहित्य के इतिहास को सोलह भागों में प्रस्तुत किया गया है

25. डॉ धीरेन्द्र वर्मा 'हिंदी साहित्य' नामक ग्रंथ लिखा, इसमें संपूर्ण हिंदी साहित्य को तीन कालों —आदिकाल,मध्यकाल एवं आधुनिक काल में विभक्त करते हुए प्रत्येक काल की काव्य–परंपराओं का विवरण अविच्छिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है।

26 कुछ अतिरिक्त इतिहास ग्रंथ– डॉ भगीरथ मिश्र का 'हिदी काव्यशास्त्र का इतिहास', डॉ. नगेन्द्र का 'रीतिकाव्य की भूमिका', श्री परशुराम चतुवेदी का 'उतरी भारत की संत परंपरा', श्री प्रभुदयाल मित्तल का 'चेतन्य संप्रदाय और उसका साहित्य',डॉ. विजयेन्द्र स्नातक का 'राधवल्लभ संप्रदाय :सिद्वांत और साहित्य', श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का 'हिंदी साहित्य का अतीत', चंद्रकांतबाली का 'पंजाब प्रांतीय हिंदी साहित्य का इतिहास'आदि प्राप्त होते हैं।

27. साहित्य लेखन की आधार भूत कुछ आवश्यक सामग्रियाँ–

(1) साहित्यकारों की प्रकाशित व अप्रकाशित रचनाएं

(2) साहित्यकारों वा साहित्यिक रचनाओं का परिचय प्रस्तुत करने वाली कृतियाँ

(3) साहित्य के विभिन्न अंगों,रूपों,धाराओं व प्रवृतियों की व्याख्या से संबंधित आलोचनात्मक व अनुसंधानपरक ग्रंथ

(4) प्राचीन साहित्यकारों के काल–निर्धारण व रचनाकाल के निर्णय में योग देने वाली ऐतिहासिक सामग्री,जैसे–शिलालेख, वंशावलियां, प्रामाणिक उल्लेख आदि

(5) विभिन्न युगों की आंतरिक और बाहय परिस्थितियों व स्थितियों पर प्रकाश डालने वाली सामाग्री

28. डॉ नगेन्द्र कहते हैं– "हिंदी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता है,इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। इसके दो स्पष्ट कारण हैं– साहित्यचेतना का विकास और नवीन शोधपरिणाम।"

29. विक्रम संवत तथा अन्य संवत् से आज के पाठक का जीवंत संपर्क न होने के कारण ईसवी सन का संवत के साथ प्रयोग अवश्य होना चाहिए।

30. जब हम साहित्य के इतिहास लेखन के बारे में विचार करते है तो हमारे सामने दो प्रश्न सहज खड़े होते हैं

(1) हिंदी का स्वरूप विस्तार कहां तक है?(2)– साहित्य की सीमा क्या है?

31. डॉ. रामविलास गुप्त लिखते हैं कि इतिहास–लेखन एक सहज नहीं ,अपितु दुष्कर कार्य है।यह विगत कालीन देश–समाज की गतिविधियों का वह दर्पण है,जिससे अपेक्षित स्वस्थ दृष्टि प्राप्त होती है। आचार्य रामचन्द्र ने हिंन्दी में जिस वैज्ञानिक आलोचना का भव्य भवन निर्मित किया,उससे वे हिन्दी साहित्य के इतिहास–लेखन के क्षेत्र में नवीन युग के प्रवर्तक कहे जाते है।

32. आचार्य शुक्ल ने पाश्चात्य साहित्य पर अपनी पैनी नजर रखकर और उसके स्वस्थ प्रभाव को ग्रहण कर इतिहास–लेखन के प्रति अपने विशद पाडित्य, प्रौढ़–चिन्तन,सूक्ष्म–विश्लेषण,व्यापक अनुभव आदि सब कुछ अपने उत्कर्ष पर पहुँचा दिया। इससे वे हमारे सामने एक आचार्य और दार्शनिक के रूप में आते हैं।

33. आचार्य रामचनद्र शुक्ल के साहित्य–इतिहास लेखन का उल्लखनीय वैशिष्ट्य यह भी है कि उसमें उन्होंने अपने व्यापक और गम्भीर अध्ययन से रचनाकार विशेष के गुण–दोष को प्रकट करते हुए उसकी रचनागत मूल प्रवृतियों की छानबीन करके अपनी अद्भुत क्षमता और विश्लेषण–बुद्धि का अभूतपूर्व उत्कर्ष प्रदान किया है।

2.10 अपनी प्रगति की जांचिए

(क) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. सिद्ध कीजिए कि किसी भी साहित्यकार की अभिव्यक्ति उसके मूल भाषा में ही सहज और सरल रूप से निखरती है। हिन्दी भाषी रचनाकार स्वाभाविक रूप से किस भाषा में रचना करना चाहेगा।
2. हिंदी शब्द कैसे बना ?हिन्दी और उसकी बोलियों का परिचय दीजिये।
3. उन्नीसवीं शती के पूर्व लिखे हिंदी साहित्य के ग्रंथों के नाम तथा लेखको के नाम बताइये।
4. उन्नीसवीं श्शती के पूर्व के लिखे ग्रंथों की विशषताएं बताइये।
5. हिन्द साहित्य का भारत का सबसे प्रामाणिक इतिहास किसका माना जाता है और कब लिखा गया। उसकी विशेषताएं बताइये।
6. आचार्य रामचद्र शुक्ल और रामकुमार वर्मा के इतिहास ग्रंथों में समानता और अन्तर बताइये।
7. किन्ही पांच भारतीय साहित्य के इतिहासकारों और उनके एक–एक ग्रंथ के नाम बताइये।
8. हिंदी साहित्य के लेखन में किस प्रकार की सामग्री की आवश्यकता होती है। आचार्य रामचन्द्र श्शुक्ल ने किन–किन बातों का ध्यान रख कर अपना हिंदी साहित्य का

इतिहास लिखा।

9. साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता क्यों?अद्यतन इतिहास ग्रंथों में किन्हीं दो के नाम बताइये।

10.. पुनर्लेखन की समस्याएं कौन –कौन सी हैं ?

11. इतिहास लेखन की आवश्यक सामग्री कौन कौन सी हैं?

(ख) लघुउत्तरीय प्रश्न (पचास शब्दों में)

1– साहित्य लेखन की आधारभूत सामग्री

2– इतिहास लेखन की समस्याएं

3– इतिहास लेखन के आधार

4– साहित्य की सीमा

5– हिंदी का स्वरूप विस्तार

6– पुनर्लेखन की आवश्यकता

7– लेखन की आधारभूत सामग्री

8– इतिहास ग्रंथों की सूची

9– इतिसा लेखन की भारतीय परंपरा

10– उन्नीसवीं श्शती के पूर्व कें ग्रंथ

11– भाषा का आधुनिक काल

12– भाषा का आदिकाल

13– भाषा का मध्यकाल

14– भाषा का आधुनिक काल

15– हिंदी ,हिन्दुस्तानी ,हिंदवीं

16– हिंदी और उर्दू

17– बोलियों का सामान्य परिचय

18– हिंदी प्रदेश की भाषाओं की वर्गीकरण

19– संस्कृत कालीन भाषा

20– हिंदी भाषा विकास और स्वरूप

(ग) वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर विकल्पों के आधार पर दीजिए

(1) 'भाषा–सर्वेक्षण' किसकी रचना है–

1. श्यामसुंदरदास 2. ग्रियर्सन
3. हजारीप्रसाद द्विवेदी 4. आचार्य रामचंद्र शुक्ल

(2) हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास'इस्त्वार द ला लितरेत्यूर ऐन्दुई ऐन्दुस्तानी' किस भाषा में लिखा गया?

(1) अंग्रेजी, (2) हिंदी,
3. फ्रेंच, 4.जर्मन

3– सच्चे अर्थो में माना जाने वाला हिंदी साहित्य का पहला इतिहास :'द मॉडर्न वर्नेक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिंदुस्तान' के रचयिता कौन हैं?

(1) गार्सा द तासी , (2) जार्ज ग्रियर्सन ,
(3) गिलक्राइस्ट, (4) जोशुला केअलेर

4– हिंदी भाषा में लिखा जाने वाला हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहासः

(1) शिवसिंह सरोज (2) मिश्रबंधु
(3) हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
(4) हिंदी साहित्य का इतिहास

5– महावीरप्रसाद द्विवेदी ने आदिकाल को क्या संज्ञा दी?

(1) चारण काल (2) आदिकाल
(3)वीरकाल (4) बीजवपन काल

6– मिश्रबंधुओं द्वारा रचित 'मिश्रबंधु विनोद' कितने भागों में है–

(1) एक (2)दो
(3)चार (4) पांच

7– साहित्य प्रत्येक देश की जनता की चित्तवृति का संचित प्रतिबिंब है– यह पंक्ति किस आलोचक की है:

(1) रामचंद्र शुक्ल (2) नामवर सिंह
(3) हजारी प्रसाद द्विवेदी (4) मधुकर कवि

8– रामचंद्रशुक्ल का 'हिदी साहित्य का इतिहास' किसी भूमिका में किस शीर्षक से प्रकाशित हुआ ?

(1) हिंदी शब्द सागर' की भूमिका
(2) हिंदी सहित्य की भूमिका

(3) हिंदी साहित्य का विकास

(4) साहित्य सहचर

9– गार्सां द तासी–'इस्तवार द ला लितरेत्यूर' ऐन्दोई ऐन्दुस्तानी;–1939(फ्रेंच में लिखा गया हिंदी साहितय का पहला इतिहास कितने भागों में है–

(1) **दो भागों में** (2) तीन भागों में

(3) चार भागों में (4) पांच भागों में

10– ठाकुर शिवसिंह सेंगर का "शिवसिंह सरोज'किस सन में प्रकाशित हुआ ,

(1) **1883** (2) 1888

(3) 1889 (4) 1885

11– जार्ज ऐ ग्रियर्सन– माडर्न वरनाक्यूलर लिटरेचर आंफ हिंन्दोस्तान कब प्रकाशित हुआ

(1) 1883 (2) 1888

(3) **1889** (4) 1885

12– मिश्रबंधुओं के नाम इनमें से कौन सा नही है

(1) गणेश बिहारीमिश्र (2) श्याम बिहारी मिश्र

(3) शुकदेव बिहारी मिश्र (4) **कृष्ण बिहारी मिश्र**

13– मिश्रबंधु–विनोद कितने भागों में है

(1) **चार भाग** (2) तीन भाग

(3) पांच भाग (4) छः भाग

14– रामचंद्र शुक्ल के हिंदी साहित्य के इतिहास में कितने कवियों का परिचय है

(1) **एक हजार कवियों का परिचय**

(2) तीन हजार कवियों का परिचय

(3) चार हजार कवियों का परिचय

(4) दस हजार कवियों का परिचय

15– 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' किसकी कृति है

(1) **डां रामकुमार वर्मा** (2) हजारी प्रसाद द्विवेदी

(3) राहुल सांकृत्यायन (4) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

16– हिंदी साहित्य की भूमिका के रचनाकार बताइये

(1) डां रामकुमार वर्मा (2) **हजारी प्रसाद द्विवेदी**

(3) राहुल सांकृत्यायन (4) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

17— 'हिंदी काव्यधरा' किसका इतिहास ग्रंथ है

(1) डां रामकुमार वर्मा (2) हजारी प्रसाद द्विवेदी

(3) **राहुल सांकृत्यायन** (4) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

18— विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का 'हिंदी साहित्य का अतीत' कितनें भागों में है

(1) **दो भाग** (2) पांच भाग

(3) तीन भाग (4) चार भाग

19— 'हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' के लेखक कौन है

(1) डां रामकुमार वर्मा (2) हजारी प्रसाद द्विवेदी

(3) **गणपतिचन्द्र गुप्त** (4) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

20— डा नगेन्द्र— 'हिंदी साहित्य का इतिहास' का(संपादन) किसने किया

(1) रामचंन्द्र शुक्ल (2) हजारी प्रसाद द्विवेदी

(3) **डा नगेन्द्र** (4) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

21— नंददुलारे वाजपेयी द्वारा संपादित 'हिंदी साहित्य का वृहद इतिहास' कितने भागों में है

(1) **दस भाग** (2) तीन भाग

(3) पांच भाग (4) छः भाग

22— अज्ञेय के इतिहास ग्रंथ का नाम क्या है

(1) **आधुनिक इतिहास**

(2) हिंदी सहित्य की भूमिका

(3) हिंदी साहित्य का विकास

(4) साहित्य सहचर

23— रामस्वरूप चतुर्वेदी ने किस नाम से अपना इतिहास ग्रंथ लिखा

(1) **हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास**

(2) हिंदी सहित्य की भूमिका

(3) हिंदी साहित्य का विकास

(4) साहित्य सहचर

24– राममूति त्रिपाठी जिन्होनें हिंदी साहित्य का इतिहास लिखा कहां के रहने वाले थे

(1) **उज्जैन** (2) प्रयाग

(3) काशी (4) रीवा

25– हिंदी साहित्यः युग और प्रवृतियां के लेखक कोन हैं

(1) **शिवकुमार शर्मा** (2) हजारी प्रसाद द्विवेदी

(3) डा नगेन्द्र (4) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

24– 'आधुनिक साहित्य की प्रवृतियां' के लेखक नामवर सिंह मुख्यतः किस विधा के जाने जाते हैं

(1) कविता (2) **आलोचना–समीक्षा**

(3) व्यंगकार (4) नाटककार

27– 'हिंदी साहित्य का उत्तर मध्यकाल' के लेखक का नाम बताएं

(1) **प्रो. महेन्द्र कुमार** (2) हजारी प्रसाद द्विवेदी

(3) डा नगेन्द्र (4) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

28– 'हिंदी साहित्य की कहानी' के लेखक हैं

(1) **प्रभाकर माचवे** (2) प्रभाकर श्रोतिय

(3) डा नगेन्द्र (4) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

29– डॉ भगीरथ मिश्र ने कौर सा ग्रंथ लिखा

(1) **हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास**

(2) हिंदी सहित्य की भूमिका

(3) हिंदी साहित्य का विकास

(4) साहित्य सहचर

30– निम्न में से डॉ. नगेन्द्र के ग्रंथ का नाम बताइये

(1) **रीतिकाव्य की भूमिका**

(2) हिंदी सहित्य की भूमिका

(3) हिंदी साहित्य का विकास

(4) साहित्य सहचर

31– उतरी भारत की संत परंपरा 'किसकी रचना है

(1) **श्री परशुराम चतुवेदी** (2) प्रभाकर श्रोतिय

(3) डा नगेन्द्र (4) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

32– श्री प्रभुदयाल मित्तल की रचना कौन सी है

(1) **चेतन्य संप्रदाय और उसका साहित्य**

(2) हिंदी सहित्य की भूमिका

(3) हिंदी साहित्य का विकास

(4) साहित्य सहचर

34 – पंजाब प्रांतीय हिंदी साहित्य का इतिहास किसने लिखा।

(1) **चंद्रकांत बाली** (2) प्रभाकर श्रोतिय

(3) डा नगेन्द्र (4) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

35– हिन्दी वीरकाव्य किसकी रचना है

(1) **डॉ हाकिम सिंह तोमर** (2) प्रभाकर श्रोतिय

(3) डा नगेन्द्र (4) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

36– राजस्थनी भाषा और साहित्य व 'राजस्थनी पिंगल साहित्य के लेखक का नाम बताएं

(1) **डॉ मोतीलाल मेनारिया** (2) प्रभाकर श्रोतिय

(3) डा नगेन्द्र (4) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

37– 'मध्यकालीन खंडकाव्य' की रचना किसने की

(1) डॉ सियाराम तिवारी (2) प्रभाकर श्रोतिय

(3) डा नगेन्द्र (4) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

38– बिहारी उपभाषा में कितनी बोलियां हैं

(1) चार (2) तीन

(3) पांच (4) छः

39– भोजपुरी किस उपभाषा की बोली है

(1) **बिहारी** (2) पहाड़ी

(3) राजस्थानी (4) गुजराती

40– इनमें से कौन सी बोली बिहारी की है

(1) **भोजपुरी** (2) बघेली

(3) छत्तीसगढ़ी (4) मालवी

41– पहाड़ी उपभाषा में कितनी बोलियां हैं

(1) चार (2) **दो**
(3) पांच (4) छः

42– कुमाउनी,गढ़वाली किसकी बोलियां हैं
(1) बिहारी (2) **पहाड़ी**
(3) राजस्थानी (4) गुजराती

43– राजस्थानी उपभाषा में कितनी बोलियां हैं
(1) **चार** (2) दो
(3) पांच (4) छः

44– उत्तरी राजस्थानी का नाम है
(1) **मेवाती** (2) बघेली
(3) छत्तीसगढ़ी (4) मालवी

45– पूर्वी हिंदी में कितनी बोलियां हैं
(1) **तीन** (2) दो
(3) पांच (4) छः

46– बघेली किस उपभाषा की बोली है
(1) बिहारी (2) **पूर्वी हिंदी**
(3) राजस्थानी (4) गुजराती

47– पश्चिमी हिंदी क्या है
(1) भाषा (2) **उपभाषा**
(3) बोली (4) उपबोली

48– हिंदी प्रदेशों में कौन सा राज्य नहीं आता
(1) मध्यप्रदेश (2) **कर्नाटक**
(3) उ.प्र. (4) बिहार

49– शौरसेनी अपभ्रंश में कितनी भाषाएं हैं
(1) **चार** (2) दो
(3) पांच (4) छः

50– मागधी के अंन्तर्गत इनमें से कौन सी भाषा नहीं आती
(1) बिहारी (2) बांगला

(3) **मराठी** (4) उड़िया

51– सूरदास किस भाषा के रचनाकार है

(1) **ब्रज** (2) मराठी

(3) बांग्ला (4) उड़िया

52– ईसुरी किस बोली के रचनाकार हैं

(1) ब्रज (2) **बुंदेली**

(3) बघेली (4) अवधी

53– अमीरखुसरो किस काल के कवि हैं

(1) तेरवी शती (2) सातवी शती

(3) आठवी शती (4) पांचवी शती

54– हिंदी वर्ण और वर्तनी के लेखक का नाम बताइये

(1) **डा प्रेम भारती** (2) डा भोलानाथ तिवारी

(3) डा प्रयाग नारायण तिवारी (4) डा नामवर सिंह

2.11–प्रश्नों के उत्तर–

(ग) वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर विकल्पों के आधार पर

(1). 'भाषा–सर्वेक्षण' किसकी रचना है–

2. ग्रियर्सन

(2). हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास 'इस्त्वार द ला लितरेत्यूर ऐन्दुई ऐन्दुस्तानी' किस भाषा में लिखा गया?

3. फ्रेंच,

3– सच्चे अर्थो में माना जाने वाला हिंदी साहित्य का पहला इतिहास :'द मॉडर्न वर्नेक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिंदुस्तान' के रचयिता कौन हैं?

2.जार्ज ग्रियर्सन

4– हिंदी भाषा में लिखा जाने वाला हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास:

(1) शिवसिंह सरोज

5– महावीरप्रसाद द्विवेदी ने आदिकाल को क्या संज्ञा दी?

(4) बीजवपन काल

6– मिश्रबंधुओं द्वारा रचित 'मिश्रबंधु विनोद' कितने भागों में है–

(3) चार

7– साहित्य प्रत्येक देश की जनता की चित्तवृति का संचित प्रतिबिंब है– यह पंक्ति किस आलोचक की है:

(1) रामचंद्र शुक्ल

8– रामचंद्रशुक्ल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' किसी भूमिका में किस शीर्षक से प्रकाशित हुआ ?

(1) हिंदी शब्द सागर' की भूमिका

9– गार्सा द तासी–'इस्तवार द ला लितरेत्यूर ऐन्दोई ऐन्दुस्तानी;–1939(फ्रेंच में लिखा गया हिंदी साहितय का पहला इतिहास कितने भागों में है–

(1) दो भागों में

10– ठाकुर शिवसिंह सेंगर का "शिवसिंह सरोज'किस सन् में प्रकाशित हुआ ,

(1) 1883

11– जार्ज ऐ ग्रियर्सन– माडर्न वरनाक्यूलर लिटरेचर आंफ हिंन्दोस्तान कब प्रकाशित हुआ

(3) 1889

12– मिश्रबंधुओं के नाम इनमें से कौन सा नही है

(4) कृष्ण बिहारी मिश्र

12– मिश्रबंधु–विनोद कितने भागों में है

(1) चार भाग

12– रामचंद्र शुक्ल के हिंदी साहित्य के इतिहास में कितने कवियों का परिचय है

(1) एक हजार कवियों का परिचय

14– 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' किसकी कृति है

(1) डां रामकुमार वर्मा

15– हिंदी साहित्य की भूमिका के रचनाकार बताइये

(2) हजारी प्रसाद द्विवेदी

16– 'हिंदी काव्यधरा' किसका इतिहास ग्रंथ है

(3) राहुल सांकृत्यायन

17– विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का 'हिंदी साहित्य का अतीत' कितनें भागों में है

(1) दो भाग

18– 'हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' के लेखक कौन है

(3) गणपतिचन्द्र गुप्त

19– डा नगेन्द्र– 'हिंदी साहित्य का इतिहास' का(संपादन) किसने किया

(3) डा नगेन्द्र

20– नंददुलारे वाजपेयी द्वारा संपादित 'हिंदी साहित्य का वृहद इतिहास' कितने भागों में है

(1) दस भाग

21– अज्ञेय के इतिहास ग्रंथ का नाम क्या है

(1) आधुनिक इतिहास

22– रामस्वरूप चतुर्वेदी ने किस नाम से अपना इतिहास ग्रंथ लिखा

(1) हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास

23– राममूति त्रिपाठी जिन्होनें हिंदी साहित्य का इतिहास लिखा कहां के रहने वाले थे

(1) उज्जैन

24– हिंदी साहित्यः युग और प्रवृतियां के लेखक कोन हैं

(1) शिवकुमार शर्मा

25– 'आधुनिक साहित्य की प्रवृतियां' के लेखक नामवर सिंह मुख्यतः किस विधा के जाने जाते हैं

(2) आलोचना–समीक्षा

26– 'हिंदी साहित्य का उत्तर मध्यकाल' के लेखक का नाम बताएं

(1) प्रो. महेन्द्र कुमार

27– 'हिंदी साहित्य की कहानी' के लेखक हैं

(1) प्रभाकर माचवे

28– डॉ भगीरथ मिश्र ने कौर सा ग्रंथ लिखा

(1) हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास

29– निम्न में से डॉ. नगेन्द्र के ग्रंथ का नाम बताइये

(1) रीतिकाव्य की भूमिका

30– उतरी भारत की संत परंपरा 'किसकी रचना है

(1) श्री परशुराम चतुवेदी

31– श्री प्रभुदयाल मित्तल की रचना कौन सी है

(1) चेतन्य संप्रदाय और उसका साहित्य

32– डॉ. विजयेन्द्र स्नातक के ग्रंथ का नाम है

(1) राधावल्लभ संप्रदाय :सिद्वांत और साहित्य

33 – पंजाब प्रांतीय हिंदी साहित्य का इतिहास किसने लिखा।

(1) चंद्रकांत बाली

34– हिन्दी वीरकाव्य किसकी रचना है

(1) डॉ हाकिम सिंह तोमर

35– राजस्थनी भाषा और साहित्य व 'राजस्थनी पिंगल साहित्य के लेखक का नाम बताएं

(1) डॉ मोतीलाल मेनारिया

36– 'मध्यकालीन खंडकाव्य' की रचना किसने की

(1) डॉ सियाराम तिवारी

37– बिहारी उपभाषा में कितनी बोलियां हैं

(2) तीन

38– भोजपुरी किस उपभाषा की बोली है

(1) बिहारी

39– इनमें से कौन सी बोली बिहारी की है

(1) भोजपुरी

40– पहाड़ी उपभाषा में कितनी बोलियां हैं

(2) दो

41– कुमाउनी,गढ़वाली किसकी बोलियां हैं

(2) पहाड़ी

42– राजस्थानी उपभाषा में कितनी बोलियां हैं

(1) चार

43– उत्तरी राजस्थानी का नाम है

(1) मेवाती

44– पूर्वी हिंदी में कितनी बोलियां हैं

(1) तीन

45– बघेली किस उपभाषा की बोली है

(2) पूर्वी हिंदी

46– पश्चिमी हिंदी क्या है

(2) उपभाषा

47– हिंदी प्रदेशों में कौन सा राज्य नहीं आता

(2) कर्नाटक

48– शौरसेनी अपभ्रंश में कितनी भाषाएं हैं

(1) चार

49– मागधी के अंन्तर्गत इनमें से कौन सी भाषा नहीं आती

(3) मराठी

50– सूरदास किस भाषा के रचनाकार है

(1) ब्रज

51– ईसुरी किस बोली के रचनाकार हैं

(2) बुंदेली

52– अमीरखुसरो किस काल के कवि हैं

(1) तेरवी शती

53– हिंदी वर्ण और वर्तनी के लेखक का नाम बताइये

(1) डा प्रेम भारती

2.12 चर्चा और स्पष्टीकरण के बिन्दु

उपयुर्क्त को पढ़ने के बाद मन में कौन–कौन से चर्चा के बिन्दु उभर कर आते हैं।

चर्चा के बिन्दु–

.....

.....

.....

.....

.....

.....

स्पष्टीकरण के बिन्दु

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2.13 संन्दर्भ ग्रंथ

हिंदी साहित्य का इतिहास –आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

हिंदी साहित्य का इतिहास –डॉ नगेन्द्र एवं डॉ हरदयाल

हिंदी वर्ण और वर्तनी– डा प्रेम भारती

इकाई –3

हिन्दी साहित्य का इतिहास:काल–विभाजन, सीमा निर्धारण और नामकरण

संरचना

3.1 परिचय–

3.2 उद्देश्य–

3.3 हिन्दी साहित्य का इतिहास

(3.3.1) संस्कृत साहित्य

(3.3.2) हिंदी साहित्य और अपभ्रंश

(3.3.3) सातवीं से ग्यारहवीं शती

(3.3.4) इतिहास का दूसरा युग

(3.3.5) सन्1857या उन्नीसवीं शती का मध्य

(3.3.6) साहित्य के आदर्शवाद की नवीन चेतना

3.4 काल–विभाजन

(3.4.1) काल विभाजन सामान्य दृष्टि

(3.4.2) कालविभाजन की आवश्यकता

(3.4.3) विवेचन सारंश

(3.4.4) विभिन्न विभाजन–एक दृश्य

3.5 सीमा निर्धारण के आधार

3.6 इकाई सारांश/याद रखने की बातें

3.7 अपनी प्रगति की जांच

3.8 प्रश्नोत्तर–समाधान

3.9 चर्चा और स्पष्टीकरण के बिन्दु

3.10 आगे की पढाई

3.1 परिचय

हिंदी साहित्य का इतिहास निरन्तरता का इतिहास है। आठवीं–नवीं शताब्दी से लेकर आजतक के विकास परदृश्य के साथ साहित्यिक सृजनशीलता के विविध रूपों,

प्रवृतियों और भाषा का ज्ञान हिन्दी साहित्य के इतिहास के माध्यम से ही किया जा सकता है। अतः इसका अध्ययन सर्वथा सार्थक एवं समीचीन है।

डॉ नगेन्द्र ने लिखा है–"गुण और परिमाण में समृद्ध कोई एक कृति लेखक ही लिख सकता है।"

यदि इस तथ्य को ध्यान में रखा जाय तो समझा जा सकता है कि पूर्व के लिखे इतिहास में निरन्तर परिमार्जन ही आज का इतिहास लेखन है। दूसरे शब्दों में तथ्यों का संकलन कर संपादन करना है। कालविभाजन और विभाजित कालों का नामकरण साहित्य के इतिहास की महत्वपूर्ण समस्याएं हैं। इनके आधार सामन्यतः काल–विभाजन ,और उनके नामकरण प्रत्येक इतिहास कार ने देने का प्रयत्न किया है।

आचार्य रामचंद्रशुक्ल जी अपने 'हिंदी साहित्य के इतिहास' की भूमिका में लिखते है कि –

"इधर जब से विश्वविद्यालयों में हिंदी की उच्च शिक्षा का विधान हुआ,तब से उसके साहित्य के विचार–श्रृंखलाबद्ध इतिहास की आवश्यकता का अनुभव छात्र और अध्यापक दोनों कर रहे थे। शिक्षित जनता की जिन–जिन प्रवृतियों के अनुसार हमारे साहित्य स्वरूप में जो–जो परिवर्तन होते आए हैं,जिन–जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्य–धारा की भिन्न–भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं,उन सबके सम्यक्निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किए हुए सुसंगत कालविभाग के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता था।"

सात–आठ सौ वर्षो की संचित ग्रंथराशि सामने लगी हुई थी; पर ऐसी निर्दिष्ट सारणियों की उद्भावना नहीं हुई थी,जिसके अनुसार सुगमता से इस प्रभूत सामग्री का वर्गीकरण होता। भिन्न–भिन्न शाखाओं के हजारों कवियों की केवल कालक्रम से गुँथी उपर्युक्त वृतमालाएँ साहित्य के इतिहास के अध्याय में कहाँ तक सहायता पहुँचा सकती थीं? सारे रचनाकाल को केवल आदि,मध्य ,पूर्व ,उत्तर इत्यादि खंडों में आँख मूँद कर बाँट देना–यह भी न देखना कि खंड के भीतर क्या आता है,क्या नहीं ,किसी वृत्त संग्रह को इतिहास नहीं बना सकता।

यहां फिर उस बात को स्मरण करना होगा कि हिंदी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता है। क्योंकि साहित्यिक चेतना में निरन्तर परिवर्तन आ रहा है। वर्तमान युग का साहित्य अब वैसे का वैसा नहीं है जैसा आज से सौ साल पहले था। यहां हर बीस –पच्चीस साल में साहित्य अपने नये कलेवर के साथ सामने आ रहा है। साहित्य में नई–नई विधाएं आ रहीं है। बोलियां भाषा का स्वरूप प्राप्त कर रहीं हैं। साथ ही अनुशंधान भी तीव्र गति से हो रहे हैं। इतना ही नहीं गैर हिंदी प्रदेशों में हिंदी पर साहित्य रचा जा रहा है। विदेशों में हिंदी की पत्र–पत्रिकाएं नये कलेवर और परिचय के साथ सामने आ रहीं हैं। विश्व हिंदी सम्मेलन जैसे कार्यशालाएं हिंदी को विश्व भर से जोड़ रहीं हैं। एक

ओर भाषा का व्यवसायीकरण हो रहा है,पारभाषिक शब्दावली की मांग बढ़ती जा रही है तो दूसरी तरफ आलोचना का विस्तार हो रहा है। इन सब के बीच भाषा और साहित्य के अन्तरसंबधों को बनाना तथा अनुदित साहित्य की पहचान हिंदी पाठको से कराना यह सब साहित्य का उत्तरदायित्व बढ़ता जा रहा है। देश का पढ़ा लिखा तपका प्रशासन और नौकरी को मूलाधार बना व्यवसायितकता की ओर जा रहा है। ऐसे में साहित्य का नित्य–नूतन, चिर पुरातन कलेवर कैसे रहे यह साहित्येतिहासकारों की भूमिका पर निर्भर है। हिंदी साहित्य में ग्रियर्सन से लेकर रामचंद्र शुक्ल तक जिस काल विभाजन की नीव पड़ी कमोवेश हम उसके ही चारों ओर घूम रहे हैं।

आज साहित्य के कालों के नामकरण के साथ अभिव्यक्ति का जो साधन भाषा है उस पर ही संकट मड़रा रहा है । एक ओर क्षेत्रीय बोलियों का आकर्षण बढ़ा है तो दूसरी ओर भाषा को आज भी गौरव नहीं प्राप्त हो पा रहा है। महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में माध्यम अंग्रेजी होता जा रहा है। वहीं अंग्रेजी स्कूलों की गांव गांव तक जिस तरह से बाढ़ आ रही है वह हमारे सोच और संस्कारों को बदल रहा है। हमारी अनुभूति शहरी होती जा रही है। हमारे अन्दर का सांस्कृतिक परिवेश गायब होता जा रहा है। समाज में अर्थतंत्र और उसकी परिभाषा इस तरह दृढ़ हो रही है कि माता–पिता की सेवा भी अब अनुत्पादक कार्य होता जा रहा है। अर्थतंत्र का यह प्रभाव हमारे उन्मुक्त गगनचुंबी सोच को सीमित उत्पादकता की ओर बाध रहा है।

ऐसे में साहित्य का चिंतन कहां और कितना रसोद्रेक कर पायेगा कहना कठिन है। जहां साहित्य प्रकृति के कार्य में विघ्न डालने से करुणार्द्र मन से प्रारंभ होता है वही आज प्रकृत के शोषण की होड़ में सम्पूर्ण धवलागिरि हिमच्छादन की जगह निर्वस्त्र होता जा रहा है।

साहित्य के अंतर्गत आज ज्ञान के अनेक साहित्य आ रहे हैं। इतिहास कार को यहां भी विवेकपूर्वक प्रमुख और गौण का भेद करते हुए वाड्मय के दोनों रूपों को स्वीकार करके चलना चाहिए,अर्थात रस के साहित्य को प्रधान विषय बना कर उसके पोषक रूप में ज्ञान के साहित्य का आकलन करना चाहिए। इतिहास लेखन और कालविभाजन में हम दो स्तरों पर पहुचते हैं । पहले सामग्री का संकलन फिर प्राप्त सामग्री को गुण–धर्म और काल तथा अभिव्यक्ति की मुखरता के आधार पर अलग अलग करते हैं। इतिहास के कालविभाजन में पूर्व से स्थापित मान्यताओं को आधार बनाकर आगे बढ़ना पड़ता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने एक हजार कवियों की रचनाओं का परिचय अपने इतिहास ग्रंथ में रखा। इतिहास की लेखनी बृहत्तर से लघुतर की ओर बढ़ी है। हम निरन्तर घनत्व की ओर बढ़ते गये हैं।समग्र सहित्य हमारा भाषा,उपभाषा से बोलियों तक बढ़ा। हम आगे बोलियों के आधार पर रचना को साहित्य में स्थान देना प्रारम्भ किए। इससे जहां एक लाभ यह हुआ कि छोटे–छोटे रूपों में अनेक

रचनाकारों को पुनर्जीवन मिला और उन्हें साहित्य में स्थान मिला वहीं समस्या भी एक जगह थमी कठिन लेखन का रूप ले ली।

आज का साहित्य कल का इतिहास होगा। और संभवतः वह इतिहास अधिक मार्मिक और शुद्ध होगा। किंतु इतिहास केवल कोरा इतिवृत्तात्मकता को लेकर चलेगा तो वह साहित्य का इतिहास नहीं होगा। रसोद्रेक हमारे साहित्य की पहली पहचान है। साहित्य संबन्धित कोई काल की विभाजन रेखा को तय कर सकता है। उसकी सरस रचनाओं दीप्त आलोचनाओं को जो मन मस्तिष्क को झकझोर देतीं है, मशीनीकरण कर निष्प्राण न बना द।

2.2 उद्देश्य

आज के हिंदू समाज में दो हजार वर्ष पूर्व से लेकर एक हजार तक जो ग्रंथ लिखे गये हिंदू समाज ने उन्हे बिना किसी किंतु परंतु के स्वीकार कर लिया। उसकी प्रामाणिकता पर किसी प्रकार का कभी कोई प्रश्न नही उठा। मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियां,सूर्यादि पांचों सिद्धांत ग्रंथ,चरक और सुश्रुत की संहिताएं, यायादि छहोंदर्शन–सूत्र,प्रसिद्ध पुराण,रामायण और महाभारत के वर्तमान रूप,नाट्यशास्त्र,पातंजलि का महाभाष्य आदि कोई भी प्रामाणिक माना जाने वाला ग्रंथ क्यों न हो,उसकी रचना,संकलन या रूप प्राप्ति सन् ईसवी के दो–ढाई सौ वर्ष इधर उधर की है। उसके बाद की चार पांच शताब्दियां इन ग्रंथों के निर्दिष्ट आदर्श का बहुत प्रचार होता रहा और इसी प्रचार काल में संस्कृत साहित्य के अनमोल रत्नों का प्रादुर्भाव हुआ। अश्वघोष, कालिदास, भद्रबाहु वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त कुमारिल, शंकर दिङ्नाग, नागार्जुन आदि बड़े–बड़े आचार्यो ने इन शताब्दियों में उत्पन्न होकर भारतीय विचारधारा को अभिनव समृद्धि से समृद्ध किया।वेद अब भी आदर के साथ मान्य समझे जाते थे,पर साधारण जनता में उनकी महिमा नाम मात्र में ही प्रतिष्ठित रही।

अगर आज भारत वर्ष के उस मानचित्र पर देंखे जिसकी साहित्यिक भाषा हिंदी मानी जाती है तो यह विशाल क्षेत्र एक ओर तो उत्तर भारत की सीमा को छुए हुए है जहां आगे फिर भिन्न जाति की भाषा और संस्कृति से संबंध होता है और दूसरी तरफ पूर्व की ओर भी भारतवर्ष की पूर्व सीमाओं को बनाने बाले प्रदेश की सीमाओं से सटा हुआ है। पश्चिम और दक्षिण में भी वह एक ही संस्कृति ,पर भिन्न प्रकृति के प्रदेशों से सटा हुआ है। भारतवर्ष का कोई ऐसा प्रांत या भाषा का क्षेत्र नहीं है जो इस प्रकार चौमुखी प्रकृति और संस्कृति से घिरा हो। इस घिराव के कारण उसे दो प्रकार की स्थितियों से गुजरना पड़ता है। एक तो संस्कृति और भाषा के अर्न्तसंबंध विकसित होते हैं और कभी विकास में सहायक होते हैं तो कभी संघर्ष की स्थिति भी बनती है।फिर भी वैदिक काल से लेकर आज तक यह क्षेत्र रक्षणशील और पवित्रता का पुजारी रहा है।

इसके सामने दोनों स्थितियां रही कि एक ओर अपने प्राचीनतम विचारों से चिपके रहना और दूसरी ओर नई–नई संस्कृतियों से सघष और सामंजस्य बिठाना। हिंदी साहित्य के प्रादुर्भाव के साथ संस्कृति से निश्रित अपभ्रंश से निकली विभिन्न भाषाओं के साहित्य ने इसे अभिबृद्ध किया। और जैसे जैसे इसका भंडार बढ़ता गया इसे समेटने का भार भी बढ़ता गया। संस्कृत के अनमोल धरोहरों से अनुप्राणित होकर जनभाषाओं के माध्यम से निश्रित रंजोदेक करने वाले साहित्य को सजाना हिंदी साहित्य के इतिहास कारो को चुनौती बना। उस पर भी रचना की प्रकृति को देख काल के आधार पर काल का विभाजन अपने आप में टेढ़ी खीर ही था। ओर आज भी बना हुआ है। क्योंकि जैसे जैसे शोध बढ़ रहे है यह सामग्री भी बढ़ रही है और पूर्व के निर्धारित मापदण्डों पर कुतूहल और नवीन उत्सुकता भी भर रही है। ऐसे में समग्रता को बनाए रखकर काल–विभाजन और नामकरण का मूल्यांकन करना तथा उसे कालानुकूल बनाकर भावी पीढ़ी को सौपना ही आज के साहित्यकार की महती भूमिका है।

1– जिस प्रकार वस्तु के समग्ररूप का दर्शन करने के लिए उसके अंगों का निरीक्षण करना पड़ता है, उसी प्रकार साहित्य के विभिन्न अंगों से साहित्य को पूर्ण रूप से समझा जा सकता है,अस्तु यह अध्ययन आवश्यक है। जैसे हमारी दृष्टि शरीर के अवयवों का अवलोकन करती है और उससे व्यकित्त्व का दर्शन करती है। साहित्य की छोटी से छोटी विधा और उसके महत साहित्य का पुनर्मूल्यांकन करना फिर उसे तथ्य के साथ प्रस्तुत करना अभीष्ट है।

2– इसी प्रकार साहित्य की अखंड परंपरा का निरूपण ही इतिहास का लक्ष्य है,समय समय पर उपस्थित दिशा परिवर्तनों और रूप–परिवर्तनों के अनुसार विकासक्रम का अध्ययन करना वर्तमान शोध सामग्री से उनका मूल्यांकन करना तथा आलोचको,पाठकों के विचारों से उसके मूल उत्स को बचाकर बनाये रखना साहित्यिक श्रेष्ठता है।

3– काल विभाजन का सही आधार ज्ञात करना। कालविभाजन के आधार पर विचार करते समय जहां एक ओर परंपरा सामने आती है वहीं दूसरी ओर विश्व की वर्तमान साहित्यिक चेतना की गूढता ।इन दोनों के बीच से तथ्य में रस मिलाकर अमिधात्मक भाव से सामग्री को काल में पिरोना आज भी उतना ही कठिन है जितना आचार्य शुक्ल को रहा होगा। आचार्य जी ने एक रास्ता निकाला था।उन्होने रचनाकार को न लेकर रचनाओं को आधार बनाया। आज स्थिति विज्ञापन के युग की है। रचना छोटी हो जाती है और रचनाकार बड़ा। उसका कैनवास कभी कभी अपने व्यक्तित्व में कविता या साहित्य को छिपा लेता है। व्यक्ति का गुणगान कभी कभी एक या दो कविता, कहानी पर ही टिक कर रह जाता है। जब एक व्यक्ति के समग्र साहित्य का चिंतन कठिन हो जाता है तो समझना चाहिए कि समग्र साहित्य में से श्रेष्ठ को चुनकर

व्यक्ति और वस्तु अर्थात सर्जना को स्थापित करना कितना कठिन कार्य है। फिर भी यह करणीय है ,अनिवार्य भी।

4– काल–विभाजन के आधार को समझना एवं परीक्षण करना। आज से सौ वर्ष पहले सामग्री या तो राजमहलों में मिलती थी या फिर पुस्तकालयों में। सामान्य जनता को मात्र विनाद से ही मतलब था। प्रबुद्ध वर्ग ऐसी धरोहर से अपने को प्रकट करना चाहते थे। लोकमंगल के अभाव में ऐसी सामग्रिया लाना और उसे लोकमंगलकारी बनाना कितना दुष्कर कार्य रहा होगा। आज काल विभाजन का आधार वह नहीं हो सकता जो कल या वीरगाथा काल में था या भक्तिकाल में। आज दुनिया छोटी हो गई है। साहित्य परिक्रमा करता है। वह भ्रमणशील है। ऐसे में काव्य का विभाजन क्या हो यह समझना आवश्यक है। विभिन्न धर्मो का हस्तक्षेप,संविधान की मर्यादा,पड़ोसियों की भावनाओं का ख्याल,अपनी प्राचीनता का बोध ,आनेवाली पीढ़ी का मार्गदर्शन और राष्ट्र और राष्ट्रीयता का बोध आदि सब ऐसे कारण है जो आज काल विभाजन को प्रभावित करते हैं। इनको समझना और इनके बीच से साहित्य के प्राणतत्व को बचाते हुए उसे काल की कड़ी में पिरोना अपेक्षित है।

5– जिस प्रकार काल के प्रवाह में अनेक धाराएं चलती रहती हैं उसी प्रकार साहित्य में भी अनेक प्रवृतियां होती हैं;और इन प्रवृतियों का आदि,अंत या उतार–चढ़ाव ही इतिहास का काल–विभाजन है,इस बात को समझना। आज विकलांगता के हाथ,पैर,आंखें भी हमें देख रहीं है,कान भी हमें सुन रहे हैं। ऐसे में काल के प्रवाह में उनकी अस्मिता को भी बचाना होगा। कभी एक सूरदास बिना तानपुरे के पूरे क्षेत्र में लोकमंगल का स्नेह सिंचित कर सका था

6– साहित्यिक प्रवृतियों और रीति–आदर्श का साम्य–वैषम्य समझना ।

7– सामन प्रकृति और प्रवृतियों की रचनाओं का कालक्रम से ,वर्गीकृत अध्ययन कर साहित्य तथा इतिहासकार की दृष्टि को समझना आदि।

3.3 हिन्दी साहित्य का वर्तमान इतिहास

हिंदी साहित्य के इतिहास की चर्चा अर्थात एक बार एक विंहगम अवलोकन उस पूरे परिदृश्य का जिसमें यह सारा साहित्य निर्माण हुआ। किंतु उसके साथ एक प्रश्न का समाधान भी होना आवश्यक है कि समाज परिर्वतन में साहित्य की भूमिका क्या ? या दूसरे शब्दों में कहें तो साहित्य के इतिहास को देखने के लिए समाज को देखना क्यों आवश्यक है। साहित्य किसके लिये। तुलसी ने लिखा "स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा"। और इस गाथा में पूरा लोक और उसकी संस्कृत प्रवाहित होती रही। वह भूत से लेकर वर्तमान तक ही नहीं तो भविष्य का पथदृष्टा बन कर सामने आई। आचार्य शुक्ल के अनुसार साहित्य का कार्य लोक मंगल होना चाहिए। हमारे यहां इस पर पहले से ही विचार होता रहा है।

हमारे सुकृती कवि लेखक पहले से ही इसमें चर्चा करते आ रहे हैं। उनके लोक के भीतर समस्त इंद्रियगोचर जगत आता है। मनुष्य भी आता है। मनुष्य कुछ विशेष इसलिए भी कि उसके पास भाषा है।वह संवाद स्थापित कर सकता है। वास्तव में 'लोक'काफी बड़ा शब्द है किंतु आज पश्चिमी चिंतन का प्रभाव ऐसा बढ़ा कि समाज शब्द मनुष्य केन्द्रित बना और उसने लोक के अर्थ को सीमित करने का प्रयत्न किया। भारत के नाट्यशास्त्र में सामाजिक की भूमिका निश्चित है। सामाजिक वह सहृदय है जो अभिनीत प्रदार्थ के द्वारा नाट्यकार के अभिप्राय से अपना तादात्म्य स्थापित करता है। यहां सामाजिक का अर्थ जन साधारण नहीं है।अब एक परिभाषा कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, इतना अभिभूत कर चुकी है कि सामाजिक शब्द का अर्थ ही बदल गया।

समाज और साहित्य के बीच एक अजीब रिश्ता है,इसका एक दूसरे के बिना कभी भी ,किसी भी काल में काम नहीं चला। किंतु समाज साहित्य से संचालित नहीं होत और साहित्य भी समाज को जैसे के तैसा स्वीकार नहीं करता। वह उसे देखता है,जांचता है,प्रश्नचिंह लगता है और तब समाज की जड़ता को तोड़ता है,उसे गतिशील बनाता है। यह बात अलग है कि समाज साहित्यकार को कितना गंभीरता से लेता है। उसका एक कारण और भी है साहित्य चितवृति का प्रतिबिंब तो है किंतु चितवृति का नियामक और नियंत्रण करता नहीं है। साहित्य समाज के अवचेतन मन में रहता है।

प्राचीन भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था थी उसने एक काल विशेष में समाज को गति भी दी किंतु कालांतर में जब उसमें दोष आने प्रारंभ हो गये तब उसे न केवल धर्म ने ,दर्शन ने छोड़ बल्कि साहित्य ने उसे छोड़ा भी और उसके समाधान भी सुझाए। निरन्तर उस पर प्रहार करता रहा। साहित्य ने न केवल वर्ण व्यवस्था पर बात की बल्कि सभी उपेक्षित क्षेत्रों को भी छुआ। चाहे वह अस्पृश्यता हो या नारी का दमन या अशिक्षा या अवैज्ञानिकता।

इस प्रकार चितवृति तो सामने आती ही रही किंतु उसमें कहीं न कहीं देश की तत्कालीन परिस्थित उसको प्रभावित करती रही। आज की तरह राजाओं,जागीरदारों का भी क्षेत्र कुछ को छोड़कर कोई देश व्यापी नहीं था। यहां जो कुछ भी रचा जा रहा था वह अपनी सांस्कृतिक विरासत और परंपरा का ही प्रस्फुटन हो रहा था। संत समाज अवश्य देश व्यापी भ्रमण करता रहता था। उनमें कुछ ऐसे भी थे जो समाज से जुड़े थे तो कुछ ऐसे थे जो निरंतर ब्रह्म में लीन होकर समाज और आत्मतत्व का चिंतन कर रहे थे। भारतीय इतिहास पहली शती से ही विदेशियों से प्रभावित होने लगा था।यहां नाना देशों से नाना उद्देश्य से लोग आ रहे थे। सातवी शती से लेकर उन्नीसवीं शती तक यह क्रम किसी न किसी रूप में निरंतर रहा। दूसरी बात यह हुई की भक्तिकाल के बाद संचार और बाह्य संपर्क ज्यादा बढ़ा।इसका भी प्रभाव हमारे साहित्य पर पड़ा । अगर सातवी शती से लेकर वर्तमान परिदृश्य तक एक नजर डाली जाय तो हमारे सामने सारी परिस्थितियां,परिवेश सामने आते हैं।

3.3.1–संस्कृत–साहित्य–

सन्1880 में एलफिंस्टन नामक यूरोपियन पंडित ने हिसाब लगाकर देखा था कि संस्कृत साहित्य में जितने ग्रंथ विद्यमान हैं,उनकी संख्या ग्रीक–लेटिन में लिखे हुए ग्रंथों की संख्यां से कही अधिक है। मगर उस समय तक संस्कृत के बहुत कम ग्रंथ पाए गये थे।इसका अनुमान इसी से किया जा सकता है कि सन्1830 में फ्रेडरिक जैसे साहित्यन्वेषी कोकेवल साढ़े तीन सौ संस्कृत ग्रंथों का पता था और सन् 1852 में बेवर ने अपने संस्कृत–साहित्य के इतिहास में जिन ग्रंथें की चर्चा की थी,उन सब की संख्या 500 के ही आस–पास थी। बाद में बेवर की संगृहीत पुस्तकों की संख्या 1300 हो गई। यदि 1840 ई में ही एलफिंस्टन की बात ठीक थी तो आज तो कहना ही क्या है। सन् 1891 ई में थियोडोर आफ्रेख्ट ने 'कैटलांगस केटलागारंम'नाम की सूची तैयार की। इससमें उस समय तक के पाए गए समस्त संस्कृत ग्रंथों के नाम हैं। इसमें वर्णित ग्रंथों की संख्या 32 हजार के आस–पास थी और सन्1916 ई. में महामहोपाध्याय पं. हरप्रसादशास्त्री ने जिन्हे नेपा से बहुत –सी अज्ञात पुस्तकों को प्रकाश में लाने का श्रेय है की सख्या 40 हजार के आस–पास थी। आज संख्या इससे भी ज्यादा है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन की तिब्बत –यात्रा ने इस संख्या को और भी अधिक बढ़ा दिया। इसके अन्तर्गत वैदिकसाहित्य (1000 ई.पू. तक),वेदांग–साहित्य (1000 ई.पू. से 400ई.तक),पुराण–साहित्य (ई.पू.600–400 ई. तक),दर्शन(200ई.800ई तक), संस्कृत बौद्ध साहित्य (200 ई.से 800ई.तक),संकीर्ण काव्य,धर्म और दर्शन की टीकाएं (800 ई.से 1400ई.तक), प्राप्त होती हैं।

हिंदी सहित्य के विकास क्रम में यदि हम संस्कृत साहित्य पर प्रकाश डालें तो देखेंगे कि सन् ईसवी के बाद का संस्कृत–साहित्य उत्तरोतर पंडितों की चीज बनता गया। इस साहित्य में लोक–जीवन से हटते हुए एक कल्पित जीवन और कल्पित संसार का आभास मिलता है। महाभारत या रामायण जिस प्रकार लोक जीवन के प्रत्यक्ष्य भाव से जड़ित थे,उत्तरकालीन काव्य–ग्रंथ वैसे नहीं रहे। ज्ञान जो किसी समय प्रत्यक्ष्य साधना और तन्मय जीवन से उपलब्ध हुआ था,उत्तरकालीन टीकाकारों और ग्रंथकारों को बहस की चीज रह गया। असल में जो कुछ लिखा गया उसमें बुद्धि और प्रतिभा का तो काफी विकास हुआ परंतु यह निश्चित रूप से विश्वास कर लिया गया कि यह ज्ञान प्राचीन ज्ञान से निम्न कोटि का है। इसी मनोवृति का परिणाम है कि प्रत्येक वैष्णव आचार्य को अपने मतवाद की पुष्टि के लिए प्रस्थान त्रयी अर्थात बादरायण का ब्रम्ह्सूत्र,उपनिषद और गीता का सहारा लेना पड़ा। यह एक व्यापक भाव फैला हुआ सा जान पड़ता है कि बिना इनका सहारा लिए हुए कोई मतवाद टिक ही नहीं सकता।ईसा की पहली शहस्त्रब्दी में ही इस मनोभावना ने जड़ जमा ली थी और वह उत्तरोतर बद्धमूल होता गया। यहां स्मरण रखना अप्रसांगिक नहीं होगा कि यह चिंता परतंत्र मुसलमानी धर्म के बहुत पहले सिर उठा चुका था। और परिवर्ती

हिंदी–साहित्य में इसके उग्र रूप को देखकर यह कहना कि यह विदेशी शासन की प्रतिक्रिया थी बिल्कुल अनुचित है।असल में वह कोई और कारण होना चाहिए ,जिसने भारतीय चिंता में इस चिंता पारतंष्य को जन्म दिया।

हिंदी साहित्य का प्रारंभ चाहे अपभ्रंश साहित्य से माना जाय अथवा उत्तरकालीन देशी भाषाओं के अभ्युदय काल से ,इतना स्पष्ट है क तत्कालीन समाज में संस्कृत भाषा एवं उसका साहित्य जन सामान्य की रुचि से दूर हो चुका था। और साहित्य जनभाषाओं की मधुरता स्वीकार करने लगी थी।

3.3.2–हिंदी साहित्य और अपभ्रंश –

"हिंदी साहित्य के जन्म के बहुत पहले अपभ्रंश या लोकभाषा में कविता होने लगी थी। परंतु कई लोग इस बात में संदेह ही प्रकट करते हैं कि हिंदुओं के राजत्व–काल में उसे कोई प्रोत्साहन भी मिलता था। ऐसे लोगों का भ्रम बहुत ही निराधार युक्तियों पर अवलंबित है,जिसका निरास बहुत कठिन नहीं है। परंतु उक्त कार्य करने के पूर्व इस विषय पर विचार कर लेना आवश्यक है कि अपभ्रंश हैं क्य वस्तु। असल में बहुत –से लोगों में अपभ्रंश भाषा के विषय में बहुत–सी भ्रांत धारणाएं हैं। मैं अगर इस बात को ठीक–ठीक अपने रास्ते समझाने का करूं तो मुझे फिर कुछ पहले से ही आरंभ करना पड़ेगा।

प्राकृत के सर्वाधिक प्राचीन व्याकरण में चार प्रकार की प्राकृतों की चर्चा है: प्राकृत शौरसेनी,मागधी और पैशाची। प्राकृत एक प्रकार की स्टैण्डर्ड प्राकृत है। परंतु शौरसेनी को 'शेषंमहाराष्ट्रीवत' अर्थात् महाराष्ट्री के समान चाहिए। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राकृत के पहले रूप को महाराष्ट्री कह सकते हैं। मागधी मगध और बंगाल की प्राचीन भाषा का रूप है। पैशाची कहां की भाषा थी इस पर नाना प्रकार की अटकले लगाए गए हैं। प्राचीन ग्रंथों में कभी यह दर्दिस्तान की, कभी विंध्याचल की पहाड़ियों की ,कभी सुदूर दक्षिण की भाषा मानी जाती रही है।जान पड़ता है उस समय की आर्येतर जातियों की बोली जाने बाली भाषा है। वं उसेा शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाते रहे होगें और अपने नादाभ्यास के अनुकूल विकृत करके बोलते होंगे। रह गई श्शौरसेनी और महाराष्ट्री। वस्तुत: प्राकृत वैयाकरणों ने इनमें समानता ही बहुत देखी है, असमानता कम। जहां तक शौरसेनी का संबंध है,यह निश्चित है कि वह पश्चिमी हिंदी का पूर्वरूप है;पर महाराष्ट्री शब्द भ्रमात्मक है। **हार्नले ने एकबार इसीलिए कहा था कि "शौरसेनी और महाराष्ट्री दो पृथक भाषाएं नहीं हैं बल्कि एक ही भाषा की दो शैलियां हैं,एक का प्रयोग पद्य में होता था और दूसरे का गद्य में।"** इसी प्रकार वररूचि ने दो ही भाषाओं की चर्चा की है। शौरसेनी(अर्थात पश्चिमी हिंदी की पूर्ववर्ती भाषा) और मागधी अर्थात बिहारी,बंगाली,उड़िया आदि की पूर्ववर्ती भाषा। पैशाची कोई स्वतंत्र भाषा नहीं,बल्कि आर्य भाषा का आर्येतर–भाषित विकृत रूप है;बहुत –कुछ वैसी ही जैसी 'शांति–निकेतन; में कामकरनेवाले संथालों की बंगला।"–हजारी प्रसाद द्विवेदी

द्विवेदी जी आगे कहते हैं –" जहां तक हिंदी का संबंध है,उसमें इन दोनों जातियों की भाषाओं को स्थान मिला है। असल मे शौरसेनी और मागधी को बोलने वाले आर्यो के रहन–सहन और स्वभाव भी बहुत–कुछ भिन्न हैं। यह ध्यान देने की बात है कि भारतवर्ष के साहित्यों में हिंदी साहित्य ही ऐसा है,जिसमें इन दो भिन्न श्रेणी संस्कार वाले आर्यो ने समानभाव से काव्यादि रचना की।यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि यद्यपि प्राकृत में लिखे गए काव्यों के बाद ही अपभ्रंश भाषा में काव्य लिखे गए,परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्राकृत नाम की कोई भाषा पहले बोली जाती थी और अपभ्रंश लोक में प्रचलित भाषा का नाम है जो नाना काल और नाना स्थान में नाना रूपों में बोली जाती थी। **भाषा–शास्त्रियों ने लक्ष्य किया है कि अपभ्रंश नामक उत्तर–कालीन काव्य–भाषा में ऐसे बहुत–से–प्रयोग पाए जाते हैं,जो वास्तव में वररुचि के महाराष्ट्री और श्शौरसेनी के प्रयोगों की अपेक्षा प्राचीनतर हैं। " हजारी प्रसाद द्विवेदी**

सन् 1877 ई में सुप्रसिद्ध भाषाशास्त्री जर्मन पं. पिशेल ने जर्मनी के 'हाल' नगर से हेमचंद्राचार्य के व्याकरण का बहुत अच्छा सुसंपादित संस्करण प्रकाशित किया था। आज भी यह ग्रंथ भाषाशास्त्रियों के लिए उतना ही महत्वपूर्ण बना हुआ है जितना कभी था। हेमचंद्र ने अपने व्याकरण के अंत में अपभ्रंश भाषा का व्याकरण दिया है। और उदाहरण बताने के लिए ऐसे पूरे दोहे उद्धृत कएि हैं जिनमें वे पद आएं हैं। भामह और दण्डी सप्तम शताब्दि के समय में अपभ्रंश का साहित्य वर्तमान था। बाद के रुद्रट,राजशेखर,भोज आदि अलंकारिकों ने भी अपभ्रंश की चर्चा की है।

3.3.3–सातवीं से ग्यारहवी शतीः –

सामान्यतः घटनाक्रम के अनुसार अपने इतिहास के दो काल–खण्ड हो सकते हैं,वे साधारणत' ईसवी सन् से के सातसौवें वर्ष तक का प्राचीन भाग और सातसौवें वर्ष से आज तक की घटनाओं का आधुनिक भाग। चूकि साहित्य का प्रादुर्भाव भी सातवीं श्शती से ही होता है अतः यहां सातवीं शती और उसके बाद का भारतीय इतिहास और उसका साहित्य के इतिहास पर प्रभाव या साहित्य पर प्रभाव को मद्देनजर रखते हुए विचार करना समीचीन होगा।

सन् ईसवी की सातवीं शताब्दि में युक्तप्रांत,बिहार,बंगाल,आसाम और नेपाल में बौद्ध धर्म काफी प्रबल था। यह उन दिनों की बात है,जब इस्लाम धर्म के प्रवर्तक मुहम्मद का जन्म ही हुआ था। बौद्ध धर्म के प्रभावशील होने का प्रमाण चीन यात्री हुएंत्सांग के यात्रा–विवरण में मिलता है। यह भी निश्चित है कि वह बौद्ध धर्म के महायान संप्रदाय से विशेष रूप से प्रभावित था। क्योंकि उत्तरी बौद्धधर्म यदि हीनयानीय शाखा का भी था तो भी महायान शाखा के प्रभाव से अछूता नहीं था। बौद्ध धर्म यद्यपि प्रकारांतर से हिंदू धर्म का ही एक रूप था किंतु दुर्भाग्य से इसमें हिंदुओं और इनके बीच कुछ खीचतान रही। जिसका परिणाम हम तब

देखते हैं जब वे वैदिक हिंदुओं के राज्य पर परकीय एवं परकीय मुसलमान कहलाने वाले (तात्कालीन) लोगों का आक्रमण देखकर इन भारतीय बौद्धों को अतीव आनंद हुआ। और उसका कारण था कि उन्हे लगा कि जिस प्रकार पहले यवनों के (ग्रीक लोगों के) मिनैंडर प्रभृति परकीय राजाओं अथवा परकीय कुषाणों के राजा कनिष्क ने बौद्धधर्म स्वीकार कर भारत में बौद्ध राज्य की स्थापना की थी उसी प्रकार से तीन परधर्मीय मुसलमान भी ऐसा करेगें। अरबी मुसलमानो के उस सेनापति ने आक्रमण के पहले झोकें में जैसे ही सिंध में महत्वपूर्ण देवल नामक सिंधुद्वार (बंदरगाह) को दाहिर राजा के हाथ से छीनकर जीता वैसे ही वहां स्थित बौद्ध नेताओं ने आगे बढ़कर उस परकीय सेनापति का स्वागत किया और कहा कि "दाहिर के समान वैदिकधर्मीय राजा और उनके लोगों से हमारा कोई संबंध नहीं है। हमारा और उनका धर्म अलग–अलग है। हमारे गुरु ने अहिंसा व्रत की पक्की दीक्षा दी है, हम शस्त्र धारण कर राज्यों से संघष में हिस्सा नहीं लेगें। जो विजयी होकर राजा बनेगा चाहे वह कोई भी हो–ऐहिक व्यवहार में हम उसकी ही आज्ञा मानते हैं। अब आप विजयी हुए हैं तो आप ही हमारे राजा हैं।इसलिए हम लोग दाहिर की सशस्त्र सेना में सामिल हो जावेगें अथवा उससे मिल जावेगें आप ऐसी शंका न करें।आप लोग हम बौद्धों को किसी प्रकार का कष्ट न दें।"शरणागत सूचक इस बिनती पर राजनीति –कुशल मुहम्मद बिन कासिम ने उक्त समय तक के लिए उन्हें अभयदान दे दिया।

देवल के बन्दरगाह पर मुसलमानें के अधिकार की सूचना पाते ही दाहिर अपनी सशस्त्र सेनाओं के साथ उनका सामना करने के लिए समरांगण में आ डटा। मुहम्मद बिन कासिम भी देवल के आसपास की सिंध की भूमि पर अपना अधिकार करते हुए आगे की ओर बढ़ चला।अरबों के इस आक्रमण का वृतांत लिखनेवाले मुसलमान इतिहासकारें ने लिखा है कि 'सिन्ध प्रांत पर विजय प्राप्त करके आगे बढ़ती हुई कासिम की सेना को उस प्रदेश के दुर्गम मार्गो की जानकारी देने,सेना को स्थान–स्थान पर रसद पहुंचाने और दाहिर की सेना के सभी आवश्यक रहस्य बताने में सिंध के बौद्धों और उनके भिक्षओं ने सभी प्रकार की संभव सहायता दी। कुछ वैदिकों ने भी देशद्रोह किया,परंतु वैयक्तिक और अपवादस्वरूप में ही।" अब इस तथ्य को मुसलमान इतिहास कारों की साजिस कहा जाय या वस्तुस्थिति यह शोध का विषय है किंतु वर्तमान में उपलब्ध सत्य यही है।

संग्राम में राजा दाहिर की मृत्यु होती है किंतु यह प्रसंग बड़ा ही रोचक और तत्कालीन परिस्थिति का परिचायक है ,अतः यहां उल्लेख करना भावी इतिहासकारों और शोधार्थियों ,विद्यार्थियों के लिए आवश्यक है। ब्रह्मणाबाद नामक स्थान में दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हुई। हिंदुओं ने जमकर सामना किया। उस समय यद्यपि मुसलमानें के पास तोपें नहीं थीं।तथापि एक प्रकार का ऐसा दूरमारक अस्त्र था जो हिंदुओं के पास नहीं था,इस कारण हिंदुओं का बल म पड़ने लगा। दाहिर की सेना में कुछ अरबी मुसलमान सैनिक भी थे। इस युद्ध में उनकी भी कुछ टुकड़ियां थीं।कासिम की सेना से दाहिर की सेना का सामना

नेते ही उन किराये के अरबी टट्टूओं ने दाहिर को स्पष्ट रूप से यह संदेश भेजदिया कि "सेनापति कासिम अरबी मुसलमान है हम भी मुसलमान हैं अतः धर्मयुद्ध के लिए तुम जैसे काफिर की ओर से हम कासिम के विरूद्ध युद्ध नहीं करेंगे।" ऐसा कह उन्होंने दाहिर की सेना पर ही युद्ध बोल दिया। अंत में लड़ते–लड़ते वह वीर गति को प्राप्त हो गया।

राजा दाहिर के वीरगति पाने की सूचना मिलते ही उसकी तेजस्विनी रानी ने सैकड़ों हिंदू वीरांगनाओं के साथ अग्नि की प्रचण्ड धधकती हुई चिताओं में कूदकर जौहर का वरण किया।फिर भी इस भीषण कोलाहल में राजा दाहिर की दो पुत्रियां–सूर्यादेवी और परिमला देवी मुसलमानों के हाथ में पड़ ही गईं। दाहिर की दोनों कन्याओं और सैकड़ों हिंदू नारियों जो उनके हाथ लगी को दासी बनाकर ले गये।हिंदुओं के धन–संपत्ति की लूटमार की।

इस राष्ट्रीय संकट में भी बौद्ध भ्रमित रहे और उन्होंने विजयी कासिम की सेना का स्वागत किया। किंतु अतिम युद्ध जीतते ही मुसलमान तूफान की तरह जब सिंध में प्रवेश किये तब उन्होंने जिस तरह हिंदुओं का कत्लआम किया उसी प्रकार बौद्धों की भी कत्ल किया। मुसलमानों में प्रचलित श्शब्द 'बुतपरस्त' मूलतःबौद्धों के संस्कृत श्शब्द 'बुद्धप्रस्थ' का अपभ्रंश है। हिंदुस्थान में घुसते समय मुसलमानों को बैक्ट्रिया,पार्थिया आदि प्रांतो में बौद्ध–बिहारों के प्रस्थों में ही अधिकतर मूर्तियां दिखाई दीं। इसी प्रकार वे मूर्तिपूजकों की बुतपरस्त अर्थात बुद्धप्रस्थ कहने लगे।

हजारी प्रसाद द्विवेदी अपने ग्रंथ 'हिंदी साहित्य की भूमिका में लिखते है कि "सातवीं श्शताब्दी के बाद उस धर्म का क्या हुआ ,इसका ठीक विवरण नहीं मालूम।" अतः इस पर भी यहां प्रकाश डालना आवश्यक है। बौद्धों का बल पूर्वक नाश किये जाने की कल्पना भारतीय इतिहास कारों की रही है। किंतु कालान्तर में वे स्वयं लिखते हैं–'बौद्धों के नाश की उनकी कल्पना मिथ्या सिद्ध हुई है।" बहुत समय पूर्व विशेषकर पाश्चिमात्य इतिहासकारों का यह पूर्वाग्रह बन गया था कि कभी न कभी अथवा समय–समय पर वैदिक धर्मावलंबी राजसत्ताओं द्वारा बौद्धों को तलवार के बल पर उच्छेद कर निर्मूलन किया गया होगा अथवा उन पर वैदिक धर्म बल पूर्वक लादा गया होगा । किंतु यह सत्य नहीं है। आज भी अधिकांश इतिहासकारों ,प्रचारकों और सामान्य लोगों के मन में यह भ्रामक धारणा व्याप्त है कि भारतीय बौद्ध अस्पृश्ता और छुआछूत को नहीं मानते थे।बौद्धधर्म एवं बौद्धों के राज्यकाल में किसी को अछूत नहीं माना जाता था। किंतु वास्तविकता ठीक इसके विपरीत है । इतिहासकार लिखते है कि "जिन जातियों ने बौद्धधर्म के अनुसार अंहिसा धर्म का पालन नहीं किया और जिन्होंने अपने हिंसात्मक धंधों को नहीं त्यागा उन चांडाल आदि जातियों को इस अपराध के लिए नगर से बाहर निकाल दिया जाता है। उन्हे गांव से दूर कोढ़ियों की तरह निवास करना पड़ता है। यदि कभी बाजार के दिन अथवा किसी अन्य कार्य के लिए उन्हे आने की अनुमति मिलती है तो अन्य ग्रामीणों एवं नागरिकों को उनकी छूत न लग जाय

? इसलिए उन निर्वासित अछूतों को अपने हाथ में घुंघुरू बधी एक लुकड़ी लेकर अथवा टिमकी बांध कर उसे बजाते हुए जाने की सक्त आज्ञा है,जिससे उनकी आवाज सुनकर अन्यान्य पथिक सावधान हो जाय और उनकी छूत से बचे रहें।"

अतः बौद्धों का हिंदुस्तान से लोप होना प्रतिक्रिया नहीं उनके स्वयं के कर्तित्व हैं।जिस ईसवी सन् 700 के कालखण्ड के विषय में हम यह लिख रहे हैं अर्थात मुसलमानों को भारत की सीमा में सिंधु की ओर कदम रखने के पूर्व भारत में चारों ओर बौद्धों की सख्या निरंतर कम होती जा रही। बौद्धमत निरंतर विनाश की ओर बढ़ता जा रहा था। बौद्ध तत्वाज्ञान और बौद्ध धर्म धुरंधरों ने जो सफल खण्डन किया वहीं केवल भारत से बौद्धों के समूल नाश का कारण नहीं था। अपितु अनेक राजकीय और सामाजिक घटनाएं भी उनके विनाश का कारण बनी। बौद्धों के इस राष्ट्रद्रोही प्रवृति के कारण राष्ट्राभिमानी एवं जागरूक जनता उनको उखाड़ फेकने के लिए सन्नद्ध हो गई । भारतीय राष्ट्रभक्त जनता की बौद्धों के संबंध में ऐसी निश्चित धारणा बन गई थी कि "स्वाभाविक राष्ट्रद्रोह की प्रवृति वालों का संघ ही बौद्ध संघ है। " अतः समस्त भारत में बौद्धों को राजाश्रय मिलना दुष्कर हो गया। साथ ही साथ ई सात सौ के काल में कम से कम उत्तर भारत में वैदिक धर्म के कट्टर उद्धारकर्ता एवं अभिमानी राजपूतों को राज्य उत्कर्ष पा रहे थे। जिससे बौद्ध संघ एवं बौद्ध संप्रदाय संपूर्ण भारत में अनाथ और बहिस्कृत एवं पंगु हो गया। आशोक और श्रीहर्ष के शासन के समान नगण्य समय के लिए बौद्धों के हाथों में राज्यसत्ता आई उसमें उन्होंने राजसत्ता के डर और दबाव से वैदिक जनात पर बौद्ध धर्म लादा था। तत्कालीन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि अशोक के अनुसार ही श्रीहर्ष ने मांसभक्षण और किसी प्राणी की हत्या करने के लिए प्राण दंड का आदेश जारी किया।

(क) बौद्ध मत का प्रभाव– धर्ममत,विचारधारा और साहित्य पर बौद्ध धर्म का अमिट प्रभाव पड़ा। आठवीं श्शताब्दी में बंगाल में पाल–राज्य कायम हुआ। यही वंश भारतवर्ष में बौद्धधर्म का अंतिम श्शरणदाता रहा। यहां आकर और नेपाल तथा तिब्बत में जाकर बौद्ध धर्म का संबंध तंत्रवाद से और भी अधिक बढ़ गया। जिन दिनों हिंदी साहित्य का जन्म हो रहा था,उन दिनों भी बंगाल और मगध तथा उड़ीसा में बड़े–बड़े बौद्ध विहार विद्यमान थे,जो अपने मारण,मोहन,उच्चाटन,वशीकरण की विद्याओं से और नाना प्रकार के रहस्यपूर्ण तांत्रिक अनुष्ठानों से जनसमुदाय पर अपना प्रभाव छोड़ रहे थे।उड़ीसा का मिहमा संप्रदाय,बंगाल के रमाई पंडित का शून्यपुराण,वीरभूमि में पाईजानेवाली धर्मपूजा आदि बातें आज भी इन प्रदेशों में बौद्ध धर्म के भग्नावशेष हैं।

महिमा संप्रदाय की कहानी बड़ी मनोरंजक है।सन्1857 ई. में इस संप्रदाय के एक अंध मनुष्य को ,जिसका नाम 'भीमभोई'था,बुद्ध ने स्वप्न दिया कि वह उनके धर्म का प्रचार करे। इस कार्य के पुरस्कार–स्वरूप बुद्धदेव ने भीम भोई की आंखे पहले ही ठीक कर दी।

देखते देखते हजारों के शिष्य बन गये। और इन लोगों ने जगन्नाथ के मंदिर में आक्रमण कर दिया।किंतु तत्कालीन उड़िसा के राजा ने भीमा भोई को दबा दिया और तब से उसके शिष्य आज भी किसी न किसी रूप में अपने गुरु के विचार को जिंदा किये हैं ।

"इन सब बातों से यह अनुमान आसानी से किया जा सकता है कि हिंदी साहित्य के जन्म–काल के समय बौद्ध धर्म एकदम नष्ट तो हो ही नहीं गया था,जीवित जोश के साथ वर्तमान भी था। जन साधारण के साथ उसका योग तो था ही। मगध और बगाल में मुसलमानी आक्रमण में बौद्ध और हिंदू मंदिर समान भाव से आक्रांत हुए;मंदिरों,मठों और विहारों को समान भाव से ध्वंस किया गया। फिर भी पौराणिकधर्म बच गया। बौद्ध नहीं बच सका; क्योंकिपहले का संबंध उन दिनों समाज से था और दूसरे का केवल विहारों से।"– आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

नवीं और दसवीं शताब्दीयों में नेपाल की तराइयों में शैव और बौद्ध साधनाओं के सम्मिश्रण से नाथपंथी योगियों का एक नया संप्रदाय उठ खड़ा हुआ। यह संप्रदाय काल–क्रम से हिंदी–भाषी जन समुदाय को बहुत दूर तक प्रभावित कर सका था।कबीरदास, सूरदास,और जायसी की रचनाओं से जान पड़ता है कि यह संप्रदाय उन दिनों बड़ा प्रभावशाली रहा होगा।

3.3.4–इतिहास का दूसरा युग–

ग्यारहवीं शती तक हिंदी अपभ्रंश के प्रभाव से प्रायः मुक्त हो चुकी थी। उस समय से लेकर चौदहवीं शती के मध्य तक हिंदी भू–भाग के सांस्कृतिक इतिहास का प्रवाह दो परस्पर विरोधी–सामंतीय और धार्मिक काव्य धाराओं को लेकर एक नयी भाषा की अनगढ़ भूमि पर बहता रहा। इसके बाद भक्ति का व्यापक आंदोलन संपूर्ण देश में प्रारंभ हो गया और हिंदी भाषी प्रदेश में नयी भाषा–हिंदी के विविध रूपों के माध्यम से उसकी प्रचुर अभिव्यक्ति होने लगी। यह निश्चय ही एक नये युग का उदय था,जिससे सांस्कृतिक चेतना और उसके फलस्वरूप साहित्यिक चेतना में एक नया मोड़ आया।

"अतः यह मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि यहाँ से यानी चौदहवीं शती के मध्य से,साहित्य के इतिहास का दूसरा युग आरंभ होता है।इस युग के विषय में दो मत हैं एक के अनुसार संपूर्ण मध्यकाल उन्नीसवीं शती के मध्य तक चलता है और दूसरे के अनुसार इसके दो खंड हैं।एक,चौदहवीं शती के मध्य से सत्रहवीं शती के मध्य तक और दूसरी,सत्रहवीं शती के मध्य से उन्नीसवीं शती के मध्य तक,इनमें दूसरा मत ही अधिक मान्य है।"

– हजारी प्रसाद द्विवेदी

बौद्ध तत्ववाद जो निश्चित ही बौद्ध आचार्यो की चिंता का देन था मध्ययुग के हिंदी साहित्य के उस अंग पर अपना निश्चित पद चिंह छोड़ गया । जिसे संत साहित्य नाम दिया

गया। शास्त्र सापेक्ष भाव धारा के भक्तों के अवतारबाद को जो रूप है उस पर महायान संप्रदाय का विशेष प्रभाव है। आज शोध की दुनियां बदल गई है ,ईसाईधर्म में जो भक्तिवाद है ,वहीं महायानियों की देन सिद्ध होने को चला है ।क्योंकि ऐसे बौद्धों का अस्तित्व एशिया की सीमा में सिद्ध हो चुका है । और कुछ पण्डित तो इस प्रकार के प्रमाण पाने का दाबा भी करने लगे हैं कि स्वयं ईसा मसीह भारत के उत्तरी प्रदेशों में आए थे और बौद्ध धर्म में दीक्षित भी हुए हैं। लेकिन ये अवांतर बाते हैं।

आचार्य द्विवेदी कहते हैं —"मैं जो कहना चाहता हूँ कि बौद्ध धर्म क्रमशः लोकधर्म का रूप ग्रहण कर रहा था। और उसका निश्चित चिंह हम हिंदी साहित्य में पाते हैं।इतने विशाल लोकधर्म का थोड़ा पता भी यदि हिंदी साहित्य दे सके तो उसकी बहुत बड़ी सार्थकता है।"

ग्यारवीं शताब्दी में इन ग्रंथों भाष्यों और उनकी टीकाओं की परंपरा बहुत अधिक बढ़ गई थी। यह आगे चलकर और भी बढ़ती चली गई। टीका परंपरा की नई शाखा को हम निबंध साहित्य कहते हैं। ग्यारवीं शताब्दी के बाद निबंध ग्रंथों की परंपरा बढ़ने लगी।

" 'टीका' शब्द यहां बहुत व्यापक अर्थ में लिखा गया है। असल में सभी प्रकार की व्यख्याओं को टीका नहीं कहते।कम–से–कम शब्दों से जब अधिक–से–अधिक अर्थ प्रकट करने की कोशिश की जाती है तो इन छोटे–छोटे वाक्यों को सूत्र कहते हैं।जिसमें सूत्रों के सार मर्म बताए जाते हैं उसे वृति कहते हैं। सूत्र और वृति के परीक्षण को पद्यति कहते हैं।सूत्र और वृति में बताए गये सिद्धांतों पर आक्षेप करके फिर उनका समाधान करके उन सिद्धांतों के स्पष्टीकरण को भाष्य कहते हैं।भाष्य के बीच में जो विषय प्रकृत हो उसे त्यागकर और दूसरे उसे से संबंध किंतु अप्रकृत विषयों पर जो विचार किया जात है,उसे समीक्षा कहते हैं। इन सब में बताए गये विषयों का टीकन या उल्लेख जिसमें हो उसे टीका कहते हैं।सिद्धांत मात्र का जिसमें प्रदर्शन हो उसे कारिका कहते हैं। और मूलग्रंथ के कथन के औचित्य विचार को वार्तिक कहते हैं। इनमें सूत्र,वार्तिक, और कारिका के सिवा बाकी जितने हैं उन सब को यहां पर एक साधारण शब्द टीका द्वारा प्रकट किया जाता है।"
–हजारी प्रसाद द्विवेदी

यह ठीक ही है कि संतकाव्य प्रेमाख्यानकाव्य,रामकाव्य,कृष्णकाव्य,

नीतिकाव्य तथा वीरकाव्य की धाराएं पूरे मध्य–युग में प्रवाहित रहीं और रीतिकाव्य की रचना के पूर्वार्द्ध में भी प्रवाहित हो रही थी, परंतु मुगल वैभव का आरंभ होते–होते अर्थात सत्रहवी शती के मध्य तक आत–आते मुख्य प्रवृति बदल चुकी थी। भक्ति–भावना का प्राधान्य समाप्त हो चुका था और अलंकरण तथा श्रृंगार–विलास की प्रवृति प्रमुख बन गयी थी, यहां तक कि भक्तिकाव्य में भी भक्तिभावना के क्षीण पड़ जाने से विलास तथा अलंकार–रीति का समावेश हो गया था और इससे काव्य की चेतना तथा काव्य के रूप दोनों

में स्पष्ट अंतर आ गया था ।

आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि उपयुक्त बातों से यदि कोई निष्कर्ष निकाला जा सकता है तो वह यही हो सकता है कि भारतीय पांडित्य ईसा की एक सहस्त्राबदी बाद आचार–विचार और भाषा के क्षेत्र में स्वभावतः ही लोक की ओर झुक गया था। यदि अगली शताब्दियों में भारतीय इतिहास की अत्यधिक महत्वपूर्ण घटना,अर्थात इस्लाम का प्रमुख विस्तार ,न भी घटी होती तो भी वह इसी रास्ते जाता।उसके भीतर की शक्ति उसे इसी स्वाभाविक निकास की ओर ठेले लिए जा रही थी। उसका वक्तव्य विषय कथमपि विदेशी न था। प्रोफेसर हेवेल ने अपने हिस्ट्री आंफ आर्यन रूल' में लिखा है कि मुसलमानी सत्ता के प्रतिष्ठित होते ही हिंदू राजकाज से अलग कर दिए गए। इसलिए दुनिया की झंझटों से छुट्टी मिलते ही उनमें धर्म की ओर ,जो उनके लिए एमकात्र आश्रय–स्थल रह गया था,स्वाभाविक आकर्षण पैदा हुआ। यह गलत व्यख्या है।

3.3.5– सन् 1857 या उन्नीसवीं शती का मध्य

शुक्ल जी अथवा उनके पूर्ववर्ती इतिहासकारों ने मध्य–युग को दो कालखंडों में बांट दिया हैं और यही ठीक है। इसके बाद उन्नीसवीं शती के मध्म में भारत में एक बहुत बडी घटना घटी और वह थी सन् 1857 की क्रांति। राष्ट्रीय चेतना और राजनीतिक जागरण का यह आंदालोन वास्तव में मध्ययुग की समाप्ति और आधुनिक युग के आरंभ का पहला उद्घोष था। भारतीय चेतना में व्याप्त मध्ययुगीन संस्कार सहसा विक्षुब्ध हो उठे, भाग्यवाद पर आश्रित अकर्मण्यता की भावना, जो हर प्रकार से परिवर्तन के प्रति सशंकित थी, नीवन परिस्थितियों के आघात से आंदोलित हो उटी और जनमानस में अपने राजनीतिक,सामाजिक स्वत्व को प्राप्त करने की आकांक्षा उत्पन्न हो गयी ।

आधुनिक काल के प्रारंभ के पूर्व तक साहित्य अथवा काव्य शब्द प्रायः कविता का ही पर्याय था। अन्य काव्य रूपों के अभाव में कविता का विवेचन ही काव्य–शास्त्र का एकमात्र कार्य था। गद्य के विकास के अभाव में वार्ता,वचनिका आदि गद्य में लिखे जानेपर भी उनका समावेश काव्य में नहीं होता था। संस्कृत आचार्यो ने गद्य और पद्य दोनों में काव्य का अस्तित्व स्वीकार किया।किंतु हिंदी के आचार्यो ने पद्य में ही काव्य का दर्शन किया। अतः उनकी दृष्टि पद्यमात्र पर ही केन्द्रित रहीं।हिंदी के अपने साहित्य को ध्यान में रखने के कारणएवं साहित्य शास्त्रीय विवे चन का प्रमुख चक्ष्य न होने के कारण तथाकथित रीतिकाल में साहितय–शास्त्रा पर गंभीर और विस्तृत विवेचन तथा नई–नई बातों की उद्भावना का अभाव है।अतः इन रीतिग्रंथों को कवि शिक्षा मात्र के रूप में ग्रहण करना चाहिए। इन रीति ग्रंथों पर ही निर्भर रहने वाले व्यक्ति का साहित्य ज्ञान कच्चा भी समझाना चाहिए।

इसके बाद ब्रिटिश राज्य की स्थापना हुई। खंडों मे विभक्त भारत एक संगठित राज्य बन कर विदेशी साम्राज्य का प्रमुख अंग बन गया। पश्चिमी ज्ञान--विज्ञान तथा सभ्यता संस्कृति से भारतीय मानस का संपर्क और संघर्ष हुआ। जिसके फस्वरूप आधुनिक युग का जन्म हुआ। अतः आधुनिक युग की पूर्व सीमा सन् 1857 या उन्नीसवीं शतीका मध्य ठीक ही है। यह युग आज डेढ़ शताब्दी पार कर चुका हैं पूर्ववर्ती युगों की अपेक्षा इसमें परिवर्तन बड़ी तेजी से हुए हैं और आधुनिकता का रूप भी बदलता गया हैं ।अतः इसके पूरे कलेवर को एक ही वृत में समेट लेना उचित नहीं होगा।

हिंदी के अपने साहित्य को ध्यान में रखने केकारण एवं साहित्य शास्त्रीय विवेचन तथा नई--नई बातों की उद्भावना का

आधुनिक युग का आरंभ होने पर देश के राजनीतिक --सामाजिक जीवन और उसके प्रभावस्वरूप साहित्य में पुनर्जागरण की जो चेतना उत्पन्न हुई थी, वह प्रायः शताब्दी के अंत यानी 1900ई. तक चली। उस समय स्थिति में फिर कुछ परिवर्तन हुआ,राष्ट्रीयता का स्वरूप स्पष्ट हुआ,देश को स्वराज्य चाहिए,यह भावना स्थिर हुई,सामाजिक,आर्थिक, और नैतिक स्थिति में सुधर की आवश्यकता पर बल दिय गया। यह आत्मनिरीक्षण और आत्मसुधार का समय था, जब देश में अपने घर को ठीक करने की भावना सर्वप्रमुख थी और उसका प्रतिफलन साहित्य में षि हो रहा था । किंतु दूसरी ओर ऐतिहासिक कारणों से,पश्चिम के संपर्क में आने के बाद एक अधूरा जागरण प्रांरभ हुआ,उस जागरण में एक अधूरी पहचान हुइ,हमने न संपूर्ण जीवन स्वीकारा न भक्तिकी परिशुद्धि स्वीकारी,खडित ज्ञान से हमने कर्म को जोड़ा और उसे नाम दे दिया आधुनिकता।हमने राष्ट्रीयता की एक जातीय और भौगोलिक अवधारणा की ,हम उसमें फंसकर हिंदू,मुसलमान,सिख,ईसाई और पारसी रह गए।मनुष्य नहीं रहे। जागरण ठीक था किंतु उसकी दिशा सही नहीं थी। हमारे केन्द्र से मनुष्य हट गया था। ऐसे अधूरे नवजागरण से या तो दुःख बढ़े रहते हैं या फिर वस्तुएं अधूरी दिखती हैं।

आचार्य विद्यानिवास मिश्र जी कहते है --"मैं अजमा चुका हूँ,कभी नजदीक साफ दिखता है,दूर नहीं दिखत;कभी दूर दिखता है,नजदीक नहीं दिखता।ठीक--ठीक देखने के लिए अपनी आंखें नपवानी पड़ती हैं,दृष्टि की अपेक्षा नपवानी पड़ती है। आधुनिक साहित्य में इसी अपेक्षा के कारण अपने आसपास के परिवेश के लिए बड़ी सघन आत्मीयता दिख रही है। साहित्य की जरूरत 'चंद तिनकों' के बिना नहीं पूरी होती,जिन्हे तोड़ते--तोड़ते दो मित्र घंटो तक बात करते रहते हैं,यह तिनका दुर्लभ हो गया है।"

3.3.6– साहित्य में आदर्शवाद की नवीन चेतना

उक्त स्थिति में बीसवीं शती के दूसरे दशक के अंत यानी सन् 1918--19 तक चलती रही, तब राजनीतिक सामाजिक जीवन में गांधी तथा साहित्य में गांधी व रवींद्र दोनों के

प्रभाव से एक मोड़ फिर आया और अंतर्मुखी आदर्शवाद की एक नवीन चेतना का उदय हुआ। यह चेतना भी चौथे दशक के अंत में ,1938–39 के आसपास गांधी के प्रभाव के साथ क्षीण हो गयी और इसके स्थान पर एक अत्यंत भिन्न यथार्थवादी सामाजिक चेतना का आविर्भाव हुआ, जिसमें देश में बढ़ते हुए समाजवादी प्रभाव का गहरा रंग था। उस समय के साहित्यकार विचारों से प्रभावित होते रहे किंतु किसी ने अपने संपूर्ण साहित्य में उसको ढोया नहीं।यहां रमेश चंद्रशाह का एक पंत जी के बारे में कथन समझने के लिए पर्याप्त है–

" जिस तरह मार्क्सवाद से प्रभावित होने के बावजूद वे मार्क्सवादी नहीं हैं,उसी तरह अरविंद दर्शन से अत्यधिक प्रभावित होने के बावजूद उन्हें अरविंद वादी भी नहीं कहा जा सकता।"

प्रतिनिधि के रूप में पंत जी का स्वयं का कथन दृष्टव्य है–

"मै सर्वप्रथम स्वामी विवेकानंद,रामकृष्ण परमहंस तथा रामतीर्थ से प्रभावित था,पर मेरे मन ने उन्हें पूर्णतया स्वीकार नहीं किया।मैं गांधी और मार्क्स से प्रभावित हुआ पर मेरे मन ने उन्हे भी पूर्णतया स्वीकार नहीं किया।मैं श्री अरविंद के संपर्क में आया पर पूर्णतया उन्हें भी स्वीकार नही किया।"

तब से अब तक छह दशक और बीत चुके हैं : इस अवधि में भी नया लेखक कई बार सन् 1953,60,80 आदि में युग–परिवर्तन की घोषणा कर चुका है, परंतु अत्यधिक सामीप्य के विषय में अभी कुछ निर्णय देना कठिन है।

3.4 विभिन्न काल विभाजन

काल के संबंध में हमारा सामान्य ज्ञान इतना ही है कि काल समय को कहते हैं और काल माने 'मृत्यु' या जीवन का अंत।व्याकारण के विद्यार्थी काल को–भूत,भविष्य और वर्तमान के रूप में जानते हैं। संस्कृत साहित्य में लट्, लोट्, लिंड्, लड्, लिट्, लुड्,लृट्,आर्शीर्लिड्,लृड् का प्रयोग होता है।ये दस काल भेद अंग्रेजी में मूड कहलाते है।

साहित्य में काल विभाजन का अर्थ भी समय के साथ रचना को बाधना है।साहित्य में कालविभाजन का अर्थ होता है साहित्य के इतिहास को व्यवस्थित ढांचे में बांधना।यही यह बुनियादी योजना–सूत्र है जो इतिहास के कालविभाजन को एक आंतरिक गठन,तर्कमूला अन्विति और लक्ष्यनिष्ठता प्रादन करता है। आचार्य रामचन्द्रशुक्ल ने हिंदी साहित्य के प्रथम संस्करण में काल विभाजन की उपादेयता को रेखांकित करते हुए लिखा है,"शिक्षित जनकाकी जिन–जिन प्रवृतियों के अनुसार साहित्य के स्वरूप में जो परिवर्तन होते आये हैं,उन सबके सम्यक् निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किये हुए काल–विभाग के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता है।" यह सत्य है कि श्शुक्ल जी जिस काल विभाजन तक पहुच सके हैं वह आकस्मिक नहीं था। वह एक विकास प्रक्रिया की

परिणति थी। आचार्य शुक्ल के पूर्व डॉ.ग्रियर्सन के 'माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आंफ नार्दन हिंदुस्तान' तथा मिश्रबंधुओं के मिश्रबंधु–विनोद में काल–विभाजन के प्रयत्न हो चुके थे।आचार्य शुक्ल अपने कालविभाजन में उक्त दोनां ग्रंथों से विशेष लाभान्वित हुए हैं।उन्होने पूववर्ती वर्गीकरणों को ध्यान में रचाते हूए,काल–क्रम के साथ साहित्यिक प्रवृतियों को भी वर्गीकरण का आधार बनाया। काल और प्रवृति के उकत आधारों कोग्रहण करने केकारण ही उनहोंने विभिन्ना वर्गो के दुहरे नाम दिये हैं–

1– आदिकाल (वीरगाथाकाल सं.1050–1375)

2–पूर्वमध्यकाल(भक्तिकाल,सं.1375–1700)

3–उत्तरमध्यकाल(रीतिकाल,सं. 1800–1900)

4–आधुनिककाल(सं. 1900–1984)

उपयुक्त वर्गीकरण की अनेक विशेषताएं हैं। इसमें श्शुक्ल जी ने प्रथमबार कालगत आधार के साथ प्रवृतिगत आधार को स्थान दिया।यह प्रवृतिगत वर्गीकरण ही आगे चलकर विशेष लोकप्रियता अर्जित कर सका। आचार्य श्शुक्ल ने कालगत आधार मिश्रबंधुओं से प्राप्त करते हुए उसे संशोधित रूप में प्रस्तुत किया । इसी प्रकार प्रवृतिगत आधार की प्रेरणा डॉ ग्रियर्सन से मिली।डॉ गियर्सन का 'पन्द्रहवीं'शती का धार्मिक उत्थान ही आचार्य रामचन्द्रशुक्ल के इतिहास में ''भक्तिकाल' का प्रेरक बना। डॉ ग्रियर्सन के 'चारण–काल'को आचार्य जी ने 'वीरगाथाकाल' नाम दिया। डॉ ग्रियर्सन का 'रीतिकाव्य'' श्शुक्ल जी का ''रीतिकाल'' हुआ। काल और प्रवृति के संयुक्त आधार ने श्शुक्ल जी के इतिहास को युगीन परिवेश और साहित्यिक प्रवृति की कारण–कार्यमूलक श्रृंखला में गूंथकर युक्तिसंगत,एवं विकासात्मक रूप प्रदान किया। इस वर्गीकरण की एक उल्लेचानीय विशेषता है सरलीकरण। डॉ ग्रियर्सन ने गयारह और मिश्रबंधुओं के आठ वर्ग यहां सरलता से चार वर्गो में समाहित कर लिये गये हैं।

आचार्य शुक्ल के काल–विभाजन की महत्ता इसी से सिद्ध होतीहै किअनेक इतिहासकारों ने जब जहां–तहां छिट–पुट परिवर्तन करने के प्रयास तो किये हैं,किंतु वे श्शुक्ल जी के मूल ढ़ाचे को हिला पाने में असफल रहे हैं।डा.गणपतचंद्र गुप्त ने अवश्य आचार्यशुक्ल के कालविभाजन के मूल ढांचे में गुणात्मक परिवर्तन लाने का प्रयत्न किया,किंतु अति वैज्ञानिकता के दुराग्रह के कारण उनका वर्गीकरण लगभग दो दर्जन उपवर्गो के व्यूह में फंसकर रह गया।काल–गति ने निश्चय ही आचार्य शुक्ला के वर्गीकरण के सामने प्रश्नचिंह लगा दिया है। सन्1941 में मृत्यु हो जाने के कारण वे स्वतंत्रता–प्राप्ति के बाद के परिवेशगत परिवर्तन और साहित्यिक प्रवृतियों के बदलाव को अपने अध्ययन की परिधि में नहीं समेट सके।राजनीतिक और प्रवृत्यात्मक स्तर पर गुणात्मक परिवर्तन होने के कारण स्वतंत्रता–प्राप्ति के बाद केकाल–खण्ड को शुक्ल जी के स्वतंत्रता–प्राप्ति के पूर्व''आधुनिक काल'' के अन्तर्गत नहीं

समाहित किया जा सकता। इसे एक स्वतंत्रवर्ग के रूप में स्वीकार करने की आवश्यकता है।यहां शुक्ल जी के काल विभाजन के कतिपय वर्गो उपवर्गो पर समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करना प्रासंगिक होगा।जिन रचनाओं के आधार पर शुक्ल जी ने वीरगाथा काल या आदिकाल की स्थापना की,उनमें से कुछ तो अस्तित्वहीन ,कुछ अप्रामाणिक और कुछ परिवर्तित हो चकी हैं।इस प्रकार रचनाओं की दृष्टि से उनका वीरगाथाकाल बिल्कुल आधार–शुन्य हो चुका है।

(3.4.1) कालविभाजन सामान्य दृष्टिः

आचार्य रामचंद्रशुक्ल काल विभाजन पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं,जिस कालविभाग के भीतर किसी विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता दिखाई पड़ी है,वह एक अलग काल माना गया है और उसका नामकरण उन्हीं रचनाओं के स्वरूप के अनुसार किया गया है । इसी प्रकार काल का एक निर्दिष्ट सामान्य लक्षण बनाया जा सकता है। किसी एक ढंग की रचना की प्रचुरता से अभिप्राय यह है कि दूसरे ढंग की रचनाओं में से चाहे किसी एक की रचना को लें वह परिमाणों में प्रथम के बराबर न होगी। यह नहीं कि और सब ढंगों की रचनाएँ मिलकर भी उसके बराबर न होंगी। .... दूसरी बात है,ग्रंथो की प्रसिद्धि।आचार्य शुक्ल मानते हैं कि प्रसिद्धि भी किसी काल की लोकप्रवृति की प्रतिध्वनि है। एक ही काल की एक ही कोटि की रचना के भीतर जहाँ भिन्न–भिन्न प्रकार की परंपराएँ चली हुई पायी गयी हैं,वहाँ अलग–अलग शाखाएँ करके सामग्री का विभाग किया गया है।

काल–विभाजन और विभाजित कालों का नामकरण साहित्य के इतिहास की महत्वपूर्ण घटना है। साहित्य के काल विभजान के पूर्व परंपरा से प्राप्त आधार सामान्यतः इस प्रकार माने गये हैं–

1.ऐतिहासिक कालक्रम के अनुसार– :

आदिकाल,

मध्यकाल,

संक्रांतिकाल,

आधुनिक काल

2.शासक और उसके शासनकाल के अनुसार :

एलिजाबेथ युग,

विक्टोरिया युग,

मराठाकाल

3.लोकनायक और उसके प्रभावकाल के अनुसार :

चैतन्यकाल (बांग्ला),

गांधीयुग (गुजराती),

4. साहित्य–नेता एवं उसके प्रभाव–परिधि के आधार पर :

रवीद्रयुग

भारतेंदुयुग ।

5.राष्ट्रीय,सामाजिक अथवा सांस्कृतिक घटना या आंदोलन के आधार पर :

भक्तिकाल

पुनर्जागरणकाल

सुधारकाल

युद्वोत्तरकाल

स्वतंत्र्योतर काल

6.साहित्यिक प्रवृति के नाम पर:

रोमानीयुग

रीतिकाल

छायावाद ।

(3.4.2) कालविभाजन की आवश्यकता क्यों–

उक्त प्रकार के कालविभाजन की आवश्यकता क्या है? उत्तर है समग्र रूप को खण्ड–खण्ड करके देखना। जैसे हम मानव को या किसी भी प्राणी के वाह्य–अन्तरंग को एक नजर में नही देख सकते उसी प्रकार साहित्येतिहास के वाह्य अभ्यांतर पक्ष को देखने हेतु खण्ड कर देखना आवश्यक है किंतु शर्त इतनी की इस खण्ड परंपरा में संपूर्ण को देखने समझने की जिज्ञासा हो । इस प्रकार नामकरण के पीछे कुछ न कुछ तर्क अवश्य रहता है ।इसलिए इस प्रकार के खण्ड करके काल का विभाजन का अर्थ मात्र इतना ही होना चाहिए कि जो उसकी मूल साहित्य–चेतना को प्रतिबिंबित कर सके। शासक के नाम पर भी कालखड का नामकरण तभी मान्य हो सकता है या हुआ है जब उस शासक विशेष के व्यक्तित्व ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से साहित्य की गतिविधि को प्रभावित किया है। उदाहरण के लिए अंग्रेजी में एलिजाबेथ और विक्टोरिया दोनों के राजनीतिक एवं सामाजिक व्यक्तित्व एवं शासनतंत्र ने अपने युग–जीवन को प्रभावित करते हुए साहित्य की गतिविधि पर भी गहरा प्रभाव डाला था। चैतन्य और गांधी का अपने युग में प्रभाव रहा है। इसी तरह रवींद्रनाथ या भारतेन्दु व्यक्ति न होकर एक संस्था थें, युगनिर्माता थे,जिनके कृतित्व ने अपने–अपने युग की प्रमुख साहित्यिक प्रवृतियों को प्रभावित किया था। उसके अनुसार

नामकरण की सार्थकता स्वतःसिद्व होती है। कहने का अभिप्राय मात्र इतना है कि साहित्य के इतिहास में नामकरण का मूल आधार है काल विशेष की साहित्यिक चेतना का प्रतिफलन,जिसका माध्यम सामान्यतः उस युग की सर्व प्रमुख साहित्यिक प्रवृति ही हो सकती है। लेकिन इसमे भी एक सीमा का निर्धारण होना चाहिए। कालखंड में कोई एक प्रवृति समग्र साहित्य –चेतना का प्रतिनिधित्व कैसे कर सकती है। जहां ऐसा हुआ वहां नामकरण पर प्रश्न चिंह लगता है। व्यक्ति के व्यकितत्व के आधार पर किया गया नामकरण फिर प्रवृति को प्रभावित करता है या ऐसा कहें कि वहां फिर प्रवृति प्रभावी नही रहती। इसी तरह प्रवृति का आधार भी कभी कभी आधा अधूरा पैमाना दिखता है। नाम ऐसा होना चाहिए जो युग की चेतना का सही ढंग से प्रतिफलन करता हो,यदि साहित्यिक नामकरण से भ्रांति उत्पन्न होती हो, तो अन्य उचित आधार ग्रहण करने में कोई आपति नही होनी चाहिए। नाम के लिए रूप का बलिदान नहीं करना चाहिए। रेने वेलक ने अपने निबंध में इस मिश्रित पद्वति की आलेचना की है:"फिर भी,प्रचलित नामों का यह मिश्रित आधर कुछ–न कुछ परेशानी अवश्य पैदा करता है।जैसे'सुधरवाद' चर्च इतिहास से आया,'मानववाद',मुख्यतः प्राचीन मानविकी विधाओं के इतिहास से 'पुनर्जागरण' कला के इतिहास से 'प्रजाधिपत्य' और 'पुनर्स्थापन' का संबंध विशेष राजनीतिक घटनाओं के साथ है।'

अठारहवीं शती'पुराना संख्यावाचक पद है जिससे 'आंमस्टन', नव्यशस्त्रवाद', पूर्वस्वच्छंदतावाद मुख्यतः साहित्यिक शब्द हैं, जबकि 'विक्टोरियायुग','एडवर्डयुग' और जार्जयुग नाम व पद राजाओं के शासनकाल से ग्रहण किये गये हैं । इसका अनिवार्य निष्कर्ष यह है कि नामावली राजनीति साहित्य और कला के शब्दों का गोरख धंधा मात्र है, जिसका औचित्य सिद्व नहीं किया जा सकता। हमारे विचार से यह मंतव्य एक सीमा से आगे मान्य नही हो सकता। कम से कम व्यवहार में अभी तक,केवल साहित्यचेतना के आधार पर,काल–विभाजन तथा नामकरण के आधार की एकरूपता का निर्वाह संभव नहीं हुआ है औ उसको सायास सिद्व कर देने से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हो सकती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि अंग्रेजी साहित्य के सभी कालखंडों के नाम ठीक हैं। नामकरण के लिए प्रमुख साहित्यिक प्रवृति का आधार ग्रहण करना अधिक संगत है। किंतु प्रत्येक स्थिति में किसी युग की साहित्यचेतना का द्योतन केवल साहित्यिक प्रवृति के द्वारा ही संभव है। यह मानना कम से कम व्यवहार में कठिन हो सकता है और है। इसलिए इस आधार को लचीला रखना होगा और यह मानकर चलना होगा कि कोई नाम पदार्थ के संपूर्ण व्यक्तित्व का वाचक नहीं हो सकता। सामान्यतः नाम संकेत मात्र होता है, विशेष परिस्थिति में प्रतीक हो सकता है,किंतु पूर्ण बिंब तो वह नहीं हो सकता। इतिहास में नाम का प्रयोग प्रतीक के रूप में करना ही अधिक संगत है और जहां यह संभावना न हो, वहां संकेत मात्र से काम चल सकता है।

(3.4.3) विवेचन का सारंश –

1.काल–विभाजन साहित्यिक प्रवृतियों और रीति–आदर्शो की समानता के आधार पर होना चाहिए।

2.युगों का नामकरण यथासंभव मूल साहित्य–चेतना का आधर मानकर साहित्यिक प्रवृति के अनुसार करना चाहिए,किंतु जहां ऐसा नहीं हो सकता, वहां राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रवृति को आधार बनाया जा सकता है या फिर कभी–कभी विकल्प न होने पर निर्विशेष कालवाचक नाम को भी स्वीकार किया जा सकता है। नामकरण में एकरूपता काम्य है, किंतु उसे सायास सिद्व करने के लिए भ्रांतिपूर्ण नामकरण उचित नहीं है।

3.युगों का सीमांकन मूल प्रवृतियों के आरंभ और अवसान के अनुसार होना चाहिए। जहां साहित्य के मूल स्वर अथवा उसकी मूल चेतना में परिवर्तन उचित हो और नये स्वर एवं चेतना का उदय हो, वहां युग की पूर्व सीमा और जहां वह समाप्त होने लगे वहां उक्त सीमा माननी चाहिए। हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में काल–विभाजन के लिए प्रायः चार पद्वतियों का अवलंब लिया गया है ।

पहली पद्वति के अनुसार,संपूर्ण इतिहास का विभाजन चार युगों अथवा कालखंडो में किया गया है यथा–

1– आदिकाल ,

2– भक्तिकाल,

3– रीतिकाल,

4–आधुनिककाल।

आचार्य शुक्ल द्वारा और उनके अनुसरण पर नागरीप्रचारिणी सभा के इतिहास में इसी को ग्रहण किया गया है।

दूसरे क्रम में केवल तीन युगों की कल्पना ही विवके सम्मत हैं यथा –

1–आदिकाल,

2–मध्यकाल

3–आधुनिककाल

भारतीय हिंदी परिषद के इतिहास में इसे ही स्वीकार किया गया है।

डॉ गणपति चन्द्र गुप्त ने भी अपने वैज्ञानिक इतिहास में इसी का अनुमोदन किया है। इसके पीछे तर्क यह है कि मध्यकालीन साहित्य की चेतना प्रायः एक है। उन्नीसवीं शदी के मध्य में या उसके आगे पीछे कोई ऐसा परिवर्तन नही हुआ है कि जिसके आधार पर युग परिवर्तन की मान्यता सिद्व हो।

संतकाव्य, प्रेमाख्यानकाव्य, रामकाव्य, कृष्णकाव्य, वीरकाव्य, नीतिकाव्य, रीतिकाव्य आदि की धाराएँ पूरे मध्यकाल में पांच शताब्दियों तक अखंड रूप से प्रवाहित होती रहीं,उनमें उतार–चढ़ाव अवश्य आये।किन्तु मौलिक परिवर्तन नही हुआ।हिंदी साहित्य के आचार्य रसज्ञ,प्रसिद्व इतिहासकार का भी यही मानना रहा है।

तीसरी पद्यति साहित्य के विधा–क्रम की रही है । इसका आधार यह है कि समस्त साहित्यराशि का एकत्र अध्ययन साहित्यशास्त्र के अधिक अनुकूल है। इस प्रकार के अनेक इतिहास या खंड इतिहास में उपलब्ध हैं।

इसके अतिक्ति एक और ऋजु पद्यति है, जो शुद्व कालक्रम के अनुसार वस्तुगत विभाजन को ही अधिक यथार्थ मानती है। इसके प्रवक्ताओं का तर्क है कि किसी विचारधारा अथवा साहित्यिक दृष्टिकोण का आरोपण करने से परिदृश्य विकृत हो जाता है और यथार्थ दर्शन में बाधा पड़ी है,अतः स्वाभाविक कालक्रम के अनुसार ही सामग्री का विभाजन करना समीचीन है। इस पद्यति का अवलंबन आरंभ में विदेशी विद्वानों द्वारा प्रस्तु कुछेक इतिहास में ही आंशिक रूप से किय गया है।

इन सभी पद्यतियों में अपने गुण–दोष हें, परंतु यहां भी समनवयात्मक दृष्टिकोण की आवश्यकता है। अतः साहित्य के विभाजन में भी ऐतिहासिक कालक्रम और साहित्य–विधा दोनों का आधर ग्रहण करना होगा। साहित्य के कथ्य अर्थात संवेद्य तत्व के विकास का निरूपण करने के लिए संपूर्ण युगों को आधार मान कर चलना होगा,और उसके रूप का विकास समझने के लिए अलग–अलग विधाओं को। इससे काल–विभाजन की समस्या का समाधान हो जाता है।

उक्त संम्पूण विवेचन के बाद एक बात जो ध्यान में आई है कि एक ओर जहाँ आचार्य शुक्ल का हिंदी साहित्य का इतिहास हमें महत्वपूर्ण तथ्य और दिशा देता है ,जैसा कि नीचे उन्हे उदृधित कर यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि इतिहास लेखन निरंतर कार्य है। उसी प्रकार डॉ नगेन्द्र का ग्रंथ अद्यतन तक अपने को पहुचाने का प्रयास है। इन दोनों ग्रंथों के आधार पर आगे कार्य किया जा सकता है।

आचार्य रामचन्द्रशुक्ल का मतः आचार्य शुक्ल कहते है 'आदिकाल के भीतर बज्रयानी सिद्धों और नाथपंथी योगियों की परंपराओं का कुछ विस्तार के साथ वर्णन यह दिखाने के लिए करना पड़ा कि कबीर द्वारा प्रवर्तित निर्गुण संतमत के प्रचार के लिए किस प्रकार उन्होंने पहले से रास्ता तैयार कर दिया था। दूसरा उद्देश्य यह स्पष्ट करने का भी था कि सिद्धों और योगियों की रचनाएँ साहित्य कोटि में नही आतीं और योगधरा काव्य या साहित्य की कोई नयी धरा नहीं मानी जा सकती।

'भक्तिकाल' के अंतर्गत स्वामी रामानंद और नामदेव पर विशेष रूप से विचार किया गया है ,क्योंकि उनके संबंध में अनेक प्रकार की बातें प्रचलित हैं ।'रीतिकाल' के 'सामान्य

परिचय' में हिंदी के अलंकार ग्रंथों की परंपरा के उद्‌गम और विकास कोकुछ अधिक विस्तार के साथ दिखाया गयाहै । घनानंद आदि कुछ मुख्य–मुख्य कवियों का आलोचनात्मक परिचय भी विशेष रूप से मिलेगा।

आधुनिक काल के भीतर खड़ीबोली के गद्य का इतिहास,इधर जो कुद सामाग्री मिली है उसकी दृष्टि से ,एक नये रूप में सामने लाया गया है । हिंदी के मार्ग जो – जो विलक्षण बाधाएँ पड़ी है,उनका भ्झी सविस्तार उल्लेख है।

(3.4.4) विभिन्न विभाजन:एक दृश्य

(क)

(1) आदिकाल (वीरगाथाकाल,संवत् 1050–1375)

(2) पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल, संवत् 1375–1700)

(अ) निगुर्ण काव्यधारा (ब) सगुण काव्य धारा

(अ) निगुर्ण काव्यधारा

(1) ज्ञानमार्गी धारा (क़बीर)

(2) प्रेममार्गी धारा (जायसी)

(ब) सगुण काव्य धारा

(1) रामकाव्यधरा (तुलसी)

(2) कृष्णकाव्यधारा(सूर)

(3) उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल, संवत् 1700–1900)

(4) आधुनिककाल (गद्यकाल, संवत् 1900–1984)

(ख) अन्य आधार पर काल विभाजन–

आदिकाल :सातवीं शती के मध्य से चोदहवीं शती के मध्य तक।

भक्तिकाल :चौदहवीं शती के मध्य से सत्रहवीं शती के मध्य तक।

रीतिकाल :सत्रहवीं शती के मध्य से उन्नीसवीं शती के मध्य तक।

आधुनिक काल : उन्नीसवीं शती के मध्य से अब तक

1. पुनर्जागरणकाल (भारतेन्दुकाल) 1857–1900
2. जागरण सुधारकाल (द्विवेदीकाल) 1900–1938ई.
3. छायावादकाल 1918 से 1938 ई.
4. छायावादोतरकाल

(क) 1937–1953ई.

(ख) 1953से अब तक

डॉ रामकुमार वर्मा ने अपने इतिहास को इन सात प्रकरणों में विभक्त किया है:

(1) संधिकाल,

(2) चारणकाल,

(3) भक्तिकाल की अनुक्रम

(4) भक्तिकाल,

(5) प्रेमकाव्य

(6) रामकाव्य

(7) कृष्णकाव्य।

संक्षेप में हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल–विभाजन करने वाले प्रथम इतिहासकार डॉ.ग्रियर्सन हैं। उन्होने आदिकाल की अतिंम सीमा 1400ई. तक मानी। मिश्रबंधुओं ने एतदर्थ 1389ई. का वर्ष स्वीकार किया है । रामचन्द्र शुक्ल आदिकाल की अंतिम सीमा 1318 ई. तक मानते हैं

3.5 सीमा निर्धारण के आधार

युगों का नामकरण हिंदी साहित्य के इतिहास में आज भी अनसुलझा प्रश्न है।आचार्य शुक्ल ने हिंदी साहितय के इतिहास का चार कालों में विभाजन कर उनका नामकरण क्रमशः आदिकाल ,भक्तिकाल ,रीतिकाल, आधुनिककाल । इसमें उन्होंने मिश्र बंधुओं और जार्ज ग्रियर्सन से कुछ आधार अवश्य लिये।परंतु काल–विभाजन और नामकरण की अंतिम तर्क पुष्टि व्याख्या उनकी अपनी है इनमें से भक्तिकाल और आधुनिक काल को तो यथावत स्वकार कर लिया गया।परंतु वीरगाथाकाल और रीतिकाल के विषय में विवाद रहा। वीरगाथाकाल नाम के विरुद्व अनेक आपतियां की गयी है, प्रमुख यह है कि जिन वीरगाथाओं के आधार पर शुक्ल जी ने यह नामकरण किया है,उनमें से कुछ बातें अप्राप्य हैं और कुछ परवर्तीकाल की रचनाएं हैं इनके अतिरिक्त जो साहित्य इस कालावधि में लिखा गया है,उसमें सामंतीय और धार्मिक तत्वो के प्राधन्य होने पर भी कथ्य और माध्यम के रूपों की ऐसी विविधता और अव्यवस्था है कि किसी एक प्रवृति के आधार पर उसका सही नामकरण नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में आदिकाल जैसा निर्विशेष नाम ,जो भाषा और साहित्य की आरंभिक आवस्थ्सा मात्र का द्योतन करता है विद्वानों को अधिक मान्य है और मैं समझता हूं कि इसका कोई विकल्प नहीं हैं।

रीतिकाल के विषय में मतभेद की परिधि सीमित है वहां विवाद का विषय इतना नहीं है कि उस युग के साहित्य रीति तत्व प्रमुख है या श्रृंगार तत्व? प्राचुर्य दोनों का ही है, पर इन दोनो में भी अधिक महत्व किसका है? हमारा विचार है कि जिस युग में रीति तत्व का

समावेश केवल श्रृंगार में ही नहीं,भक्तिकाव्य और वीरकाव्य में भी हो गया था अथवा यह कहें कि जीवन का स्वरूप भी बहुत कुछ रीतिबद्व हो गया था,उसका नाम रीतिकाल ही अधिक समीचीन होगा। इसके विकल्प श्रृंगारकाल अतिव्याप्ति है।

आधुनिक काल को शुक्ल जी ने तीन चरणों में विभक्त किया है और उन्हें प्रथम ,द्वितीय तथा तृतीय उत्थान कहा है। प्रथम और द्वितीय उत्थान के विषय में उन्होंने यह संकेत भी कर दिया है कि इन्हें क्रमशः भारतेंदुयुग और द्विवेदीकाल भी कहा जा सकता है। तीसरे उत्थान का कदाचित उसके प्रवाहमय रूप के कारण,उन्होंने कोई नाम नहीं दिया।

पहला कालखंड जीवन और साहित्य में पुनर्जागरण का युग था,जब अतीत की गौरव– भावना के परिप्रेक्ष्य में नवजागरण की चेतना विकसित हो रही थी,अतः इसे पुनर्जागरणकाल नाम दिया जा सकता है और चूंकि भारतेंदु के व्यक्तित्व और कृतित्व में जिन्होंने अपने जीवनकाल में इस युग का नेतृत्व किया ओर जिनका प्रभाव मरणोपरांत भी बना रहा, यह चेतना समयकृत प्रतिफलित हो रही थी। इसलिए इसका नामकरण भी किया जा सकता है । उसे हम औचित्य पूर्वक जागरण–सुधार काल या विकल्पतः द्विवेदीयुग कह सकते हैं।

तीसरे चरण की सर्वप्रमुख साहित्य प्रवृति है छायावाद अतः उसका उचित नाम छायावादकाल ही हो सकता है उसका परवर्ती काल हमारे अत्यंत निकट है और उसकी मूल चेतना इतनी जल्दी–जल्दी बदल रही है कि किसी एक स्थिति के आधार को लेकर इसका नामकरण नहीं किय जा सकता।

आरंभ में प्रगतिवाद का दौर था जो कुछ ही वर्षो में समाप्त हो गया,इसके कुछ समय बाद प्रयोगवाद का आविर्भाव हुआ जो थोडे समय तक इसके समानांतर चलकर1953 के आसपास नवलेखन में परिणत हो गया। अत्याधुनिक लेखन का दावा है कि नवलेखन का युग भी सन् 1960 के बाद खत्म हो गया है और इसके बाद की साहित्य –चेतना यथार्थ बोध की प्रखरता के कारण अपनी पूर्ववर्ती साहित्य चेतना से भिन्न है अतः इस अस्थिर और त्वरित गति से बदल रहे साहित्य प्रवाह को किसी एक नाम में बांधा जाये या नहीं? कुछ आलोचक पूर्वार्द्ध को प्रगति–प्रयोगकाल और उतरार्द्ध को नवलेखन काल कहना चाहते हैं और कुछ इस पूरे कालखंड को छायावादोत्तर काल के नाम से अभिहित करते हैं। इनमें से पहले दोनों नाम कुछ अधिक निश्चित और भावात्मक और तीसरा नाम उतना ही अनिश्चित तथा अभावात्मक लगता है। पहले दोनों नामों में प्रमुख प्रवृतियों को रेचांकित किया गया है।जबकि दूसरा छायावाद के अवशिष्ट, प्रभाव, विस्तार तथा विरोधी प्रतिक्रिया को अधिक महत्व देता है। स्वतंत्रता की प्राप्ति इसी युग की घटना है पर यह साहित्यक चेतना को कोई नया मोड़ नहीं दे सकी ,इसलिए नामकरण में उसकी कोई विशेष संगति नहीं है।

अतः निर्णय उक्त दोनों विकल्पों के बीच ही करना है। सन 1938–39 से आरंभ होने वाले वर्तमान युग का उपविभाजन किया जाय या नहीं ? यदि इस तर्क के आधार पर कि इतिहास को अति छोट–छोटे खंडों में विभक्त करने सेसमग्र दर्शन में बाधा आती है अथवा यह मानकर कि समसामयिक साहित्य का स्वरूप स्थिर होने में कुछ देर लगती है, वर्तमान युग को एक नाम ही देन है तो छायावादोत्तर काल नाम अभावत्मक होते हुए भी असंगत नही है। इस लक्ष्य के आधार पर हिन्दी साहित्य का काल विभाजन तथा नामकरण सामन्यतः उक्त आधार पर किया जा सकता है।

3.6 इकाई सारांश/याद रखने की बातें

(1) हिंदी साहित्य का इतिहास निरन्तरता का इतिहास है।

(2) आठवीं–नवीं शताब्दी से लेकर आजतक के विकास परदृश्य के साथ साहित्यिक सृजनशीलता के विविध रूपों,प्रवृतियों और भाषा का ज्ञान हिन्दी साहित्य के इतिहास के माध्यम से ही किया जा सकता है।

(3) जिस प्रकार काल के प्रवाह में अनेक धाराएं चलती रहती हैं उसी प्रकार साहित्य में भी अनेक प्रवृतियां होती हैं;और इन प्रवृतियों का आदि,अंत या उतार–चढ़ाव ही इतिहास का काल–विभाजन है।

(4) संतकाव्य ,प्रेमाख्यानकाव्य, रामकाव्य,कृष्णकाव्य ,नीतिकाव्य तथा वीरकाव्य की धाराएं पूरे मध्य–युग में प्रवाहित रहीं।

(5) चैतन्य और गांधी का अपने युग में प्रभाव रहा है। इसी तरह रवींद्रनाथ या भारतेन्दु व्यक्ति न होकर एक संस्था थें, युगनिर्माता थे,जिनके कृतित्व ने अपने–अपने युग की प्रमुख साहित्यिक प्रवृतियों को प्रभावित किया था।

(6) युगों का नामकरण यथासंभव मूल साहित्य–चेतना का आधर मानकर साहित्यिक प्रवृति के अनुसार करना चाहिए,किंतु जहां ऐसा नहीं हो सकता, वहां राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रवृति को आधार बनाया जा सकता है या फिर कभी–कभी विकल्प न होने पर निर्विशेष कालवाचक नाम को भी स्वीकार किया जा सकता है। नामकरण में एकरूपता काम्य है, किंतु उसे सायास सिद्व करने के लिए भ्रांतिपूर्ण नामकरण उचित नहीं है।

(7) हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में काल–विभाजन के लिए प्रायः चार पद्वतियों का अवलंब लिया गया है ।पहली पद्वति के अनुसार,संपूर्ण इतिहास का विभाजन चार युगों अथवा कालखंडो में किया गया है यथा– आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल, आधुनिककाल। आचार्य शुक्ल द्वारा और उनके अनुसरण पर नागरीप्रचारिणी सभा के इतिहास में इसी को ग्रहण किया गया है।

(8) विभिन्न विभाजन

(क) (1) आदिकाल (वीरगाथाकाल,संवत् 1050–1375)

(2) पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल, संवत् 1375–1700)

(अ) निगुर्ण काव्यधारा

(ब) सगुण काव्य धारा

(अ) निगुर्ण काव्यधारा

(1) ज्ञानमार्गी धारा (कबीर)

(2) प्रेममार्गी धारा (जायसी)

(ब) सगुण काव्य धारा

(1) रामकाव्यधरा (तुलसी)

(2) कृष्णकाव्यधारा(सूर)

(3) उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल, संवत् 1700–1900)

(4) आधुनिककाल (गद्यकाल, संवत् 1900–1984)

(ख) अन्य आधार पर काल विभाजन–

आदिकाल :सातवीं शती के मध्य से चोदहवीं शती के मध्य तक।

भक्तिकाल :चौदहवीं शती के मध्य से सत्रहवीं शती के मध्य तक।

रीतिकाल :सत्रहवीं शती के मध्य से उन्नीसवीं शती के मध्य तक।

आधुनिक काल : उन्नीसवीं शती के मध्य से अब तक

1. पुनर्जागरणकाल (भारतेन्दुकाल) 1857–1900
2. जागरण सुधारकाल (द्विवेदीकाल) 1900–1938ई.
3. छायावादकाल 1918 से 1938 ई.
4. छायावादोतरकाल (क) 1937–1953ई., (ख) 1953 से अब तक

डॉ रामकुमार वर्मा ने अपने इतिहास को इन सात प्रकरणों में विभक्त किया है:

(1) संधिकाल,

(2) चारणकाल,

(3) भक्तिकाल की अनुक्रमणिका,

(4) भकित्का

(5) प्रेमकाव्य,

(6) रामकाव्य,

(7) कृष्णकाव्य।

(9) "मै सर्वप्रथम स्वामी विवेकानंद,रामकृष्ण परमहंस तथा रामतीर्थ से प्रभावित था,पर मेरे मन ने उन्हें पूर्णतया स्वीकार नहीं किया।मैं गांधी और मार्क्स से प्रभावित हुआ पर मेरे मन ने उन्हे भी पूर्णतया स्वीकार नहीं किया।मैं श्री अरविंद के संपर्क में आया पर पूर्णतया उन्हें भी स्वीकार नही किया।" –सुमित्रानंदन पंत

(10) आचार्य विद्यानिवास मिश्र जी कहते है –"मैं अजमा चुका हूँ,कभी नजदीक साफ दिखता है,दूर नहीं दिखत;कभी दूर दिखता है,नजदीक नहीं दिखता।ठीक–ठीक देखने के लिए अपनी आंखें नपवानी पड़ती हैं,दृष्टि की अपेक्षा नपवानी पड़ती है। आधुनिक साहित्य में इसी अपेक्षा के कारण अपने आसपास के परिवेश के लिए बड़ी सघन आत्मीयता दिख रही है। साहित्य की जरूरत 'चंद तिनकों' के बिना नहीं पूरी होती,जिन्हे तोड़ते–तोड़ते दो मित्र घंटो तक बात करते रहते हैं,यह तिनका दुर्लभ हो गया है।"

(10) "भाषा–शास्त्रियों ने लक्ष्य किया है कि अपभ्रंश नामक उत्तर–कालीन काव्य–भाषा में ऐसे बहुत–से–प्रयोग पाए जाते हैं,जो वास्तव में वररुचि के महाराष्ट्री और श्शौरसेनी के प्रयोगों की अपेक्षा प्राचीनतर हैं। " हजारी प्रसाद द्विवेदी

(11) "सातवीं श्शताब्दी के बाद बौद्ध धर्म का क्या हुआ ,इसका ठीक विवरण नहीं मालूम।"– हजारी प्रसाद द्विवेदी

(12) "गुण और परिमाण में समृद्ध कोई एक कृति लेखक ही लिख सकता है।" –डॉ नगेन्द्र ने लिखा है

3.7–अपनी प्रगति की जांच–

(क) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

1. इतिहास और हिंदी साहित्य के इतिहास में क्या अन्तर है।
2. इतिहास के विस्तार को देखते हुए इतिहास और साहित्य के इतिहास में अन्तर बताइये।
3. क्या सामाजिक,धार्मिक,राजनीतिक परिस्थितियों को विभाजन का आधार बनाय जा सकता है।
4. आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार काल विभाजन के मोटे तोर पर आधार क्या होने चाहिए।
5. विभिन्न काल विभाजनों का वर्गीकरण प्रस्तुत कीजिए।

6. आचार्य रामचंद्र शुक्ल से लेकर डॉ नगेन्द्र तक आते आते काल विभाजन में क्या प्रगति हुई हैं ,स्पष्ट करें।

(ख) लघु उत्तरीय प्रश्न– (पचास शब्दों में)

(क) काल विभाजन का अर्थ क्या है।

(ख) आचार्य शुक्ल के काल विभाजन से आप कहां तक सहमत हैं।

(ग) 1900 के बाद के साहित्य के काल को किन नामों से बांटना उचित होगा।

(घ) काल–विभाजन की सीमा का आधार राजनीतिक परिस्थिति उचित है?

(च) काल विभाजन में जनचेतना का क्या महत्व है।

(छ) रामकुमार वर्मा के कालविभाजन से आप कितने सहमत हैं।

(झ) डॉ नगेन्द्र का कालविभाजन क्या तर्कसंगत है।

(ट) नामकरण के आधार बताइये।

(ग) निम्न लिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर बताइये

(1) आदिकाल को अपभ्रंश काल किसने कहा:

(1) धीरेन्द्र वर्मा (2) डॉ नगेन्द्र

(3) डॉ बच्चन (4) रामविलास शर्मा

(2) आदिकाल को अत्यधिक विरोधी और व्याघातों का युग कहा:

1. रामकुमार वर्मा, 2. हजारीप्रसाद द्विवेदी,

3. अज्ञेय, 4. पं.रामचंद्र शुक्ल

(3) रामचंद्र शुक्ल विरचित'हिंदी साहित्य का इतिहास' कब प्रकाशित हुआ?

1. सन् 1929ई. 2. सन् 1945ई.,

3. सन् 1920ई., 4. सन् 1918ई.

(4) आदिकाल को आदिकाल किसने कहा:

(1) रामकुमार वर्मा (2) हजारीप्रसाद द्विवेदी

(3) आचार्य शुक्ल (4) डा रसाल

(5) आदिकाल को 'वीरगाथा काल किसने कहा:

(1) आचार्य शुक्ल (2) गिर्यसन

(3) राहुल सांक त्यायन (4) विश्वनाथ त्रिपाठी

(6) आदिकाल को 'सिद्धसामांत काल किसने कहा:

(1) राहुल सांकृत्यायन (2) आचार्य शुक्ल

(3) रामकुमार वर्मा (4) महावीर प्रसाद

(7) हिंदी साहित्य के विभिन्न कालों का काल–विभाजन करके नामकरण करने वाले प्रथम इतिहासकार

(1) आचार्य शुक्ल (2) गियर्सन

(3) राहुल सांकृत्यायन (4) गार्सा द तासी

(8) "साहित्य प्रत्येक देश की जनता की चित्तव ति का संचित प्रतिबिंब है–किसकी पंक्ति है ?

(1) रामकुमार वर्मा (2) हजारीप्रसाद द्विवेदी

(3) आचार्य शुक्ल (4) डा विश्वनाथ

(9) किस विदेशी विद्धान ने हिंदी व्याकरण सबसे पहले लिखा ?

(1) बेंजामिन शूल्ज (2) जोशुआ केअलरे

(3) जार्ज ग्रियर्सन (4) गार्साद तासी

(10) दोहा या दूहा का संबध जिस प्रकार 'अपभ्रंश ' से हैउसी प्रकार गाहा या गाथा का संबंध किस भाषा से है

(1) पालि (2) प्राकृत

(3) हिदी (4) संस्कृत

(11) अपभ्रंश को प्राकृत भाषा कहा:

(1) रामकुमार वर्मा (2) हजारीप्रसाद द्विवेदी

(3) आचार्य शुक्ल (4) डा विश्वनाथ

(12) हिंदी काव्यधारा' काव्य के रचयिता कौन हैं:

(1) डा नगेन्द्र (2) राहुल सांकृत्यायन

(3) आचार्य शुक्ल (4)डा विश्वनाथ

(13) "हिंदू समाज में नीची से नीची समझी जाने वाली जाति भी अपने से नीची एक और जाति ढूढ़ लेती है"–यह किसका कथन है

(1) डा नगेन्द्र (2) हजारी प्रसाद द्विवेदी

(3) आचार्य शुक्ल (4) डा विश्वनाथ

(14) "जिस समय मुसलमान भारत में आए थे उस समय सच्चे धर्मभाव का बहुत कुछ ह्रास हो चुका था।परिवर्तन के लिए बहुत बड़े धक्कों की आवश्यकता थी। –यह

पंक्तिया किसकी हैं।

(1) डा नगेन्द्र (2) हजारी प्रसाद द्विवेदी

(3) आचार्य रामचंद्र शुक्ल (4) डा विश्वनाथ

(15) "84 सिद्धों में बहुत–से कछुए,चमार,धोबी,डोम,कहार,लकड़हारे,दरजी तथाप बहुत से शूद्र कहेजाने वाले लोग थे। अतःजाति–पांति के खण्डन तो वे आप ही थे।"–यह कथन किसका है:

(1) डा नगेन्द्र (2) हजारी प्रसाद द्विवेदी

(3) आचार्य रामचंद्र शुक्ल (4)डा विश्वनाथ

(16) आदिकाल को 'वीरकाल' की संबा देने वाल आलोचक:

(1) डा नगेन्द्र (2) हजारी प्रसाद द्विवेदी

(3) डॉ रसाल (4)डा विश्वनाथ

(17) अपभ्रंश में कौन से व्यजंन नहीं थे:

(1) ट,ठ (2) ड,ढ़

(3) ज्ञ,त्र (4) र,स

(18) अपभ्रंश में स्वरों की संख्या थी'

(1) चार (2) आठ

(3) दस (4) सात

(19) भाषा विज्ञान में प्रायः किन उपभाषाओं को 'हिंदी' माना जाता है:

(1) पश्चिमी व पूर्वी हिंदी (2) पूर्वीहिंदी व बिहारी

(3) पश्चिमी हिंदी व राजस्थानी (4) राजस्थानी व पहाड़ी

(20) भारतेन्दु,रामचंद्रशुक्ल,प्रसाद,प्रेमचंद और दिनकर का संबंध किस बाली से था:

(1) बुंदेली (2) भोजपुरी

(3) अवधी (4) बघेली

(21) 'मैथिली' का बोली क्षेत्र है:

(1) गोरखपुर (2) लखनऊ

(3) मुंगेर (4) चम्पारन

(22) पश्चिमी उपभाषा के अंर्तगत कितनी बोलियां आती हैं:

(1) तीन (2) चार

(3) पांच (4) सात

(23) हिंदी क्षेत्र की बोलियों की संख्या:

(1) तीन (2) चार

(3) अठारह (4) सात

(24) खड़ीबोली का उद्‌भव अपभ्रंश के किस रूप से हुआ:

(1) अर्धमागधी (2) मागधी

(3) शौरसेनी का उत्तरी रूप (4) ब्राचड़

(25) 'अवधी'बोली का संबंध किस उपभाषा से है:

(1) पश्चिमी हिंदी (2) पहाड़ी

(3) पूर्वी हिंदी (4) बिहारी

(26) 'उत्तर अपभ्रंश 'को 'पुरानी हिंदी'कहने वाले प्रथम विद्वान'

(1) डा नगेन्द्र (2) हजारी प्रसाद द्विवेदी

(3) चंद्रधरशर्मा गुलेरी (4) डा विश्वनाथ

3.8– वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के प्रश्नोत्तर :

(1) आदिकाल को अपभ्रंश काल किसने कहा:

1. धीरेन्द्र वर्मा

(2) आदिकाल को अत्यधिक विरोधी और व्याघातों का युग कहा:

2. हजारीप्रसाद द्विवेदी,

(3) रामचंद्र शुक्ल विरचित'हिंदी साहित्य का इतिहास' कब प्रकाशित हुआ?

1. सन् 1929ई.

(4) आदिकाल को आदिकाल किसने कहा:

2. हजारीप्रसाद द्विवेदी

(5) आदिकाल को 'वीरगाथा काल किसने कहा:

(1) आचार्य शुक्ल

(6) आदिकाल को 'सिद्धसामांत काल किसने कहा:

(1) राहुल सांकृत्यायन

(7) हिंदी साहित्य के विभिन्न कालों का काल–विभाजन करके नामकरण करने वाले प्रथम इतिहासकार

(2) गियर्सन

(8) "साहित्य प्रत्येक देश की जनता की चित्तवृति का संचित प्रतिबिंब है–किसकी पंक्ति है ?

(3) आचार्य शुक्ल

(9) किस विदेशी विद्धान ने हिंदी व्याकरण सबसे पहले लिखा ?

(2) जोशुआ केअलरे

(10) दोहा या दूहा का संबध जिस प्रकार 'अपभ्रंश ' से हैउसी प्रकार गाहा या गाथा का संबंध किस भाषा से है:

(2) प्राकृत

(11) अपभ्रंश को प्राकृत भाषा कहा:

(2) हजारीप्रसाद द्विवेदी

(12) हिंदी काव्यधारा' काव्य के रचयिता कौन हैं:

(2) राहुल सांकृत्यायन

(13) "हिंदू समाज में नीची से नीची समझी जाने वाली जाति भी अपने से नीची एक और जाति ढूढ़ लेती हैं"–यह किसका कथन है

(2) हजारी प्रसाद द्विवेदी

(14) "जिस समय मुसलमान भारत में आए थे उस समय सच्चे धर्मभाव का बहुत कुछ ह्रास हो चुका था।परिवर्तन के लिए बहुत बड़े धक्कों की आवश्यकता थी। –यह पंक्तिया किसकी हैं।

(3) आचार्य रामचंद्र शुक्ल

(15) "84 सिद्धों में बहुत–से कछुए,चमार,धोबी,डोम,कहार,लकड़हारे,दरजी तथाप बहुत से शूद्र कहेजाने वाले लोग थे। अतःजाति–पांति के खण्डन तो वे आप ही थे।"–यह कथन किसका है:

(3) आचार्य रामचंद्र शुक्ल

(16) आदिकाल को 'वीरकाल' की संबा देने वाल आलोचक:

(3) डॉ रसाल

(17) अपभ्रंश में कौन से व्यजंन नहीं थे:

(2) ड,ढ़

(18) अपभ्रंश में स्वरों की संख्या थी'

(2) आठ

(19) भाषा विज्ञान में प्रायः किन उपभाषाओं को 'हिंदी' माना जाता हैः

(1) पश्चिमी व पूर्वी हिंदी

(20) भारतेन्दु,रामचंद्रशुक्ल,प्रसाद,प्रेमचंद और दिनकर का संबंध किस बाली से थाः

(3) अवधी

(21) 'मैथिली' का बोली क्षेत्र हैः

(3) मुंगेर

(22) पश्चिमी उपभाषा के अंर्तगत कितनी बोलियां आती है

(3) पांच

(23) हिंदी क्षेत्र की बोलियों की संख्याः

(3) अठारह

(24) खड़ीबोली का उद्भव अपभ्रंश के किस रूप से हुआः

(3) शौरसेनी का उत्तरी रूप

(25) 'अवधी'बोली का संबंध किस उपभाषा से हैः

(1) पश्चिमी हिंदी

(26) 'उत्तर अपभ्रंश 'को 'पुरानी हिंदी'कहने वाले प्रथम विद्वान'

(3) चंद्रधरशर्मा गुलेरी

3.8– वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के प्रश्नोत्तर

(1). आदिकाल को अपभ्रंश काल किसने कहाः

(1) धीरेन्द्र वर्मा

(2) आदिकाल को अत्यधिक विरोधी और व्याघातों का युग कहाः

2.हजारीप्रसाद द्विवेदी,

(3) रामचंद्र शुक्ल विरचित'हिंदी साहित्य का इतिहास' कब प्रकाशित हुआ?

(1) सन् 1929ई.

(4) आदिकाल को आदिकाल किसनें कहाः

(2) हजारीप्रसाद द्विवेदी

(5) आदिकाल को 'वीरगाथा काल किसने कहाः

(1) आचार्य शुक्ल

(6) आदिकाल को 'सिद्धसामांत काल किसने कहाः

(1) राहुल सांकृत्यायन

(7) हिंदी साहित्य के विभिन्न कालों का काल–विभाजन करके नामकरण करने वाले प्रथम इतिहासकार

(2) गियर्सन

(8) "साहित्य प्रत्येक देश की जनता की चित्तव ति का संचित प्रतिबिंब है–किसकी पंक्ति है ?

(3) आचार्य शुक्ल

(9) किस विदेशी विद्वान ने हिंदी व्याकरण सबसे पहले लिखा ?

(2) जोशुआ केअलरे

(10) दोहा या दूहा का संबध जिस प्रकार 'अपभ्रंश ' से हैउसी प्रकार गाहा या गाथा का संबंध किस भा ा से है:

(2) प्राकृत

(11) अपभ्रंश को प्राकृत भाषा कहा:

(2) हजारीप्रसाद द्विवेदी

(12) हिंदी काव्यधारा' काव्य के रचयिता कौन हैं:

(2) राहुल सांकृत्यायन

(13) "हिंदू समाज में नीची से नीची समझी जाने वाली जाति भी अपने से नीची एक और जाति ढूढ़ लेती है"–यह किसका कथन है

(2) हजारी प्रसाद द्विवेदी

(14) 'जिस समय मुसलमान भारत में आए थे उस समय सच्चे धर्मभाव का बहुत कुछ ह्रास हो चुका था।परिवर्तन के लिए बहुत बड़े धक्कों की आवश्यकता थी। –यह पंक्तिया किसकी हैं।

(3) आचार्य रामचंद्र शुक्ल

(15) "84 सिद्धों में बहुत–से कछुए,चमार,धोबी,डोम,कहार,लकड़हारे,दरजी तथाप बहुत से शूद्र कहेजाने वाले लोग थे। अतःजाति–पांति के खण्डन तो वे आप ही थे।"–यह कथन किसका है:

(3) आचार्य रामचंद्र शुक्ल

(16) आदिकाल को 'वीरकाल' की संबा देने वाल आलोचक:

(3) डॉ रसाल

(17) अपभ्रंश में कौन से व्यजंन नहीं थे:

(2) **ड,ढ़**

(18) अपभ्रंश में स्वरों की संख्या थी'

(2) **आठ़**

(19) भाषा विज्ञान में प्रायः किन उपभाषाओं को 'हिंदी' माना जाता है:

(1) पश्चिमी व पूर्वी हिंदी

(20) भारतेन्दु,रामचंद्रशुक्ल,प्रसाद,प्रेमचंद और दिनकर का संबंध किस बाली से था:

(3) **अवधी**

(21) 'मैथिली' का बोली क्षेत्र है:

(3) **मुंगेर**

(22) पश्चिमी उपभाषा के अंर्तगत कितनी बोलियां आती है

(3) **पांच**

(23) हिंदी क्षेत्र की बोलियों की संख्या:

(3) **अठारह**

(24) खड़ीबोली का उद्‌भव अपभ्रंश के किस रूप से हुआ:

(3) **शौरसेनी का उत्तरी रूप**

(25) 'अवधी'बोली का संबंध किस उपभा ाा से है:

(1) पश्चिमी हिंदी

(26) 'उत्तर अपभ्रंश 'को 'पुरानी हिंदी'कहने वाले प्रथम विद्वान'

(3) चंद्रधरशर्मा गुलेरी

3.9 स्पष्टीकरण के बिन्दु

.....

.....

.....

.....

3.10 आगे की पढाई

हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास –डॉ गणपति चन्द्र गुप्त

हिंदी साहित्य का इतिहास –रामचंद्र शुक्ल

तृतीय खण्ड :

हिन्दी साहित्य का इतिहास –उत्तर मध्यकाल अथवा रीतिकाल

खण्ड परिचय–

एम.ए. उत्तरार्द्ध (हिन्दी) का तृतीय प्रश्न–पत्र 'हिंदी साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत खण्ड तीन हिन्दी साहित्य का इतिहास –उत्तर मध्यकाल अथवा रीतिकाल पर केन्द्रित है।

हिन्दी साहित्य का इतिहास

परिचय–

एक युग बीतता है,दूसरा युग आरंभ होता है। नवीन युगारंभ के साथ पुराना युग समग्रतः निःशेष नहीं हो जाता–उसकी ध्वनि बहुत बाद तक गूंजती रहती है। नये युग के परिवर्तित मूल्य कहीं से सहसा आ नहीं टपकते प्रत्युत अपने ठीक पहले के युग के ही लगभग अतिंम यात्रा–वर्षो में वे अपने अस्तित्व का आंशिक समर्थन प्राप्त करने लग जाते हैं,पलते हैं और पूर्ण सशक्त होकर विशेष परिस्थितियों में प्राचीन मूल्यों को दबा लेते हैं और भाव–स्वर–धारा फूट पड़ती है। यहीं से हम मानव इतिहास गाथा के साक्षी और साक्ष्य दोनों किसी दीर्घ कालिक एकरसता के अभिषाप से मुक्त हो जाया करते हैं। अर्थात जो वस्तुएं कालवाह्य हो जाती हैं उनका स्थान नवीन धारणाएं,विचार और सिद्धांत ले लेते हैं। इस तरह एक नवीन धारा का प्रवाह चलता है,जिसमें नित्यनूतन भी होता है और चिर पुरातन भी। एक युगांत और युगारंभ के मध्य भेदक–रेखा खींचने के मूल में समय क्रमानुसार बदलते विचारों,मूल्यों,प्रवृतियों के निभ्रांत आकलन की सुविधा का विचार ही मुख्य हुआ करता हैं। साहित्य के इतिहास को आदि,मध्य,आधुनिककाल आदि का विभाजन करने का उद्देश्य भी यही है।इस काल विभाग में मध्यकाल को दो भागों में बांटा गया है। पूर्वमध्यकाल 1375 से 1700 तथा उत्तरमध्यकाल अथवा रीतिकाल 1700 से 1900 तक। इसी रीतिकाल का इस इकाई में अध्ययन करेगें।

उत्तरमध्यकालीन काव्यधारा निश्चय ही कबीर,तुलसी,या अष्टछाप के कवियों से मेल नहीं खाती वरन् किसी अंश तक पूर्ववर्ती सर्जन–परंपराओं को चुनौती भी देती है। परंतु इस आंदोलन का कोई खास शोरगुल भी नहीं होता और यह सत्रहवीं शती तक आते–आते एक जवर्दस्त परिवर्तन पूरे हिंदी जगत में छा जाता है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं–''उत्तर–कालीन हिंदी कविता (या रीति–कालीन हिंदी कविता) को हम लोकसाहित्य नहीं कह सकते,क्योंकि उसमें प्रत्यक्ष लोक–जीवन से स्फूर्ति और प्रेरणा पाने की क्रिया गौण है और लोक की चित्तभूमि पर उसका संपूर्ण अधिकार भी नहीं था।फिर उसे शास्त्रीय काव्य भी नहीं कह सकते,क्योंकि इसके पहले और इस युग में भी संस्कृत में अलंकार–शास्त्र को लेकर जैसी सूक्ष्म विवेचना हो रही थी,उसकी कुछ भी

झलक इसमे नहीं पाई जाती।शास्त्रीय विवेचन बहुत कम कवियों को इष्ट थी। वे तो लक्षणों को कवित्व करने का एक बहाना भर समझते थे।"

सोलहवीं शती वि. के आसपास उत्तर मध्ययुगीन कव्य प्रवृतियां उद्घाटित होकर साहित्य में स्वीकृति प्राप्त करने लगीं थी। अलंकृत मुक्तकों का उत्तर मध्ययुग–काव्यकला के वस्तुपक्ष में मुख्यतः'श्रृगांर' और रूपपक्ष में 'अलंकरण–मंड़न' के परम उत्कर्ष का युग था। इसीलिये कभी इसको 'अलंकृत काल'कभी कला–काल और कभी श्रृंगार काल से संबोधित किया गया। परन्तु साहित्य के विद्यार्थी को सर्वाधिक ग्राह्य 'रीतिकाल' जिसका निर्देश सर्वप्रथम आचार्य रामचंद्रशुक्ल ने किया था मान्य हुआ। इस खण्ड में हम नीचे लिखी तीन इकाईयों का इस प्रकार अध्ययन करेगें।

इकाई–1 : रीतिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, कालसीमा और नामकरण,रीतिकालीन परिस्थितियाँ एवं पृष्ठभूमि,कालसीमा,नामकरण दरबारी संस्कृति और लक्षणग्रंथों की परंपरा

इकाई–2 : रीतिकालीन साहित्य की विभिन्न धाराएँ, (रीतिवद्ध, रीतिसिद्धऔर रीतिमुक्त), प्रवृतियाँ और विशेषताएँ, प्रतिनिधि रचनाकार और रचनाएँ, रीतिकालीन गद्य साहित्य,रीतिकाल की साहित्यिक धाराएँ सामान्य परिचयः

इकाई –3: आधुनिक काल की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक–पृष्ठभूमि, अठारह सौ सन्तावन की क्रांति एवं पुनर्जागरण उक्त इकाईयों के माध्यम से जहाँ शिक्षक एवं शिक्षार्थियों में आदिकाल एवं पूर्वमध्यकाल की सही जानकारी प्राप्त होगी वहीं इनके प्रति खुले दिलो–दिमाग से विचार करने का अवसर मिलेगा।

तृतीय खण्ड :

इकाई –1

रीतिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, कालसीमा और नामकरण

1.1 परिचय–
1.2 उद्देश्य -
1.3 रीतिकालीन परिस्थितियाँ एवं पृष्ठभूमि :
(क) राजनीतिक पृष्ठभूमि :
(ख) सामाजिक पृष्ठभूमि :
(ग) सांस्कृतिक पृष्ठभूमि :
(घ) साहित्य और कलाओं की स्थिति
1.4 कालसीमा
1.5 नामकरण
1.6 दरबारी संस्कृति और लक्षणग्रंथों की परंपरा
(अ) दरबारी संस्कृति एक परिचय
(ब) लक्षण ग्रंथों की परंपरा और उपलब्ध सामग्री
1.7 इकाई सारांश / याद रखने की बातें
1.8 अपनी प्रगति की जांच
1.9 चर्चा और स्पष्टीकरण के बिन्दु
1.10 आगे की पढाई

1.1 परिचय–

आचार्य रामचंद्र शुक्ल अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल का निरूपण करते हुआ लिखा हैं कि हिंदी काव्य पूर्ण प्रौढ़ता को पहुँच गया था। संवत 1598 में कृपाराम थोड़ा बहुत रसनिरूपण भी कर चुके थे। उसी समय के लगभग चरखारी के मोहनलाल मिश्र ने 'श्रृंगार सागर' नामक एक ग्रंथ श्रृंगार संबंधी लिखा। नरहरि कवि के साथी 'करनेस' कवि ने 'कर्णाभरण', श्रुतिभूषण' और 'भूपभूषण' नामक तीन ग्रंथ अलंकार संबंधी लिखे। रसनिरूपण और अलंकार निरूपण का इस प्रकार सूत्रपात हो जाने पर केशवदास जी ने काव्य के सब अंगों का निरूपण शास्त्रीय पद्धति पर किया। इसमें संदेश नही कि काव्यरीति का सम्यक

समावेश पहले पहल आचार्य केशव ने ही किया। पर हिंदी में रीतिग्रंथों की अविरल और अखंडित परंपरा का प्रवाह केशव की 'कविप्रिया' के प्रायः पचास वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर,केशव के आदर्श को लेकर नहीं।

आचार्य नगेन्द्र कहते हैं –हिंदी में रीति–काव्य प्रायः उपेक्षा का ही भागी रहा है। द्विवेदी–युग के आलोचकों ने इस कविता को नीतिभ्रष्ट कहकर तिरस्कृत किया,छायावाद के प्रतिनिधि कवि–लेखक इसकों अति–ऐन्द्रिय और स्थूल कहकर हेय समझते रहे और आज का प्रगतिशील समीक्षक इसको सामन्तवद की अभिव्यक्ति मानकर प्रतिक्रियावादी कविता कहता है। आज रामचन्द्र शुक्ल जी द्वारा किया हुआ हिन्दी–साहित्य का काल–विभाजन प्रायः सर्वमान्य–सा ही हो गया है। चाहे यह सर्वथा निर्दोष न हों तो भी वह संगत एवं विवेकपूर्ण अवश्य है। शुक्ल जी के अनुसार रीतिकाल के अन्तर्गत सं.1700 से सं.1900 तक पूरी दो शताब्दियाँ आ जाती हैं।

सोलहवीं शती विक्रमी के आसपास उत्तरमध्ययुगीन काव्य–प्रवृतियां उद्घाटित होकर साहित्य में स्वीकृत पानें लगीं थीं। उदाहरण के लिए–रसनिरूपक आचार्य कृपाराम–कृत हित तरंगिणी,सं.1598,गोपा–कृत रामभूषण और अलंकार–चन्द्रिका,मोहनमिश्र का नायिकाभेद–विषयक ग्रंथ श्रृंगार सागर सं.1615 करनेसं रचित तीन अलंकार निरूपक ग्रंथ कर्णभरण,श्रुतिभूषण और भूपभूषण, गंग, ब्रह्म (राजावीरवल)तानसेन,कलावंत आदि के श्रृंगारिक मुक्तक;अब्दुलर्रहीम खानखाना –कृत नगर शोभा तथा नायिका भेद संबधी ग्रंथ बरवै नायिका भेद; रीति के प्रथम आचार्य अलंकार वादी केशव की 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' के निर्माण का काल भी सं.1648 और 1658 ही था।

रीति काल में रीति के अतिरिक्त भी वीरकाव्य,भक्तिकाव्य तथा गद्य के क्षेत्र में भी योगदान है। हिंदी गद्य का अविर्भाव रीतिकाल की एक अन्य उपलब्धि है। इस प्रकार रीतिकाल हिंदी साहित्य के बहुबिधि विस्तार का काल है।

1.2 उद्देश्य –

- हिन्दी के अलंकार ग्रंथों की परंपरा के उद्गम और विकास की जानकारी
- रीतिकाल की राजनीतिक,सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थिति का अध्ययन
- रीतिकाल के पूर्ववर्ती लक्षण
- रीतिग्रंथों के आधार
- इसकी अखंड परंपरा का आरम्भ
- संस्कृत रीतिग्रंथों से इनकी भिन्नता
- रीतिकाल की काल सीमा का निर्धारण

- रीतिकाल के नामकरण की पृष्ठिभूमि

1.3 रीतिकालीन परिस्थितियाँ एवं पृष्ठभूमि

भाषा साहित्य के निर्माण में युगीन वातावरण का विशेष योग हुआ करता है। क्योंकि युगीन वातावरण राजनीति समाज, संस्कृति साहित्य और कला के मूल्यों द्वारा निर्मित होता है, अतएव युग विशेष के साहित्य के अध्ययन के लिए तत्कालीन समाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक अवस्था का ज्ञान होना अपने आप में अनिवार्य हो जाता है। रीतिकालीन साहित्य के अध्ययन के प्रसंग में यह अनिवार्यता और अधिक बढ़ जाती है। कारण,इस साहित्य के निर्माण की दो–ढाई सौ वर्ष की दीर्घ अवधि में देश की राजनीतिक,सामाजिक और सांस्कृतिक अवस्था में अनेक उतार–चढाव आये तथा वर्ग विशेष की अभिरूचि द्वारा नियमित होने के कारण साहित्य और कला ने विशिष्ट दिशा प्राप्त की।

(क) राजनीतिक पृष्ठभूमि

राजनीतिक दृष्टि से यह काल (सं. 1700 से 1900 तक)मुगलों के शासन के वैभव के चरमोत्कर्ष और उसके बाद उत्तरोत्तर अपकर्ष और विनाश का युग कहा जा सकता है। शाहजहां के काल में मुगल–वैभव अपनी चरम सीमा पर रहा। जहांगीर ने अपने शासनकाल में राज्य का जो विस्तार किया था,शाहजहां ने उसकी वृद्धि इतनी की कि उत्तर –भारत के अतिरिक्त दक्षिण में अहमदनगर,बीजापुर और गोलकुंडा राज्य तथा उत्तर पश्चिम में सिंध के लहरी बंदरगाह से ले कर आसाम में सिलहट और अफगान प्रदेश के बिस्त के किले से ले कर दक्षिण के औसा तक साम्राज्य का विस्तार हो गया था। इसका अर्थ यहाँ केवल इतना ही लिया जाना उचित होगा कि हमारे देशी राजघरानों ,रियासतों से उसने संधि कर ली थी। वस्तुतः यह एक शोध का विषय है कि संधि और कुछ शर्तो को राज्य का आधीन या गुलाम हो जाना कहना क्या उचित है। वस्तुतः राजा तो राजपूत ही थे। भारत जब स्वतंत्र हुआ (अर्थात परकीयों तथा अपनों दोनों से युद्ध विराम हुआ)तब रियासतों का बिलीनीकरण हुआ। अर्थात भारत कभी न तो मुगलों के एक छत्र अधीन रहा और न अंग्रेजों के। इसके इतिहास में हजारों प्रमाण हैं । राजपूतों ने भी विश्वासपात्र एवं स्वामी भक्त सेवक हो कर दिल्ली शासन की संधि स्वीकार कर ली थी। देश में सामन्य रूप से शांति थी। राजकोष भरापूरा था। ताजमहल और मयूर–सिंहासन का भी निर्माण हो चुका था। किंतु ,इसके पश्चात शाहजहां के रुग्ण होने और उसकी मृत्यु की अफवाह फैलने के कारण 1658 ई. में उसके पुत्रों में सत्ता के लिए संघर्ष आरंभ होते ही यह वैभवशाली साम्राज्य पतन की ओर अग्रसर हो गया। मुंगलों में उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम नहीं था दूसरा उसका ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह अपनी धार्मिक सहिष्णुता एवं उदारता के लिए जितना लोकप्रिय था,उससे छोटा औरंगजेब नही था। किंतु दारा कूटनीतिज्ञ नही था। जबकि औरंगजेब का व्यक्तित्व दृढ़ और कठोर था। वह कट्टर सुन्नी था। अतः दोनों में ही युद्ध हुआ और वह युद्ध मानों संस्कृति

एवं राजनीति का युद्ध था। यही कारण था कि औरंगजेब ने ज्यों ही शासन की बागडोर संभाली,त्यों ही जागीदारों,राजाओं और हिंदुओं के धार्मिक उपद्रव आरंभ हो गये। सबसे विकट उपद्रव आगरा,अवध और इलाहाबाद के सूबों में हुए। आगरा प्रान्त में गोकुल के नेतृत्व में जाटों ने ,अवध में बैस राजपूतों ने,और इलाहाबाद में हरदी तथा अन्य जमींदारों ने शासन की अन्यायपूर्ण नीति के विरुद्ध विद्रोह किया। औरंगजेब ने यथासमय सभी को शांत करने का प्रयत्न करता रहा किंतु प्रतिशोध के लिए मथुरा में केशवदास का मंदिर ओर काशी में विश्वनाथ का मंदिर विध्वंस करा दिया। उधर बुंदेलखंड के चम्पतराय और उनके पुत्र महाराज छत्रसाल आजीवन मुगलों का विरोध करते रहे। कविवर लाल ने अपने ग्रंथ छत्र--प्रकाश में उनकी वीरता और बलिदान का ओजस्वी वर्णन किया है--

मरि तुरक कौ मुँह मुरकायौ । रन में विजै बुँदेला पायौ।
मुरकै तुरक खग्ग फिर खोल्यौ। बल दिवान पर हल्ला बोल्यो।।
बजै नगारे फेर जुझाऊ। रन में रुप्यौ उमड़ि बलदाऊ।।
पहर रात भर मार मचाई। मुरक्यों तुरक उहाँ खम खाई।।
ओड़ि अरिन के ढाल ढकेला।भलौ लर्‌यौ बल करन बुंदेला।।
खभरि खेत तहबर बिचलायौ। सूबन कें उर साल सलायौ।।
सलै साल सूबानि कै,धक्कनि हलै पठान। दियौ भल छत्रसाल कैं,राजलितक भगवान।।

इधर मारवाड़ के उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर अशांति हुई राजा जसवंत सिंह की मृत्यु के उपरांत ओरंगजेब ने जयपुर पर अधिकार कर लिय;जिसके कारण मारवाड़ और मेवाड़ मुगलों के विरुद्ध हो गए-- उधर उन्होंने शहजादा अकबर को भी अपनी ओर तोड़कर औरंगजेब को विषम परिस्थिति में डाल दिया। अंत में हार तो राजपूतों की ही हुई फिर भी दुर्गादास अंत तक मुगलों का सामना करता रहा। इधर हिंदू धर्म के विभिन्न संप्रदायों में आत्मरक्षा हेतु जागृति आयी। नारनौल और मेवाड़ के प्रांतों में सतनामी मत के लोगों ने भयंकर धार्मिक विश्वास का परिचय दिया। उनके अद्‌भुत साहस को देखकर तो मुगल सैनिक अप्राकृतिक शक्तियों का संदेह करने लगे और स्वयं औरंगजेब को--जो मुसलमानों का 'जिन्दा पीर' समझा जाता था--अपने हाथों से दुआएँ और आयतें लिख--लिख कर शाही झंडो में टाँकनी पड़ी। पंजाब में गुरुतेगबहादुर की हत्या और गुरु गोविंदसिंह के बच्चों पर किए गए पाशविक अत्याचार ने उनको तिलमिला दिया था और सिख धर्म के नीचे एक सैनिक दल का निर्माण हुआ। दक्षिण में शिवाजी के नेतृत्व में अनेक युद्ध हुए और हिंदवी स्वराज्य की स्थापना हुई। समर्थ रामदास के प्रभाव ने दक्षिण में राष्ट्रीय पुनर्जागरण का काम किया।

परिणाम यह हुआ कि उसके शासनकाल का अधिकांश इन उपद्रवों के दमन में ही व्यतीत हुआ। वह शासन को सशक्त एवं इतने विस्तृत साम्राज्य को सुगठित न कर सका। दूसरे, क्योंकि वह अहंवादी था तथा उसके हुक्म का उल्लंघन अपराध होता था,इसलिए उसके पुत्रों में किसी के भीतर प्रतिभा और व्यक्तित्व का ऐसा विकास न हो सका कि वह पुनः हिंदुओं में विश्वास उत्पन्न कर साम्राज्य को एक सूत्र में बांधता।

औरंगजेब के पश्चात 1707 ई. में उसके पुत्रों के बीच भी संघर्ष हुआ और उसका द्वितीय पुत्र मुअज्जम (शाहआलम प्रथम) गद्दी पर बैठा। वह यद्यपि कुछ उदार था ,पर अधिक समय जीवित न रह सका। उसके बाद 1712 ई. से इस साम्राज्य का पतन आरंभ होता है।लगभग 50 वर्ष तक शासन एक प्रकार से स्थिर न हो सका। राजगद्दी पर अल्पकाल के लिए ही लोग आते रहे। जो कुछ अधिक समय के लिए आये,वे विलास में निमगन रहने के कारण राज्य की देखभाल न कर सके। परिणामतः अव्यवस्था और अशांति इतनी बढ़ती गयी कि छोटे–छोटे जागीरदार भी अपने आपको स्वतंत्र घोषित कर बैठे और धीरे–धीरे केंद्र की पकड़ इतनी ढ़ीली हो गयी कि साम्राज्य अब दिल्ली और आगरा के क्षेत्र तक ही सीमित रह गया। इसी बीच 1738ई. में नादिरशाह का आक्रमण हुआ। उसने इस शासन की नींव प्रायः हिला डाली। जो कुछ शेष रह गया था, उसकी कमी अहमदशाह अब्दाली के 1761ई. के आक्रमण ने पूरा कर दिया। इधर विदेशी व्यापारियों ,विशेषतः अंग्रेजों ने इस स्थिति का पूरा लाभ उठाया और वे भीतर–ही–भीतर शक्ति का संचय करते हुए इस अवस्था तक पहुंच गये कि 1803 ई. तक लगभग समस्त उत्तरी भारत पर उनका आधिपत्य हो गया और मुगल सम्राट नाममात्र के लिए शासक रह गये तथा वास्तविक सत्ता अंग्रेजों के हाथों में चली गयी।

1857 ई. की देशव्यापी राज्यक्राति ने एक बार पुनः विलासी मुगलों को प्रतिष्ठित करना चाहा,किंतु सब प्रयत्न असफल रहे। इस प्रकार दो–ढाई सौ वर्ष के विलास–वैभवपूर्ण संधि–साम्राज्य का कारुणिक अंत हुआ।

इसी तरह प्रदेशों में रीतिकालीन काव्य प्रभावित क्षेत्र अवध,राजस्थान, और बुंदेलखंड की कथा यही रही। अवध के विलासी नवाबों का अंत मुगल साम्राज्य के समान ही हुआ। राजस्थान में बहुपत्नी प्रथा इतनी बढ़ गयी थी कि औरंगजेब के बाद राजपुरुष कुचक्रों,षड्यंत्रों और आंतरिक कलह के शिकार हो कर इतने निर्वीय होते गये कि पतनोन्मुख अव्यवस्थित मुगलों से अपने पूराने गौरव और राज्य को भी प्राप्त न कर सके। हां,बुंदेलों ने अवश्य ही मराठों के साथ लाभ उठाने का प्रयत्न किया परंतु वे भी राजपूती अंहकार और आपसी विद्वेष के कारण सफल नहीं हो सके। इस प्रकार हिंदू शासक भी नही खड़े हो पाये। संक्षेप में निष्कर्ष रहा कि–

1. समस्त देश युद्ध और विप्लवों से आक्रांत रहा। देश में कोई भी केन्दीय शासन नही

था।

2. औरंगजेब असफल शासक रहा।अकबर और उसके सचिव भगवानदास,टोडरमल आदि की राजनीतिक योग्यता की इस युग में कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

3. इस समय देश में भयानक बाह्य आक्रमण हुए–नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के हमलों ने गिरती दीवार को धक्का देने का काम किया। शासन–विधान स्वेछाचारी राजतंत्र था।

4. शाहजहाँ की धार्मिक असहिष्णुता औरंगजेब ने पूरी कर दी। हिंदू मुसलमान दोनों आमने सामने थे। किंतु दुर्भाग्य हिंदू आपस में असंगठित थे तो मुसलमान विलास–जर्जर।

(ख) सामाजिक स्थिति

सामाजिक दृष्टि से भी इस काल को आदि से अंत तक घोर अधःपतन का युग ही कहा जाना चाहिए। इस काल में सामंतवाद का बोलबाला था और सामंतशाही के जितने भी दोष हुआ करते हैं,उनका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव जनसामान्य के जीवन पर पड़ रहा था। सामाजिक वयवस्था का केंद्र बिंदु बादशाह था और उसके अधीन थे मनसबदार अथवा अमीर–उमराव। इनके बाद ओहदों के अनुसार दूसरे कर्मचारी आते थे और सबका कर्तव्य–कर्म अपने से ऊपर वालों को पसन्न करना था,नीचे वालों को ये मात्र संपति समझते थे,उनका अस्तित्व केवल अपने लिए मानते थे।ऊपर से नीचे तक यह शासकों का वर्ग था। शासित वर्ग में एक ओर श्रमजीवी और कृषक आते थे दूसरी ओर सेठ–साहूकारादि दूकानदार और व्यापारी । शासक वर्ग की आय दोनों ,अर्थात कृषकों और श्रमजीवी तथा साहूकारों से होती थी।

इसके साथ ही सेनाओं के प्रयाणों ,युद्धों,अतिवृष्टि,अनावृष्टि आदि के कारण इस वर्ग की एक मात्र आय कृषि भी प्रभावित होती थी। श्रमजीवी वर्ग वेगार प्रथा से परेशान था। अमीर अमीर होता जा रहा था और गरीब और भी गरीब।

जनसामन्य के दवा,चिकित्सा,शिक्षा और जनमाल की सुरक्षा का कोई प्रबंध नही था। जनता भाग्यवादी बन बैठी थी, और निराश भी। काम के बदले उत्कोच सामान्य बात थी। अधिकारी वर्ग की विलासिता का यही साधन था। समाज में नारी की स्थिति दयनीय थी। वह भोग की वस्तु थी। सुरा–सुंदरी का ऐसा प्रचलन था जो सामान्य जन को भी अछूता नही छोड़ रहा था। गरीब माता–पिता को अपनी बेटियों के विवाह की चिंता सताती थी और असुरक्षा का भाव कुछ इस कदर था कि बेटिया अल्पवयस्क अवस्था में ही विवाह दी जाती थीं। महलों और राजघरानों में अनेक पत्नियों ,दासियों के साथ ही वेश्यावृति बढ़ती ही जा रही थी। शाहजादों एवं राजकुमारों का शिकार खेलना ,लड़कियों से छेड़छाड़ रोज का शौक था। यही कुछ हाल राजकुमारियों और और शाहजादियों का था जिनके संबंध महलों में और हरमों में काम करने वाले कर्मचारियों से हो जाते थे।

डॉ ईश्वरीप्रसाद ने लिखा है,भारतीय इतिहास यहाँ के सम्राटों के जीवन और उनकी विजय–पराजय का इतिहास है,विदेशी यात्रियों के अतिरिक्त किसी भी देशी इतिहासकार ने भारतीय जनता के सामाजिक जीवन का विवरण नहीं दिया–"शाहजहाँ के समय में हिन्दुस्तान का समाज सामन्तीय आधार पर स्थित था। सम्राट इस सामाजिक व्यवस्था का केन्द्र था,उसके अधीन मनसबदार या अमीर थे जो ऊँचे–ऊँचे ओहदो पर थे। इनके बाद साधारण कर्मचारियों का वर्ग था, जो राज्य के छोटे–छोटे विभागों में काम करते थे। उस समय का मध्यवर्ग अधिकतर इन्हीं लोगों से निर्मित था। इनके अतिरिक्त, व्यापारी ,साहूकार,दुकानदार आदि भी थे, परंतु ये लोग आर्थिक दृष्टि से मध्यवर्ग की स्थिति में होते हुए भी शिक्षा,संस्कृति से हीन थे निम्न वर्ग में नौकरी–पेशालोगों और मजदूरों के अतिरिक्त भारत का बहत कृषक–समुदाय भी था, जो सोना पैदा करके मिट्टी पर गुजर कर रहा था।
"

समाज में नैतिक अवस्था कारुणिक थी। राजा सामंत सभी विलाशी थें । नैतिक बल के ह्रास से लोग पूर्णतः भाग्यवादी हो गये थे। सभी वर्ग के लोगों की ज्योतिष में प्रगाढ़ आस्था थी–सम्राट् और अमीरों के साथ –साथ ज्योतिषयों का एकसमुदाय चलता था। हिंदू राजाओं का अंध विश्वास या अंध आस्था का यह हाल था कि उनके यहाँ बिना शकुन के पत्ता भी नहीं हिलता था। इस घोर भाग्यवाद का स्वाभाविक परिणाम था नैराश्य। नैराश्य का प्रभाव रहा कि बाह्य परिस्थितियों से निराश राजा ,नवाव अंतःपुर में रमणियों की गोद में त्राण पाते थे।

(ग) सांस्कृतिक स्थितिः

सांस्कृतिक अवस्था सामाजिक स्थिति से ही प्रभावित थी। वस्तुतः जब राजा ही अनाचारी हो जाय ,साहित्य सेवी चाटुकार बन जाय ,समाज के रक्षक जनता के माल और आवरू के भक्षक बन जाय तो निश्चित रूप से सांस्कृतिक विकास अवरुद्ध होता है। पिछले सात आठ सौ वर्षों से दो जीवन संस्कृतियाँ आपस में टकरा रहीं थी, वहीं तीसरी छल–छद्म से भरी ताकतवर व्यापारी बुद्धि की धनी शक्ति इन दोनों को रौंद रही थी। अकबर, जहांगीर और शाहजहां की उदारवादी नीति तथा संतों और सूफियों के उपदेशों के परिणामस्वरूप हिंदू और इस्लाम संस्कृतियों के निकट आने का जो उपक्रम हुआ था , वह औरंगजेव की कट्टरता के कारण एक प्रकार से समाप्त हो चला था। किंतु विलास–वैभव के खुले प्रदर्शन के कारण अपनी अपनी धार्मिक आस्थाओं का दृढ़तापूर्वक पालन भी इनके लिए एक प्रकार से कठिन हो गया था। हिंदी–भाषी क्षेत्रों में जिन वैष्णव संप्रदायों का प्रभाव था। उनके पीठाधीश लोभवश राजाओं और श्रीमानों को गुरुदक्षिणा लेने लगे थे,फलतः उनका संबंध तत्वचिंतन से छूट कर भौतिकता के साथ हो गया था। मंदिरों में भी अब ऐश्वर्य और विलास की लीला होने लगी थी। यह स्थिति यहाँ तक पहुंच गयी कि हिंदू अपने आरध्य रामकृष्ण

का अतिशय श्रृंगार ही नहीं करने लगे थे, उनकी लीलाओं में अपने विलासी जीवन की संगति खोजने लगे थे। अहिंदी प्रांतों में ऐसे संतो का प्रभाव था,जो इस धारा से अब भी दूर थे,किंतु इनका प्रभाव हिंदी प्रांतो तक न आ सका। दूसरी ओर ,इस्लाम धर्म पर इस विलास–वैभव का सीधा प्रभाव तो नहीं था, पर रूढ़िवादिता के अत्यधिक बढ़ जाने के कारण यह जीवन की वास्तविकता से हट गया था। कुरान को हिफज करने अथवा नमाज रोजा आदि के यथाविध पालन को ही धर्म समझने के कारण वह आध्यात्मिक प्रभाव नहीं पड़ रहा था। जिससे व्यक्ति के संस्कारों में उदारता आती है। इस प्रकार हिंदू और मुसलमान दोनों ही धर्म के मूलभूत सिद्धांतों से दूर पड़ गये थे–केवल बाह्याचरण ही धर्मपालन रह गया था। ऐसी दशा में धर्म के साथ नैतिकता का जो संबंध जुड़ा हुआ,उससे सम्पन्न वर्ग एकदम दूर हो गया था,और वह खुले रूप में विलासिता में डूब गया था। इधर विलास और संसाधनों से हीन समाज अंधविश्वास में डूब रहा था। मुसलमान और हिंदू दोनों मंदिर और पीर–दरगाहों के पास जा कर अपने मनोरथ की कामना कर रहे थे। जनता के इस अंधविश्वास का लाभ पुजारी और मुल्ला उठा रहे थे। और ये धर्म और आराधना की जगह भ्रष्टाचार और अनाचार के अड्डे बन गये थे।

साहित्य के क्षेत्र में भी भक्तिकाल की प्रारम्भिक अवस्था में ही किस प्रकार मुसलमानों के संसर्ग से कुछ फारसी के शब्द और चलन भाव मिलने लगे थे । इसका परिचय हो चुका है। नामदेव और कबीर आदि की तो बात ही क्या,तुलसीदास ने भी गनी,गारीब,साहब इताति ,उमरदराज आदि बहुत से शब्दों का प्रयोग किया। सूर में ऐसे शब्द अवश्य कम मिलते है। फिर भी मुसलमानी राज्य की दृढ़ता के साथ–साथ इस प्रकार के शब्दों का व्यवहार ज्यों–ज्यों बढ़ता गया त्यों–त्यों कवि लोग उन्हें अधिकाधिक स्थान देने लगे। राजा–महाराजाओं के दरबार में विदेशी शिष्टता और सभ्यता के वयवहार का अनुकरण हुआ और फारसी के लच्छेदार शब्द वहाँ सुनाई देने लगे। अतः भाट या कवि लोग :आयुष्मान और जयजयकार तक ही अपने को कैसे रख सकते थे ? वे भी दरबार में खड़े होकर 'उमरदराज महाराज तेरी चाहिए'पुकारने लगे। 'बखतबलंद' आदि शब्द उनकी जबान पर भी नाचने लगे। यह तो हुइ व्यावहारिक भाषा की बात फारसी काव्य के शब्दों को भी थोड़ा–बहुत कवियों ने अपनाना आरंभ किया। रीतिकाल में ऐसे शब्दों की संख्या कुछ और बढ़ी पर यह देखकर हर्ष होता है कि अपनी भाषा की सरसता का ध्यान रखने वाले उत्कृष्ट कवियों ने ऐसे शब्दों को बहुत बड़े बेढ़ंगे तौर पर ऐसे विदेशी शब्द रखे हैं। कहीं–कहीं 'खुसबोयन' आदि उनके विकृत शब्दों को देखकर शिक्षितों को एक प्रकार की विरक्ति–सी होती है और उनकी कविता गँवारों की रचना–सी लगती है। शब्दों के साथ–साथ कुछ थोड़े से कवियों ने इश्क की शायरी की पूरी अलंकार समग्री तक उठाकर रख ली हे और उनके भाव भी बँध गये हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी कहते हैं कि यह उल्लेखनीय है कि रीतिकाल के कवियों के प्रिय छंद कवित्त और सवैये ही रहे। कवित्त तो श्रृंगार और वीर

दोनों रसों के लिए समान रूप से उपयुक्त पाया जाता है। सवैया ,श्रृंगार और करुण इन दो कोमल रसों केलिए बहुत उपयुक्त होता है,यद्यपि इन्हीं दो रसों की कविता इस काल मेंहुई प्रधानता श्रृंगार की ही रहीं। इससे इस काल को रस की सीमा तक पहुँचा दिया था। इसका कारण जनता की रुचि थी जिनके लिए कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।

इस प्रकार हम देखते है कि उस काल का सांस्कृतिक वातावरण पूरी तरह काव्य को प्रभावित करता है।

(घ) साहित्य और कलाओं की स्थिति

साहित्य और कला की दृष्टि से यह युग पर्याप्त समृद्ध का माना जा सकता है। इस काल के कवि और कलाकार यद्यपि साधारण वर्ग के व्यक्ति हुआ करते थे,तथापि अपने आश्रयदाता मुगल सम्राटों अथवा देशी राजा व नवाबों से उन्हें इतना सम्मान मिलता था कि समाज के प्रतिष्ठित लोगों में उनकी गणना होती थी । क्योंकि उचित सम्मान कवि अथवा कलाकार के सृजन व्यापार को प्रोत्साहित करने में सबसे अधिक सहायक हुआ करता है, अतएव यह स्वाभाविक ही था । इन लोगों ने अपनी अपनी कला का गुणऔर परिमाण दोनों ही दृष्टि से अधिकाधिक विकास किया। किंतु दुर्भाग्य की बात यह रही कि इन्हें वह स्वतंत्रता प्राप्त न हो सकी, जो सर्जन के लिए अनिवार्य है। इन्हें सामान्य रूप से आश्रयदाताओं की अभिरुचि का विशेष ध्यान रखना पड़ता था, जिसका परिणाम यह होता था कि प्रतिभावान होते हुए भी ये लोग अपने सर्जन का उत्तमोतम रूप प्रस्तुकरने में असमर्थ रहते थे। यह सब होते हुए भी इस युग के साहित्य और कला का अपना महत्व है और दोनों की ऐसी विशेषताएँ हैं ,जो सहज ही दूसरं युगों की तत्संबंधी रचनाओं से पृथक देखी जा सकती हैं।

फारसी के राजकीय भाषा होने के कारण उसकी अलंकार प्रधान शैली का प्रभाव सामान्यतः इस युग की प्रत्येक भाषा पर पड़ा । ब्रजभाषा जनजीवन के निकट होते हुए भी इस प्रभाव से न बच सकी। परिणामतः इस युग के अधिकांश राजाश्रित कवि अपने आश्रयदाताओं की प्रशस्तियाँ अतिरंजित शैली में लिखते रहे। विलासी आश्रय दाताओं की वासना को गुदगुदाने के लिए लिखी हुई श्रृंगारिक रचनाओं पर भी इस शैली का ऐसा ही प्रभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है । परंतु संयोग कुछ ऐसा रहा कि ये कवि चमत्कार के उपकारणों के लिए फारसी की ओर उन्मुख न हो कर संस्कृत की ओर उन्मुख हुए । संभवतः इसलिए कि भारतीय भाषा होने के कारण संस्कृत–काव्य शास्त्र में बताये गये सौन्दर्य के उपकरण इनके अधिक अनुकूल पड़ते थें। इतना ही नहीं ,इन लोगों ने इन उपकारणों का निरूपण भी इतने मनोयेाग से किया कि आज इस पद्धत अथवा रीति के कारण ही इस युग को 'रीतिकाल' संज्ञा दिया जाना अधिक उपयुक्त समझा जाता है। इस प्रकार के ग्रंथों की रचना के मूल में इन कवियों के संभवतः दो उद्देश्य थें :

1— अपने सामर्थ्य का प्रदर्शन 2— उस युग के काव्य–रसिक समुदाय को इनका अनिवार्यतः ज्ञान कराना, जिससे कि वे काव्य–गोष्ठियों में शास्त्रीय सोंदर्य के उपकरणों पर दाद दे सकें। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस परंपरा के सहित्य की रचना शाहजहां के राजत्वकाल से लेकर आगामी दो–ढाई सौ वर्ष तक अविकल रूप से होती रहीं। औरंगजेब के रूक्ष स्वभाव के कारण यद्यपि मुगल दरबार से कवियों का संबंध कट गया था किंतु इसका प्रभाव इसलिए विशेष रूप से न पड़ सका,क्योंकि राजा और नवाब उन्हें आश्रय देते भी रहे। इधर जन समुदाय में ऐसे कवि भी विद्यमान थें,जो स्वतंत्र रूप से काव्य की रचना कर रहे थे। चूंकि वे राजकीय वातावरण से सर्वथा मुक्त ओर सर्जन–व्यापार में स्वतंत्र थे,अतएव उनकी रचनाएँ काव्यशास्त्रीय उपकरणों के इस समावेश से सर्वथा अछूती रहीं। यही कारण है कि इनका काव्य उक्त कवियों के रचति काव्य की तुलना में अधिक प्रभावी है। कुल मिलाकर इस युग में राजाश्रित कवियों और जनकवियों द्वारा रचित साहित्य गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से इतना विशद है कि हिन्दी भाषा उस पर सहज ही गर्व कर सकती हैं।

जहाँ तक ललित कलाओं का संबंध है उनमें चित्रकला काव्य के समान ही इस युग में प्रचलित और समृद्ध हुई जहांगीर का राजत्वकाल गुण और परिमाण के कारण यद्यपि इस कला का स्वर्णयुग कहा जाता है,तथापि उसके बाद भी इसकी समृद्धि में कमी न आयी। यहाँ तक कि ओरंगजेब जैसे रूक्ष व्यक्ति ने भी अपने अनेक चित्र अंकित करायें। परंतु दुर्भाग्य की बात यह रही कि सम्राटों की अभिरुचि का अत्यधिक प्रभाव होने के कारण इसकी स्वभाविकता और सजीवता में कमी आने से नूतनता की दृष्टि से इसमें एक प्रकार का ह्रास आता चला गया। श्शहजहां की अलंकार प्रियता का परिणाम यह हुआ कि उसके विभिन्न राजकीय क्रियां कलापों,विशेषतः राजकीय ठाटबाट के चित्रों में चमक–दमक का अधिक स्थान मिलने लगा,रंगों में सुनहरे पानी को इतना महत्व दिया जाने लगा कि उनमें चित्रित व्यक्ति भी मूर्तिवत् जड़ प्रतीत होने लगे ओर उनमें सजीवता और गति के स्थान पर जड़ता आ गायी । व्यक्ति–चित्रों का भी उत्तरोतर अभाव होता चला गया। ओरंगजेब के बाद भी परवर्ती मुगल शासकों के प्रश्रय में अलखित चित्र इसी शैली का अनुकरण मात्र रहे । यदि कोई वैशिष्ट्य आया तो यहाँ तक कि उनमें विलास और वैभव कुछ अधिक अंकित हुआ। हिदू रजवाड़ों विशेषतः राजस्थान और पर्वतीय क्षेत्रों में चित्रकाला इससे भिन्न रूप से विकसित हुई यह लोक जीवन के अधिक निकट थी तथा आश्रय दाताओं की अभिरुचि से प्रभावित होती हुई भी स्थानीय प्रभावों से असंपृक्त न थी। इन दोनों क्षेत्रों की चित्र–शैलियाँ क्रमशः राजस्थानी और कांगड़ा–शैलियों के नाम से प्रसिद्ध हैं राजस्थानी शैली के चित्रों का मुख्य विषय रागमाला था। इनमें ऋतुओं का आश्रय ले कर शब्द को रेखाओं और रंगों में बद्व किया गया है । इसके अतिरिक्त इस शैली के चित्रों का विषय कृष्णलीला,नायिका भेद और बारहमासा भी रहा है। इस युग के अनेक कवियों की रचनाओं में भी इसी प्रकार के चित्र

व्यंजित हुए हैं। कांगड़ा–शैली के चित्रों का विषय महाभारत, श्रीमद्भागवत,दुर्गासप्तशती ,पुराण इतिहास ,लोकगाथाओं आदि के अतिरिक्त दैनिक जीवन से संबद्ध बातें रही हैं। इन चित्रों में भावत्मकता अधिक है तथा सामन्य रूप से इनका झुकाव रहस्यात्मकता की ओर है। संक्षेप में इस युग की चित्रकला राजसी ठाटबाट तथा जनजीवन ,दोनों को सम्यक् रूप से ले कर चली है इस युग के कवियों द्वारा रचित राजप्रशस्तियाँ तथा श्रृंगारिक रचनाएँ क्रमशः इन दोनों प्रवृतियों के चित्रों के समानांतर कही जा सकती हैं।

काव्य और चित्रकला के अतिरिक्त इस युग में स्थापत्य–कला और संगीत कला का विशिष्ट स्थान रहा है। पर क्योंकि ये दानों क्रमशः व्यय और अभ्यास साध्य थीं,इस कारण जनजीवन से दूर हट गयीं। और केवल राजाश्रयों तक सीमित रहीं।अकबर के राजत्वकाल में इन दोनों कलाओं को लगभग बराबर का स्थान प्राप्त था,वि[illegible] शाहजहां के समय तक संगीत का प्रभाव कुछ कम होता गया। शाहजहां को यद्यपि संगीत का अच्छा ज्ञान था,तथापि उसकी रूचि स्थापत्य कला में अधिक रही। इसलिए यह कला अपने चरम ऐश्वर्य पर पहुँची। श्शाहजहां ने जितनी इमारतें बनवायी,उन सबमें सूक्ष्म सौंदर्य के समावेश की ओर अधिक ध्यान दिया गया;और यही कारण है कि इनमें मूर्ति और चित्रकला का सामंजस्य करने का प्रयत्न दृष्टिगत होता है। आगरा का ताज और दिल्ली का दीवाने–ख़ास इसके सबल उदाहरण है। औरंगजेव और उसके काफी बाद तक दोनों कलाओं की स्थिति काफी सोचनीय रही।

मुगल दरबार तथा अवध के नवाबों के अतिरिक्त इस काल में हिंदू राजाओं के आश्रय में भी इन दोनों कलाओं को प्रश्रय मिला;किंतु गुण और परिणाम दोनों की दृष्टि से इनकी विशेष उन्नति नहीं हुई। जयपुर में सवाई जयसिंह के राजमहल,दीग में सूरजमल के महल तथा संग्रामसिंह ,छत्रसाल आदि की छतरियों को मुख्य रूप से इस काल के हिन्दू राजाओं का स्थापत्य कला में योगदान कहा जा सकता है। संगीत के क्षेत्र में राजस्थान और ग्वालियर का योगदान रहा।

इस काल में कवियों और कलाकारों को राजाश्रयों में यथोचित सम्मान प्राप्त होने के कारण साहित्य और कला की स्थिति कुल मिला कर अच्छी ही रही। डॉ नगेन्द्र का मत है कि अलंकरण और विलास की अभिव्यक्ति की ओर अधिक उन्मुख रहने की प्रवृति के कारण ये चारों स्पष्ट रूप से एक–दूसरे के समानांतर दृष्टिगत होती हैं।

1.4 रीतिकाल की सीमा और उपलब्ध सामग्री

(1) रीतिकाल की सीमा

रीतिकाल की सीमा निर्धारण में वैसे तो कोई कठिनाई नही दिखती किंतु जिस युग में रीति–निरूपण अथवर रीति–प्रभावित ग्रंथों के निर्माण का प्राचुर्य रहा,उसको 'रीतिकाल' संज्ञा देते हुए उसका समय भी संवत् 1700(1643ई.)से 1900(1843 ई.) तक निश्चित किया

है। इस काल में आपत्ति आती है कि कुछ कवि इस काल से दस से बीस साल आगे पीछे को आते हैं। इनमें चितामणि, मतिराम और ग्वाल की कुछ रचनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त कतिपय कवि ऐसे भी हैं जिनका जन्म भक्तिकाल में हुआ और उनकी रचनाएँ रीतिकाल में लिखी गयीं। अतएव डॉ नगेन्द्र के मत से सहमत होते हुए कहा जा सकता है कि–रीतिकाल की सीमाएँ हमें सामान्य रूप से सत्रहवीं शती के मध्य से उन्नीसवीं शती के मध्य तक मान लेना चाहिए। वे कहते है भाषा साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन में कवियों की प्रवृति का विवेचन करने के लिए जिस प्रकार वर्ण्य विषय के अनुसार रचनाओं का वर्ग–विभाजन तथा उस प्रवृति के द्योतक प्रत्येक विभाग का नामकरण अनिवार्य होता है,उसी प्रकार उस प्रवृति के प्रेरक तत्वो का विश्लेषण करने तथा तत्संबंधी रचनाओं के परिमाण को आंकने के निमित्त उसके प्रसार–काल की सीमाएँ निर्धारित कर लेना भी आवश्यक हुआ करता है। किंतु यह सीमा–निर्धारण ऐतिहासिक घटनाओं के समान निश्चित नहीं हो सकती और न तो किसी साहित्यिक प्रवृति के आरंभ की ही निश्चित तिथि बतायी जा सकती है तथा न समाप्ति की ही। उसकी प्रस्तावना और अविच्छिन्न विकास–परंपरा के तथा चरम सीमा और उपसंहृति के बीच कम–से–कम 25–30 वर्षो का आंतर तो रहता ही है। ऐसी दशा में संगत यही होना चाहिए कि प्रवृति विशेष की अविच्छिन्न विकास–परंपरा के आरंभ तथा चरम सीमा की समाप्ति संबंधी तिथियों को निर्धारित करते समय उदारता से काम लिया जाये। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'हिदी साहित्य का इतिहास' लिखते समय उसे प्रवृतियों के अनुसार चार भागों में विभाजित किया है तथा परवर्ती विद्वानों ने उनके इस विभाजन की काल–सीमाओं को प्रायः अविकाल रूप में ग्रहण भी कर लिया है,किंतु उनका सबसे बड़ा दोश यही है कि वे इस संबंध में उदार नहीं हो पाये तथा निश्चित संवत् से प्रवृति विशेष का आरंभ और निश्चितसंवत् पर उसका अंतःनिर्धारित कर बैठे हैं,पर इन निश्चत संवतों को स्वीकार करने में सबसे बड़ी आपति यह होती है कि उन रीति कवियों के कतिपय ग्रंथ इनसे आगे–पीछे रचे जाने के कारण रीतिकाल की परिधि में नहीं आ पाते,जिन्हे वे स्वयं ही इस युग में परिगणित कर चुके हैं। उदाहरण के लिए ,चिंतामणि–कृत 'रसविलास'तथा मतिराम–कृत 'रसराज'1643ई से लगभग 10 वर्ष पूर्व की तथा ग्वाल कवि की 'रसरंग' आदि रचनाएँ 1843 ई. से लगभग 10–15 वर्ष बाद की ही ठहरती हैं। इनके अतिरिक्त कतिपय कवि ऐसे भी है। जिनका जन्म भक्तिकाल में हुआ और रचनाएँ 10–20 वर्ष बाद तक करते रहे। अतएव,रीतिकाल की सीमाएँ हमें सामान्य रूप से सत्रहवीं शती के मध्य से उन्नीसवीं शती के मध्य तक मान लेनी चाहिए। इस काल के आदि और अंत के दोनों ओर लगभग 20–20 वर्ष का समय जोड़ छोडा गया है,उसे स्वीकार करने में आपत्ति नही होनी चाहिये,कारण,इससे कालविषयक सीमा–बंधन के परिणामस्वरूप एक ही परंपरा के कतिपय ग्रंथों को इस प्रकार की रचनाओं के वर्ग से निरिसित न किया जा सकेगा।

(2) उपलब्ध सामग्री

रीतिकाल की सामग्री पर विचार करे तो ध्यान में आता है कि प्राचीन वाड्मय के समान मध्यकालीन हिंदी साहित्य का भी यह दुर्भाग्य रह है कि प्रकाशन और उचित देखरेख के आभाव में इसके अनेक ग्रंथ जो साहित्य के लिये रत्न सिद्ध हो सकते थे लुप्त हो गये और आज भी,वैज्ञानिक साधनों के उपलब्ध होते हुए भी,यह कोई गारंटी नहीं कि भविष्य में से इस अभिशाप से बच सकेंगे। रीतिकालीन ग्रंथ इस प्रकार के ग्रंथों में यद्यपि अपेक्षाकृत अधिक अर्वाचीन हैं,तथापि इनमें से अधिकांश नष्ट हो गये ? यह निश्चित है । इस दो--ढाई सौं वर्ष की दीर्घ कालावधि में कितने ग्रंथ लिखे गये,प्रामाणिक आंकड़ों के अभाव में यह बताना तो असंभव है ही ,इनमें से आज कितने और कहाँ उपलब्ध हैं,यह कहना भी अपने आप में कठिन है। डॉ नगेन्द्र ने अपने इतिहास ग्रंथ में उल्लेख किया है कि रीतिकालीन साहित्य आज जिन स्रोतों से उपलब्ध हैं,उन्हें तीन वर्गो में रखा जा सकता है । इनमें पहला इस देश के विभिन्न पुस्तकालय हैं,जहाँ हस्तलिखित ग्रंथ सुरक्षित हैं। इन पुस्तकालयों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं--काशी की नागरी प्रचारिणी सभा का आर्यभाषा पुस्तकालय, रामनगर (वाराणसी) स्थित काशी नरेश का पुस्तकालय, पटियाला--स्थित नेशनल आर्काइव्स का पुस्तकालय, बडौदा--स्थित गायकवाड़ ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट,सयाजीराव विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग का पुस्तक संग्रह एवं राजस्थान में जयपुर,जोधपुर,बीकानेर और उदयपुर के तथा मध्यप्रेदश में दतिया,टीकमगढ़ ,बीजापुर,छतरपुर और रीवा के महाराजाओं के व्यक्तिगत पुस्तकालय। दूसरा वर्ग कतिपय उन लोगों का है,जिन्होंने अपने पास अनेक हस्तलिखित एवं प्रकाशित ग्रंथ एकत्र कर रखे हुए हैं। इनमें स्व. ठाकुर शिवसिंह सेगर --उन्नाव, श्री गोविंद चतुर्वेदी --मथुरा, श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी -- मथुरा, कैप्टेन शूरवीरसिंह अलीगढ़, स्व. भवानी शंकर याज्ञिक आदि के वैयक्तिक संग्रहों का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। तीसरा वर्ग पुरानी और नयी प्रकाशन--संस्थाओं का है। प्राचीन प्रकाशन,श्री वेंकटेश्वर प्रेस--बंबई ,भारतजीवन प्रेस--काशी; नवलकिशोर प्रेस--लखनऊ,इंडियन प्रेस इलाहाबाद ,नागरी प्रचारिणी सभा आज भी इस दिशा में विशेष सक्रिय है । नवीन संस्थाओं में विभिन्न नगरों में अवस्थित व्यावसायिक एवं शोध--संस्थान हैं, जिन्होंने कतिपय ग्रंथावलियाँ एवं स्वतंत्र ग्रंथ प्रकाशित कराये हैं अथवा कराने की जिनकी योजना है। इस प्रकर प्रथम दो वर्गो के स्रोतों से उपलब्ध साहित्य जहाँ विशिष्ट लोगों की पहुँच तक सीतिम है,वहीं तृतीय वर्ग ने इसे सर्वसाधारण के लिए उपलब्ध कर दिया हैं।

1.5 नामकरण

नामकरण– संस्कृत--काव्यशास्त्र में 'रीति' शब्द काव्य रचना के मार्ग अथवा पद्धति विशेष के अर्थ में ही व्यवहृत हुआ है।जिसे काव्य की आत्मा के रूप में घोषित कर आचार्य वामन ने तत्संबंधी पृथक संप्रदाय का प्रवर्तन किया। उनके अनुसार गुण विशिष्ट रचना,

अर्थात पदसंघटना–पद्धति विशेष का नाम 'रीति' है। इधर व्याकरण के आधार पर गत्यर्थक 'रीड़' धातु से 'क्तिच्' प्रत्यय करके इसकी जा व्युत्पति कही जाती है,उससे यह 'मार्ग' का वाचक ठहरता है। इस प्रकार उक्त दोनों शास्त्रों में इस अकेले ही शब्द के दो पृथक प्रयोग कहे जा कसते हैं। किंतु वास्तव में यह पार्थक्य किसी मौलिक विभेद का द्योतक न हो कर , व्यवहारिक विकास का ही परिणाम रहा है,आचार्य नगेन्द्र कहते हैं–दंडी की मान्यता है कि बात यह है कि व्यक्ति का अथवा वर्ग विशेष का अपने भावों की अभिव्यक्ति, व्यापारगत अनुकरण और अनुसरण का एक लक्ष्य हो जाता है, तो उनकी विधात्री पद्धति विशेष शब्द 'मार्ग' संज्ञा द्वारा स्वीकृत मानी जाती है।' दंडी का यह कथन कि काव्य रचना के तो ये दो मार्ग–वैदर्भ और गौड़ ही होते हैं,पर कवि में आश्रित होने के कारण इसके अनंत भेद हो जाते हैं। स्पष्टतः प्रदेश तथा व्यक्ति की अभिव्यक्ति पद्धति की 'मार्ग; संज्ञा द्वारा स्वीकृति होती है। वामन ने भी संभवतः रचना पद्धति के लिए 'मार्ग' के इस परंपरागत प्रयोग को दृष्टि में रख कर ही उसके पर्याय–रूप में 'रीति' शब्द को ग्रहण किया तथा उपर्युक्त व्युत्पत्ति दर्शाते हुए उसे मार्ग का ही पर्याय माना है।कारण दंडी ने जिन दो मार्गो और उनके नियामक दश गुणों का उल्लेख किया है,वे वामन ने भी ग्रहण कर रखे हैं। आगे परिवर्ती आचार्यो में 'भोज' ने तो स्पष्ट शब्दों में 'रीति' की उपर्यक्त व्युत्पत्ति दर्शाते हुए उसे मार्ग का ही पर्याय माना है। ऐसी दशा में यह सहज ही स्वीकार किया जा सकता है कि संस्कृत–काव्यशास्त्र में 'रीति' शब्द काव्यरचना के मार्ग अथवा पद्धति विशेष के अर्थ में ही व्यवहृत हुआ है।

हिंदी के मध्ययुगीन कवियों में भी चिंतामणि, मतिराम,भूषण,देव आदि अनेक ऐसे हैं,जिन्होंने काव्य रचना–पद्धति को 'रीति' और उसके पर्याय 'पथ' से ही अभिहित किया है। यथा–

चिंतामणि–'रीति सुभाषा कवित की बरनत बुध अनुसार' (कविकुलकल्पतरु–प्रथमसंस्करण)

मतिराम– सो विश्रब्ध नवौढ़ यों बरनत कवि रसरीति।(रसराज)

भूषण –सुकविन हूं की कछू कृपा समुझि कविन को पंथ। (शिवराजभूषण)

देव – (क)अपनी अपनी रीति के काव्य और कवि रीति।

(ख) भाषा प्राकृत संस्कृत देखि महाकवि पंथ। (शब्दरसायन–एकादश प्रकाश)

रीति शब्द को इसी रूढ़ अर्थ में ग्रहण करते हुए कह सकते हैं कि 'रीतिकाव्य' वह काव्य है जिसकी रचना विशिष्ट पद्धति अथवा नियमों को दृष्टि में रख कर की गई हो।

हिंदी साहित्य का उत्तर–मध्यकाल लगभग सन् 1643 से 1843 ई. तक माना जाता है। इसके नामकरण को लेकर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं । मिश्रबंधुओं ने इसे 'अलंकृतकाल',आचार्य रामचंद्रशुक्ल इसे 'रीतिकाल' और विश्वनाथ मिश्र 'श्रृंगार काल' कहते हैं। डॉ नगेन्द्र कहते हैं कि इन अभिधानों में से प्रथम दो के लिए जहाँ रचना–पद्धति का

आधर ग्रहण किया गया है, वहाँ अंतिम के लिये उस युग की रचनाओं को आधार माना है। किंतु इस युग के लिए 'अलंकृत'विशेषण अधिक समीचीन नही होता। कारण मिश्र महोदयों ने इसके समर्थन में जो यह तर्क दिया है कि इय युग की कविता को अलंकृत करने की परिपाटी अधिक थी,वह इसलिए मान्य नहीं हो सकता ,क्योंकि यह कविता केवल अलंकृत ही नहीं है,इतर काव्यांगों को भी इसमें यथोचित स्थान प्राप्त रहा है। कवियों की प्रवृति भी केवल अलंकार युक्त रचनाएँ करने की नहीं थी। उन्होंने इसकी अपेक्षा रस पर अधिक बल दिया है। हां,संस्कृत--काव्यशास्त्र में 'अलंकार' शब्द विविध काव्यांगों का बोधक अवश्य रहा है। अतः इस अर्थ में यदि 'अलंकार' विशेषण इस युग की काव्यांग--निरूपण--प्रवृति के लिए ग्रहण किया जाये तो असंगत नहीं। पर चूकि 'अलंकृत' शब्द इस युग की कविता का ही विशेषण हो सकता है,लक्षणग्रंथों का नहीं, जो प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होते हैं। इसलिए इस युग को किसी सीमा तक 'अलंकार काल' कहना भी युक्तसंगत नहीं हो सकता है। इधर हिंदी मे 'अलंकार' शब्द काव्यांग विशेष के लिए ही रूढ़ है,काव्यशास्त्र के लिए गृहीत नहीं होता। अतः व्यवहार और अव्याप्ति के कारण,इसको स्वीकार करना भी संगत प्रतीत नहीं होता।

जहाँ तक शेष दो विशेषणों--'रीति'और 'श्रृंगार' का प्रश्न है,वे दोनों ही अपने--अपने स्थानों पर महत्वपूर्ण हैं। इस युग के लिए 'रीति' विशेषण का प्रयोग करने वाले आचार्य रामचंद्र शुक्ल तक ने इसे 'श्रृंगारकाल' कहने में आपत्ति प्रकट नहीं की। किंतु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि इस युग को 'श्रृंगार काल' कहना सर्वथा समीचीन है। इस नाम के पक्ष में जो यह तर्क दिया जाता है कि इस युग के कवियों की व्यापक प्रवृति श्रृंगार'वर्णन की थी,उसके स्वीकार किये जाने में आपत्ति की जा सकती है। इसमें संदेह नहीं कि इस युग में अधिकांश रचनाएँ श्रृंगारिक ही हैं,तथापि ये आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए ही लिखी गयी हैं। इनका प्रेरक तत्व कवियों की कामवासना नहीं,'अर्थ' है, जो विलासी आश्रयदाताओं से इस प्रकार के काव्य की रचना करके ही प्राप्त किया जा सकता था। वैसे,इस युग में अनेक ऐसे कवि भी हुए है। जो इस प्रकार के वर्णन करने पर भी अपने कर्म से असंतुष्ट रहे हैं--यथा:

जैसा कि अनेक कवि लिखते हैं कि उनका ध्येय श्रृंगार रचना नही है--यथा,

"नृपति नैन कमलनि वृथा,चितवत बासर जाहि।
हृदय कमल में हेरि लैं,कमलमुखी
कमलाहि।।(मतिरामःसतसई,394)

इसी प्रकार भिखारीदास के इस कथन को देखें तो उनकी इच्छा प्रकट होती है:

"आगे के कवि रीझिहैं,तौ कबिताई, न तौ ।

राधिका कन्हाई सुमिरन कौ बहानौं है।।(भिखारीदास,काव्यनिर्णय 1/8)

इससे यह ध्वनि निकलती है कि ये कवि श्रृगांरिक काव्य को 'काव्य' कहने में संकोच करते थे। गोप,रसरूप,सेवादास आदि कवियों ने भी अपने लक्षण ग्रंथों में श्रृंगार का वहिष्कार किया है। कुछ कवि तो स्पष्ट घोषणा करते हैं कि उनके ग्रंथों का उद्देश्य दूसरों को काव्य रचना–पद्वति का ज्ञान कराने के लिए है। अथवा काव्यांग निरूपण के लिये। यथाः

(क) "भाषाभूषण ग्रंथ को ,जो देखै चित लाय।
विविध अर्थ साहित्य रस, ताहि सकल दरसाय"।।(जसवंत सिंहःभाषाभूषण,212)

(ख) "बांचि आदि तें अन्त लों,यह समुझै जो कोइ।
ताहि और रस ग्रंथ को ,फेरि चाह नहिं होइ।"(रसलीनःरसप्रबोध)

(ग) जान्यौ चहै जु थोरे ही, रसकबित्त को बंस।
तिन्ह रसिकन के हेतु यह ,कीन्हो रससारंस।। (भिखारीदासःरससारांश)

वस्तुतः इस युग में कवि काव्यांग –चर्चा में उसी प्रकार गौरव का अनुभव करते थे,जिस प्रकार कि ब्रह्मज्ञान विषयक चर्चा भक्तिकाल में जन सामान्य के लिये गौरव की बात हुआ करती थी। ये लोग यद्यपि उस अर्थ में आचार्य नहीं थे,जिसमें कि संस्कृत के काव्यशास्त्र विवेचक आचार्य आते हैं,पर स्वच्छ और सुबोध निरूपण के कारण 'शिक्षक' के अर्थ में तो आचार्य कहे ही जा सकते हैं। इनमें चिंतामणि ,कुलपति,दास प्रतापसाहि आदि तो ऐसे हैं जिन्होंने इस कर्म को अत्यंत मनोयोग के साथ ग्रहण किया है। इनकी रचनाओं में यदि श्रृंगारिक छंदों का समावेश हुअ है तो उसका मुख्य कारण इनकी श्रृंगारिक प्रवृति के स्थान पर विलासी आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के अतिरिक्त शास्त्र के इस रुक्ष विषय को सरस बना कर सुकंठ करने का प्रयत्न ही कहा जाना चाहिए। यदि ये श्रृंगार वर्णन को ही अपना उद्देश्य समझते,तो लक्षणों के बंधन में डाल कर अपनी रचनाओं को कहीं–कहीं दूषित अथवा कवित्वहीन न कर बैठते,अपितु स्वतंत्र ग्रंथ भी तो रचे जा सकते थे।बिहारी जैसे कवियों ने इस फेर में न पड़ कर स्वतंत्र रूप से श्रृंगारिक ग्रंथों की रचना की ही है।किंतु इसके मूल में भी उनकी अपनी श्रृंगारिक प्रवृति थी,यह नहीं कहा जा सकता। कारण,ये भी विलासी आश्रयदाताओं के लिये ही लिखे थे।वैसे इन ग्रंथों की भलीभांति परीक्षा की जाये तो सहज ही स्पष्ट हो जायेगा कि इनके रचनाकारों पर भी काव्यशास्त्र की गहरी छाप है। इन्होंने लक्षण नहीं लिखे,पर उनके अनुरूप अपनी रचनाएँ अवश्य की है।मतिराम ,भूपति,चंदन आदि तो ऐसे हैं जिन्होने काव्यशास्त्र के किसी अंग पर कुछ–न –कुछ लिखा भी है।

दूसरा, यदि यह स्वीकार कर भी लिया जाये कि इस युग के कवियों की व्यापक प्रवृति श्रृंगारिक ही थी,तो भी इसे 'श्रृंगारकाल' कहने में अव्याप्ति दोष होगा,क्योंकि इस काल में वीर,भक्ति आदि की रचनाएँ भी हुई हैं। साथ ही काव्यांग–विवेचन की दृष्टि से लिखित

अनेक महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध लक्षणग्रंथ इसकी परिसीमा में न आ सकेंगे। इस संबंध में यद्यपि यह तर्क दिय जा सकता है कि चूंकि इनके रचनाकारों ने थोड़े बहुत श्रृंगारिक छंद भी लिखे हैं,इसलिए ये भी श्रृंगारकाल की परिधि के भीतर आ सकते हैं। किंतु ये रचनाएँ विशिष्ट परिस्थितियों में लिखी सामग्री के अंतर्गत ही आवेगी। अतः प्रवृतियों के आधार पर इसे श्रृंगार काल कहना उचित नही।

डॉ नगेन्द्र लिखते हैं कि इस युग को 'रीति' विशेषण सहित प्रयोग में लाया जा सकता है क्योंकि यह श्रृंगार की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है। कारण इस अवधि में रीति संबंधी ग्रंथ ही अधिक लिखे गये हैं तथा रचनाकारों की प्रवृति भी यही रही है। यदि इस काल के कवियों को समझने का प्रयत्न करे तो ध्यान में आता है कि यदि श्रृंगारिक छंद रचे भी,तो भी वे सामान्यतः स्वतंत्र रूप से रचित न हो कर श्रृंगार रस की सामग्री के लक्षणों के उदाहरण होने के कारण रीतिबद्ध ही थे। इतना ही नहीं,रीति–निरूपपण की यह प्रवृति अपनी विशिष्ट पृष्ठभूमि और परंपरा के साथ आयी थी। भक्तिकाल में ही काव्यशास्त्र लोगों की चर्चा का विषय बन चुका था। नन्ददास द्वारा 'रसमंजरी' जैसा नायिकाभेद संबंधी ग्रंथ लिखा जाना तथा तुलसी द्वारा 'धुनि अवरेब कबित गुन जाती,मान मनोहर ते बहु भांती' आदि कहा जाना इसकी पुष्टि के लिए पर्याप्त है। इसके साथ–ही–साथ केशव, रहीम,सुंदर आदि अनेक कवियों ने कवि–चर्चा के इस विषय को अग्रसर किया,जो आगे चलकर साधारण कवियों तक का वर्ण्य विषय होने के कारण इस युग की प्रवृति का द्योतक हो गया। दूसरे,इस अभिधान को स्वीकार कर लेने में सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसकी परिधि के भीतर केवल वे लक्षण और लक्ष्य ग्रंथ ही नहीं आ जाते जो श्रृंगारिक रचनाओं से युक्त हैं,अतिपु वे ग्रंथ भी इसकी परिसीमा के बाहर नहीं पड़ते जो अन्य रसों में काव्यांग–विवेचन के निमित्त रचे गये।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि 'रीतिकाल' संज्ञा भी अपने आप में पूर्ण नहीं,क्योंकि घनानंद,बोधा,ठाकुर, आलम, सूदर आदि ऐसे कवि भी हैं जो इस श्रेणी में भी नहीं आते। ये सब 'रीतिमुक्त' के अंतर्गत आते हैं,जिन्होन अपने काव्यग्रंथों की रचना न तो काव्यांगों के विवेचन के लिए की और न उन पर काव्यशास्त्र का प्रभाव ही रहा। साथ ही डॉ नगेन्द्र के इस तर्क से सहमत हुआ जा सकता है: कि यदि देखें तो सूदन,जोधराज जैसे कवि तो वीरगाथाकाल की परंपरा में रखे जा सकते हैं कारण इनकी रचनाशैली उस युग के ग्रंथों की शैली से दूर नहीं है। साथ ही वर्तमान युग में ब्रजभाषा–काव्य तथा काव्यशास्त्र के अनेक ग्रंथों का प्रणयन हुआ है और अब भी हो रहा है,तो उनके सन्निविष्ट न हो सकने के कारण क्या आधुनिक काल अथवा गद्यकाल अभिधान को अमान्य ठहराया जा सकता है ? ऐसे ही घनानन्द,बोधा अँदि कतिपय उत्कृष्ट कोटि के कवियों के विषय में भी कहा जा सकता है कि इन इने–गिने कवियों की पृथक् प्रवृति को रीतिमुक्त नाम दे देने में कोई हर्ज नही होगा। यदि इनके वर्ण्य विषय को श्रृंगार कहते हुए इन्हें फुटकल खाते में [illegible] जाने

की दुहाई दे कर,इनको उचित स्थान दिलाने के लिए ही 'श्रृंगार काल' संज्ञा पर बल दिया जाता है,तो इनके विषय में भी यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि इन कवियों का काव्य संस्कृत–काव्यशास्त्र की दृष्टि से विशुद्ध श्रृंगार की कोटि में नहीं रखा जा सकता। विषय चयन के आधार पर भी इस काल को 'रीतिकाल' कहने में किसी प्रकार का अव्याप्तिदोष न होगा,क्योंकि प्रत्येक कवि द्वारा इसमें श्रृंगार को न्यूनाधिक रूप से ग्रहण किया जाना भी तो एक विशेष प्रकार की 'रीति' (पद्धति) ही है। आचार्य शुक्ल का श्रृंगार काल कहे जाने का मौन या दवे स्वर का कारण यह था कि उनके समय तक जो साहित्य प्रकाश में आया था वह श्रृंगार प्रधान अधिक था।

अंत में काल के नाम निर्धारण में 'रीतिकाल' उचित प्रतीत होता है।

1.6 दरबारी संस्कृति और लक्षणग्रंथों की परंपरा

(अ) दरबारी संस्क ति एक परिचय

(ब) लक्षण ग्रंथों की परंपरा और उपलब्ध सामग्री

(अ) दरबारी संस्कृति एक परिचय

सम्राट अकबर सन् 1556 में दिल्ली के राज्य सिंहासन पर बैठा और पचास साल के अपने शासन काल में उसने जहाँ मुगल शासन को इतनी मजबूती दी की उसके राज्य के तीन सौ साल बाद तक उसके वंशज राजभोग करते रहे। किंतु इसके ही साथ एक बात यह आई कि अकबर अपने कला एवं साहित्य के प्रेम के कारण हिंदी भाषा के कवियों को अपने राजदरबार में स्थान दिया। जिसकी देखा–देखी आगे भारत की अन्य रियासतों ने भी अनुगमन किया। अकबर के शासन काल में गृह युद्ध कम थे। जिससे कला और और विद्यानुरागी अपनी भावनाओं को उभार सके। इसी काल में राजधानी और ब्रज–मंडल में ब्रज–भाषा ने प्रवेश किया। भारत में साहित्य और कला की चर्चा सुनकर फारस के कवियों ने भारत में आना जाना प्रारंभ किया। फारसी आचार–विचार ,भाव और काव्य शैली ने भी दरवारी कवियों को प्रभावित किया। इसके पूर्व पठानों और मुगलों के शासनकाल में हिंदू–संस्कृत और परंपरा को प्रोत्साहन की जगह विनाश का ही दृश्य देखने को मिला था। जिसके कारण ही कबीर,नानक,तुलसी आदि जनता के बीच आये। कुंभनदास ने तो कहा भी 'संतन को कहां सीकरी सो काम'। इस प्रकार अकबर से लेकर शाहजहाँ तक के समय में मुस्लिम–हिंदू कवियों ने खूब प्रतिष्ठा,धन आदि की प्राप्ति की और दरबारी काव्य की रचना की।राजदरबारों में भाषा कवियों का आदर बढ़ा। वस्तुतः देखें तो हिंदी–रीति–साहित्य की प्रवृति उतनी मौलिक नहीं जितनी आवश्यकता–जन्य है। भाषा में फूटती हुई कबि प्रतिभा ने राजाओं और सामन्तों को चमत्कृत किया और उनके संरक्षण व प्रोत्साहन के फलस्वरूप काव्य का विकास हुआ। राजदरबारों में काव्य के पनपने का कारण काव्य का लोक में प्रवेश तथा लोक भाषा में रचना का होना था। दूसरा सामंन्तीय दरबारों की अपनी विशिष्ट

परम्पराएं रही हैं। जिनके अनुसार कवि को अपने को ढ़ालना पड़ता था। दरबारों में काव्य और कवियों के बीच प्रतिस्पेधाएं होतीं थी। कवि को अपने को उसमें उत्कृष्ट साबित करना पड़ता था ,तभी उसे स्थान और मान मिलता था। दरबार के रसमन्तों को भी कवियों को यथेष्ठ मात्रा में रसलीन करना होता था। कई बार कवियों को परंपरा से रचे जाते रहें काव्यों से आगे निकलकर चमत्कृत काव्य रचनाएं करनी पड़ती थीं। कवि को इसके लिये चमत्कार के साथ विलक्षण रसिक श्रोतांओं को अपने रसिक कंठों से सराबोर भी करना पड़ता था। कवियों को जहाँ उपमा,उत्प्रेक्षा का सहारा लेना पड़ता था वहीं ऐन्दिय नृत्य में राजाओं की काम भावनाओं को बहलाना पड़ता था। दूसरी ओर भाषा का विन्यास,रचना चातुरी और सरलता ,सौम्यता तथा धार्मिक ऐन्द्रियता का ध्यान भी रखना पड़ता था। इसके कारण कवियों को राधा–कृष्ण का सहारा लेकर नखशिख जैसे वर्णन करने पड़े। सामन्तीय दरबार को रिझाने के प्रसंग में कवियों को आश्रयदाता के प्रशस्ति भी करनी पड़तीं थी। साथ ही उक्ति चमत्कार की बाजीगरी भी दिखानी पड़ती थी। साथ ही संबद्ध राजाओं–रानियों की वीरता, दानशीलता , राजदरवारी शान–शोभा आदि का वर्णन आवश्यक हो था।इसके अतिरिक्ता राजाओं के साथ राजमंत्रियों की प्रशंसा में भी पद लिखने और गाने पड़ते थे। साथ ही रीतिकालीन कवि अपने दरवारियों के बीच भक्ति और नीति की भी रचनाएं देते थे।

कुछ उदाहरण :

जम माला छापा तिलक सरै न एकौ काम।
मन कांचे नाचे वृथा सांचे रांचे राम (बिहारीलाल)
अधम अजामिल आदि जेहों तिनको हों राउ।
मोहू पर कीजै मया ,कान्ह दया दरियाउ।। (मतिराम)
विद्या बिन न विराजहिं जदपि सरूप कुलीन
ज्यों सोभा पावै नहीं ,टेसू बास विहीन।। (वृंद)
देव सबै सुखदायक संपति,संपति–दंपति ,दंपति–जोरी (देवदत्त)

(ब) लक्षण ग्रंथों की परंपरा

संस्कृत–काव्यशास्त्र की परंपरा ज्यों ही क्षीण होने लगी त्योंही हिंदी–काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की बाढ़ सी आ गई।और लगभग दो सौ वर्षतक इसने हिंदी–साहित्य को अप्लावित किया। संस्कृत का काव्यशास्त्र विकास–बद्ध सिद्धांतों का अमरकोष है।दूसरी तीसरी ई.पू. से लेकर सत्रहवीं शती तक इसके सिद्धांतों में निरंतर कभी तीव्र और कभी मन्द गतिमया विकास होता रहा।काव्यविधान की जो अवस्था रसवादी भरत के समय–दूसरी,तीसरीशती ई. पू. में थी,वह अलंकार को काव्य–सर्वस्व मानने वाले भामह और दंडी के समय–छठी,सातवीं ई.में परिवर्तित हो गई। इनके अनुसार रस अलंकार का ही एक रूप बन गया।

आगे चलकर नवींशती में एक साथ तीन प्रबल काव्याचार्यो का आविर्भाव हुआ। इन्में से वामन ने 'रीति' का समर्थन करते हुए अलंकार और रस को गौण स्थान दिया। उद्भट ने अलंकारवाद का प्रबल समर्थन किया और आनंदवर्द्धन ने ध्वनि–सिद्धांत का प्रतिष्ठापन कर काव्यशास्त्र को एक नई दिशा की ओर मोड़ा। इसके पश्चात पूरे दो सौ वर्ष ध्वनि संप्रदाय का विरोध होता रहा। किंतु ग्यारहवीशती में मम्मट ने अपने गंभीर बिवेचन द्वारा ध्वनि–विरोधियों का समर्थ श्शैली में खण्डन कर ध्वनि सिद्धांत की अकाट्य रूप से स्थापना की। यह अवस्था अगली छःशताब्दी तक बनी रही। तेरहवीं श्शताब्दी में जयदेव ने अपने ग्रंथ में ध्वनि का स्थान दिया। इसीतरह चौदहवीं शती में विश्वनाथ ने केवल ध्वनि प्रकरण पर ही विचार किया। संस्कृत आचार्यो ने काव्यशास्त्र के सिद्धांतों के साथ नाट्यशास्त्र के सिद्धांतों का भी समय समय पर विचार किया। संस्कृत आचार्यो ने काव्यसिद्धांत और नाट्यसिद्धांत के अतिरिक्त जिस विषय पर विचार किया वह था–कविशिक्षा। इस प्रकार यह दो सौ वर्षो की काव्यशास्त्र परंपरा काव्य,नाट्यशास्त्र और कविशिक्षा के सिद्धांतों पर निरंतर सर्जन,विवेचन एवं संकलन करती है।

ईसा की 17वीं श्शती के मध्य भाग में संस्कृत की उक्त काव्यशास्त्रीय परंपरा के क्षीण होते ही इसे हिंदी के आचार्यो ने अपना लिया। संस्कृत का अंतिम प्रकाण्ड आचार्य जगन्नाथ और हिंदी का प्रथम प्रतिनिधि आचार्य चिंतामणि ये दोनों समकालीन थे।जगन्नाथ श्शाहजहां का सभा–पण्डित था और चिंतामणि को श्शाहजहां द्वारा पुरस्कृत किया जाना इतिहासोल्लिखित घटना है।

वस्तुतः हिंदी की यह काव्यशास्त्रीय परंपरा ई.की 16वींशती में उत्तरार्द्ध से प्रारंभ हो गई थी। इसी श्शती के पचास वर्ष पूर्व में कृपाराम,सूरदास,नंददास,रहीम मोहनलाल,सुंदर आदि नायक–नायिका भेद संबंधी ग्रंथों का और गोपा तथा करनेस अलंकार संबंधी ग्रंथों का निर्माण कर चुके थे।इनके अतिरिक्त केशव ने काव्य के लगभग सभी अंगों का निरूपण किया। 17वीं श्शती के उपरांत लगभग 50 वर्ष काल शास्त्र निरूपण की दृष्टि से लगभग निष्क्रिय माना जाता है। अतः हिंदी काव्यशास्त्र की यह धारा सन्1643ई के आसपास तीव्र वेग से प्रवाहित हुई और सन्1857 से दस–बारह वर्ष पूर्व तक निरंतर चलती रही। इस काल के प्रतिनिधि आचार्य चिंतामणि है तथा अंतिम प्रतापसिंह। लगभग 200वर्ष इस दीर्घकाल में शतशत रीति–ग्रंथों का निर्माण हुआ।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी कहते हैं–हिंदी में लक्षण ग्रंथ की परिपाटी पर रचना करने वाले जो सैकड़ों कवि हुए हैं वे आचार्य की कोटि में नही आ सकते। वे वास्तव में कवि ही थे। उनमें आचार्य के गुण नहीं थे।उनके अपर्याप्त लक्षण साहित्यशास्त्र का समयक् बोध कराने में असमर्थ है।बहुत स्थलों पर तो उनके द्वारा अलंकार आदि के स्वरूप का भी ठीक–ठीक बोध नहीं हो सकता। कहीं–कहीं तो उदाहरण भी ठीक नहीं हैं। 'शब्दशक्ति 'का

विषय तो दो ही चार कावेयों ने नाममात्र के लिए लिया है, जिससे उस विषय का बोध होना तो दूर रहा,कहीं–कहीं भ्रांत धारणा अवश्य उत्पन्न हो सकती है। काव्य के साधारणतः दो भेद किए जाते हैं–श्रव्य और दृश्य । इनमें से दृश्य काव्य का निरूपण तो छोड़ ही दिया गया है। सारांश यह कि इन रीतियों पर ही निर्भर रहने वाले व्यक्ति का साहित्यज्ञान कच्चा ही समझा जाना चाहिए। यह सब लिखने का अभिप्राय यहाँ केवल इतना ही है कि यह न समझा जाय की रीतिकाल के भीतर साहित्यशास्त्र पर गंभीर और विस्तृत विवेचन तथा नयी–नयी बातों की उद्भावना होती रही।"

आचार्य नगेन्द्र कहते हैं –रीतिकाल के अंतर्गत लिखे गये समस्त उपलब्ध ग्रंथों (जिसकी सूची प्राप्त सामग्री के अन्तर्गत नीचे दी जा रही है) का अध्ययन करने पर यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि इस युग के कवियों में व्यापक प्रवृति रीति निरूपण की ही रही। क्या राजाश्रित और क्या जनकवि, इनमें से अधिकांश ने एतद्विषयक एकाध ग्रंथ लिखकर आत्मप्रदर्शन अवश्य किया। यहाँ स्पष्ट कर देना असंगत न होगा कि यह प्रवृति इन ग्रंथों के भीतर तीन रूपों में मुखर हो कर आयी है। इनमें पहला रूप तो रीतिकर्म कहा जा सकता है,जिसके द्वारा कवि अलंकारदि विशिष्ट काव्यांगों पर संक्षिप्त लक्षण–उदाहरण देकर अथवा स्वरचित लक्षण और दूसरे कवियों के उदाहरण दे कर विषय को मात्र समझाने में अपने कर्म की सफलता समझता है तथा स्वरचित सरस उदाहरण देने के फेर में नहीं पड़ा। आचार्य जी उदाहरण देते हुए समझाते हैं कि जसवंतसिंह का 'भाषाभूषण',दूलह का 'कविकुलकंठाभरण',रसरूप का 'तुलसीभूषण'आदि इसी प्रकार के ग्रंथ हैं,जिनका कवित्त की दृष्टि से कोई महत्व नहीं। रीति–निरूपण की प्रवृति का दूसरा रूप विभिन्न काव्यांगों के लक्षणों और उनके अनुसार सरस उदाहरणों की रचना में रहा है। चिंतामणि के 'कविकुलकल्पतरू',रसविलास, और श्रृंगारमंजरी', मतिराम के 'रसराज','ललितललाम' और 'अलंकारपंचाशिका',भूषण का 'शिवराजभूषण',देव के भावविलास,'शब्दरसायन',रसविलास आदि; गोप के रामचंद्रभूषण ,रामचंद्राभरण आदि;दास के 'काव्यनिर्णय', 'रससारांश' और श्रृंगारनिर्णय;सेवादास का 'रधुनाथ अलंकार';पद्माकर का 'जगद्विनोद'; ग्वाल के 'रसरंग' और 'रसिकानंद' आदि ऐसे ही ग्रंथ हैं ,जिनमें लक्षणों के समान कवित्वपूर्ण उदाहरणों को भी महत्व दिया गया हैं। इस प्रकार के ग्रंथ संख्या में ही सर्वाधिक नहीं हैं,वर्ण्य विषयों की दृष्टि से भी पर्याप्त वैविध्यपूर्ण भी है।

रीतिकालीन हिंदी आचार्यो का उद्देश्य संस्कृत के आचार्यो के उद्देश्य से नितांत भिन्न था। संस्कृत के काव्यशास्त्री लक्ष्य–ग्रंथों के ही आधार पर लक्षण–ग्रंथों का निर्माण करते चले आये थे।शब्दशक्ति,ध्वनि,रस,नायक–नायिका भेद,अलंकार ,रीति और दोष के भेदों की उत्तरोत्तर बढ़ी संख्या इस बात की द्योतक है। काव्यशास्त्रीय लक्षणों को अस्वीकृत करना इन्हे अभीष्ट नहीं था। संस्कृत के काव्यशास्त्रीय सिद्धांत धीरे–धीरे विकसित एवं खण्डित–मण्डित

होते होते आनंन्दवर्द्धन और मम्मट के समय तक प्रौढ़ तथा स्थिर हो गए।

पर इधर हिंदी के आचार्यो ने लक्ष्य ग्रंथो को आधार बनाकर स्वतंत्र सिद्धांतों का निर्माण नहीं किया। यही कारण है कि संस्कृत के आचार्यो के समान इन आचार्यो के ग्रंथो में सिद्धांतों का क्रमिक विकास परिलक्षित नहीं होता।चिंतामणि के दो सौ वर्षो के उपरांत भी प्रतापसिंह द्वारा प्रतिपादित मूलभूत सिद्धांत में कोई अंतर नहीं है। यदि किसी आचार्य ने पूर्ववर्ती आचार्यो के ग्रंथों का अवलोकन किया भी है, तो उसके सिद्धांतों के खंडण,पोषण,समालोचन,विवेचन अथवा परिवर्द्धन के उद्देश्य से नहीं अपितु संस्कृत–ग्रंथों का आधार ग्रहण करने से बचने,अथवा बने–बनाए रूप को बपने रूप में ढालनें के ही उद्देश्य से। उदाहरणार्थ प्रतापसिंह–कृत काव्यविलास अधिकांशतः कुलपति की सामग्री पर आधृत है।सोमनाथ ने अलंकार–विवेचन के लिए जसवंतसिंह के ग्रंथ से प्रायःसहायता ली है और भूषण ने मतिराम के ग्रंथ से।

इसीलिए रामचंद्रशुक्ल जी की यह बात माननी पड़ती है कि हिंदी के रीति–ग्रंथकार पहले कवि थे और आचार्य बाद में।इनका प्रमुख उद्देश्य श्रृंगार रस–परिपूर्ण अथवा स्तुति–परक कवित्त–सवैये लिखकर अपने आश्रयदाता राजाओं से आश्रय एवं पुरस्कार प्राप्त करना था,और गौण उद्देश्य उन सुकुमार–बुद्धि आश्रयदाताओं,उनके कुमारों एवं परिषदों को सरल रूप में कवि–शिक्षा देना। बाह्य राजनीतिक वातावरण से उदासीन इन शासकों की दाबारी सभाओं का विभिन्न प्रकार के कलाविदों से परिपूर्ण रहना स्वभाविक था।हिंदी के ये रीतिकालीन आचार्य भी उन्हीं में से थे।ये एक साथ कवि भी थे और शिक्षक भी। इनके रीति–ग्रंथ इन दोहरे उद्देश्य को लेकर पूर्ण हुए।इनमें अपवाद स्वरूप भूषण कहे जा सकते हैं जिनके काव्य में श्रृंगार की मृदु–मादक तरंगों के स्थान पर वीर रस की उच्छल और उत्तेजक तरंगे हैं। इसी तरह राजा जसवंतसिंह को न तो किसी आश्रयदाता को और न किसी अन्य को प्रसन्न करने की चिंता थी। इस दृष्टि से 'भाषा–भूषण' उनका नितांत काव्य–शास्त्रीय ग्रंथ है। इसी तरह जगतसिंह–प्रणीत 'साहित्य सुधानिधि' है।

उदाहरण निर्माण की सामान्य प्रवृति से एक लाभ तो अवश्य हुआहै कि सरस उदाहरणों का एक अक्षय कोष तैयार हो गया। काव्य–सौंदर्य की दृष्टि से इनका महत्व अमूल्य है।पर इन ग्रंथों में उद्धृत उदाहरणों की संख्या इतनी अधिक है कि इन्होंन अपना अनुपात खोकर शशास्त्रीय विवेचन को अच्छादित कर दिया। इस प्रकार ये ग्रंथ लक्षण–ग्रंथों की अपेक्षा लक्ष्यग्रंथ अधिक बन गए। श्रृगांर रस के उदाहरण–निर्माण की ओर अधिक प्रवृत रहने केकारण ये आचार्य केवल उन्हीं काव्यांगों की ओर अधिक आकृष्ट हुए हैं,जिनमें इन्हें इस रस के उदाहरण–निर्माण करने की सुविधा थी। परिणामतः रीतिकाल के आधे से अधिक ग्रंथ श्रृंगार रस की सामग्री एव नायक–नायिका भेद से सबद्ध हैं।ग्रंथ संख्या की दृष्टि से दूसरा स्थान अलंकार ग्रंथों का है।इस काव्यांग को अपनाने में भी उनका प्रधान लक्ष्य श्रृंगार

निरूपण ही है। उधर संस्कृत के सभी ग्रंथ सर्वांग निरूपण के हैं। यह एक विचित्र संयोग है कि हिंदी के आचार्यो ने रस और नायिका भेद प्रकरण के लिए 'रसरंगिणी' और रसमंजरी का आधार ग्रहण किया तो अलंकार विवेचन के लिए कुवलयानंद अथवा उनके मूलग्रंथ 'चंद्रलोक' को।

(2) प्राप्त सामग्री का वर्गीकरण

निरूपण शैली की दृष्टि से देखें तो संस्कृत के कुछ आचार्यो ने कवल पद्यात्मक शैली को अपनाया।उदाहरणार्थ भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट,धनंजय,वाग्भट प्रथम,जयदेव,अप्पयदीक्षित आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।भरत ने कुछेक स्थलों पर गद्य का आश्रय लिया है।संस्कृत के आचार्यो की दूसरी निरूपण श्शैली 'सूत्र–वृति–शैली' है। वामन और रुयक के सिंद्धात सूत्रबद्ध हैं और सूत्र की वृति गद्यात्मक है।उदाहरणों के लिए उन्होने पद्य का आश्रय लिया। 'तीसरी कारिका–वृतिशैली' है। आनंदवर्द्धन, कुंतक,मम्मट,हेमचंद्र,विश्वनाथ आदि ने इसी शैली को अपनाया।उनकी व्याख्या गद्यवृति में है और उदाहरण पद्यात्मक हैं।

इधर हिंदी के आचार्यो ने सामान्यतः प्रथमश्शैली को अपनाया।वाग्भट प्रथम की निरूपण शैली के सामान शास्त्रीय विवेचन के लिए दोहा अथवा सोरठा जैसे छोटे छंदों का प्रयोग किया हैं और उदाहरण के लिये कवित,सवैये जैसे छंदों का । केशव, चिंतामणि, भूषण, देव,भिखारीदास,दूलह,मद्माकर आदि की निरूपण–शैली नहीं है। जसवंत सिंह और जगतसिंह की शैली इनसे थोडी भिन्न है।इन्होने जयदेव के समान शास्त्रीय–विवेचन और उदाहरण को प्रायः एक दोहे में समाविष्ट करने का प्रयास किया है। हिंदी के कुछ आचार्यो ने उक्त शैली को अपनाते हुए तिलक अथवा वृतिरूप में गद्य का भी आश्रय लिया है। उदाहरणर्थ चिंतामणि,कुलपति,सोमनाथ और प्रतापसिंह के नाम लिए जा सकते हैं।

देखा जाय तो जसवंतसिंह,जगतसिंह आदिको छोड़ कर शेष किसी आचार्य की शैली संस्कृत की शैली के ठीक अनुरूप नहीं है।उपर्यक्त प्रथम शैली के आचार्यो में दण्डी के उदाहरण स्वनिर्मित हैं,पर उन्होनें शास्त्रीय विवेचन और उदाहरणों के लिए प्रायः एक छंद को अपनाया है,हिंदी आचार्यो के समान भिन्न–भिन्न छंदों को नहीं।

द्वितीयशैली के संस्कृत–आचार्यो में जगन्नाथ के उदाहरण स्वनिर्मित हैं,पर उनका समग्रशास्त्रीय विवेचन गद्यबद्ध है। इधर हिंदी रीतिग्रंथों में एक भी ग्रंथ इस श्शैली में उपलब्ध नहीं है।

तृतीयशैली के ग्रंथ–निर्माताओं–मम्मट आदि ने गद्यबद्ध वृति को कारिका गत श्शास्त्रीय सिद्धांतों की व्याख्या का साधन बनाया है, इधर उपर्युक्त कुलपति आदि हिंदी के आचार्यो ने कुछेक स्थलों पर गद्यबद्ध वृति का आश्रय इसी उद्देश्य से लिया है।परंतु इनका गद्य–भाग संस्कृत ग्रंथों में प्रयुक्त गद्य–भाग की तुलना में मात्रा की दृष्टि से शतांश भी नहीं है;दूसरे,न यह परिष्कृत एवं गंभीर विवेचनोपयोगी है।

इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र और हिंदी काव्य का रीतिकालीन काव्यशास्त्र वर्ण्य–विषय की दृष्टि से लगभग एक होता हुउ भी विषय की व्यापकता,शास्त्रीय विवेचना और प्रतिपादन–शैली की दृष्टि से भिन्न है,और इस भिन्नता का प्रधान कारण है उद्देश्य की भिन्नता। उधर लक्ष्य ग्रंथों को ध्यान में रखकर लक्षण–निर्माण प्रमुख उद्देश्य रहा है,पर इधर लक्ष्य–निर्माण को ही प्रमुख उद्देश्य बना कर पूर्वनिर्मित लक्षणों का आधार ग्रहण किय गया है।

उपलब्ध सामग्री को रूप–विधानुसार तीन वर्गो में रखा जा सकता है। इनमें पहले के अंतर्गत मुक्तक रचनाएँ ली जा सकती हैं। इसके भीतर काव्यांगों के निरूपण के लिए अथवा काव्यशास्त्र के नियमों को दृष्टि में रखकर लिखे गये ग्रंथों के अतिरिक्त वे ग्रंथ भी परिगणित होंगे,जिनमें काव्यशास्त्रीय नियमों को दृष्टि में न रख कर रचे हुए स्फुट छंदों का संकलन किया गया है। इस प्रकार के छंद परिमाण में सर्वधिक हैं दूसरे वर्ग में प्रबंध काव्य आ सकते हैं। इनमें वे सभी रचनाएँ ग्रहण की जायेंगी,जिनमें किसी प्रसिद्ध अथवा काल्पनिक कथा,घटना प्रसंग या चरित्र को कथात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है। इनकी संख्या अपेक्षा कृत कम है। तीसरा वर्ग नाटकों का है। इसमें संस्कृत के प्रसिद्ध नाटकों के पद्यबद्ध अनुवाद रखे जा सकते है। ये प्रबंधकाव्यों की तुलना में और भी कम हैं।

(क) मुक्तक काव्य

रचनाकार और उनकी रचनाएँ–

1. चिंतामणि : कविकुलकल्पतरू, रसविलास, काव्यविवेक, श्रृंगारमंजरी, काव्यप्रकाश , छंद–विचार।
2. मतिराम : रसराज,ललितललाम,सतसई ,अलंकार–पंचाशिका,वृत्तकौमुदी।
3. भूषण : (1) शिवराज–भूषण, शिवाबावनी, छत्रसालदशक, (2) अलंकार प्रकाश, छंदोहृदयप्रकाश
4. बिहारी : सतसई
5. गोविन्दसिंह : सुनीतिप्रकाश,सर्वलोहप्रकाश,प्रेमसुमार्ग,बुद्विसागर
6. तोष : सुधानिधि,नखशिख,विनयशतक।
7. रसनिधि रतनहजारा, विष्णुपदकीर्तन, कवित्त, बारहमासी, गीति–संग्रह, अरिल्ल, हिंडोला, सतसई।
8. जसवंतसिंह : अपरोक्षसिद्वांत, अनुभवप्रकाश, आनंदविलास, सिद्वांतयोग, सिद्वांतसार, भाषाभूषण, स्फुट छंद।
9. कुलपति मिश्रः रसरहस्य,नखशिख,युक्तिरंगिणी,दुर्गाभक्तितरंगिणी (चंद्रिका)
10. मंडन मिश्र : रसरत्नावली,रसविलास,नखशिख,काव्यरत्न,नैनपचामा,जनपचीसी।

11. आलम : आलकेलि।
12. वृन्द : सतसई
13. पदुमनदास : काव्यमंजरी।
14 करन कवि : साहित्यरस,रसकल्लोल।
15 कालिदास त्रिवेदीः कालिदास--हजारा, वरवधूविनोद, जंजीराबंद, राधामाधव-- बुधमिलन-- विनोद।
16 लाल कविः विष्णुविलास।
17 माखन : श्री नागपिंगल छंदविलास।
18. कुमारमणि : रसिकरसाल,रसिकरंजन।
19: देव :भावविलास, भवानीविलास, कुशलविलास, प्रेमचंद्रिका, जातिविलास, रसविलास, सुजानविनोद, प्रेमतरंग, देवचरित्र, काव्यरसायन, सुखसागरतरंग, देवशतक प्रेमदीपिका, सुमिलविनोद, राधिकाविलास, नीतिशतक।
20. सूरति मिश्रः अलंकारमाला, रसरत्नमाला, रससरस, रसग्रहकचंद्रिका, नखशिख, काव्यसिद्धांत, रसरत्नाकर, भक्तिविनोद, श्रृंगारसागर।
21. जोधराजः हम्मीररासो।
22. उदयनाथ कवीनद्रः रसचंद्रोदय,विनोदयंद्रिका,जोगलीला।
23. नृप शंभूः नायिका भेद,नखशिख।
24. कृष्णभट्टदेव ऋषिः श्रृंगार रसमाधुरी।
25. जयकृष्ण भुजंग : पिंगलरूपदीपभाषा।
26. श्रीपति :काव्यसरोज ,कविकल्पद्रुम, रससागर, अनुप्रासविनोद, विक्रमविलास, सरोजकलिका, अलंकारगंगा।
27. गोप : रामालंकार,रामचंद्रभूषण,रामचद्रंभरण।
28. याकूब खां : रसभूषण।
29. घनानंद : सुजानहितप्रबंध, कृपाकंदनिबंध, वियोगबेलि, इश्कलता, यमुनायश, प्रीतिपावस, पदावली, प्रकीर्णक छंद आदि
30. रसलीन : अंगदर्पण,रसप्रबोध,स्फुट छंद।
31 सोमनाथः रसपीयूषनिधि,श्रृंगारविलास,प्रेमपचीसी।
32. दलपतिराय वंशीधरः अलंकाररत्नाकर।
33. रसिक सुमति : अलंकारचंद्रोदय।

34. भिखारीदास : काव्यनिर्णय, श्रृंगारनिर्णय, रससारांश, छंदार्णव पिंगल, छंदप्रकाश।
35. कृष्ण कवि : अलंकारकलानिधि,गोविंदविलास।
36. भूपति : सतसई कंठाभूषण,रसरत्नाकर।
37. रघुनाथ : काव्यकलाधर,रसिकमोहन,रसरहस्य,इयकमहोत्सव सभासार।
38. दूलह : कविकुलकंठाभरण,स्फुट छंद।
39. हितवंदावनदासः स्फुटपद
40. गिरिधर कविराय : अनेक स्फुट छंद।
41 गुमान मिश्र : अलंकारदर्पण।
42. चंदन : श्रृंगार सागर, काव्याभरण,कल्लोलतरंगिणी, केशरीप्रकाश,सतसई पथिकबोध, तत्वसंग्रह, नखशिख, प्राज्ञविलास,पत्रिकाबोध।
43. ब्रजवासीदासः ब्रजविलास।
44. बैरीसाल :भाषाभरण
45. शिवनाथ :रसदृष्टि
46. उनियारे :नुगगलरसप्रकाश ,रसचंद्रिका
47. जनराज : कवितारसविनोद।
48. सेवादासः नखशिख,रसदर्पण,गीतामाहात्मय, अलबेले लाल जू को नखशिख, राधासुधाशतक, रघुनाथ अलंकार।
49. रामसिंह : अलंकारदर्पण,रससिरोमणि,रसनिवास,नसविनोद।
50. रतन कविः फतेप्रकाश ,अलंकारदर्पण
51. हठी जी :श्री राधासुधाशतक।
52. बोधा : विरहवारीश,इश्कनामा।
53. रामसहायः सतसई,वृततरंगिणी,वाणीभूषण
54. नंदकिशोर : पिंगलप्रकाश
55. दशरथ : वृत्तविचार
56. रसिकगोविंद : रसिकगोविंदानंदघन,पिंगल ,रसिकगोविंद,युगलरसमाधुरी, समयप्रबंध, लछिमनचंद्रिका अष्टदेशभाषा।
57. समनेस : काव्यभूषण रसिकविलास,पिंगल।
58. जसवंतसिंह द्वितीय : श्रृंगारशिरोमणि।
59. पद्माकर : जगद्विनोद,पद्माभरण ,गंगालहरी, प्रबोधपचासा, कलिपच्चीसी, समयप्रबंध,

लछिमनचंद्रिका, अष्टदेशभाषा।

60 पजनेस :स्फुट छंद।

61. प्रतापसाहि : व्यगार्थकौमुउर, काव्यविलास, जयसिंहप्रकाश, श्रृंगारमंजरी, श्रृंगारशिरोमणि, अलंकारचिंतामणि, काव्यविनोद, जुगलनखशिख।

62. बेनीबंदीजनः टिकैतरायप्रकाश,भड़ौवासंग्रह, रसविलास।

63. बेनी'प्रवीन' :. नवरसतंरग,श्रृंगारभूषण नानारावप्रकाश।

64. जगतसिंह :साहित्यसुधानिधि।

65. गिदिधदासः रसरत्नाकर,भारतीभूषण,उत्तरार्ध–नायिकाभेद।

66. दीनदयालगिरिः अनयोक्तिकल्पद्रुम,अनुरागबाग,वैराग्यदिनेश,दृष्टानतरंगिनी।

67. अमीदासः सभमंडन, वृत्तचंद्रोदय, ब्रजविलास, सतसई श्रीकृष्ण–साहित्यसिंधु, शेरसिंहप्रकाश।

68. ग्वाल : यमुनालहरी, भक्तीावन, रसिकानंद, रसरंग, कृष्ण जू को नखशिख, दूषणदर्पण, राधामाधवमिलन, राधाष्टक, कवि–हृदयविनोद, कविदर्पण, नेहनिर्वाह, बंसीबीसा, कुब्जाष्टक, षछ्ऋतुवर्णन, अलंकारभ्रमभंजन, रसरूप, दृशतक।

69. चंद्रशेखर वाजपेयीः रसिकविनोद,नखशिख, वृंदावनशतक, गुरुपंचाशिका, ताजकख माधवी–वसंत, हरिमानसविलास।

70. नवीनः रंगतंरग,सुधारस।

71. द्विजदेवः श्रृंगारलतिा,श्रृंगारबत्तीसी,श्रृंगारचालीसी, कविकल्पद्रुम।

(ख) प्रबंध काव्य

1. चिंतामणि : रामायण,रामाश्वमेध,कृष्णचरित।

2. गोविंदसिंह :चंडीचरित्र।

3. मंडन :जानकी जू का ब्याह,पुरंदरमाया।

4. कुलपति मिश्र :द्रोणपर्व (संग्रामसार)

5. लालकवि :छत्रप्रकाश

6. सूरति मिश्र :रामचरित ,श्रीकृष्ण चरित।

7. श्रीधर :जंगनामा।

8. सोमनाथः पंचाध्यायी,सुजानविलास।

9. रघुनाथ : जगतमोहन।

10. गुमान मिश्र : नैषधचरित (काव्यकलानिधि)

11. सूदन : सुजानचरित

12. रामसिंह :जुगलविलास।

13. चंदनः सीतवसंत,कृष्णकाव्य।

नाटक

1. जसवंत सिंह : प्रबोधचंद्रोदय नाटक।

2. राम : हनुमान नाटक

3. नेवाज : श्शकुंतला नाटक।

4. सोमनाथ : माधविनोद नाटक।

5. देव : देवमायाप्रपंच नाटक।

6. ब्रजवासीदास :प्रबोधचद्रोदय नाटक।

उक्त संपूर्ण दो सौ वर्षो की सामग्री को रीतिग्रंथों के विषयानुसार तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।

(1)–रस–विषयक,

(2)–अलंकार–विषयक ग्रंथ और

(3)–विविध काव्यांग–निरूपका ग्रंथ।

(1)– रसविषयक ग्रंथः–रस–विषयक प्रायः सभी ग्रंथ अधिकांशतः श्रृंगार रस की विविध सामग्री से परिपूर्ण हैं।इनमें श्रृगार रस के आलम्बन के यप में नाय–नायिका–भेदों का विस्तृत निरूपण हैं,और उद्दीपन विभाव के रूप में नख–शिख, बारहमासा तथा षडऋतु का। कुछ एक ग्रंथों में श्रृंगारेतर रसों को भी स्थान मिला है।कुछ प्रख्यात उपलब्ध ग्रंथों के नाम ये हैं– (1)–सुधानिधि–तोष, (2)–रसराज–मतिराम, (3)–रसविलास तथा सुखसागर–तरंग–देव, (4)–रस–सारांश तथा (5)–श्रृंगार–निर्णय–भिखारीदास, (6)–रसप्रवोध–रसलीन, (7)–जगतविनोद–पद्माकर, (8)–नवरस तरंग–बेनीप्रवीन, और (9)–व्यंग्यार्थ कौमुदी–प्रतापसिंह।

इन ग्रंथों का शास्त्रीय विवेचन अधिकांशतः भानुमिश्र–प्रणीत रसमंजरी पर आधारित है।

अलंकारग्रंथ– अलंकर–ग्रंथों का निर्माण रस–ग्रंथों की अपेक्षा बहुत कम हुआ है। प्रख्यात तथा उपलब्ध अलंकार–ग्रंथ निम्नलिखित हैं–

(1)– भाषा–भूषण–जसबंतसिंह,

(2)– ललितलमाम, अलंकारपंचाशिका–मतिराम ,

(3)– शिवराजभूषण–भूषण,

(4)– अलंकार चन्द्रोदय –रसिकसुमति,

(5)– कर्णाभरण–गोविंदकवि,

(6)– कविकुलकंठाभरण–दूलह,

(7)– और पद्माभरण –पद्माकर।

इनमें से प्रायः ग्रंथ जयदेव के चद्रलोक तथा तत्प्रभावित अप्पयदीक्षित के कुवलयानंद पर समाधृत हैं।

विविधकाव्यांग–निरूपण ग्रंथ– इन ग्रंथों की संख्या अत्यल्प है। इनमें से केवल 19 आचार्यो के 19 ग्र उपलब्ध हैं:

यथा–

(1)–कवि–कुलकल्पतरू–चिंतामणि, (2)–रसरहस्य–कुलपति, (3) काव्यमंजरी – पदुमनदास, (4)–काव्य रसायन अथवा शब्द रसायन–देव, (5) काव्यसिद्धांत–सूरतिमिश्र, (6) रसिकरसाल–कुमारमणि, (7) काव्यसरोज–श्रीपति, (8) रसपीयूषनिधि–सोमनाथ (9) काव्यनिर्णय–भिखारीदास, (10) रूपविलास–रूपसिंह, (11) कवितारसविनोद – जनराज, (12) साहित्यसुधानिधि–जगतसिंह, (13)–काव्यरत्नाकर–रणवीरसिंह, (14) काव्य विलास–प्रतापसिंह, (15) काव्यसंग्रहपंचांग–रामजी उपाध्या गंगासुत, (16) काव्य सुधाकर–जानकी प्रसाद, (17) और लक्ष्मीश्वर भूषण–शिवप्रसादकवीश्वर (18) दलेलप्रकाश–थानकवि (19)–फतहप्रकाश–रतनकवि।

इनमें से अधिकतर ग्रंथ मम्मटकृत काव्यप्रकाश तथा विश्वनाथकृत साहित्यदर्पण की सहायता से निर्मित हैं।

रीतिग्रंथों से पूर्व–निर्मित रीति–संबद्ध ग्रंथों में केशव प्रणीत दो ग्रंथ उल्लेखनीय हैं– रसिकप्रिया और कविप्रिया। ये क्रमशः रस और विविधांग–निरूपका ग्रंथ हैं,इनका विस्तार से वर्णन पृथक इकाई में है।

1.7 इकाई सारांश / याद रखने की बातें

- डॉ नगेन्द्र के अनुसार : इस युग को 'रीति' विशेषण सहित प्रयोग में लाया जा सकता है क्योंकि यह श्रृंगार की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है। कारण इस अवधि में रीति संबंधी ग्रंथ ही अधिक लिखे गये हैं तथा रचनाकारों की प्रवृति भी यही रही है।
- हिंदी के मध्ययुगीन कवियों में चिंतामणि, मतिराम,भूषण,देव आदि अनेक ऐसे हैं,जिन्होंने काव्य रचना–पद्धति को 'रीति' और उसके पर्याय 'पथ' से ही अभिहित किया है।
- नामकरण– संस्कृत–काव्यशास्त्र में 'रीति' शब्द काव्य रचना के मार्ग अथवा पद्धति विशेष के अर्थ में ही व्यवहृत हुआ है।जिसे काव्य की आत्मा के रूप में घोषित कर

आचार्य वामन ने तत्संबंधी पृथक संप्रदाय का प्रवर्तन किया। उनके अनुसार गुण विशिष्ट रचना, अर्थात पदसंघटना–पद्यति विशेष का नाम 'रीति' है।

- जिस युग में रीति–निरूपण अथवा रीति–प्रभावित ग्रंथों के निर्माण का प्राचुर्य रहा,उसको 'रीतिकाल' संज्ञा देते हुए उसका समय भी संवत् 1700(1643ई.)से 1900(1843 ई.) तक निश्चित किया है।
- साहित्य और कला की दृष्टि से यह युग पर्याप्त समृद्ध का माना जा सकता है। इस काल के कवि और कलाकार यद्यपि साधारण वर्ग के व्यक्ति हुआ करते थे,तथापि अपने आश्रयदाता मुगल सम्राटों अथवा देशी राजा व नवाबों से उन्हें इतना सम्मान मिलता था कि समाज के प्रतिष्ठित लोगों में उनकी गणना होती थी ।
- आज रामचन्द्र शुक्ल जी द्वारा किया इस काल का विभाजन प्रायः सर्वमान्य–सा ही हो गया है। चाहे यह सर्वथा निर्दोष न हों तो भी वह संगत एवं विवेकपूर्ण अवश्य है। शुक्ल जी के अनुसार रीतिकाल के अन्तर्गत सं.1700 से सं.1900 तक पूरी दो शताब्दियाँ आ जाती हैं।
- इस काल में समाज में नैतिक अवस्था कारुणिक थी। राजा सामंत सभी विलाशी थें । नैतिक बल के ह्रास से लोग पूर्णतः भाग्यवादी हो गये थे।
- राजनीतिक स्थिति संक्षेप में –
  1. समस्त देश युद्ध और विप्लवों से आक्रांत रहा। देश में कोई भी केन्दीय शासन नही था।
  2. औरंगजेब असफल शासक रहा।अकबर और उसके सचिव भगवानदास,टोडरमल आदि की राजनीतिक योग्यता की इस युग में कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।
  3. इस समय देश में भयानक बाह्य आक्रमण हुए–नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के हमलों ने गिरती दीवार को धक्का देने का काम किया। शासन–विधान स्वेछाचारी राजतंत्र था।
  4. शाहजहाँ की धार्मिक असहिष्णुता औरंगजेब ने पूरी कर दी। हिंदू मुसलमान दोनों आमने सामने थे। किंतु दुर्भाग्य हिंदू आपस में असंगठित थे तो मुसलमान विलास–जर्जर।
- रीतिकाल की समय सीमा–1700–1900ई.।
- मिश्रबंधुओं के अनुसार मध्यकाल का नाम अलंकृत काल है
- कालक्रम के अनुसार रीतिकाल के प्रथम कवि–केशवदास है।

- रीति की अविरल परंपरा चिंतामणि से चली।
- रीतिकाल की प्रमुख रचनाएँ और रचनाकार हैं–

श्रृंगार सागर और ललितललाम –मतिराम,
हिततरंगिनी–कृपाराम,
काव्यनिर्णय तथा छंदप्रकाश–भिखारीदास,
छंदविचार और कविकुलकल्पतरू –चिंतामणि,
छत्रसाल दशक –भूषण,
सुजान विनोद और भावविलास–देव,
अंगदर्पण–रसलीन,
इश्कनामा–बोधा,
कवित्त रत्नाकर और काव्यकल्पद्रुम–सेनापति,
प्रबोधपचासा और गंगालहरी –पद्माकर तथा
यमुना लहरी, हम्मीरहठ,विजयविनोद,गोपीपच्चीसी– ग्वाल कवि की ।
हिम्मतबहादुर–विरूदावली–पद्माकर
रामायणसूचनिका –रसिकगोविंद
हम्मीरहठ –चंद्रशेखर वाजपेयी

1.8 अपनी प्रगति की जांचिए

(क) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

(1)– रीतिकाल की सामाजिक आर्थिक और राजनीत्रिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालिए।
(2)– रीतिकाल की समय–सीमा और नामकरण पर एक निबंध लिखिए
(3)– लक्षण ग्रंथों की परंपरा समझाते हुए कुछ प्रमुख लक्षण ग्रंथों क नाम बताइये।
(4)–ष्रीतिकाल में साहित्य और कला के विकास पर प्रकाश डालिए।

(ख) लघुउत्तरीय प्रश्न–

(1)– रीतिकाल के पांच प्रमुख प्रबंध काव्यों के नाम तथा रचनाकार बताइए।
(2)–रीतिकाल के प्रमुख पांच नाकटकार और उनके नाटकों के नाम बताइये।
(3)– रीतिकाल की प्रमुख प्रवृतियाँ समझाइये।
(4) –रीतिकाल की समय–सीमा
(6)– अलंकार ग्रंथ

(7)–विविधकाव्यांग निरूपक ग्रंथ

(8)–रसविषयक ग्रंथ

(ग)– वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

1. रीतिकाल की समय सीमा आचार्य शुक्ल के अनुसार है–
   (क) 1643–1843 ई. (ख) 1643–1800 ई. (ग) 1635–1893 ई.
2. उत्तर मध्यकाल को रीतिकाल की संज्ञा दी ?
   (क) रामचंद्रशुक्ल (ख) मिश्रबंधु (ग) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
3. उत्तर मध्यकाल को 'श्रृंगारकाल' नाम दिया?
   (क) रामचंद्रशुक्ल (ख) मिश्रबंधु (ग) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
4. कालक्रमानुसार रीतिकाल के प्रथम कवि कौन ठहरते है?
   (क) बिहारी (ख) केशवदास (ग) पद्माकर
5. आचार्य रामचंद्रशुक्ल ने किस कवि से रीतिकाल का आरंभ माना ?
   (क) बिहारी (ख) केशवदास (ग) चिंतामणि
6. 'श्रृंगार सागर' के रचयिता हैं?
   (क) बिहारी (ख) केशवदास (ग) मतिराम

(7) "इसमें संदेह नहीं कि काव्यरीति का सम्यक् समावेश पहले पहल आचार्य केशव ने ही किया। पर हिंदी में रीतिग्रंथों की अविरल और अखंडित परंपरा का प्रवाह केशव की 'कविप्रिया' के प्रायः पचास वर्ष पीछे चला और वह एक भिन्न आदर्श को लेकर ,केशव के आदर्श को लेकर नहीं।" पंक्तियाँ किसकी हैं?
   (क) रामचंद्रशुक्ल (ख) मिश्रबंधु (ग) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

(8) 'काव्यनिर्णय' के रचयिता हैं?
   (क) भिखारीदास (ख) आलम (ग) पद्माकर

(9) 'छंद प्रकाश' के रचयिता हैं?
   (क) बिहारी (ख) भिखारीदास (ग) पद्माकर

(10) 'छत्रसाल दशक' के रचयिता हैं?
   (क) भूषण (ख) केशवदास (ग) पद्माकर

(11) 'हिततरंगिणी' के रचयिता हैं–
   (क) कृपाराम (ख) केशवदास (ग) पद्माकर

(12) तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार
इनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार।
उक्त पंक्तियां किसकी हैं :
(क) भिखारीदास (ख) केशवदास (ग) पद्माकर

(13) "आखिन मूंदिबे के मिस आनि अचानक पीठि उरोज लगावै।" -- ये पंक्तियां किसकी हैं
(क) मतिराम (ख) केशवदास (ग) पद्माकर

(14) बिहारी के दोहे पर किसका प्रभाव है ?
(क) गाथा सप्तशती (ख) काव्य निर्णय (ग) इश्कनामा

(15) "ललित ललाम" के रचयिता हैं--
(क) मतिराम (ख) केशवदास (ग) पद्माकर

(16) 'कविभूषण' की उपाधि किस रीतिकालीन कवि को मिली?
(क) भूषण (ख) केशवदास (ग) पद्माकर

(17) केशव को 'कठिन काव्य का प्रेत',किस आलोचक ने कहा?
(क) रामचंद्रशुक्ल (ख) ग्रियर्सन (ग) नगेन्द्र

(18) रीति की अविरल परंपरा किस कवि से मानी जाती है?
(क) चिंतामणि (ख) केशवदास (ग) पद्माकर

(19) 'कविकुलकल्पतरू' किसकी रचना है ?
(क) चिंतामणि (ख) केशवदास (ग) पद्माकर

(20) 'अलंकार पंचाशिका' किसकी रचना है ?
(क) मतिराम (ख) केशवदास (ग) पद्माकर

(21) 'आलमकेलि' किसकी रचना है ?
(क) आलम (ख) केशवदास (ग) पद्माकर

(22) 'सुजानविनोद' किसकी रचना है ?
(क) देव (ख) केशवदास (ग) पद्माकर

(23) 'भाषाभूषण' किसकी रचना है ?
(क) जसवंतसिंह (ख) देव (ग) पद्माकर

(24) 'जगद्विनोद' किसकी रचना है ?

(क) जसवंतसिंह (ख) देव (ग) पद्माकर

(25) 'गंगालहरी' किसकी रचना है ?

(क) जसवंतसिंह (ख) देव (ग) पद्माकर

(26) 'यमुनालहरी' किसकी रचना है ?

(क) जसवंतसिंह (ख) देव (ग) ग्वालकवि

(27) 'छत्रसालदशक' किसकी रचना है ?

(क) जसवंतसिंह (ख) देव (ग) भूषण

(28) 'सुधानिधि' किसकी रचना है ?

(क) तोष (ख) देव (ग) ग्वालकवि

(29) 'सुजानचरित' किसकी रचना है ?

(क) जसवंतसिंह (ख) देव (ग) सूदन

(30) 'कविकुलकंठाभरण' किसकी रचना है ?

(क) जसवंतसिंह (ख) देव (ग) दूलह

(31) हिंदी साहित्य का प्रथम काव्यशास्त्रीय ग्रंथ माना जाता है

(क) रसिकप्रिया (ख) लक्षण श्रृगांर (ग) कविप्रिया

(32) 'विज्ञानगीता' किसकी रचना है?

(क) जसवंतसिंह (ख) देव (ग) केशवदास

(33) भावविलास किसकी रचना है

(क) जसवंतसिंह (ख) देव (ग) सेनापति

(34) लक्षण श्रृंगार किसकी रचना है ?

(क) मतिराम (ख) देव (ग) दूलह

(35) 'वेद में बखानी तीन लोकन को ठुकरानी' किसकी पंक्ति है ?

(क) जसवंतसिंह (ख) देव (ग) सेनापति

(36) निम्न में से किसको अलंकारवादी आचार्य कहा जाता है ?

(क) जसवंतसिंह (ख) देव (ग) केशवदास

(37) 'कृपाकांड' किसकी रचना है?

(क) जसवंतसिंह (ख) देव (ग) घनानंद

(38) 'काव्यकल्पद्रुम' किसकी रचना है ?

(क) जसवंतसिंह (ख) देव (ग) सेनापति

(39) 'इश्कनामा' किसकी रचना है ?

(क) जसवंतसिंह (ख) देव (ग) बोधा

(40) 'काव्यनिर्णय' किसकी रचना है ?

(क) भिखारीदास (ख) देव (ग) केशवदास

1.9 प्रश्नोत्तर / समाधान

(ग)– वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

1. रीतिकाल की समय सीमा आचार्य शुक्ल के अनुसार है–

   (क) 1643–1843 ई.

2. उत्तर मध्यकाल को रीतिकाल की संज्ञा दी ?

   (क) रामचंद्रशुक्ल

3. उत्तर मध्यकाल को 'श्रृंगारकाल' नाम दिया?

   (ग) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

4. कालक्रमानुसार रीतिकाल के प्रथम कवि कौन ठहरते है?

   (ख) केशवदास

5. आचार्य रामचंद्रशुक्ल ने किस कवि से रीतिकाल का आरंभ माना ?

   (ग) चिंतामणि

6. 'श्रृंगार सागर' के रचयिता हैं?

   (ग) मतिराम

7. ''इसमें संदेह नहीं कि काव्यरीति का सम्यक् समावेश पहले पहल आचार्य केशव ने ही किया। पर हिंदी में रीतिग्रंथों की अविरल और अखंडित परंपरा का प्रवाह केशव की 'कविप्रिया' के प्रायः पचास वर्ष पीछे चला और वह एक भिन्न आदर्श को लेकर ,केशव के आदर्श को लेकर नहीं।''पंक्तियाँ किसकी हैं?

   (क) रामचंद्रशुक्ल

8. 'काव्यनिर्णय' के रचयिता हैं?

   (क) भिखारीदास

9. 'छंद प्रकाश' के रचयिता हैं?

   (ख) भिखारीदास

10. 'छत्रसाल दशक' के रचयिता हैं?
(क) भूषण

11. 'हिंततरंगिणी' के रचयिता हैं–
(क) कृपाराम

12. तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार
इनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार।
उक्त पंक्तियां किसकी हैं :
(क) भिखारीदास

13. "आखिन मूंदिबे के मिस आनि अचानक पीठि उरोज लगावै।" – ये पंक्तियां किसकी हैं
(क) मतिराम

14. बिहारी के दोहे पर किसका प्रभाव है ? (क) गाथा सप्तशती

15. "ललित ललाम" के रचयिता हैं–
(क) मतिराम

16. 'कविभूषण' की उपाधि किस रीतिकालीन कवि को मिली?
(क) भूषण

17. केशव को 'कठिन काव्य का प्रेत' किस आलोचक ने कहा?
(क) रामचंद्रशुक्ल

18. रीति की अविरल परंपरा किस कवि से मानी जाती है?
(क) चिंतामणि

19. 'कविकुलकल्पतरू' किसकी रचना है ?
(क) चिंतामणि

20. 'अलंकार पंचाशिका' किसकी रचना है ?
(क) मतिराम

21. 'आलमकेलि' किसकी रचना है ?
(क) आलम

22. 'सुजानविनोद" किसकी रचना है ?
(क) देव

23. 'भाषाभूषण' किसकी रचना है ?
(क) जसवंतसिंह

24. 'जगद्विनोद' किसकी रचना है ?
(ग) पद्माकर

25. 'गंगालहरी' किसकी रचना है ?
(ग) पद्माकर

26. 'यमुनालहरी' किसकी रचना है ?
(ग) ग्वालकवि

27. 'छत्रसालदशक' किसकी रचना है ?
(ग) भूषण

28. 'सुधानिधि' किसकी रचना है ?
(क) तोष

29. 'सुजानचरित' किसकी रचना है ?
(ग) सूदन

30. 'कविकुलकंठाभरण' किसकी रचना है ?
(ग) दूलह

31. हिंदी साहित्य का प्रथम काव्यशास्त्रीय ग्रंथ माना जाता है
(ग) कविप्रिया

32. 'विज्ञानगीता' किसकी रचना है
(ग) केशवदास

33. 'भावविलास' किसकी रचना है
(ख) देव

34. लक्षण श्रृंगार 'किसकी रचना है ?
(क) मतिराम

35. 'वेद में बखानी तीन लोकन को ठुकरानी' किसकी पंक्ति है ?
(ग) सेनापति

36. निम्न में से किसको अंलकारवादी आचार्य कहा जाता है ?
(ग) केशवदास

37. 'कृपाकांड' किसकी रचना है?

(ग) घनानंद

38. 'काव्यकल्पद्रुम' किसकी रचना है ?

(ग) सेनापति

39. 'इश्कनामा' किसकी रचना है ?

(ग) बोधा

40. 'काव्यनिर्णय' किसकी रचना है ?

(क) भिखारीदास

1.10 चर्चा और स्पष्टीकरण के बिन्दु–

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

1.11 आगे की पढाई

1. हिंदी साहित्य का इतिहास –रामचंद्रशुक्ल
2. रीतिकाव्य और विद्यापति –वीरेन्द्रकुमार वड़स
3 रीतिकाव्य की भूमिका –डॉ नगेन्द्र
4. हिंदी रीतिकाव्य के प्रमुख आचार्य

इकाई –2

रीतिकालीन साहित्य की विभिन्न धाराएँ, (रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त), प्रव तियाँ और विशे ाताएँ, प्रतिनिधि रचनाकार और रचनाएँ, रीतिकालीन गद्य साहित्य

संरचना

2.1 परिचय–

2.2 उद्देश्य–

2.3 रीतिकाल की साहित्यिक धाराएँ सामान्य परिचयः

2.4 रीतिबद्ध :–

(क) प्रवृतियाँ और विशेषताएँ

(ख) प्रतिनिधि रचनाकार और रचनाएँ

2.5 रीतिसिद्ध :–

(क) प्रवृतियाँ और विशेषताएँ

(ख) प्रतिनिधि रचनाकार और रचनाएँ

2.6 रीतिमुक्त :–

(क) प्रवृतियाँ और विशेषताएँ

(ख) प्रतिनिधि रचनाकार और रचनाएँ

2.7 रीतिकालीन गद्य साहित्यः–

(क) भोज़पुरी और अवधी की गद्य रचनाएँ

(ख) राजस्थानी–गद्य

(ग) दक्खिनी गद्य

(घ) खड़ीबोली गद्य

2.8 इकाई सारांश

2.9 अपनी प्रगति की जांच

2.10 समाधान या प्रश्नों के उत्तर

2.11 चर्चा और स्पष्टीकरण के बिन्दु

2.12 आगे की पढाई

2.1 परिचय

डॉ भगरीथ मिश्र अपने ग्रंथ 'हिन्दी रीति साहित्य' में लिखते हैं कि भारतीय साहित्य एवं कला का नया अरुणोदय उस दिन हुआ जिस दिन दिल्ली के तख्त पर सम्राट् अकबर आसीन हुआ। सन् 1556 ई. में अकबर दिल्ली राज्य के सिंहासन पर बैठा। नया अरुणोदय से तात्पर्य केवल इतना ही मानना होगा कि मुगलो और पठानों के शासन काल में जिस प्रकार से हिंदू कला,साहित्य और शिक्षा को नष्ट करने का प्रयास हुआ उसको यहां आकर विराम मिला और फिर से देश में कला,शिक्षा,संस्कृति का प्रवाह चल पड़ा।

ईसा की सत्रहवी शती के मध्य भाग में संस्कृति की काव्य शास्त्रीय परंपरा के क्षीर्ण होते ही हिंदी के आचार्यो ने अपना स्थान बनाया। संस्कृत का अन्तिम प्रकाण्ड आचार्य जगन्नाथ और हिंदी का प्रथम प्रतिनिधि आचार्य चिंतामणि –ये दोनों समकालीन थे। जगन्नाथ शहजहाँ का सभा–पंण्डित था और चिन्तामणि को शाहजहाँ द्वारा पुरस्कृत किया जाना इतिहासोल्लिखित घटना है।वस्तुतः इसी आधार पर आधुनिक इतिहासकारों ने दो सौ सालों के इस साहित्यिक काल को 'रीतिकाल' की संज्ञा दी हैं

हिंदी के आचार्यो का उद्देश्य संस्कृत के आचार्यो से नितांत भिन्न था। जहाँ संस्कृत आचार्य काव्यशास्त्री लक्ष्य–ग्रथों को आधार पर लक्षण–ग्रंथों का निर्माण करते चले आ रहे थे वहीं हिंदी के आचार्यो ने लक्ष्य–ग्रंथें को आधार बनाकर स्वतंत्र सिद्धांतों का निर्माण नहीं किया । हिंदी के रीति–ग्रंथकार वस्तुतः कवि पहले थे,और आचार्य बाद में। इनका प्रमुख उद्देदश्य श्रृंगार रस–परिपूर्ण अथवा स्तुति–परक कवित्त–सवैये लिखकर आश्रयदाता राजाओं से आश्रय एवं पुरस्कार प्राप्त करना था।

अस्तु हिंदी काव्यशास्त्र की यह धारा सन 1643 ई. के आसपास तीव्र वेग से प्रवाहित हुई। इसी आधार पर आधुनिक इतिहासकारों ने दो सौ सालों के इस साहित्यिक काल को 'रीतिकाल' की संज्ञा दी हैं

हिंदी के आचार्यो का उद्देश्य संस्कृत के आचार्यो से नितांत भिन्न था। जहाँ संस्कृत आचार्य काव्यशास्त्री लक्ष्य–ग्रथों को आधार पर लक्षण–ग्रंथों का निर्माण करते चले आ रहे थे वहीं हिंदी के आचार्यो ने लक्ष्य–ग्रंथें को आधार बनाकर स्वतंत्र सिद्धांतों का निर्माण नहीं किया । हिंदी के रीति–ग्रंथकार वस्तुतः कवि पहले थे,और आचार्य बाद में। इनका प्रमुख उद्देदश्य श्रृंगार रस–परिपूर्ण अथवा स्तुति–परक कवित्त–सवैये लिखकर आश्रयदाता राजाओं से आश्रय एवं पुरस्कार प्राप्त करना था।

इसी आधार पर इस इकाई में रीतिकाल की तीनों धाराओं का विचार करते हुए इस काल के गद्य साहित्य पर विचार किया जा रहा है।

2.2 उद्देश्य–

- रीतिकालीन साहित्य की विभिन्न धाराओं का परिचय
- रीतिकाल की मूल प्रवृतियों का परिचय
- रीतिबद्ध कवियों का परिचय
- रीतिबद्ध कवियों की रचनाओं का परिचय
- रीतिसिद्ध कवियों का परिचय
- हिंदी रीतिकालीन कवियों का परिचय
- रीतिमुक्त कवियों का परिचय
- रीतिमुक्त कवियों की रचनाओं का परिचय
- गद्य साहित्य का परिचय
- उक्त सभी विषयों पर निरंतर शोध–आलेखों ,निष्कर्षों से प्राप्त सामग्री के आधार पर पाठकों/छात्रों को परिचय कराना।

2.3 रीतिकाल की साहित्यिक धाराएँ सामान्य परिचयः

हिंदी के रीति–ग्रंथकार पहले कवि थे या आचार्य इसमें काफी विचार हुआ। कुछ आधुनिक इतिहासकारों ने इन्हे कवि पहले और आचार्य बाद में माना तो रामचंद्र शुक्ल ने इन्हे आचार्य मानने में ही अपनी असहमति दर्शायी। इस तर्क के पीछे केवल यहीं कारण आता है कि इन कवियों ने राजाश्रय हेतु अपना कौशल अधिक लगाया। गौण रूप में सुकुमार–बुद्धि आश्रयदाताओं ,उनके कुमारों एवं परिषदों को सरल रूप में कवि शिक्षा देने का उद्देश्य रखा। बाह्य राजनीतिक वातावरण से उदासीन इन शासकों की दरबारी सभाओं का विभिन्न प्रकार के कलाविदों से परिपूर्ण रहना स्वाभाविक था। हिंदी के ये रीतिकालीन आचार्य भी उन कलाविदों में से थे। ये एक साथ कवि भी थे और शिक्षक भी। कवि होने के नाते इन्होंने श्रृंगार रस–परिपूर्ण अथवा स्तुति–परक रचनाओं का निर्माण किया और शिक्षक के नाते काव्य के विभिन्न अंगो का परंपरागत शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया। उनके रीति–ग्रंथ इस दोहरे उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर निर्मित हुए हैं। हिंदी के अधिकांश काव्य शास्त्रियों का प्रमुख लक्ष्य श्रृंगार एवं स्तुतिकपरक उदाहरणों का निर्माण करना है । इस सामान्य प्रवृति के कतिपय उदाहरण भी है।भूषण के उदाहरणों में श्रृंगार की मृदु एवं मादक तरंगों के स्थान पर बीर रस की उच्छल और उत्तेजक तरंगे हैं। पर काव्य निर्माण के विभिन्न उद्देश्यों में से उनका कदाचित एक उद्देश्य शिवा की स्तुति गाकर पुरस्कार प्राप्ति भी था। यद्यपि इसे इनके स्वदेश प्रेम के रूप में देखा जाना चाहिए।

रीतिकाल के अंतर्गत लिखे गये समस्त उपलब्ध ग्रंथों का पर संक्षिप्त लक्षण–उदाहरण दे कर अथवा स्वरचित अध्ययन करने पर यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि इस युग के

कवियों में व्यापक प्रवृति रीति निरूपण की ही रही। क्या राजाश्रित और क्या जनकवि, इनमें अधिकांश ने एतद्विषयक एकाध ग्रंथ लिख कर आत्मप्रदर्शन अवश्य किया। यहाँ यह स्पष्ट कर देना असंगत न होगा कि यह प्रवृति इन ग्रंथों के भीतर तीन रूपों में मुखर हो कर आयी है। जिसे हम रीतिबद्ध ,रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त कहते हैं। जिसके द्वारा कवि अलंकारदि विशिष्ट काव्यों लक्षण और दूसरे कवियों के उदाहरण दे कर विषय को मात्र समझाने में अपने कर्म की सफलता समझता है अर्थात रीति निरूपण के लिय ही रचना करता है,वे रीतिबद्ध अंतर्गत आते हैं।

2.4 रीतिबद्ध

रीतिकाल के साहित्य को दो श्रेणियों में रख के देखा जा सकता है,वे हैं–काव्य और श्शास्त्र। जिन्होंने रस,अलंकार,नायकि भेद के ग्रंथ लिखे है जिनमें लक्षण और उदाहरण साथ साथ दिए हैं। अत: हम कह सकते हैं कि संस्कृत अलंकारशास्त्र अथवा काव्यशास्त्र के आधार पर हिंदी में लक्षण ग्रंथों के प्रणेता एवं लक्षणग्रंथ या रीतिग्रंथ का आश्रय लेकर काव्य–रचना करने वाले 'रीतिसिद्ध' कवियों में गिने गये।केशव, चिंतमणि,देव,रसलीन ,बिलग्रामी,जान(न्यामत खां) ,तोष यशवंत, भूषण, कुलपतिमिश्र, याकूब खा, पद्याकर ,प्रतापसिंह आदि इसी कोटि के कवि हैं।

रीतिबद्ध और रीतिमुक्त और रीतिसिद्ध तीनों प्रकार की कविताओं का सृजन एक वातावरण में हुआ वह 'सामन्तीय' था। तीनों में जो थोड़ा अंतर था वह यह कि एक पूरी तरह से 'दरवारी था तो दूसरा दरवारी प्रभाव से युक्त किंतु भुक्त नहीं,तीसरा दरवारी होते हुए भी दरवारी प्रवृतियों से मुक्त था। दरवारी प्रवृति से मतलब केवल 'दरवारदारी'नहीं,वरन इसके अंतर्गत आश्रयदाताओं की रुचि के अनुकूल चटकीली,वक्र तथा प्रशस्तिमूलक उक्तियां सुनाकर उनसे यथेष्ट प्रशंसा और धन प्राप्त करने की स्पृहा आदि बातें भी सन्निविष्ट हैं। यद्यपि यह अंतर इतना सूक्ष्म है कि साफ साफ रेखा खीचना आज भी संभव नहीं है।फिर भी प्रवृतियों को आधार बना कर इनका पृथक पृथक अध्ययन होता रहा है।

रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त दोनों का वर्ण्यविषय 'श्रृगार ' रह है। श्रृंगार एक यौगिक श्शब्द है जिसका अर्थ 'श्रृंग और आर' से बना है। 'श्रृंग' का अर्थ'मन्मथेद्भेद' या कामोद्रेक (श्रृंग हि मन्मथोद्भेदः) किया है।'आर' से प्रायः 'आगमन' अथवा 'प्राप्ति' का अभिप्राय होता है। परंतु श्रृंगार का अर्थ या आशय असंमित काम–वासना की अभिव्यक्ति न मानकर स्वाभाविक स्नेह या प्रीतिभाव समझना ठीक होगा–ऐसा साहित्यदर्पणकार भी संकेत देते हैं।

इसी तरह रति का संकुचित अर्थ ग्रहण करने वाले 'कामुकता',विषय–वासना',तक ही रह जाया करते हैं,जबकि इसका वास्तविक संबंध विकृतिशून्य रागात्मिका वृति से है। रीतिबद्ध कवि देव ने बताय है कि जिस मुक्ति के ध्येय से सारी युक्तिया (साधनाएं) की जाती हैं,वह भुक्ति(भोग) का धाम है। लेकिन युक्ति,मुक्ति और भुक्ति इस सबका मूल है 'काम'।

जब तक काम पूर्ण नहीं हो जाता तब तक परमपद भी तुच्छ ही लगता है। कामसिंधु श्शशिमुख रमणी के समक्ष ही उमंगता ज्ञात होता है और इसीलिये सुर–असुर,नर–पशु,कीट–पतंग आदि सभी रमणी के संग में सुख की उपलब्धि करते हैं। रीतिबद्ध कवियों ने एक स्वर से श्रृंगार को 'रसराज' कहा है। रसप्रबोधकार केअनुसार देवताओं में श्शीर्षस्थ हैं'श्रीकृष्ण' और उनका रस है श्रृंगार,अतः सभी रसों में वह 'रसराज' ठहरा। देव ने श्रृंगार को रसो का सार या वाणी का सार बतलाया।वे कहते हैं –

रसनि सार सिगार रस,प्रेमसार सिंगार
बिना प्रेम दम्पति बिपति,संपति सुख दुख भार।।

लेकिन बाद में फिर देव कहते हैं–7

वाणी को सार बखान्यों सिंगार,सिंगार को सार किसोर किसोरी ।

(क) प्रवृतियां और विशेषताएं–

प्रवृतियां और विशेषताएं–

रीति–निरूपण के आधार पर रीतिकवियों के मुख्य दो वर्ग किये जा सकते हैं–एक,सर्वांग–निरूपक और दूसरा विशिष्टांग –निरूपक।

सर्वांग–निरूपक–वे हैं,जिन्होंने काव्य के समस्त अंगों जैसे काव्य लक्षण ,काव्यहेतु, काव्यप्रयोजन, काव्यभेद, काव्यकी आत्मा (रस,ध्वनि), शब्दशक्ति ,गुण दोष ,रीति ,अलंकार और छंद का विवेचन अपनें ग्रंथों में किया है। चिंतामणि, सूरतिमिश्र, श्रीपति, देव, दास, जनराज आदि ऐस ही आचार्य हैं इन्होंने एक अथवा अनेक अंगों को अपने विवेचन का विषय न बनाकर उसके तीन महत्वपूर्ण अंगों –रस,अलंकार और छंद में से एक,दो अथवा तीनों का निरूपण एक अथवा अनेक ग्रंथों में किया है। इनमें रस –निरूपपण करने वालों के भी तीन वर्ग कियें जा सकते हैं: समस्त रसों के निरूपक,श्रृंगाररस निरूपक, श्रृंगार रस के आलंबन नायक–नायिकाओं के भेदोपभेदों के निरूपक। समस्त रसों का निरूपण करने वालों में तोष, यकूब, रामसिंह, सेवादास, बेनीप्रवीन, पद्माकर आदि का ;श्रृंगार रस का निरूपण करने वालों में मतिराम, उदयनाथ ,कवींद्र,चंद्रदास,यशवंतसिंह, कृष्ण कवि आदि का; तथा नायक–नायिकाभेद–विवेचकों में कालिदास ,यशोदानंदन ,गिरिधरदास आदि का नाम लिया जा सकता है। अंलकार निरूपकों आचार्यो में मतिराम, भूषण, गोप, दलपतिराय, रघुनाथ,गोविंद, दूलह, बैरीसाल, सेवादास, पद्माकर आदि तथा छंदोंनिरूपक आचार्यो में मतिराम,सुखदेव मिश्र,माखन,जयकृष्ण भुजंग,दास,दशरथ,नंदकिशोर ,रामसहाय आदि उल्लेखनीय हैं। यदि इन तीनों अंगों को स्वतंत्र रूप में ले तो इन कवियों के मुख्यतःये चार वर्ग होंगे–सर्वांग–निरूपक,रस–निरूपक, अलंकार–निरूपक, छंदोनिरूपक ।

रीतिकाल के अंतर्गत राजाश्रित कवियों में से अधिकांश तथा जन कवियों में से

कतिपये ऐसे थे, जिन्होंने आत्मप्रदर्शन की भावना अथवा काव्य–रसिक–समुदाय को काव्यांगों का सामान्य ज्ञान प्राप्त कराने के उद्देश्य से ब्रजभाषा में रीतिग्रंथों का प्रणयन किया। अतएव,इन कवियों की सबसे प्रमुख प्रवृति रीतिनिरूपण की ही थी। इसके साथ ही विलासी आश्रदाताओं को प्रसन्न करने के लिए चूंकि इन लोगों ने उनकी रुचि के अनुरूप सामान्यतः श्रृंगारिक रचनाएं कीं। अतः श्रृंगारिकता इन कवियों की मुख्य काव्य प्रवृति कही जा सकती है। इधर आश्रयदाताओं के दान,पराक्रम आदि का आलंकारिक वर्णन करने से जहां इन्हें ध न–सम्मान मिलता, वहां प्रबल धार्मिक संस्कारों के कारण भक्तिपरक रचनाएं करनें से भी आत्मलाभ होता था। ऐसी दशा में राजप्रशस्ति और भक्ति भी इनकी कविता का अंग बनकर गौण प्रवृतियों के रूप में आयीं।दूसरी ओर इन लोगों के कटु–मधुर वैयक्तिक अनुभव भी समय–समय पर नीतिपरक रचनाओं के रूप में व्यक्त होते रहते थे। अतः नीति भी इनकी कविता का अंग कही जा सकती है। इस प्रकार कुल मिलाकर रीतिकवियों की प्रवृतियों को दो वर्गो में रखा जा सकता है :

(1). मुख्य प्रवृतियां –(क) रीति–निरूपण और (ख)श्रृगांरिकता

(2) गौण प्रवृतियां– (क) राजप्रशस्ति (वीरकाव्य),(ख) भक्ति और (ग) नीति

(1). मुख्य प्रवृतियां

(क) रीति–निरूपण–रीति–निरूपण की इस व्यापक प्रवृति का अध्ययन करने पर इसके भीतर कतिपय अंतःप्रवृतियां भी दृष्टिगत होती हैं इनका विश्लेषण ग्रंथकार की दृष्टि काव्यांग–विवेचन तथा निरूपण –शैली के आधार पर पृथक–पृथक किया जा सकता है। इनमें ग्रंथकारों की दृष्टि के आधार पर यदि अंतःप्रवृतियों का अध्ययन करें तो कहना होगा कि इस युग में रीतिग्रंथों की रचना मुख्य रूप से तीन दृष्टियों से की गयी । इनमें प्रथम दृष्टि तो मात्र रीतिकर्म की है। इसके परिचायक वे ग्रंथ हैं ,जिनमें सामान्य रूप से काव्यांग विशेष का परिचय कराना ही इनके रचयिताओं का उद्देश्य रहा है तथा अपने कवित्व का प्रदर्शन करना इनका उद्देश्य नही रहा। ऐसे ग्रंथो में लक्षण के साथ उदाहरण या तो अन्य लोगों के काव्य से दिया गया है या फिर वह इतना संक्षिप्त रहा है कि उसमें कवित्व जैसी बात नहीं रही। जसवंतसिंह का 'भाषाभूषण ,याकूब खां का 'रसभूषण' ,रसिक सुमति का 'अलंकार चंद्रोदय' ,दलपतिराय वंशीधर का 'अलंकार रत्नाकर' ,गोविंद का 'कर्णाभरण' ,दूलह का 'कविकुलकंठभरण' ,रसरूप का 'तुलसीभूषण' आदि इसी प्रवृत के परिचायक हैं।

द्वितीय प्रवृति में रीतिकर्म और कविकर्म का समान महत्व रहा है। इसके अंतर्गत आनेवाले ग्रंथों मे लक्षण औद उदाहरण –दोनों ही उनके रचयिताओं द्वारा रचित है तथा उदाहरणों में सरसता का विशेष ध्यान रीतिनिरूपण विषयक ग्रंथ इसी प्रकार के हैं। तृतीय प्रवृति के अंतर्गत लक्षणों को महत्व नहीं दिया गया। ग्रंथकारों ने प्रायः सभी छंदों की रचना काव्यशास्त्र के नियमों में बद्ध हो कर करने पर भी लक्षणों के फेर में पड़ना उचित नहीं

समझा। बिहारी,मतिराम,भूपिति,चंदन आदि की सतसइयां ,नखशिख वर्णन संबंधी समस्त ग्रंथ तथा विभिन्न कवियों द्वारा रचित स्फुट छंद इस प्रवृति के परिचायक है।काव्यांग–विवेचन के आधार पर इस प्रवृति की दो अंतःप्रवृतियां कही जा सकती हैं–(1) सर्वांग विवेचन (2) विशिष्टांग विवेचन की ।

इनमें सर्वांग–विवेचन की प्रवृति के अंतर्गत आने वाले ग्रंथों में सामान्य रूप से काव्यलंक्षण ,काव्यहेतु, काव्यप्रयोजन, काव्यभेद, शब्दशक्ति ,काव्य की आत्मा (रस,ध्वनि) काव्यगुण ,काव्यदोष,काव्यरीति,अलंकार, तथा छंद का निरूपण किया गया है। कतिपय लोगों ने काव्यांगों का विवेचन एक ग्रंथ में किया है और छंद का पृथक रूप से करने का प्रयत्न किया हैं चिंतामणि का 'कविकुलकल्पतरू',देव का 'शब्दरसायन',कुलपति का 'रसरहरू' ,दास का 'काव्यनिर्णय' ,सोमाथ का 'रसपीयूष', अमीरदास का'सभमंडन' आदि इसी पवृति के परिचायक ग्रंथ है।

विशिष्टांग विवेचन के की प्रवृति के अन्तर्गत वे ग्रंथ कहे जा सकते हे।,जिनमें उक्त काव्यंगों में से किसी एक अथवा दो या तीन को विवेचन का विषय बनाय गया हैं।ये विषय हैं–रस,अलंकार और छंद। रस–निरूपक ग्रंथें में पुनः दो प्रवृतियां होती हैं। इनमें एक तो है रस की विभावादि सामग्री के निरूपण के उपरांत उसके समस्त भेदों का सामान्य रूप से तथा श्रृगांर और उसके आलंबन (नायक–नायिका भेद) आदि का विशेष रूप से विवेचन करने की और दूसरी प्रवृति है रसों में शिरोमणि श्रृगांर के विभावादि, विशेष रूप से विवेचन करने की और दूसरी प्रवृति है। इन ग्रंथों की एक लम्बी सूची है।संक्षेप में विवेचन शैली के आधार पर यदि प्रवृति–विश्लेषण किया जाय तो कहना होगा कि इस काल में रीति'–निरूपण की तीन शैलियां प्रचलित थीं–

एक काव्यप्रकाश साहित्यदर्पण की शैली है जिसमें लक्षण–उदाहरणों के अतिरिक्त वृति दे कर विषयों को समझाने का प्रयत्न किया गया है। दूसरी शैली चंद्रालोक–कुवलयानंद की संक्षिप्त शैली है। तीसरी शैली भानुदत के रसमंजरी की है , जिसमें लक्षण और सरस उदाहरण दे कर विषय –निरूपण किया गया है।

श्रृंगारिकता– यह प्रवृति रीतिकाल के कवयों की कविता का प्राण है । रीति–निरूपण की प्रवृति के समान इस प्रवृति के भीतर यद्यपि स्वतंत्र अंतःप्रवृतियां तो विद्यमान रहं,तथाति एक ओर से काव्यशास्त्रीय बंधनों के निर्वा ह और दूसरी ओर से नैतिक बंधनें की छूट तथा विलासी आश्रयदाताओं के प्रोत्साहन के कारण इस प्रवृति ने जो स्वरूप प्राप्त किया,उसे इतर कवियों की श्रृंगारिक प्रवृति से सहज ही पृथक करके देखा जा सकता है।प्रेमा भावना में एकोन्मुखता का स्थान अनेकोन्मुखता ने कुछ इस प्रकार से ले लिया है कि कुंठारहित प्रेम की उन्मुक्त्ता का स्थन अनेकोन्मुखता ने कुछ इस प्रकार से ले लिया है कि कुंठारहित प्रेम की उन्मुक्तता रसिकता का रूप धरणकर गयी। विलासपूण्र उन्मुक्त प्रेम की

अभिव्यक्ति तथा नारी के प्रति सामंतीय दृष्टि के होत हुए भी इस प्रवृति से गार्हस्थिक प्रेम की व्यापक स्वीकृति देखने को मिलती है। इस प्रकार कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि रीतिकवियों की श्रृंगारिकता में सामान्य रूप से इंद्रियदमन जन्य कुंठाहीनता ,शारीरिक सुख की साधना ,अनेकोन्मुख प्रेमजन्य विलासिता ,रूपलिप्सा,भोगेच्छा, नारी के प्रति सामंतीय दृष्टि तथा गार्हस्थिकता के गुण–दोषों के रहते हुए भी ऐसी ताजगी है ,जो काव्यशास्त्रीय नियमों के घेरे में बंद रहकर भी साधरण पाठक को एक क्षण के लिए आत्मविभोर कर सकती है।

(2) गौण प्रवृतियां

(अ) राजप्रशस्ति (वीरकाव्य), (ब) भक्ति (स) नीति

(अ) राजप्रशस्ति (वीरकाव्य)

प्रवृतियों में राजप्रशस्ति अथवा वीरकाव्य की प्रवृति मूलतः अलंकार और छंदोविवेचन के ग्रंथों में ही देखनें को मिलती है। इसका मुख्य विषय आश्रयदाताओं की दानवीरता अथवा युद्व–वीरता ही रही है। इनकी अभिव्यक्तिउनके दान अथवा पराक्रम के परिचायक व्यापारों के स्थान पर सामान्य रूप से दान की सामग्री की विपुलता तथा आरयदाताओं के आंतक एवं निर्बल और कायर शत्रुओं पर उनके प्रभाव के विविध वर्णनों द्वारा होने के कारण वैसा रसात्मक प्रभाव नहीं डाल पाती,जो वीर रस की रचनाए। छोडती हैं। इसके अतिरिक्त आश्रयदाताओं की झूठी प्रशस्ति भी इनकी प्रवृति रही है।

(ब) भक्ति

भक्ति की प्रवृति रीतिगंथो के मगलाचरणों,ग्रंथों में दिये गये उदाहरणों में मिलती है। सामान्य रूप से विष्णु के राम और कृष्ण –इन दो अवतारी रूपों में विशेष आस्था रखते हुए भी ये लोग गणेश,शिव और शक्ति में भी वेसी ही श्रद्वा रखते थें अतः कहा जा सकता हैकिये किसी विशिष्ट संप्रदाय के अनुयायी नहीं थे। ईश्वर की विभिन्ना शक्तियों के रूप में आज साधरण आस्तिक हिंदुओं में देवी–देवताओं के प्रति जो श्रद्वा और भकित का भाव रहता है,वही इनमे था। इस तरह से भक्ति इन कवियों के आकुल मन के लिए शरणभूमि थी।

(स) नीति

संघर्ष मय दरबारी जीवन के घत–प्रतिघातों से उत्पन्न मानसिक द्वंद्व के विरेचन के परिणामस्वरूप शांति एक आधार थी। इस प्रकार गौण प्रवृतियों में राजप्रशस्ति की प्रवृति श्रृंगारी प्रवृति के समान उस युग के दरबारी जीवन में प्रवृति की परिचायक है,जबकि भक्ति और नीति की प्रवृतियों ,उससे निवृति की। चूंकि प्रवृति और निवृति जीवन के परस्पर पूरक पक्ष हैं,अतएव इन प्रवृतियों को एक –दूसरे की पूरक कहाजा सकता हैं।

(ख) प्रतिनिधि रचनाकारों की रचनाएँ–

जिन्होंने काव्य के समस्त अंगों जैसे काव्य लक्षण ,काव्यहेतु, काव्यप्रयोजन, काव्यभेद, काव्य की आत्मा (रस,ध्वनि), शब्दशक्ति ,गुण दोष ,रीति ,अलंकार और छंद का विवेचन अपने ग्रंथों में किया है। चिंतामणि,सूरतिमिश्र, श्रीपति,देव,दास,जनराज आदि ऐस ही आचार्य हैं।

(1) चिंतामणि त्रिपाठी

आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते है कि चिंतामणि तिकवांपुर ,(कानपुर)के रहनेवाले ,चार भाई चिंतामणि,भूषण,मतिराम,और जटाशंकर थे। चारों कवि थें जिनमें प्रथम तीन तो हिंदी साहित्य में बहुत यशस्वी हुए। इनके तिपा कानाम रत्नाकर त्रिपाठी था । यद्यपि इस पर विवाद भी है ,परंतु कोई सार्थक समाधान आजतक नही है। चितामणि का जन्मकाल सं. 1666 के लगभग और कतिाकाल संवत 1700 के आसपास ठहरताहै । इनका 'कवकिुलकल्पतरू'नामक ग्रंथ सं.1707 का लिखा है। इनके संबंध में शिवसिंह सरोज ने लिखा है'' ये बहु दिन तक नागपुर में सूर्यवंशी भोसला मकरंद शाह के यहां रहे और उन्हीं के नाम पर छंद विचार नामक पिंगल का बहुत भारी ग्रंथ बनाया और काव्यविवेक ,कविकुल कल्पतरू ,काव्य प्रकाश ,रामायण ये पांच ग्रंथ इनके बनाए हमारे पुस्तकालय में मौजूद हैं । इनकी बनाई रामायण कवित्त और नाना अन्य छंदो में बहुत अपूर्व है। '' वस्तुतः चिंतामणि जी ने काव्य के सब अंगों पर ग्रंथ लिखे। इनकी भाषा ललित और सानुप्रास होती थी। अवध ा के पिछले कवियों की तुलना में इनकी ब्रज भाषा काफी शुद्व थी। ये वास्तव में एक उत्कृष्ट कवि थे।

ऑखिन मूँदिये के मिस आनि अचानक पीठि उरोज लगावै।
कैहूँ कहूँ मुसकाय चितै अँगराय अनूपम अंग दिखावै।।
नह छुई छल सों छतियॉ,हंसि भौंह चढ़ाय अनंद बढ़ावै।
जोवन के मद मत्त तिया हित सों पति का नित चित चुरावै।।

(2) कुलपति मिश्र

ये आगरे के रहनेवाले माथुर चौबे थे और महाकवि, बिहारी के भानजे प्रसिद्व हैं। इनके पिता का नाम परशुराम मिश्र था । कुलपति जी जयपुर केमहारज जयसिंह (बिहारी के आश्रय दाता) के पुत्र महाराज रामसिंह के दरबार में रहते थे। इनके रसरहस्य का रचनाकाल कर्तिक कृष्ण (11संवत 1727) है। इनके अन्य ग्रंथ द्रोणपर्व(सं.1737),युक्तितरंगिणी (सं.1737) नखशिख संग्रामसार रसरहस्य (सं.1724) हैं।अतः इनका कविताकाल सं.1724 से 1743 के बीच का है। रीतिकाल के कवियों में ये संस्कृतके अच्छे विद्वान थे। इनका रसरहस्य मम्मट के काव्यप्रकाश का छायानुवाद है। यद्यपि इन्होंनेशब्दशक्ति और भावादिनिरूपण में लक्षण उदाहरण दोनों बहुत कुछ काव्यप्रकाश केही दिए हैं पर अलंकरा प्रकरण में इन्होंने

प्राय: अपने आश्रयदाता महाराज रामसिंह की प्रशंसा के स्वरचित उदाहरण दिए हैं।ब्रज भाषा पर इनका अधिकार था।

ऐसिय कुंज बनी छबिपुंज रहै अलि गुजंत यों सुख लीजै।
नैन बिसाल हिए बनमाल बिलोकत रूप सुधा भरि पीजै।
जामिनि जाम की कोन कहै जुग,जात न जानिए ज्यों छिन छीजै
आनंद यों उमग्योई रहै,पिय मोहन को मुख देखिवो कीजै।।

(3) देव

ये इटावा के रहनेवाल सनाढय ब्राह्मण थे। इनका पूरा नाम देवदत्त था। सोलह वर्ष की अवस्था में 1746 में 'भावविलास' की रचना की। इसके अतिरिक्त इनका कोई परिचय नही मिलता। इन्होंने अनेक प्रदेशों का भ्रमण किया था। रीति काल के प्रतिनिधिकयिों में शायद सबसे अधिक ग्रंथरचना देव की है जिसकी संख्या 52 बताई जाती है। जिनमें आचार्य शुक्ल के अनुसार निम्न हैं–भावविलास,अष्टयाम, भवानीविलास,सुजानविनोद,प्रेमतरंग, देवचरित ,तत्वदर्शन पचीसी ,नखशिख, प्रेमदर्शन आदि।देव जी अपने पुराने ग्रंथो के कवित्तों को इधर दूसरे क्रम से रखकर एक नया ग्रंथ प्राय: तैयार कर दिया करते थे। इसलिये कई ग्रंथों में छंदो का बार–बार आना स्वाभाविक है। ये आचार्य और कवि दोनों रूपों में हमारे सामने आते हैं। कवित्व शक्ति और मौलिकता दोनों देव में थी। रीति निरूपण की दृष्टि से कवि देव के विवेचन में गुण और दोष–दोनों ही स्पष्ट हैं। गुणों में लक्षणों की सुबोधता,स्पष्टता और संक्षिप्तता तथा उदाहरणों की तदनुरूपता एवं सरसता के अतिरिक्त सबसे महत्वपूर्ण यह है कि ये अपने मत को प्रबल शब्दों में एवं आत्मविश्वास के साथ व्यक्त करते है। 'दधि ा,घृत,मधु,पायस तजि वायसु चाम चबात'। कहकर चित्रकाव्य का तथा 'प्रेमहीन त्रिय वेश्या है 'श्रृंगारभास' के द्वारा सामान्य–प्रेम का तिरस्कार इन्होंने जिस प्रकार से किया है,वह इसकी पुष्टि के लिए पर्याप्त है। कवित्व की दृष्टि से इनकी रचनाएं कहीं अधिक आकर्षक एवं प्रभावी कही जा सकती हैं। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि इनका काव्य सरस एवं ग्राह्य है।

उदाहरणार्थ– "देव मैं सीस बसायौ सनेह कै,भाल मृगम्मद बिंद के भाख्यौ।"
कंचुकि मैं चुपर्‌यौ करि चोवा,लगाय लियो उस सों अभिलाख्यों।।
लै मखतूल गुहे गहने,रस मूरतिवंत ,सिंगार कै चाख्यौ।
संवरे लाल को सांवरो रूप ,मै नैननि को कजरा करि राख्यौ।।

(4) सुरति मिश्र

ये आगरे के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे,जैसा कि इन्होंने स्वयं लिखा है–'सूरति मिश्र कनौजिया,नगर आगरे बास'। इनकी रचनाएं अलंकार माला सं.1766 तथा अमर चंद्रिका

1794 में लिखी गयीं। आचार्य शुक्ल कहते हैं इनका कविता काल वि.की अठारहवीं का अंतिम चरण माना जा सकता ये है।नसरुल्ला खानामक सरदार के यहा। तथा दिल्ली के बादश्शाह मुहम्मद श्शाह के दरवार में आया जाया करते थे। इन्होंने 'बिहारी सतसई','कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' पर विस्तृत टीकाएं रची हैं जिनसे इनके साहित्यज्ञान और मार्मिकता का अच्छा परचिय मिलता है। इनके साहित्य की भाषा ब्रज थी। इनके निम्नलिखित रीतिग्रंथ थे–1–अलंकारमाल, 2– रसरत्नमाला, 3–रससरस, 4 – रसग्राहक चंद्रिका,5– नखशिख ,6–काव्यसिद्धांत ,7–रसरत्नाकर। अलंकार की रचना सुरति मिश्र जी 'भाषाभूषण के एंग पर की है इनमें भी लक्षण और उदाहरण प्रायः एक ही दोहे में मिलते है।जैसे–

"हिम सो,हर के हास सो जस मालोपम ठानि।।

"से असंगति,कारन अवन, कारज ,औरै थान।

चलि अहि श्रुति आनहि डसत ,नसत और के प्रान।।"

इनके सब ग्रंथ नही मिलते हैं। लेकिन जा उपलब्ध ग्रंथ है वे उत्तम श्रेणी के हैं।'नखशिख' से इनका एक कवित्त दिया जाता है,यथा–

"तेरे थे कपाल बाल अतिही रसाल,
मन जिनकी सदाई उपमा विचारियत है।
कोउ ना समान जाहि कीजै उपमान,
अरु बापुरे मधूकन की देह जरियत है।।
नेकु दरपन समता की चाहकरी कहूँ ,
भए अपराधी ऐसो चित्त धरियत है।
'सूरति' सो याही तें जगत बीच आजहूँ लौ,
उनके बदन पर छार डारियत हैं।।"

(5) श्रीपति

श्रीपति काली के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इन्होंने संवत् 1777 में 'काव्यसरोज ' नामक रीतिग्रंथ बनाया । इसके अतिरिक्त इनकी निम्न रचनाएं हैं–1–कविकल्पद्रुम,2– रससागर,3–अनुप्रासविनोद,4–विक्रम–विलास,5– सरोजकलिका,6– अलंकारगंगा। श्रीपति ने काव्य के सब अंगों का निरूपण विशद रीति से किया हैं 'काव्यसरोज' इनकी सबसे प्रौढ़ रचना है। झूठे शब्दाडंबर के फेर में ये अहुत कम पड़े हैं।अनुप्रास इनकी रचनाओं में बराबर आऐ है। पर उन्होंने अर्थ या भावव्यंजना में बाधा नहीं डाली हैं।

इनके अतिरिक्त अन्यकवि हैं–कुमारमणि,सोमनाथ,भिखारीदास,रसिकगोविंद,प्रतापसिंह अमीरदास,ग्वाल आदि जिन्होंने सर्वांग का वर्णन अपने काव्य में अत्यंत कुशलता से किया है।

(6) तोष

संस्कृत के आचार्यो का आश्रय ले कर अपने ढंग से रस–निरूपण करने वाले इस युग के आचार्यो में तोष का नाम आदर से सबसे पहले लिया जा सकता है।ये श्रृंगवेर पुर (इलाहाबाद) के निकट सिंगरौर नामक गांव के निवासी थे। इनके पिता का नाम चतुर्भज था। इनके द्वारा रचित ग्रंथ –सुधानिधि(1634),नखशिख और विनयशतक कहे जाते हैं। सुधानिधि(1634), में विषय का विवेचन नवरस–परिगणन तथा विभाव ,अनुभाव और स्थायी भाव (प्रेम) के उल्लेख के साथ किया गया है।इसके पश्चात श्रृंगार केआलंबन विभाव के अंतर्गत क्रमशःनायिका और नायक के भेदोपभेदों ,नायक के सखाओं ,अनभिज्ञ नायक एवं दर्शन के चारों भेदों का तथा उद्दीपन विभाव के भीतर क्रमशः वर्ण–व्यवसाय के आधार पर विभिन्न प्रकार की दूतियों ,चार प्रकारकी सखियों तथा विभिन्न प्रकार के उद्दीपक पदार्थो का विवेचन किया गया है । विभाव के विवेचन के उपरांत संयोग संयोग,वियोग,सामान्य और मिश्रित नाम से श्रृंगार के चार भेदों का वर्णन है–संयोग श्रृंगार में स्थान और अवसरानुरूप संभोग का वियोग श्रृंगार में विरह–पीड़ा का ,सामान्य श्रृंगार में दस प्रसिद्ध और दस अपर हावों ,नायिकाओं के औदार्य,माधुर्य,प्रगल्भता और धीरत्व नामक चार अलंकारों ,आठ सात्विक भावों ,विप्रलभ के त्रिविध मान,पूर्वराग, प्रवास और करुण नामक चार भेदों और काम की दस दशाओं का ,तथा मिश्रित श्रृंगार मेंसंयोग में वियोग,वियोग में संयाग,जन्य और जनक इन चार रूपों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार श्रृंगार का सविस्तार विवेचन कर क्रमशःशेष आठ रसों ,तैतीस संचारी भावों,भावसंधि,भावोदय,और भावशबलता के मात्र उदाहरण दे दिये गये हैं अंत में क्रमशः कैशिकी आदि चार वृतियों में विद्यमान रहने वाले रसों के उल्लेख,स्थायी और संचारी भावों के अंतर ,रसाभास, भावाभास,रसदोषों आदि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए विवेचन समाप्त कर दिया है।

तोष के कवित्व भी कम सराहनीय नहीं है। कल्पना की ऊंची उड़ान के परिणामस्वरूप उनकी रचनाओं में एक से बढ़कर एक आकर्षक एवं नवीन बिंबों की सृष्टि ही नहीं हुई है,अपितु बिभिन्न अलंकारों द्वारा नियोंजित विविध प्रकार की रेखाओं ने चेतना का स्पर्श कर आहयालादित करने की क्षमता भी उनमें उत्पन्न कर दी है।

पिय को यि जासों रमै,सोई ज्येष्ठा होइ।
आनि कनिष्ठा जानिये, कहैं सयाने लोइ।।
प्रेम जनायो मुरारि चहै बहु नारिनि मैं लखि प्यारी नवीनी।'
खेल रच्यौ आंखि मूदने को ,कहि 'तोष' कियो नंदलाल प्रवीनी।।
कै तेहि चोर मुदे अंखियां छतियां में लियो छतिया गहि पीनी।
बाल गई जब लौं लुकिबे कहं,लाल दई तब लों रति कीनीं।

(7) रसलीन

उत्तर प्रदेश के जिला हरदोई के प्रसिद्व साहित्यकेंद्र बिलग्राम में जन्में रसलीन का पूरा नाम सैयद गुलाम नबी रसलीन (1699–1750) है। रसलीन अच्छे संगीतज्ञ,सैनिक,तीरंदाज और घुड़सवार थे। कवित्त ,सवैया और लोकगीतों के अलावा इनके रचित ग्रंथ हैं–रसप्रबोध(1742),और अंगदर्पण(1737) जो रीतिग्रंथ की श्रेणी में आते हैं। रसप्रबोध में यद्यति अन्य रसों का वर्णन भी है किंतु मूल विषय श्रृंगार रस और नायक–नायिका भेद–विवेचन ही है। इसके लिए भरत ,रुद्रभट्ट, भानुदत्त और मतिराम के अतिरिक्त हिंदी के कृपाराम ,केशव,तोष,और कुमारमणि जैसे प्रौढ़ आचार्यों का आश्रय लिया गया है। इनके रस विवेचन की एक विशेषता है कि उसमें न तो पुनरुक्ति हुई है और न कोई विषय छूट हीपाय है। इन्होंने परंपरा से नायिका भेद को ग्रहण करते हुए पृथक् से पतिदुःखिता और सेवकवधू नामक परकीया ,चतुर्विध सामान्या तथा अवस्थानुसार नायिकाओं में गमिष्यत् और आगमिष्यत्पतिका की एव नायकों में नायिकाओं के आधार पर उपपति और वैशिक के भेदों की परिकल्पना द्वारा विषय का विकास भी किया गया है। रस के अतिरिक्त इनकी रचनाओं में अभिव्यंजना शिल्प भी इनके काव्य की अपनी विशेषता बन गयी है।सीधे–सादे बिंबो में नवीन उपमानों का प्रयोग ये जिस खूबी के साथ करते हैं,वह इस काल के कवियों की रचनाओं में विरल है। कदाचित इसीलिए इनके बिंब अधिक स्पष्ट और मार्मिक बन गये हैं। दूसरी ओर भाषा में विषयानुसार सरसता है।–

(क) **"यौं तिय नैननि लाज मैं,लसत काम के भाइ।**
मिले सलिल में नेह ज्यौं,ऊपर ही दरसाइ।।

(ख) **अगिन रूप बनि रे बिरह,कत जारतहै मोहि।**
तिय तन पानिम पाइकै,बोरि मारिहौं तोहि।।

(8) पद्माकर

पद्माकर का नाम ऐसे आचार्यों में आता है जिन्होने नवरसों का सफल निरूपण किया है ।ये तेलंग ब्राह्मण थे तथा इनका जन्म मध्यप्रदेश के सागर जिले में 1753 में हुआ था। इनके पिता मोहन लाल भट्ट भी अच्छे कवि थें। वे सामान्यतः मंत्र साधना करते थे। । ये सागर नरेश रघुनाथ राव अण्णा,महराज जैतपुर ,सुमरा निवासी नौने अजर्फन सिंह ,दतिया–नरेश महाराज पारीक्षित ,शुजाउछ्दौला के जागीरदार गोसाई अनूपगि (उपनाम हिम्मतबहादूर), सितारा–नरेश रघुनाथराव,जयपुर–नरेश प्रताप सिंह और उनके पुत्र जगतसिंह, उदयपुर–नरेश महाराज भीमसिंह तथा ग्वालियर –नरेश दौलतराव सिंधिया के आरय में रहे। 1833 ई में कानपुर में इनकी मृत्यु हुई। इनके रचित प्रमुख कृतियां– हिम्मतबहादुर–विरुदावली, पद्माभरण, जगद्विनोद, प्रबोधपचासा, गंगालहरी, प्रतापसिंह,–विरुदावली और कलिपच्चीसी। इनके अतिरिक्त इनके अनेक स्फुट छंद भी मिलते हैं। कहते हैं कि वाल्मीकिरामायण

,हितोपदेश आदि संस्कृति–ग्रंथों के अनुवाद भी इन्होंने किये थे। मौलिक ग्रंथों में 'पद्माभरण,और 'जगद्विनोद' ही रीतिग्रंथ हैं। लक्षण सामान्यतः दोहों में हैं और उदाहरण कवित,सवैया,दोहा आदि में। लक्षणों को देखने से यह सहज ही स्पष्ट जाता है कि ग्रंथकार मूलतः रसमंजरी ,रसतरंगिणी ,साहित्यदर्पण ,रसिकप्रिया ,सुधानिधि आदि ग्रंथों का ऋणी है। ग्रंथ ब्रजभाषा में हैं।कवित्व की दृष्टि से यदि पद्माकर की रचनाओं की परीक्षा की जाये ,तो कहना होगा कि इनके द्वारा गृहीत तीनों विषयों –श्रृंगार ,राजप्रशंस्ति, और भक्ति में-इन्हें पूर्ण सफलता मिली हैं ।पद्माकर की सबसी बड़ी विशेषता बिंब विधान हैं।

फागु की भीर अभीरिन में गहि गोविद लै गई भीतर गोरी।
भाइ करी मन की पद्माकर ,उपर नाई अबीर की झोरी।।
छीनि पितंबर कम्मर तें सु बिदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाय कही मुसुकाय ,लला फिर आइयों खेलन होरी।। (श्रृंगार)
तीखे तेग वाहीं जे सिलाही चढ़ै घोड़न पै,
स्याही चढ़ै अमित अरिंदन की ऐल पै।
कहै पदमाकर निसान चढ़ै हाथिन पै,
धूरि धार चढ़ैं पाकसासन के सेल पै।
सजि चतुरंग चमू जंग जीतिबे के हेतु,
हिम्मत बहादुर चढ़त फर फैल पै।
लाली चढ़ै मुख पै,बहाली चढ़ै बाहन पै,
लाली चढ़ै सिंह पैं,कपाली चढ़ै बैल पै।। (राजप्रशस्ति)
ऐ ब्रजचंद गोबिंद गोपाल! सुन्यो क्यों न एते कलाम किए मैं।
त्यों मद्माकर आनंद के नद हौ,नंदनंदन ! जानि लिए मैं।।
माखन चोरी कै खोरिन हवै चले भाजि कछू भय मानि जिए मैं।
छूरि न दौरि दुरयौ जौ चहौ तौ दुरौ किन मेरे अंधेरे हिए मैं।। (भक्ति)

अन्य रीतिकवि जो सर्वरस विवेचक रहें है उनमें प्रमुख रूप से बेनी 'प्रवीन', सुखदेव मिश्र, याकूब खां, रामसिहं आदि हैं।

श्रृंगार –रिरूपक रीतिकवि –

(9) मतिराम

श्रृंगार रस को प्रधान मानकर उसी का सांगोपांग विवेचन करने वाले कवियों में अग्रणी थे।फतेहपुद के बनपुर नामक गांव में 1604 ई में इनका जन्म माना जाता है।इनके पिता का नाम विश्वनाथ त्रिपाठी था। ये सम्राट जहांगीर ,बूंदी–नरेश राव भाव सिंह हाड़ा

,मुमायं नरेश ानचंद ,बुंदेलखंड के नरेश स्वरूपहिसं बुंदेला आदि अनेक राजाओं के आश्र में रहे।

इनके प्रमुख आठ ग्रंथ है– फूलमंजरी, लक्षणश्रृंगार और साहित्यसार आज उपल ा नहीं हैं। रसराज के उदाहरणों का वर्ण्य विषय यद्यपि श्रृंगार ही हैं,तथापि अपने अन्य ग्र में मतिराम ने राजप्रशस्ति को भी अपनी कविता का विषय बनाया। उनका मर्यादित श्रृंग और संयमित ओजमयी वाणी तथा राजप्रशस्तियों की अभिव्यक्ति लोगों के लिये आदर्श रही है। यथा–

कुंदन कौ रंग फीकौ लगै झलकै सब अंगन चारु गुराई।
आंखिन में अलसानि चितौनि में मंजु बिलासन की सरसाई।
को बिन मोल बिकाल नहीं 'मतिराम' लहै मुसकानि मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिये नेरे हवै नैननि त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई।।

श्रृंगार रस निरूपक कवियों में इनके अलावा ,कृष्णभट्टदेवऋषि का भी स्थान है।

नायक –नायिका भेद –निरूपक रीतिकवियो में कालिदास त्रिवेदी का विशेष स्थान है। इनके अतिरिक्त मतिराम ,तोष,रसलीन आदि तो हैं ही।

अलंकार –निरूपक रीतिकवियों में जसवंत सिंह,मतिराम ,भूषण पद्माकर आदि हैं।इनके अतिरिक्त गोप ,रसिक सुमति,रघुनाथ ,दूलह ,रसरूप,सेवादास और गिरिधरदास भी उल्लेखनीय है।

इसी तरह छंद निरूपक रीतिकालीन **कवियों के नाम इस प्रकार हैं–मुरलीधर 'भूषण', सुखदेव मिश्र, मतिराम, रामसहाय केशव, चिंतामणि, कुलपतिमिश्र, देव, रसलीन, तोष, यशवंतसिंह, पद्याकर, प्रतापसिंह आदि प्रमुख है।**

2.5 रीतिसिद्धः

रीतिकाल के प्रारंभ में हम लिख चुकें है कि हिंदी साहित्य के इतिहास में आचार्य रामचंद्रशुक्ल जी के मतानुसार और अधिकांशतः मान्य संवत् 1700 से 1900 वि. तक के साहित्य को रीतिकाल के अन्तर्गत रखा गया है।भारतीय इतिहास में यह काल औरंगजेब के राज्यारोहण से प्रथम स्वतंत्रता संग्राम सन् 1857 तक आता है। साहित्य के इस युग में यद्यपि अनेक प्रकार की काव्य प्रवृतियों पर आधारित यथा– ज्ञान ,भक्ति,नीति विषयक रचनाएं हुई तथापि हम जानते हैं कि इसमें श्रृंगार की ही अधिकता रही। डॉ भगीरथि मिश्र ने इन रीतियुगीन रचनाओं को उनके रचयिताओं के आधार पर तीन विभाग किए हैं–रीतिबद्ध,रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त। रीतिबद्ध रचनाकारों तथा प्रवृतियों को हम ऊपर देख चुके हैं।यहां हम रीतिसिद्ध रचनाकारों तथा उनकी रचनाओं को पढ़ेगें एवं उनकी प्रवृतियों का भी अध्ययन करेगें।[8]

जो लोग रीति–परंपरा को बाहयाभ्यांतर से भलीभांति आत्मसात करने के साथ–साथ स्वतंत्र तथा मौलिक वक्र उक्तियों,अर्थगत विशिष्ट भंगिमाओं की सृष्टि में भी पटु थे –उन्हें 'रीतिसिद्ध' कहा गया।

(क) प्रवृतियाँ और विशेषताएँ–

रीतिकाल भारतीय इतिहास की दृष्टि से वैभव विलास का काल रहा। बड़े–बड़े राजाओं से लेकर उनके सरदार तक सभी विलासिता के रंग में रंगे हुए थे। यह अतिशय भोगवाद का युग था। इस काल में चित्रकला,संगीत भी अपने निखार में था। राजदरबार में वैद्य और गुरु की तरह राज–कवियों की भी नियुक्ति होती थी। इसके साथ अन्य कवि भी अपनी स्पर्धा यहां दिखाते थे।प्रायः इन कवियों के आश्रय दाता भी अच्छे कवि होते थे।रीतिकाल का काव्य जैसा कला–कौशलपूर्ण था वैसा भारतीय इतिहास में बहुत समय तक नहीं देखा गया। रीतिकाल में हम दो प्रकार के साहित्य प्राप्त करते हैं जिसमें से एक को हम काव्य की संज्ञा दे सकते हैं तो दूसरे को शास्त्र की। एक वर्ग ने लक्षण ग्रंथों के आधार पर परंपरा का पालन करते हुए अपनी रचनाएं की जिन्हे हमनें लक्षण ग्रंथ कहे तथा जिनकों शास्त्रीय श्रेणी में भी रखा जाता है। रीतिबद्ध उन कवियों का कहा गया है जिन्होंने लक्षण–ग्रंथ की रचना की है। रीतिसिद्ध उन कवियों को कहा गया है जिन्होंने लक्षण ग्रंथ तो नहीं लिखे है किंतु जिन्होंने 'रीति' की परिपाटी का अपने काव्य में अनुसरण अवश्य किया है। रीतिमुक्त कवि वे है जिन्होंने न तो लक्षण ग्रंथ लिखे और न रीति का अनुसरण किया। डां. बिजयेन्द्र स्नातक ने रीतिसिद्ध कवियों के लिए 'रीतिबद्ध काव्य कवि' की संज्ञा देते हुए स्पष्ट करे हैं कि–

" काव्य–कवि पद का प्रयोग उन कवियों के लिए कर रहे हैं जो रीतिकाव्य को बंधी हुई परिपाटी में आस्था रखने पर भी लक्षण ग्रंथों के प्रणयन में लीन नहीं हुए,वरन् स्वतंत्र रूप से लक्ष्य–ग्रंथों के द्वारा जिन्होंने अपनी कवि–प्रतिभा का परिचय दिया और अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के स्फुरण के द्वारा रसमर्मज्ञ कवि का अभिधान प्राप्त किया।"

रीतिकाल के कवियों के इस वर्गीकरण से सहमत हो पाना सरल नहीं है।अनेक प्रकार के प्रश्न इस वर्गीकरण के संबंध में उठ सकते हैं,किंतु यहां यह अभिप्रेत नहीं है।यहां रीतिसिद्ध उन कवियों यथा– सेनापति,बिहारी,बेनी,रसनिधि आदि की विवेचना करना है जिन्होंने किसी लक्षण–ग्रंथ कीरचना नहीं की;किंतु जिनकी रचनाओं का समुचित रीति से यदि वर्गीकरण कर दिया जाय तो रस,अलंकार,नायिकाभेद के लक्षण सुव्यवस्थित रूप में प्राप्त अपश्च हो जाते हैं। यह बात सत्य है कि जिन कवियों ने लक्षण ग्रंथ लिखे हैं साथ ही ऐसे स्वतंत्र ग्रंथों की भी रचना की है,उन्हे हम किस कोटि में रखेगे ? यह प्रश्न निरंतर शोध की अपेक्षा रखता है।

मुक्तक काव्य के मुख्य रूप से दो विभाग हो सकते हैं–भाव मुक्तक तथा चमत्कार मुक्तक।भाव मुक्तक के अंतर्गत हम भक्त कवियों की पदावली से लेकर आज तक के गीतों को ले सकते हैं और चमत्कार मुक्तक के अंतर्गत हम संस्कृत,प्राकृत से चली आई श्रृंगारिक सप्तसती तथा शतक–परंपरा को ले सकते हैं जिसका अवतरण रीतिसिद्ध कवियों की कविता में हुआ है। यह विभाजन इसलिये की भाव मुक्तक में चमत्कार नहीं होता और चमत्कार मुक्तक में भाव नहीं होता। यह विभाजन केवल वस्तु के परिमाण में ही किया गया है।रीतिसिद्ध कवि इसी चमत्कार–मुक्तक की परंपरा में आते हैं। श्रृंगार की मुक्तक परंपरा का उद्देश्य केवल चमत्कार से अपने श्रोताओं और पाठकों को चमत्कृत कर देना था। रीतिकाल के अन्य कवियों की तरह सेनापति,बिहारी आदि भी राजाश्रित कवि थे। राजाओं के दरबार काव्य–रसिकों और कवियों के बीच इन्हे भी अपनी प्रतिभा दिखानी पड़ती थी। इनकी रचनाओं में सहृदयभावुकता तथा मन को कौतुक से भर देने की कला निहित है।

(ख) प्रतिनिधि रचनाकार और रचनाएँ–

(1)– सेनापति– श्यद्यपि आचार्य रामचंद्रशुक्ल के इतिहास में 'सेनापति ' को फुटकल भक्त कवियों की श्रेणी में रख गया है किंतु सेनापति के 'कवित रत्नाकर'में नायिका भेद ,विरह–वर्णन, के प्रसंग में षट्ऋतु वर्णन तथा चमत्कार–चारुत्व देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सेनापति रीतिकाल केही अंतर्गत आते हैं। इनके कवित्त रत्नाकर' की रचना संवत् 1706 मानी जाती है।सेनापति के जन्मादि के संबंध में बहुत कम ज्ञात है। अन्तःसाक्ष्य ही उनकी जानकारी का आधार है जिसके आधार पर सेनापति का जन्म अनूपशहर में हुआ था। इनके पितामह का नाम परशुराम दीक्षित और पिता का नाम गंगाधर दीक्षित थां। हीरामणि दीक्षित इनके गुरु थे। सेनापति का जन्म संवत् 1646 वि. के आसपास पड़ता है। रीतियुग के कवियों में सेनापति का 'कवित्त रत्नाकर' प्रथम उत्कृष्ट रचना है। जिसने हिंदी साहित्य के रीतिकाव्य को बहुत प्रभावित किया। 'कवित्त रत्नाकर'के छंदों में श्लेष का चमत्कार प्रभूत रूप में मिलता है। यही सेनापति की कविता का गुण है। सेनापति को अपने काव्य पर गर्व था और उन्होनें इस पर अपनी गर्वोक्ति जाहिर भी की है। सेनापति संस्कृत के आचार्य जगन्नाथ के समकालील थे। सेनापति अपने काव्य के संबंध में कहते हैं–

राखत न दोष दोषै पिंगल के लक्षन कौं,
बुध कवि के जो उपकंठ ही बसति है।
जो ये पद मन कौं हरषि उपजावत है,
तजै को कनरसे जो छनद सरसति है।।
अच्छर है विशद करति उषै आपसम,
जातैं जगत की जड़जाउ विनसति है।

मानों छबिं ताकी उदवत सबिता की,
सेनापति कवि ताकी कविताई विलसित है।

'कवित्त रत्नाकर' के कुछ छंदों से ज्ञात होता है कि सेनापति भी कुछ राजदरबारों से संबंधित रहे थे।उन्होंने अपने एक छंद में अपने आश्रयदाता को राम के समान बताया। पाण्डित्य प्रदर्शन से अपने आश्रयदाता को प्रसन्न रखने का तो वह युग ही था।सेनापति की ख्याति उनके श्रेष्ठ ऋतु–वर्णन की है।'कवित्त रत्नाकर' का तीसरी तरंग उनके ऋतु–वर्णन से सजा है। सेनापति का यह ऋतुवर्णन कहीं परंपरा से प्राप्त उद्दीपन के रूप में हुआ है तो कहीं आलंबन के रूप में। सेनापति उन कवियों में प्रथम है जिसने प्रकृति का यथातथ्य संश्लिष्ट रूप प्रस्तुत किया है।यथा–

दूरि जदुराई सेनापति सुखदाई देखो,
आई ऋतु पावस न पाई प्रेम पतियां।
धीर जलधर की सुनत धुनि धरकी,
औ बरकी सुहागिन की छोह भरी छतियां।।
आई सुधि बर की,हिये में आनि खरकी,
सुमिरि प्रानप्यारी वह प्रीतम की बतियां।
बीती औधि आवन की लाल मन भावन की,
डग भई बावन की सावन की रतियां।।

उपयुक्त छंद में पावस ऋतु ,सावन का महीना और उसमें अंधेरी रात की वर्षा की झड़ी सभी कुछ उद्दीपन व्यापार बनकर आये हैं। शंका, वितर्क, उत्सुकता, स्मृति एवं गर्व संचारी भाव की सुंदर योजना है।नायिका को उदीप्त करने के लिये यह पावस वर्णन काफ़ी सटीक हैं अब हम एक प्रकृति के निरूपण–दृष्टि को देखें–

खण्ड–खण्ड सब दिग्मंडल जलद सेत,
सेनापति मानो सृंग फटिक पहार के।
टंबर अडम्बर सौं उमड़ि ,घुमड़ि,
छिन छिछकैं छछारे छिति अधि उछार के।।
ललित सहल मानौं सुधा के महल नभ,
तूल के पहल किधौं पवल अधार के।
पूरब कौं भाजत है,रजत से राजम हैं,
गग गग गाजत गगन घन क्वार के।।

कवि की सुंदर शब्दयोजन क्वार के बादलों का चित्र खींचा है।

उनका बड़ा प्रसिद्ध ग्रीष्म ऋतु का वर्णन देखिये–

वृष को तरनि तेज सहसौ करनि तपै,
ज्वालनि के जाल विकराल बरसत है।
तचति धरति,जग झुरत झुरलि,सीरी
छांह को पकरि पंथी पंछी बिरमत है।
सेनापति नेक दुपहरी के ढरत होत,
धमका विषम जोन पात खरकत है।
मेरे जान पौन सी ठौर को पकरि काहूं
घरी एक बैठी कहूं घामें बितबत है।।

सेनापति जैसा ऋतु वर्णन रीतिकाल के किसी कवि ने नहीं किया है।सेनापति अपने प्रकृति–वर्णन के द्वारा ही प्रसिद्धि प्राप्त कर सके। वस्तुतः सेनापति प्रकृति के उद्दीपन एवं आलम्बन दोनों रूपों के चतुर चितेरे हैं।

'कवित्त रत्नाकर' की दूसरी तरंग में श्रृंगार –वर्णन किया गया है। जिसके अन्तर्गत कवि ने नायिकाओं के कुछ भेदों के आधार पर छंदों की रचना की है जिनमें मुख्य रूप से मुग्धा, खंडिता, वचनविदग्धा,स्वाधीनपतिका,स्वकीय तथा परकीय आदि का सुन्दर वर्णन हुआ है।

रीतिकालीन कवियों ने परकीया नायिका के वर्णन में ही अधिक रुचि दिखाई है,सेनापति ने भी यहीं किया। किंतु इनका वर्णन स्वकीय का अधिक अच्छा है,परकीया की तुलना में ।

लोचन जुगुल धीरे–धीरे चपल सोई
सोभा मंद पवन चलत जलजात की।
पीत हैं कपोल तहां आई अरुनाई नई,
ताही छबि करि ससि आभा पात पांतकी।।
सैसव निसा अथौत जीवन दिन उदीत
बीच बाल बधू झाई पाई परभात की।।

इस पद में 'काम भूप सोबत सो जागत है' लाक्षणिक पद है जिसका लक्ष्यार्थ है –शैशवकाल समाप्त हो गया और शरीर में यौवन का आगमन हो गया है,जिससे कामनाओं की दौड़ धूप होने लगी है।

कविवर सेनापति को अपनी भाषा पर पूर्ण अधिकार है। उन्होने 'सभंग–पद–श्लेष' बड़ी दक्षता से लिखा है।उक्ति चमत्कार,भाषा–माधुर्य तथा मत्यात्मक छंद–प्रयोग करने में वे अत्यंत कुशल हैं। इस विवेचन से यह सिद्ध है कि सेनापति रीतिसिद्ध कवियों में अग्रणी हैं।अंतिम समय में कहा जाता है कि वे जीवन से विरक्त हो गये थे।

(2)–कवविर बिहारीलाल– हिंदी के श्रृंगारी कवियों में सर्वाधिक ख्याति प्राप्त करनेवाले कवि बिहारी हैं।बिहारी रीतिकाल के ऐसे कवि हैं जिनकी प्रशंसा न केवल भारतीय करते हैं ,बल्कि अभारतीय विद्वान भी इनके काव्य के उतने ही प्रशंसक हैं।इनकी प्रसिद्धि का एक मात्र कारण इनकी 'सतसई' है। रामचतिर मानस के बाद यह एक ऐसी रचना है जिसका सर्वाधिक अनुवाद हुआ है। इसके संस्कृत अनुवाद को देखकर कईबार लोग भ्रमित हो जाते हैं कि यह संस्कृत की रचना है। कविवर बिहारी स्वयं कहते हैं–"किसी कवि का यश उसकी रचनाओं के परिमाण के हिसाब से नहीं होता,गुण के हिसाब से होता है।" बिहारी सतसई के संबंध में प्रसिद्ध है– "सतसैया के दोहरे ज्यौ नाविक के तीर,देखन में छोटे लगें ,घाव करैं गंभीर।।"आचार्य रामचन्द्रशुक्ल ने बिहारी का जन्म सं.1660 माना है। बिहारी सतसई इनकी प्रौढ़काल की रचना है।इसका रचना काल सं. 1719 माना जाता है।बिहारी के जन्म के संबंध ा में अनेक विवाद होने के बावजूद अब यह मान लिया गया है कि इनका जन्म ग्वालियर में ही हुआ है। हां इनका जीवन मथुरा,आगरा,बुंन्देलखण्ड तथा जयपुर में बीता।बिहारी का आचार्य केशव दास से संबंध लगभग आठ वर्ष की उम्र में ही हो गया था। इन्होंने केशव दास के अन्य ग्रंथों के अलावा कविप्रिया और रसिकप्रिया का सम्यक अध्ययन किया। बिहारी ने संस्कृत नरहरिदास से सीखी।बिहारी को अपने साथ ले जाने की आज्ञा श्शाहजहां ने इन्हीं नरहरिदास से प्राप्त की थी। श्शाहजहां के दरबार में बिहारी का सम्पर्क आचार्य पंडितराज जगन्नाथ से काफी घनिष्ट हो गया। श्शाहजहां के यहा ही बिहारी का संबंध अब्दुल रहीम खानखना से हुआ। खानखाना बिहारी की काव्य–प्रतिभा से अत्यधिक प्रसन्न हुए थे और उन्हें पुरस्कृत भी किया था,किंतु बिहारी बहुत समय तक श्शाहजहां के दरबार में नहीं रह सके और सं .1692 वि. में वे महाराजा मिर्जा राजा जयसिंह के पास जयपुर पहुंचे। किंतु राजा अपनी नवपरिणीता के साथ पत्नी प्रेम में इतने मगन थे कि राजकाज के लिए दरबार आने की सुधि भी उन्हें न रहती थी।ऐसे में बिहारी ने अपने एक सतसई से राजा का मानस पलट दिया।

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु,नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही साके बंध्यो,आगे कौन हवाल।।

कहते हैं मिर्जा राजा जय सिंह यह दोहा पढ़कर उसका आशय हृदयंगम कर दरबार में आए और बिहारी की काव्य–प्रतिभा से प्रभावित होकर बिहारी को बहुत सारा धन दिया। और आगे प्रत्येक दोहे पर एक अशरफी देने का वचन दिया। इस पर बिहारी ने सतसई की

रचना की जिसके बारे में स्वयं बिहारी लिखते हैं–

हुकुम पाइ जयसाहि कौ,हरि राधिका प्रसाद।
करी बिहारी सतसई,भरी अनेक संवाद।

बिहारी का जयसिंह को एक दोहा लिखकर भेजने की घटना अत्यन्त महत्व की है जिसमें यह सिद्ध होता है कि उन्होंने अपनी काव्य प्रतिभा के बल पर एक कर्तव्यच्युत राजा को राजकाज की सीख दी। इसमें आचार्य मम्मट की यह पंक्ति ध्वनित होती है–" काव्यं..कांतासम्मतयोपुदेशयुजे।"

बिहारी की जीवनानुभूति अत्यन्त गहन थीं उनमें मानव स्वभाव परखने की अद्भुत क्षमता थी।नागरिक संस्कृति से उनका लगाव था। प्रकृति के विभिन्न व्यापारों में उन्होंने मानवीय मनोदशा का आरोपण किया था और नर–नारी के पारस्परिक संबंध–ज्ञान को उन्होंने अपने दोहों में समाविष्ट किया थां विभिन्न विद्वानों के संपर्क में आने तथा अनेक भाषाविद् होने के कारण बिहारी के काव्य तथा उनकी भाषा पर इसका प्रभाव दिखता है। राजनीति की दुरभिसंधि को भी विभिन्न हिंदू–मुसलमान राजदरवारों में बिहारी ने देख लिया था। तत्कालीन राजा और सरदार किस प्रकार सत्ता के लिए अपने सगे भाइयों को मार देते थे। और हिंदू सम्राट अपने स्वार्थ के कारण किस प्रकार मुगल संम्राटों से अपने ही सजातीय राजाओं का विरोध करते थे। मिर्जा राजा जय सिंह को बिहारी ने संभवतः ऐसे कुकृत्यों से बचाने के लिए ही यह दोहा लिखा होगा–

स्वारथ सुकृत न श्रम बृथा देखि बिहंग बिचारि।
बाज पराये पानि पर तू पच्छीन न मारि।।

बिहारी अपने दोहों के माध्यम से राज दरवारों की अनुचित नियुक्तियों ,प्रोत्साहनों पर भी उंगली उठाते थे, यथा–

दिन दस आदर पाइ कै,करि लै आपु बखान।
जौ लगि काग सराध परबु,तौ लग तौ सनमान।

तथा

मरतु प्यात पिंजरा परयो,सुआ समय कै फेर।
आदर दै दै बोलियत,बायसु बलि की बेर।।

उक्त दोहे यह सिद्ध करते हैं कि बिहारी अपने समय की राजनीतिक स्थिति से कितनी बारीकी से परिचित थे। बिहारी का समाज बड़े बड़े सरदारों,राजाओं और उनके मुसाहिबों का समाज था। इसीलिए बिहारी का ग्राम्य जीवन से ज्यादा संबंध नहीं रहा। निम्न दोह इसकी व्यथा कथा बखान कर रहे हैं–

वे न इहां नागर बढ़ी जिन आद तो आब।
फूलो अनफूल्यों भयौ,गवंई गांव गुलाब।।
चल्यो जाइ,ह्यां को करै,हाथिन के व्यापार।
नहिं जानतु ,इहिं पुरबसै,धोबी ओड़,कुंभार।।

बिहारी ग्राम–बधुओं का यत्र–तत्र स्वाभाविक श्रृंगार भी किया है;किंतु वहां भी उन्होंने उन ग्रामीण स्त्रियों को 'गांवारि' श्शब्द से ही संबोधित किया है–

गोरी गदकरी परैं,हंसत कपोलन गाड़।
कैसी लसति गंवारि यह,सुनकिर वाकी आड़।।
गदराने तन गोरटी,ऐपन आड़ लिलार।
हूठयौ दै इठलाय दृग,करैं गंवारि सुमार।।

कहा जा चुका है कि 'रीतिसिद्ध' कवि अपने पूर्ववर्ती संस्कृत के श्रृगारी मुक्तक कवियों की परंपरा में आते हैं। 'बिहारी' हिंदी के श्रृंगार मुक्तक कवि–माला के तो 'सुमेरु' हैं।

आचार्य पद्यसिंह शर्मा ने बिहारी के ऐसे दोहों का अध्ययन किया है जिसमें संस्कृत ग्रंथों का प्रभाव देखा जा सकता हैं। उदाहरण के तौर पर यहां निम्न दोहों को देखना प्रासंगिक होगा,यथा–

"अल्यौं न आये सहज रंग,बिरह दूबरे गात।
अब ही कहा चलाइयत,ललन चलन की बात।"
अब्बो दुक्करआरअ पुणो वि तन्ति करेसि गमण्स्स।
अज्ज विण होन्ति सरला वेणीअ तरंगिणी चिउरा।।

गाथा के अनुसार नायिका नायक से कह रही है कि तुम्हारे विदेश प्रवास के वियोग के कारण हमने कभी श्र गार नहीं किया जिसके कारण हमारे बाल अभी तक उलझे हैं,अभी तुम्हारे आने पर भी मैं उन्हे सुलझा नहीं पाई और प्रियतम तुम फिर जाने की बात कह रहे हो।गाथाकर ने प्रस्तुत दोहे में मार्मिक चमत्कार भरा है।इसी तरह बिहारी की नायिक इतनी दुबली हो गई है कि उसके पूर्व की चमक दमक अभी तक नहीं लौटी।

इसी तरह इसे देखें–

"स्वारथ सुकृत न श्रम बृथा,देखि बिहंग बिचारि।
बज पराये पानि पर,तू पंछीहि न मारि।।
आयासः परहिंसा वैतंसिक सारमेव!तब सार।
त्वामपसार्य विभाज्यः कुरंग एषोऽधुनैवान्यैः।।

आचार्य गोर्वधन ने अपने श्लोक में कुत्ते की अन्योक्ति से जो बात कहलानी चाही है उसे 'बिहारी' ने 'बाज' पक्षी के द्वारा कहला दी है। दोनों का उद्देश्य एक ही है तथापि कुत्ता पराश्रयी है। वह अपने स्वामी की आज्ञा का पालन विवश होकर भी करेगा ही पर बाज पराश्रयी नहीं है। अतएव उसका इस प्रकार से दूसरे के कहने पर अपनों की अथवा निर्दोश की हत्या उचित नहीं है।अतः तुलनात्मक ढंग से देखें तो बिहारी की उक्ति अधिक औचित्य पूर्ण है।

जिस समय रीतिकालीन कवि अपनी रचना सवैया,घनाक्षरी छंदों में करे रहे थे,बिहारी ने अपने लिए अत्यंत छोटा छंद दोहा को चुना। अपनी काव्य प्रतिभा को प्रदर्शित करने का इससे सार्थक माध्यम और क्या हो सकता था। बिहारी के दोहे का एक एक शब्द सार्थक और चमत्कारपूर्ण भाव से भरे हुए हैं। श्रृंगार,प्रेम ,नीति,वैराग्य तथा प्रकृति निरूपण सभी कुछ इन दोहों में मिलता है। वास्तव में अब्दुल रहीम खानखाना की यह युक्ति बिहारी के दोहों पर ही चरितार्थ होती है–

"दीरघ दोहा अर्थ के ,आखर थोरे आहि।
ज्यों रहीम नट कुंण्डली,सिमिटि कूदि कढ़ि जाहिं।।

बिहारी की एक और विशेषता है कि बिहारी ने काव्यशास्त्रीय विधान से नखशिख वर्णन नहीं किया है किंतु उनका दोहे में वर्णित नायिका का श्रृंगार चमत्कारिक है:–

पग पग मन अगमन परति,चरन अरुन दुति झूलि।
ठौर ठौर ललियत उठे,दुपहरिया से फूल।।

नायिका का परदर्शी सौदंर्य देखें–

खरी लसत गोरी गरे,घंसति पान की पीक।
मनो गुलूबन्द लालकी,लाल–लाल दुति लीक।।

बिहारी ने श्रृंगार वर्णन के प्रसंग में संयोग और वियोग दोनों पक्षों का वर्णन किया है,किंतु संयोग–वर्णन में उनकी वृति जैसी रमी है वह वियोग में नहीं दिखई देती है। वियोग वर्णन के मुख्यतः चार प्रकार बतलाये गए हैं–

(1) पूर्वाराग(2) मान (3)प्रवास (4) करुण ।प्रथम तीनों के उदाहरण 'बिहारी सतसई' में मिल जाते हैं। करुण रस का उदाहरण बिहारी की सतसई में नहीं हैं। मान के भी दो भेद बताए गये हैं।जिनमें बिहारी ने खंडिता नायिका के प्रसंग में ईर्ष्यामान चित्रित किया है,किंतु इस चित्रण में बिहारी ने न केवल नायक के शरीर पर लगे हुए रति–चिंहों का ही उल्लेख किया है। उन्होंने नायिका के व्यंग्य ,वचनों से उत्पन्न नायक की मानसिक प्रतिक्रिया का चित्रण नहीं किया। अतएव यह वर्णन चमत्कार प्रधान हो गया–

प्रान प्रिया हिय में बसे नख–रेखा ससि–भाल।
भलो दिखायो आन यह हरिहर–रूप रसाल।
ससि बदनी मीकों कहत हौं समझी निजु बात।
नैन–नलिन प्यो रावरे न्याय निरखि नय जात।।

बिहारी अपनी बहुज्ञता के लिए भी प्रसिद्ध हैं।बिहारी ने भक्ति तथा दर्शन संबंधी दोहों की भी रचना की है जिनमें बिहारी का दैन्य,सख्य तथा उपालम्भ भाव भी देखा जा सकता है। बिहारी ने ज्योतिष,वैद्यक,गणित तथा संगीत संबंधी अपनी जानकारी भी सतसई में दी है। अतः लक्षण ग्रंथ न होने पर भी सतसई को काव्य–शिक्षा का प्रमुख ग्रंथ माना गया है। इसके अतिरिक्त बिहारी ने भले ही शास्त्रीय रचना न की हो किंतु उन्हे रस,ध्वनि,अलंकार,वक्रोक्ति आदि का पूरा ज्ञान था। इसके अतिरिक्त इनके दोहों में सभी वृतियों का प्रयोग हुआ है। प्रसाद और माधुर्य की इसमें अधिकता दिखाई देती है।इससे सिद्ध होता है कि बिहारी एक सिद्धहस्त कवि थे। बिहारी अपने समाहार–शक्ति के लिए जाने जाते हैं।बिहारी ने लिखा है–

"वह चितवनि औरै कछू,जेहि बस होत सुजान"।

(2) रसनिधि – इनका मूल नाम पृथ्वीसिंह था। 'रसनिधि' इनका उपनाम था। ये दतिया राज्य में बरौनी इलाके के जागीरदार थे।इनका संपर्क धामी संप्रदाय के प्रर्वतक प्राणनाथ स्वामी से भी हुआ था। इनके जीवन के संबंध में विशेष सामग्री नहीं मिलती।इनका रचनाकाल 1603 से 1660 तक माना जाता है।इनके निम्न लिखित ग्रंथों की जानकारी मिलती है–रतनहजार,विष्णुपदकीर्तन,कवित्त,बारहमासा, रसनिधि–सागर,हिंडोला,अरिल्ल आदि। इनकी ख्याति का मूल ग्रंथ 'रतनहजारा' माना जाता है।यह एक दोहा–संग्रह है जो बिहारी सतसई की तर्ज पर लिखा गया है।धार्मिक दृष्टि से उदार रसनिधि ने कभी भी हिंदू–मुस्लिम का पृथक व्यवहार स्वीकार नहीं किया।इसका कारण स्वामी प्राणनाथ का संपर्क था। इसीलिए इनके दोहों में प्राणतत्व की व्यापकता दिखाई देती है।फिर भी रसनिधि की मूल प्रकृति प्रेम और श्रृंगार है।जिसको इन्होंने समकालीन रीति परंपरा का ध्यान रख कर प्रस्तुत किया हैं ऐसे दोहों में रूप–वर्णन की रीतिबद्ध विशेषता,जिसमें अलंकृति और श्रृंगार–परंपरा विद्यमान है,प्राप्त होती है। इनके अनेक दोहे बिहारी और मतिराम से तुलनीय हैं।

लाल भाल पै लसत है,सुन्दर बेंदी लाल।
कियो तिलक अनुराग ज्यौं,लखि कै रूप रसाल
सबही की पोषन करै,अमृत कला सरसाई
ससि चकोर के दरद को ,अज्यों सकत नहिं पाइ।
पल अंजुरिन सों पियत दृग,जल असुवा भरि सौंस।
गनित रहित हैं अवधि कै,दिन पखवारे मासै।।

उपयुक्त दोहों में रसनिधि की अलंकारप्रियता ,नखशिख–सौन्दर्य–चित्रण,सौन्दर्यानुभूति और विरह–भावना के चित्रण की प्रवृतिंया स्पष्ट हैं।इस प्रकार इनके दोहों में रीतियुगीन प्रवृति के दर्शन होते हैं।

(3) वृंद– वृंद(1643–1723) कवि के पूर्वज बीकानेर के रहने वाले शाकद्वीपी भोजक ब्राह्मण थे,परंतु किंहीं कारणों से इनके पिता श्री रूप जी मेड़ते में आ कर बसे।दस वर्ष की अवस्था में इनके पिता ने अध्ययन के लिए इन्हें काशी भेजा।वहां तारा पंण्डित के पास रहकर इन्होंने व्याकरण,साहित्य,वेदांत,गणित,दर्शनशास्त्र आदि का ज्ञान प्राप्त किया। और काव्य–रचना भी सीखी। काशी से लौटनें के बाद जोधपुर–नरेश महाराज जसवंतसिंह ने इन्हें कुछ भूमि प्रदान की तथा बाद में इनका परिचय औरंगजेब के वजीर नवाब मुहम्मद खां से हुआ और औरंगजेव के दरवार में स्थान मिला। किंतु इसमें भी एक कथा है कि औरंगजेव ने इन्हे एक समस्या दी–'प्योनिधि पैर्यों चाहे मिसिरी की पुतरी।' वृंद ने उसकी उसी समय पूर्ति की,जिस पर प्रसन्न होकर औरंगजेब के मुंह से 'खूब–खूब' प्रशंसात्मक शब्द निकले और उसने बहुत–सा धन दे कर इन्हें अपना दरबारी कवि बनाया। तदंतर उसने इन्हें अपने ज्येष्ठ पुत्र शहजादा मुअज्जम तथा पौत्र अजीमुस्सम्म का शिक्षक नियुक्त किया।वृंद इनके साथ उड़ीसा और बंगाल गये और इनके कहने पर बहुत सी रचनाएं लिखीं।सन् 1707 में किशनगढ़ के महाराज राजसिंह ने वृंद को मांग लिया और अच्छी जागीर दे कर इन्हें किशनगढ़ मै बसाया।

वृंद की रचनाएं–इनकी प्रमुख सोलह रचनाएं ज्यादा प्रसिद्ध हैं:यथा– बारहमास (1668), भावपंचाशिका (1686), नयनपचीसी (1686), पवनपचीसी (1691),श्रृंगार–शिक्षा(1691),यमक–सतसई(1706), आदि । ये रचनाएं रीति–परंपरा की हैं। भाव पंचाशिका में श्रृंगार के विविध भावों के अनुसार सरस छंद लिखे गये हैं। उदाहरण के लिए निम्नांकित छंद द्रष्टव्य है–

आयो असन्त बसन्त समें,निज कन्त विदेस दिगन्त लियो हैं
बागनि बागनि कोकिल कूकि,बियोगिनि कौं दुख घोर दियो है।
तानि कमान की बाननि सौं,हनि कै तन व्याकुल काम कियो है।
चातुरि रागरि ह्वै,तब काहे मलैगिरि पौन पियों है ?

वृंद ने हेमंत और वसंत ऋतुओं का विशेष वर्णन किया है।इनमें कल्पना का चमत्कार उतना नहीं है जितना अनुप्रास आदि का।यमक–सतसई में विविध प्रकार से यमक अलंकार का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इसके अंतर्गत 715 छंद हैं।यह रचना चमत्कार पूर्ण है। यमक का लक्षण दिये बिना उसके आधार पर रचित इस कृति का वर्ण्य विषय श्रृंगार और भक्ति है। कुछ उदाहरण देखें–

मुरली मरलीधर धरी,अरी परी धुनि कान।
जातन जात न बनत है,लाज करी कुल कान।
देह दही वेचत दही,दई दई यह जाति।
गोरस मिस गोरसहिं,हरि,मग मंडराति डराति।।

इस प्रकार वृंद की रचनाएं रीतिबद्ध परंपरा में विशिष्ट स्थान रखती हैं।

(4) नृप शंभु–नृपशंभु के संबंध में हिंदीसाहित्य में कई मत पाये जाते हैं।किन्ही ने इन्हे सितारागढ़ वाले और किन्हीं ने शंभुनाथसिंह सोलंकी कहा है।नृप शंभु की रचनाओं में जो उपनाम प्रयुक्त हुए हैं–नृप,शंभु,शंभुराज, शंभु–कृति,शंभु जू आदि।शंभुराज या नृपशंभु छत्रपति शिवाजी महाराज के पुत्र थे।इनका जन्म 1657 ई.में पुरंदर में हुआ था।दो वर्ष बाद ही माता का स्वर्गवास हो गया,अतः इनका पालन पोषण इनकी दादी अर्थात माता जीजाबाई ने किया। नृपशंभु की शिक्षा दीक्षा तत्कालीन परंपरा के अनुसार हुई।जिसमें इन्होंने संस्कृत,फारसी का ज्ञान प्राप्त किया। नृप शंभु ने संस्कृत में'बुधभूषण' नामक ग्रंथ की रचना की,जिससे स्पष्ट है कि इन्होंने अलंकारशास्त्र ,पुराण,संगीत और धनुर्विद्या में शिक्षा प्राप्त की थी। इनका विवाह सन् 1665 में येसूबाई से हुआ,जो बड़ी योग्य पत्नी थीं।वे राजनीति में बड़ी निपुण थी और राजकाज में भी सहायता देती थीं।

श्शंभुराज को आठ वर्ष की अवस्था में औरंगजेब द्वारा 'पंचहजारी' पद प्रदान किया गया। 15 मई 1666 को औरंगजेब की प्रार्थना और राजा जयसिंह के आश्वासन पर पंचहजारी शंभुराज तथा शिवाजी ने औरंगजेब से भेंट की। वहीं छल करके बादशाह ने इन्हें कैद कर लिया। बड़ी चतुराई और कठिनता से दोनों कैद से मुक्त हुए।शंभुराज उस समय केवल नौ वर्ष के थे।इन्हें मथुरा छोड़कर शिवाजी बनारस होते हुए महाराष्ट्र लौट आए।वहां रहने के कारण नृपशंभु पर ब्रजभाषा का प्रभाव पड़ा और उन्होंने ब्रजभाषा पर रचना की।कुछ लोग इन्हें व्यसनी और विलासी मानते हैं।परंतु यह सत्य प्रतीत नहीं होता। ये वीरता और धर्म पर प्राण देने वाले थे। शिवाजी की मृत्यु के उपरांत औरंगजेब ने इन्हें कैद कर लिया तथा इनकी आंखे निकाल ली।

नृपशंभु की तीन हिंदी–कृतियां प्राप्त होती हैं–'नायिकाभेद','नखशिख' और सातशतक'। प्रथम दो रचनाएं इनकी उत्कृष्टकाव्य प्रतिभा का प्रमाण हैं। इनके छंदों में कहीं भी मराठी भाषी कवि होने की झलक नहीं मिलती।इनकी दोनों रचनाएं रीतिपरंपरा की हैं।इनमें भाषा लालित्य और कल्पना का सुंदर प्रयोग है।

सासु कह्यों दधि बेचन को,
सुदई सुखदाई कहां ते धौं हांक री।
मोहि मिले 'नृपशंभु' गुपाल,

तमाल तरे वह गैल जो सांकरी।।
मो तन ताकि बड़ी अंखियान तें,
कांकरी लै घिरि मो तन धांकरी।
कांकरी आड़ि गयी कर तें पैं
करेजे कहां धौंगयी गड़ि कांकरी।।

नृपशंभु देव और मतिराम के समकक्ष ठहरते हैं।

(5) नेवाज–नेवाज महराज छत्रसाल के दरवारी थे।इनका समय सन्1680 के आसपास मानना चाहिए।मिश्रबंधुओं के अनुसार ये कान्यकुब्ज तिवारी थें। भगवंत कवि का निम्न दोहा इनके और छत्रसाल महाराज के संबंध को बताता है।

भली आजु कलि करत हौ, छत्रसाल महराज।
जहं भगवतगीता पढ़ी तहं कवि पढ़त नेवाज।।

नेवाज छत्रसाल के दरवार में भगवंत कवि के पश्चात नियुक्त हुए। इनका 'शकुंतलानाटक' नामक ग्रंथ मिलता है,जो वास्तव में नाटक न हो कर काव्यग्रंथ ही है। इसमें उत्तम छंद रचना है तथा भावों का मार्मिक चित्रण मिलता है। मिश्रबंधुओं ने इनकी भाषा की बड़ी प्रशंसा की है। संयोग–श्रृंगार का इन्होंने विशेष वर्णन किया हैं इनकी रचना श्शैली रीतिस्वच्छंद कवि ठाकुर की टक्कर की है।ऐसा लगता है कि इन्होंने श्रृंगार का व्यापक वर्णन करने वाला कोई ग्रंथ लिखा होगा,परंतु अ बवह नीं मिलता। इस संदर्भ में जो स्फुट छंद मिलते हैं,वे इस बात के द्योतक हैंकि इन्होंने सहज ढंग से प्रेम–व्यापार का वर्णन किया है। उदाहरण के लिए यह छंद–

आगे तैं कीन्हीं लगा लगी लोयन,कैसे छिपे अजहूं जो छिपावति।
तू अनुराग की सौंध कियोंब्रज की बनिता सब यौं ठहरावति।
कौन संकोच रह्यौ है 'नेवाज',जो तू तरसै उनहूं तरसावति।
बावरि जो पै कलंक लग्यौ,तो निसंक ह्वै क्यों नहिं अंक लगावति।।

(6) कृष्णकविः कृष्ण कवि ने बिहारी सतसई के प्रत्येक दोहे पर सवैया बनाया था।इस कारण बिहारी की परंपरा में इन्हें रीतिबद्ध कवियों की श्रेणी में रखा गया है।इनके जीवन वृत पर बहुत अधिक कुछ नहीं मिलता ।कहा जाता है कि जयपुर नरेश महाराज जयशाह के मंत्री के आश्रित थे। और उन्हीं के आग्रह से इन्होंने 'बिहार–सतसई ' की टीका लिखी।कुछ विद्वान इन्हे बिहारी का पुत्र भी मानते हैं।परंतु इसका कोई प्रमाण नहीं है।'बिहारी सतसई की टीका' और विदुरप्रजागर' इनकी दो रचनाएं मिलती हैं।इनका समय 1720 के आसपास मान जात है।इनकी कवित्ता सवैया बद्ध टीका काफी रोचक है।

छबि से फबि सीस किरीट बन्यो रूचि साल हिये बनमाल लसै।
कर कंजहि मंजु रही मुरली कछनी कटि चारु प्रभा बरसै।
कवि कृष्ण कहै लखि सुंदर मूरति यों अभिलाष हिये सरसै।
वह नंदकिशोर बिहारी सद यहि बानिक मो हिय मांझि बसै।।

(7) हठी जी– हठी जी का जन्म समय 1780 ई. के आसपास निर्धारित किया गया है।ये राधावल्लभ संप्रदाय के कृष्णभक्त कवि थे। इस संप्रदाय के ग्रंथों में इनका जन्मस्थान चरखारी माना जाता है।यद्यपि ये कृष्णभक्ति परंपरा के कवि थे,फिर भी इनकी रचना रीति–चेतना से संपृक्त है,क्योंकि उसके अंतर्गत उक्तिवैचिन्य,नखशिख सौंदर्यचित्रण, और श्रृंगारवर्णन की रीतिपरंपरा का पूरा अनुगमन है। इसीलिए इनको रीतिबद्ध परंपरा में स्थान दिया गया हैं।इनका एक ही प्रसिद्ध ग्रंथ उपलब्ध है जो 'श्रीराधासुधशतक' नाम से है। इनकी रचना में विलास आरै संपन्नता का वर्णन मिलता है,साथ ही कविता में अलंकृति है । इसमे उपमा और उत्पेक्षा को विशेष स्थान प्राप्त है।

केसर से अंग पट केसर के रंग जगे मोती गुहौ गंग है अनंग हूं की बालिका।
रम्भा सी रमा सी मेनका सी मंजुघोषा सम सची सी उमा सी सुखमा सी जोति जालिका।
सांझ समै आन वृषभानु की कुमारी राधा ठाढ़ी दरवाजे 'हंठी' प्रानन की पालिका।
भाग भरे नैनर निहारौ नन्दलाल चलि रैन गुजरी सी दीपमालिका।

2.6 रीतिमुक्त

रीतिमुक्त पर परंपरा है जिसमें वे रचनाकार आते हैं जिन्होंने तत्कालीन रीति–रूढ़ि के विरुद्ध तीव्र आक्रोश व्यक्त करते हुए भावावेगपूर्ण वस्तु प्रतिपादन के स्थान पर चमत्कारमूलक शिल्पमंडन,स्वानुभूति समर्पित सत्योद्घाटन के स्थान पर वासनात्मक श्रृंगारी उक्तियों की पुनरुक्ति और शास्त्रीय मान्यताओं का अन्धानुकरण,आत्म–प्रस्थान के स्थान पर अहंग्रस्त सामंतवर्ग की विलास–केन्द्रित अभिरुचि का प्रशस्तिपूर्ण ख्यापन–प्रकाशन, संकीर्ण प्रवृतियों की कटु भर्त्सना की और स्वयं रीति के स्वमताभिमानी आचार्य कवि ,गुण–विरहित अनेक आचार्य–कवियों की पंक्ति में शामिल न होने तथा बौद्धिक जड़ीभवन के युग–ज्वर से मुक्त रहकर अन्तर्मन के सरल–सहज–रागात्मक संवेदनों को विश्वास्य एवं वरेण्य रूप में वाणी देने की शपथ ली। ये कवि रीतिमुक्त थे। तथा निबंध भावों के स्वच्छंद गायक थे। इनकी कविता निश्चित रूप से प्रयत्नसाध्य नहीं थी। प्रकारांतर से कहा जा सकता है कि रीतिमुक्त कविता में आप पग–पग पर जो वैशिष्ठय पायेंगे,वह है–'सर्जन की मोहक अनायासता'।

रीतिबद्ध और रीतिमुक्त कविता में कौन आगे है या कौन पीछे कह पाना आज भी कठिन है। किंतु रीतिमुक्त कविता उत्तर–मध्ययुग की एक साहित्यिक क्रांति हैं रीतिमुक्त

कवियों द्वारा अन्वेषित नवीन मनोंभूमि पर केवल ललित ब्वतकपससलएकल्पना का राज्य नहीं था,अपितु वहां मृदु प्रणय प्रंसगों में प्रस्पंदित जीवन यर्थाथ को पारिभाषित--विश्लेषण करने की दृढ़ स्वीकृत भी थी। उनकी कविता कोरे उर्बाल या क्षणिक आवेश--मात्र की अभिव्यक्ति न हीं थी,वरन् इसमें संपूर्णरीतियुग की श्रृंगारी,वासनात्मकता और अलंकार--व्यामोहासंति कवियों के सतही,अगंभीर बागाडम्बर की पूरी तिरस्क्रिया के साथ मानवीय परिधि में उदात्त संवेदनबोध की (वैयक्तिकस्तर पर) जीवंत अभिव्यंजना का अपराजेय औत्सुक्य था। इसीलिए रीतिमुक्त कविता अपने समय की एक 'साहित्यक क्रांति' बनी।

(क) प्रवृतियाँ और विशेषताएँ

इस धारा का नामकरण कुछ लोगों ने तो 'रीतिमुक्त' और कुछ ने 'स्वच्छंद' काव्यध ारा किया है। रीतिमुक्त का सीधा अर्थ यही है कि यह धारा रीति परंपरा के साहित्यिक बध नों और रूढ़ियों मुक्त है। यह शब्द स्पष्टतः इस धारा की दूसरी समसामयिक काव्य प्रवृति से तुलात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। रीतिमुक्त नामकरण विवाद रहित और निरापद है पर दूसरा नाम विवेचन की अपेक्षा रखता है,क्योंकि यही शब्द पश्चिमी साहित्य की एक प्रसिद्ध काव्यधारा के लिए रूढ़ है। तो क्या रीतिकाल की यह काव्यधारा किसी प्रकार यूरोप की स्वच्छंद काव्यधारा से संबद्ध है ? लेकिन संबंध के लिए जो ऐतिहासिक आधार चाहिए वे यहां नाम को भी नहीं है।फिर क्या इन दोनों में किसी प्रकार की उल्लेखनीय समानताएँ हैं ? यहाँ यह बतना अप्रासंगिक नहीं होगा कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आधुनिक काल की एक अन्य काव्यधरा को भी स्वच्छंद काव्यधारा कहा है जिसमें श्रीधर पाठक ,माखनलाल चतुर्वेदी ,सियारामशरण गुप्त ,बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' हरिवंशराय बच्चन आदि को गिनाया है, ये सभी अपने समय की प्रचलित साहित्यिक परंपराओं को त्यागकर भावनाओं के मुक्त क्षेत्र में विचरण करने वाले थे। किसी ने प्रकृति के मुक्तरूपों को काव्य का विषय बनाया तो दूसरों ने छायावादी संप्रदाय से अपनी काव्यकला को अंप्रभावित रखा। इसलिए शुक्ल जी की दृष्टि में ये सभी कवि स्वच्छंतावादी थे। इस सबसे यही सिद्ध होता है कि हिंदी काव्य के संदर्भ में स्वच्दंतावादी शब्द परंपराओं और रूढ़ियों के त्याग के अर्थ में अधिक प्रयुक्त हुआ है ,यूरोपीय काव्यधारा की समानता अथवा प्रभाव के अर्थ में नहीं । इसीलिए हम छायावादी साहित्य को भी स्वच्छंद काव्य धारा कह सकते हैं,क्योंकि उसमें षि प्राचीन रूढ़ियों एंव परंपराओं का त्याग हैं फलतः घनानंद कालीन रीतकालीन काव्यधारा को स्वच्छंद काव्य धारा कहना अनुचित नहीं है।

परिभाषा और परिधिः--

अंग्रेजी--साहित्य में रोंमाटिक (स्वच्छंद)और क्लासिकल(शास्त्रीय)काव्यधाराएं अपने विशिष्टि इतिहास और परिस्थितियों के कारण विशिष्ट अर्थो में रूढ़ हो गयी हैं, विद्वानों ने बड़े विद्वता से विविंध प्रकार के उहापोह उन पर किये हैं हिंदी के समीक्षा--साहित्य में भी यह

उसी चिंतन शैली का प्रभाव है जो हम किसी काव्य धारा को नियमबद्ध और दूसरी को मुक्त समझते हैं,पश्चिम में स्व्च्छंद काव्यधारा श्रृंगारिकता,साहसिकता,काल्पनिकाता, भावप्रधानता, अनगढ़पन,सहजता आदि गुणों के लिए प्रसिद्ध है। वस्तुतः ये उक्त धारा के गुण हैं,लक्षण नहीं। लक्षण तो,जैसा स्वच्छंद शब्द से व्यक्त होता है,नियममुक्तता,रूढ़िमुक्तता आदि है। ज्ञान के अन्य क्षेत्रों की भांति कला के क्षेत्र भी नियमों के अनुसार और स्वानुभूति के उन्ममुक्त उद्‌गाता –दो प्राकर के मनीषी प्रवेश करते हैं। प्रथम वर्ग के मनीषी कला की बाह्य रूप–सज्जा ,चयन और श्रेष्ठता पर अधिक बल देते हैं,तो दूसरे अनुभूति के आवेगमय रूप की सहज अभिव्यक्ति को महनीय मानते हैं प्रथम पक्ष की कला–सृष्टि अभ्यास का फल होती है ,तो दूसरों की हृदय–निस्सृत अनुभूति की अभिव्यक्ति प्रवृति का यह भेद थोड़ी बहुत मात्रा में सर्वत्र सर्वदा मिल जाता है, वस्तुतः नियमबद्ध और स्वच्छंद प्रवृतियों का यही मनोवैज्ञानिक मूल है।

अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्वच्छंदतावादी काव्य व्यंजनाप्रधान होता है उसमें सांकेतिकता अधिक रहती है, इसलिए थोड़ी बहुत मात्रा में रहस्यवाद की प्रवृति भी उसमें आ जाती है। इस काव्यधारा में रूप–सज्जा की प्रधानता नहीं होती,व्यक्तिगत अनुभूतियों की यथार्थ अभिव्यति पर दृष्टि रहती है। श्लेमल का कथन है कि क्लासिकल काव्य अपने में पर्यवसित होता है;उसका उतना ही तात्पर्य रहता है जितना शब्द प्रकट करते हैं। पर स्वच्छंदतावादी काव्य में एक ऐसी विच्छित्ति रहती है जो तात्पर्य को पूर्णतया प्रकट भी नहीं होने देती और उसकी इयत्ता अधिकाधिक बढ़ा देती है। विक्टर हयूगो ने स्वच्छंदतावाद काव्य को रूढ़ियों से मुक्त बताया है,डंटन इसमें चमत्कार और अनुभूति की प्रधानता मानते हैं तथा डॉ हेज ने प्रेरणा को इसका प्राण कहा। डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस संदर्भ में कल्पना और भावावेग पर बल दिया है:– "रोमाटिक साहित्य की उत्सभूमि वह मानिसंक गठन है जिसमें कल्पना के अविरल प्रवाह से सघन–संशलिष्ट निविड़ आवेग की ही प्रधानता होती है।इस प्रकार कल्पना का अविरल प्रवाह और निविड़ आवेग ये दो निरंतर घनीभूत मानसिक वृतियां ही इस व्यक्तिप्रधान साहित्यिक रूप की प्रधान जननी हैं।"

आचार्य रामचंद्रशुक्ल प्रकृति के मुक्तरूप और जीवन के सहज प्रवाह को स्व्च्छंदतावादी साहित्य का प्रमुख विषय समझते हैं। उनके अनुसार– "शिष्ट साहित्य के साथ–साथ लोकसाहित्य की धारा बहती रहती है,जिसमें जीवन की सहज और निश्छल अभिव्यक्ति होती है। जब शिष्टि साहित्य पंडितों और आचार्यो की रूढ़ियों में आबद्ध हो जाता है तो भाव की सजीवता और स्फूर्ति जीवनगत दूसरी प्राकृतिक भावधारा से ही प्राप्त हो सकती है, इस प्रकार के परिंतवर्तन को ही अनुभूति की सच्ची नैसर्गिक स्वच्छंदता कहना चाहिए।"

क्लासिकल प्रवृति के कलाकार की प्रशंसा इस बात में है कि वह जीवन और जगत को अपनी प्रतिभा से यथातथ्य ग्रहण करे और इन्हें प्रभविष्णु अभिव्यति प्रदान करे। पर

रोमांटिक प्रवृति के कवि की श्रेष्ठता इसमें है कि उसकी आत्मा स्फुटित होकर अपनी ऐसी अभिव्यक्ति दे कि वह जादू जैसा भाव उत्पन्न करे। वास्तव में स्वच्छंदतावादी मूल कलाकार एक विशेष प्रकार की मानसिक स्थिति में रहता है। इसका न काल से संबंध है और न देश से । नियमों की रूढ़ियों और अपरिवर्तन से डूबे हुए उत्साही कलाकार क्रांति चलाने लगते हैं, इसी का साहित्यिक नाम स्वच्छंदधारा है। स्वच्छंदता की अति जब उच्छृंखलता में परिणत होने लगती है,तो उसकी सीमा बांधना आवश्यक हो जाता है, सीमाओं का बंधन और अनुवर्तन ही क्लासिकल मार्ग है। इस प्रकार क्लासिकल और रोमांटिक प्रवृतियों की क्रिया–प्रतिक्रिया साहित्यिक इतिहास में चलती रहती है।

स्वच्छंद प्रवृति का कवि अंतर्मुखी होता है उसे अपनी अनुभूति पर अधिक विश्वास रहता है।यहां अनुभूति का अर्थ इद्रियानुभूति नही हृदयानुभूति है। संसार का अनुभव करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा अपना अनुभव करने वाला व्यक्ति उसकी दृष्टि से अधिक सच्चा और प्रामाणिक है। स्वच्छंदातावादी साहित्य में अभिन्वत्व रहता है,क्योंकि उसकी प्रेरणा जीवन से मिलती है। जब साहित्य अपने समवर्ती जीवन से प्रेरणा न ले कर पूर्ववर्ती साहित्य से प्रेरणा लेने लगता है,तो वह क्लासिकल बन जाता है, उसकी अभिनवता क्षीण हो जाती है।

यहां यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि कालांतर में रीतिकाव्य में स्वीकृत जिस 'तान–तुक–ताला' का विरोध कर छायावाद ने सुधारवादी दृष्टि से अध्यात्मिकी और विराट–दर्शन तथा मानवतावादी चिंतन से मंडित अपने 'व्यक्ति' और 'स्व'में डूबकर विराट दर्शन की व्याख्या की उसका बीज़ इसी रीतिकाल की कविता में मिलना प्रारंभ हो गया था। संक्षेप में स्वच्छंदतावादी साहित्य की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं:–

1. यह आंतिरिक अनुभूतियों का काव्य होता है, फलतः इसमें भावावेग का उच्छल प्रवाह बहता है।
2. यह मूलतः आत्मप्रधान और व्यक्तिपरक होता है,अर्थात कवि बाह्य जगत को उतना महत्व नहीं देता ,जितना अपने को देता हैं।

   यह सब प्रकार की रूढ़ियों से मुक्त होता है,इसलिए इसमें अभिनवत्व और अद्भुतता के तत्व निहित रहते हैं।
4. अभिव्यंजना में यह संकेतिक और व्यंजनाप्रधान होता है,इसीलिए कहीं–कहीं रहस्यात्मकता का पुट भी इसमें आ जाता है।
5. इसमें कल्पना और असाधारणता का प्राचुर्य रहता है।
6. यह भावप्रधान अधिक और यथार्थप्रधान कम होता है । कवि की प्रवृत अपने हृदय की पर्त खोलने की अधिक होती है,अपनी उक्ति को सजाने संवारने की कम।

रीतिमुक्त काव्यधारा के विकास में घनानंद, आलम, ठाकुर,बोधा और द्विजदेव का योगदान

है।

(ख) प्रतिनिधि रचनाकार और रचनाएँ–

(1)– घनानंदः (सं.1730–1817वि.) –घनानंद स्वछंदधारा के प्रमुखकवि थे।

प्रिय सुजान के तीक्ष्ण कटाक्ष–शर–रूपी (अपने) कवित्त के विषय में घनानंद कहते हैं:"अन्य लोग (रीतिबद्ध रचयिता) तो कवित्त रचने का निरंतर उद्योग करते रहते हैं,जबकि इसके विपरीत मेरे कवित्त मुझे ही निमित्त करते हैं अर्थात मेरा आत्मोत्कर्ष मेरी कविता द्वारा ही संभव है:

तीछन ईछन बान बखान सो,पैनी दसान लै सान चढावत।
प्रानन प्यारे भरे अति पानिम,मायल घायल चोप बढ़ावत।
यौं घनआनंद छाबत भावत,जान सजीवन और तें आवत।
लोग हैं लागि कवित्त बनावत,मोहिं तौ मेरे कवित्त बनावत।।

तो 'मोहिं तौ मेरे कवित्त बनावत' –यह हुई स्वतःस्फुरित स्वच्छंद कविता और सामान्य पीठिका,जहां रचना 'मुख्य' और रचनाकार 'गौण' है।

इस धारा के प्रायः सभ गुण उनकी शैली में मिल जाते हैं,जैसे भावात्मकता,वक्रता, लाक्षणिकता,भावों की वैयक्तिकता,रहस्यात्मकता, मार्मिकता,स्वछंदता आदि।घनानंद की शैली में दिखाई देता है कि उपमा,उत्प्रेक्षा,अतिशयोक्ति,अत्युक्ति आदि की लड़ी बांधनेवालों की अपेक्षा इनकी व्यंजना पद्धति बड़ी ही मार्मिक है। घनआनंद ने तो ऐसे पंथों से भावना को ले आने का साहस किया है जिन पर पुराने कवि तो गए ही नहीं,नए कवि भी आने का साहस कम करते हैं:यथा–

मो सो अनपहचान को पहचानै हरि कौन।
कृपा–कान मधि–नैन ज्यौं त्यौं पुकार मधि–मौन।।

इनकी पुकार मौन में है तो उधर 'नेत्रों में कृपा के कान'' लगे हुए हैं।

लिखि राख्यौ चित्र यौं प्रबाहरूपी नैननि पै,
लही न परित गति ऊलट अनेरे की।
रूप को चरित्र है अनंदघन जान प्यारी,
अकि धौं बिचित्रताई मो चित–चितेरे की ।।

'रंग से बना' चित्र प्रवाह में न तो स्थिर रह सकता है और न उसका रंग ही धुले बिना बच सकता है,पर यहां नेत्रों के प्रवाह में ही प्रिय का चित्र बना हुआ है।ऐसी विलक्षण स्थिति का कारण प्रिय का सौन्दर्य है अथवा प्रेमी का मन,कुछ कहा नहीं जा सकता।

घनानंद अलंकृत शैली का उपयोग करते हैं पर चमत्कार के लिए नहीं। प्रेम की

विषमता के निरूपण के लिए घनानंद ने 'विरोधाभास' का सहारा बहुत लिया है,पर भाषा की मुहावरेदानीं में कहीं बल नहीं पड़ता है–

देखियै दसा असाध अंखियां निपेटिनि की,
भसमी बिथा पै नित लंघन करति हैं।

विरोधाभास के अधिंक प्रयोग से घनानंद की सारी रचना भरी पड़ी है।भाषा के विचार से तो रीतिकाल के बहुत कम इनकी तुलना में टिक सके हैं।घनानंद और ठाकुर ने ब्रजभाषा को बहुत शक्ति दी। घनानंद की रचना में भाषा स्थान–स्थान पर अर्थ की संपति से समृद्ध होकर सामने आती है। वाक्यध्वनि,पदध्वनि तो दूर रहे इन्होंने पदांशध्वनि से भी जगह जगह काम लिया है,यथा–

मेरो मनोरथहू बहिये अरु हैं मो मनोरथ पूरनकारी।

यहां 'मनोरथ' का श्लेष–बल से 'मन का रथ' अर्थ व्यक्त करके कवि ने केवल 'हूँ' से बहुत व्यंजना की है। इससे स्पष्ट है कि घनानंद जी ब्रजभाषा के तो पूरे जानकार थे ही ,भाषा की गति को भी भाव के अनुकूल मोड़ सकते थे। ये ब्रजभाषा के 'प्रवीण' तथा 'भाषा–प्रवीण' दोनों थे।

इनकी दो प्रकार की रचनाएं उपलब्ध हैं,जिनका संबंध लौकिक श्रृंगार और भक्ति से है।लौकिक श्रृंगार की रचनाएं कवित–सवैयें में रचित हैं और दूसरे वर्ग अर्थात भक्ति की रचनाएंपदों और दोहो–चौपाइयों में हैं ।अब तक प्राप्त कवितों की संख्या 752,पदों की 1057 तथा दोंहा चौपाइयों की 2354 है।इनके काव्य में ऋतु और वक्र दोनों शैलियों का प्रयोग मिलता है। घनानंद ने भावों का सीधा वर्णन किया है। इन भावों में रीझना, विषाद, उलझन, अभिलाषा, भूल,उपालंभ आदि प्रमुख हैं। इन भावों के आश्रय है –मन, प्राण,नेत्र तथा अन्य ज्ञानेन्दियां। ज्ञानेन्द्रियों को आश्रय बनाकर कवि ने उनका मानवीकरण कर दिया है।प्रिय के रूप में रीझने पर मन की क्या दशा होती है:यथा–

रावरे रूप की रीति अनूप नयौ नयौ लागत ज्यौं ज्यौं निहारियै।
त्यौं इन आंखिन बानि आनौखी,अघानि कहूँ नहिं आन तिहारियै।
एक हीजीव हुतौ सुतौ बार्‌यौ,सुजान संकोच औ सोच सहारियै।
रोकी रहै न दहै घनआनन्द बाबरी रीझा के हाथिन हारियै।

इसी तरह वियोग दशा की सैकड़ों अंतर्दशाओं के मार्मिक चित्र कवि ने खीचें हैं,जो हृदय को सीधे छूते हैं। वियोग–श्रृंगार में प्रिय के रहने पर प्रेमी का भावमग्न हो जाना स्वाभाविक है,पर घनानंद संयोग में भी भावमग्न हैं। भावात्मकता के कारण ही अनुभूति का संबंध जब सशरीर प्रिय से हट कर अनुभूत्यात्मक हो जाता है,तो उसका संबंध परम सत्ता

से बना प्रतीत होने लगता हैं ।यथा–

मन जैसे कछु चाहत है,सो बखानियै कैसें सुजान ही हौं।
इन प्राननि एक सदा गति रावरे,बावरे लौं लगिये नित लौं।
बुधि औ सुधि नैननि बैननि में,करि बास निरंतर अंतर गौ।
उघरौं जग छाय रहे धनआनंद ,चातिक लौं तकियै अब तौ।

यहां प्रेम का विषय सांसारिक भी हो सकता है और परमात्मा से भी।

डा.नगेन्द्र जैसे आलोचक रीतिकालीन कविता में दमित भावना की मनोग्रंथि का एहसास लें,तो वह अनुचित नहीं है। किंतु घनानंद ने तो अपने ही को निश्छल अभिव्यक्ति प्रदान की ,अतः वह दोष इनकी कविता में नहीं है। सुजान का रूपवर्णन भी इन्होनें अपनी लालसा भरी आंखों से देखकर ही किया है। लौकिक श्रृंगार के क्षेत्र में यह साहस घनानंद ने ही किया है।यथा–

अंक भरों चकि चौंकि परौं कबहूक लरौं छिन ही में मनाऊं।
देखि रहौं अनदेखे दहौं सुख सोच सहौं,जु लहौं सुनि पाऊं।
जान तिहारी सो मेरी दसा,यह को समझै अरु काहि सुनाऊं
यौं घनआनंद रैनि दिना नहि बीतत,जानियै कैसे विहाऊं।।

जैसा कि प्रारंभ में ही कहा गया है कि घनानंद के काव्य में एक विशेष भाव व्यंज़ना है। अपने इसी काव्यसौन्दर्य के कारण घनानंद ने अपना स्थान बनाया है।

(2)–आलमः (सं.1740–1770वि.)– आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में दो आलम माने हैं।एक अकबर के समसामयिक और दूसरा औरंगजेब के पुत्र मुअज्जम के आश्रित ।प्रेमाख्यान प्रबंधकाव्य 'माधवानल–कामकंदला' को उन्होंने पहले आलम की रचना माना है और 'आलमकेलि को दूसरे आलम की रचना स्थिर किया है।अब 'श्यामस्नेही'और 'सुदामाचरित'–दो रचनाएं और प्रकाश में आ गईं हैं। इस प्रकार :माधवानल–कामकंदला',स्यामस्नेही' और 'सुदामाचरित'–तीन प्रबंधकाव्य और एक मुक्तक संग्रह'आलमकेलि' आलम के नाम से प्राप्त है।शुक्ल जी के अनूसार प्रबंधकार आलम और हैं तथा मुक्तककार आलम और।काव्यरूप और श्शैली की भिन्नता इस मान्यता के मूल में है।रंगरेजिन प्रेयसी श्शेख का संबंध मुक्तककार आलम से माना गया है और उसी को शुक्ल जी ने स्वच्छंद प्रवृति का कवि कहा है–प्रबंधकार आलम तो सूफी प्रभाव से युक्त श्शुद्ध प्रेमाख्यानक काव्य–परंपरा के कवि हैं।इसके विरीत पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र दोनों को एक ही व्यक्ति मानते हैं। डॉ नगेन्द्र कहते हैं कि –इस विवाद के पक्ष–विपक्ष को परीक्षा करने का तो यहां अवकाश नहीं है,इतना अवश्य कथनीय है कि स्वच्छंदधारा की विशेषताओं के दर्शन 'आलमकेलि' में ही होते हैं,लौकि प्रेम की भावात्मक और परंपरामुकत अभिव्यक्ति

जैसी 'आलमकेलि' के कवित--सवैयों में मिलती है,वैसी उपरिकथित अन्य रचनओं में नहीं।

श्शेख कोई रंगरेजिन थी और उसकी काव्य कुशलता पर मुग्ध होकर ब्राह्मणदेवता मुसलमान 'आलम' हो गये ,ऐसी भी किंवदंती है। साथ ही यह भी कहा जाता है कि 'आलमकेलि'के 'आलम' छाप वाले पद्य पति आलम के और 'शेख' छाप वाले पद्य पत्नी श्शेख के हैं। परंतु परीक्षा करने पर श्शैली में कोई अंतर नहीं प्राप्त होता साथ ही शेख नाम स्त्रीलिंग के लिए प्रयुक्त नहीं दिखाई देता है।आलम घनानंद की भांति सर्वथा स्वच्छंद नहीं हैं। इनके कवित--सवैयें में रीति परंपरा के गुण भी मिल जाते हैं।फिर भी इनके काव्य को रीतिबद्ध नहीं माना जा सकता है।संयोग हो या वियाग कवि सदा विषादमग्न रहता है:यथा--

जा थल कीन्हे विहार अनेकन ता थल कांकरी बैठि चुन्यौ करैं।
जा रसना सौं करीं बहु बात सु ता रसना सौं चरित्र गुन्यौ करैं।
'आलम' चैन से कुंजन में करी केलि वहां अब सीस धुन्यौं करैं।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यौं करैं।

आलम की प्रेमानुभूति व्यक्तिगत है।इसीलिए यह मार्मिक और सत्य प्रतीत होती है।दूसरी ओर इस प्रेम में विषमता भी है।प्रेमी अपनी अभिलाषाओं में डूबा रहता है किंतु प्रिय निष्ठुर ही बना रहता है।

इस प्रकार विभाव ,अनुभाव,नायिकाभेद आदि की रीतिबद्ध परंपरा से मुक्त हो कर मन की उलझन और व्यथा की अनेक ऐसी अंतर्दशाएं आलम ने चित्रित की हैं जो रीतिबद्ध काव्य में देखने को नहीं मिलती।उनके द्वारा वर्णित प्रेम चेष्टाप्रधान बाह्य नहीं है।अनुभूति आंतरिक है।इसीलिए वह आपाततः फारसी पद्यति की ओर अधिक झुका हुआ है।उसमें नैराश्य,मार्मिकता,व्यथा,मूकता आदि विशेषताएं बार बार अभिव्यक्त हुई हैं। संभवतः इसीलिए आलम अपनी युक्तियों को सजाने और चमत्कारपूर्ण बनाने के लिए कभी सावधान नहीं दिखायी पड़ते। आलम शौली के अलंकारिक मोह से मुक्त हैं।

(3)--ठाकुरः (सं.1823--1880वि.)--

उत्तर मध्यकाल का सारा रचना--कौशल कितने संकुचित दायरे में सिमटा था ,इसका संज्ञान हम तत्कालीन जैतपुर (बुंदेलखंड) के कवि ठाकुर के इस छंद से हो जाता है।:--

"सीखि लीन्हों मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीखि लीन्हों जस औ प्रताप को कहानी है।
सीखि लीन्हों कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामनि,
सीखि लीन्हों मेरु औ कुबेर गिरि आनों है।।
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,

याको नहिं भूलि कहूं बांधियत धानो है।
ढेल सो बनाय आँय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है।।

वस्तुतः गिरती–पड़ती भाषा में मीन–मृग–खंजन आदि परंपरागत उपमानों की खींचतान से छंद गढ़कर रसिकों का मनोरंजन कराने वाले कवियों ने कविकर्म का मर्म भुला दिया था। संभवतः कविता श्री का ऐसा अपमान पहले किसी समय में नहीं हुआ। काव्य–प्रतिभाहीन तुक्कड़ रचनाकारों पर ठाकुर का यह व्यंग्य उचित ही है।

ठाकुर का साहित्य मात्रा में अधिक नहींहै।उनके दो संग्रह हैं।'ठाकुर ठसक' और 'ठाकुर–शतक' जिनमें से 'शतक' के कुछ पद्य 'ठसक' में भी आ गये हैं। घनानंद की भांति काव्य के लिए वे सजग दिखते हैं।ठाकुर का काव्य सीमितिता से मुक्त है।इनके भाव व्यक्तिगत होकर भी सार्वजनिक हैं। उनमें प्रवाह है,पर अलंकार आदि का लदाव नहीं। ठाकुर की भाषा निहायत चलती और बोलचाल की है। यही अकृतिमता इन्हें रीतिबद्ध कवियों से पृथक करती है।प्रिय के रूक्ष या चंचल हो जाने पर भी प्रेमी अपने प्रेम का निर्वाह ही करता है:–

का करियै तुम्हरे मन कौ जिनकौ अब लौं न मिटी दगा दीबौ।
पै हम दूसरों रूप न देखिहैं आनन आन कौ नाम न लीबौ।
ठाकुर एक सौ भाव है तो लगि जौ लगि देह धरे जग जीबौ।
प्यारे सनेह निबाहिबे को हम तौ अपनौ सौ कियौ अरु कीबौ।

ठाकुर के काव्य में भक्ति का पुट भी मिलता है। किंतु उसमें उन्होंने लीला वर्णन नहीं किया।ठाकुर का काव्य जहां वैयक्तिक है वही उसमें लोकजीवन भी समाहित है।प्रकृति के मुक्त रूप के साथ ही उनके काव्य में तीज,त्योहार भी मिलते हैं।चूकि ठाकुर की संपूर्ण काव्यकला लोकरुचि की ओर मुड़ी है अतः ठाकुर रीतिमार्ग का अनुसरण न कर स्वच्छंदतावादी दिखते हैं।

जहां रीतिमार्गी अलंकारों के दलदल में फसें दिखते हैं वहीं ठाकुर उससे मुक्त।ठाकुर ने इसकी जगह लोकोक्तियों का उपयोग किया। और लोकोक्तियों और मुहावरों से अपनी भाषा में सौंदर्य भरा।

(4)–बोधाः (सं.1830–1860वि.)– बोधा राजापुर जिला बांदा के रहने बाले थे। ये सरयूपारी ब्राह्मन थे। पन्ना दरबार के यहां इनके संबधियों की अच्छी प्रतिष्ठा थी। इसी कारण ये भी बचपन से ही पन्ना चले गये। इनका बचपन का नाम बुद्धिसेन था। पर महाराज इनको प्यार से इन्हें बोधा कहने लगे।और यही नाम इनका प्रसिद्ध हो गया। भाषा के

अतिरिक्त इन्हें संस्कृत और फारसी का अच्छा ज्ञान था। बोधा एक रसिक जीव थे। पन्ना दरबार में सुभान (सुबहान) नामक वेश्या रहती थी,जिन पर इनका प्रेम हो गया। इस पर नाराज होकर महारज ने इन्हे छः माह का देश निकाला दे दिया। सुबहान के वियोग में छः माह इनके बड़े कष्ट में बीते और इसी समय इन्होंने 'विरहवारीश' की रचना की। छः महीने बाद विरहवारीश के इन्हीं छंदों को सुनकर महाराज प्रसन्न हो गये और इन्हे कुछ मांगने का कहा। इन्होंने कहा 'सुभान अल्ला' और महाराज प्रसन्न होकर उसे इन्हे दे दिया।

बोधा की मुख्य दो रचनाएं सामने आती हैं। 'विरहवारीश' और 'इश्कनामा'। इनमें पहली का विषयवस्तु है माधवानल–कामकंदला की कथा।और दूसरी रचना में प्रेम पर लिखे मुक्तक हैं।विरहवारीश में घटनाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। सूफी कवि आलम जैसी इसमें प्रांजलता भले ही न हो पर यह आकार में उनके ग्रंथ से बड़ा है।इश्कनामा इनकी साफ–सुथरी रचना है। उनका यह सवैया प्रेम पंथ के लिए प्रसिद्ध है:–

अति छीन मृनाल के तारहु ते तेहि ऊपर पांव दै आवनौ है।
सुई बेह तेद्वार सकीन वहां परतीति कों टांडौ लदावनौ है।
कवि बोध अनी घनी नेजहु ते चढ़ि तापै न चित डरावनौ है।

यह प्रेम की पंथ कराल महा तरवारि की धार पै धावनौ है।। बोध के व्यक्तित्व की विशेषता है कि वे बात को बड़े निधड़क ढंग से कहते हैं।उनमें परिष्कार और संयम का आभाव मिलता है यही कारण है कि उनके मनोवेग प्रायः प्राकृत हैं। बोधा निमर्यादित और अनियंत्रित भावभूमि पर भी जीत दिखते हैं।वे जो अनुभव करते हैं वही सहज भाषा और भाव के साथ कह देते हैं।काव्य को सवारने और सजाने की जहमत वे नहीं उठाते। एक रचना देखें--

कबहूं मिलिबो कबहूं मिलिबो,यह धीरज ही में धरैबो करै।
उर ते कढ़ि आवै,गरे ते फिरै,मन की मन ही में धरैबो करै।
कवि बोध न चांड़ सरी कबहूं,नितही हरवा सो हिरबो करै।
सहते ही बनै,कहते न बनै,मनही मन पीर पिरैबो करै।।

भाषा की स्वच्छंदता इस मार्ग के कवियों की अपेक्षा इनमें ज्यादा है।इंनमें न तो अलंकार का बोझ दिखता न ही लोकोक्तियों और कहावतों का। फारसी,अरबी के कुछ शब्द अवश्य आ गये हैं।

(5) द्विजदेवः–(महाराज मानसिंह) ये अयोध्या के महाराज थे।और बड़ी ही सरस कविता करते थे।ऋतुओं के वर्णन इनके बहुत ही मनोहर हैं।इके भतीजे भुवनेश जी द्विजदेव की दो पुस्तके बताईं। 'श्रृगांरबत्तीसी' और श्रृंगारलतिका'।'श्रृगांरबत्तीसी' एक बार छपी थी इसी तरह श्रृंगारलतिका' भी एकबार छपी।इसके टीकाकार थे अयोध्या नरेश महाराज

प्रतापनारायाण सिंह। इनके कवित काव्यप्रेमियों मे पद्माकर के काव्य की तरह प्रसिद्ध हैं।जिस प्रकार लक्षण ग्रंथ में पद्याकर प्रसिद्ध हैंउसी प्रकार श्रृंगार परक रचनाकारों में द्विजदेव।

इनकी सबसे बड़ी विशेषता थी इनकी भाषा की स्वच्छता। इसीलिए इन्हे रीतिबद्ध और रीतिमुक्त दोनों में गिना जाता है।इन्होंने श्रृंगार के रीतिग्रस्त वर्णनों के साथ–साथ हृदय की अनेक अंतर्दशाओं का मार्मिक उद्घाटन किया है जिसमें वे घनानंद की दिशा में बढ़ते प्रतीत होत हैं। रोष क्षोभ, दैन्य, अधैर्य, धृति, स्मृति, उद्वेग,जड़ता आदि कितने ही भावों की सफल व्यंजना उन्होंने की है। ऐसा वे वियोग के प्रसंग में ही कर पाये हैं,संयोग–वर्णन तो परंपराग्रस्त ही है। इससे भी अधिक उल्लेखनीय विशेषता–प्रकृति वर्णन की है।उनका प्रकृति प्रेम स्वच्छंद है। प्रकृति का आलंबन रूप में भी उन्होंने वर्णन किया। उनके एक मात्र संग्रह–ग्रंथ श्रृंगारलतिका' में वसंत पर लिखे तैंतीस पद्य हैं। वसंत राजकुमार की भांति उनका सेव्य और प्रिय है।

डोलि रहे विकसे तरु एकै,
सु एकै रहे हैं नवाइकै सीसहिं,
त्यौं द्विजदेव मरन्द के व्याजहिं
एकै अनन्द के आंसू बरीसहिं।
तैसेउ कै अनुराग भरे,
कर पल्लव जोरि कैं एकैं असीसहिं।।

द्विजदेव की भाषा एक ओर रीतियुग के समस्त काव्यसौंन्दर्य को आत्मसात किए हुए हैं,तो दूसरी ओर लक्षणाओं,लोकोक्तियों और मुहावरों से उनकी अभिव्यंजनाशक्ति द्विगुणित हो गयी है। एक पद और देखें–

आजु सुभायन ही गई बाग,बिलोकि प्रसून की पांति रही पगि।
ताहि समैं तहं आए गोपाल,तिन्हें लखि औरौ गयो हियरो ठगि।
पैं द्विजदेव न जानि परयो धौं कहा तेहि काल परे अंसुवा जगि।
तू जो कही, सखि !लोनो सरूप से मो अंखियान कों लोनी गई लगि।

इस दिश में वे घनानंद और ठाकुर के पथ पर अग्रसर हैं।

2.7 रीतिकालीन गद्य साहित्य–

रीतिकाल में गद्य–

साहित्य का निर्माण भक्तिकाल की अपेक्षा अधिक हुआ है।इस काल में ब्रजभाषा,राजस्थानी,खड़ीबोली,दक्खिनी,मैथिली आदि अन्य विभाषाओं में भी गद्य लिखा गया

ळें इस समय की प्रमुख गद्य विधाएं हैं– कथा–कहानी, वार्ता,वात, वर्णन, चरित्र, नाटक, ख्यात, पीढ़ी, विगत, वचनिका, दवावैत,सलोका ,वचनामृत (प्रवचन) गोस्ट, जनमसाखी, परचीओ, जीवनी, वंशावली, पट्टावली, पत्र (मौलिक रूप) और बालावबोध, टीका, टिप्पण, भाषा, परमारथ, भाव ,भावना ,वर्तिक(व्याख्यानुवाद), पुस्तक परिचय, निबंधात्मक रचनाए। और जीवनीशैली की रचनाएं भी प्राप्त हैं।

इस समय के गद्य में प्रतिपादित विषय हैं–धर्म,दर्शन,अध्यात्म, इतिहास,भूगोल ,चिकित्सा, ज्योतिष,काव्यशास्त्र, शकुनशास्त्र,प्रश्नशास्त्र,सामुद्रिक,गणित और व्याकरण,विज्ञान ,योग,वेदांत ,वैद्यक आदि।रीतिकाल के गद्य –साहित्य को प्रमुख रूप से निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–ब्रजभाषा,खड़ीबोली गद्य,दक्खिनी गद्य,राजस्थानी –गद्य, भोजपुरी और अवधी की गद्य रचनाएं। बघेली,बुंदेली,मारवाड़ी,छत्तीसगढ़ी के बारे में जानकारी उपलब्ध करनी चाहिए।

ब्रजभाषा–रीतिकाल का ब्रजभाषा का गद्य उस समय की खड़ीबोली के गद्य से अधिक विकसित था। धार्मिक एवं ललित साहित्य के साथ टीकाएं भी इस काल में काफी उपलब्ध थीं। ब्रजभाषा में–धर्म,दर्शन,अध्यात्म, इतिहास,भूगोल ,चिकित्सा, ज्योतिष, काव्यशास्त्र, शकुनशास्त्र, प्रश्नशास्त्र, सामुद्रिक, गणित और व्याकरण, विज्ञान ,योग,वेदांत ,वैद्यक ,मल्लविद्या के साहित्य उपलब्ध थे।रीतिकाल में सत्रहवी से उन्नीसवीं शताब्दी तक पर्याप्त लेखन कार्य हुआ।वल्लभ संप्रदाय में वार्ता नाम से प्रचुर सामग्री प्राप्त है।जैसे–चौरासी वैष्णवन की वार्ता,दो सौ वामन वैष्णवन की वार्ता,आदि। उस समय के कुछ वचनामृत–गुसाई दामोदरदास संवाद,नित्यसेवा प्रकार ,चौरसी बैठक चरित्र ,वन यात्रा,आदि। भाषा संबधी तत्सम,अर्धतत्सम शब्दों की बहुलता,प्रायः लघुगत्वर वाक्य,वाक्यरंभ में 'सो','तब' 'औरु' 'आदि का बार बार प्रयोग मिलता है। इस काल में टीकाएं बहुत मिलती हैं–जैसे ,गीता,पर रामानुजी भगवान दास का गीताभाषामृत (1698),मानस पर रामचरणदास और हरिप्रसाद की टीका। बिहारी सतसई पर अनेक टीकाएं हैं। जिसमें बाबू जगन्नाथ दास की टीका सबसे प्रसिद्ध है। केशव के अठरहवी शती की सुरतिमिश्र आदि की टीकाएं।अन्य टीकाएं जैसे– रामसनेही पंथ के संस्थापक स्वामी रामचरण के शिष्य रामजन की दृष्टांत –सागर की टीका।

खड़ीबोली गद्य

रीतिकाल का ,खड़ीबोली गद्य प्रायः मिश्रित भाषा में है । इस काल में भी अललित रचनाएं अधिक हुई हैं। इस काल में धार्मिक–'एकादशी–महिमा', 'सीधा रास्ता' (इस्लामिक), चिकित्सा–फर्सनामा ,बाजनाम,शकुन–सकुनावली आदि रचनाएं प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त अन्य उल्लेखनीय रचनाएं– पोथी हरि जी ,जनमसाध कबीर भगति जी की,तथा टोडरमल जैन,दीपचंद जैन,शाहजी महाराज की अन्य रचनाएं हैं। इस काल के प्रमुख अनूदित ग्रंथ– भाषा उपनिषद, भाषा योगवासिष्ठ, भाषा पद्मपुराण, आदि। अन्य रचनाओं में रीवा–नरेश

महाराज विश्वनाथ सिंह का 'आनंद रघुनंदन नाटक' जिसमें ब्रज भाषा तथा खड़ीबोली मिश्रित रूप में मिलती है।

दक्खिनी गद्य

रीतिकाल में दक्खिनी में पूर्व परंपरा के अनुसार सूफी तथा इस्लामी धर्म–ग्रंथों का भाष्य–अनुवाद और धर्म–दर्शन विषयक और चिकित्साविष्यक कुछ पुस्तके और पत्रों ,हुक्मनामों तथा अर्जियों की एक दो संग्रह पुस्तकें भी प्राप्त हैं।इस काल की प्रमुख धार्मिक रचनाएं– आबिदशाह अलहसन उलहुसेनी कृत– गलजारुस्सालिकीन तथा कंजुल मोमिनीन,मीरं याकूब –कृत शमायलुल अतकिया आदि। इस काल की अधिकतम पुस्तकें सूफीमत से प्रेरित हैं। शब्द–रूपों और वाक्य विन्यास की दृष्टि से दिक्खनी गद्य की भाषा प्रायः आधुनिक खड़ीबोली के पर्याप्त निकट है।

राजस्थानी–गद्य

रीतिकालीन राजस्थानी गद्य इस समय के ब्रज भाषा से भी अधिक समृद्ध है। वातें ,वार्ता शीर्षक कथात्मक रचनओं और ख्यातों के अतिरिक्त इस समय के राजस्थानी (मारवाड़ी) गद्य की प्रमुख विधाएं हैं –वचनिका ,वर्णन ,दवावैत (कथा और वर्णन),आदि। राजस्थानी का वात–साहित्य प्रसिद्ध है। यह आधुनिक कहानी के निकट की कथात्मक विद्या है। विषय की दृष्टि से स्थूलतः छह प्रकार की हैं–प्रेमपरक,वीरतापूर्ण ,हास्यमय,धार्मिक, शांतरसपरक, स्त्रीचातुर्यविषयकऔ अद्भुततत्व पूर्ण। राजस्थानी में अन्यविध ललित गद्य–रचनाओं की संख्या विरल है। इनमें कुछ इस प्रकार हैं–दलपति–विलास,राजरूपक, नैण्सी री ख्यात,खीची ख्याति आदि। इस समय के बालावबोध (कथामय व्याख्या ग्रंथ) निर्माताओं में विल कीर्ति ,विमलरत्न, हंसराज ,कुंवर ,विजय यशोविजय उपाध्याय,सुखसागर ,रामविजय आदि कितने ही नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने सैकड़ों बालाबबोध टीकाओं की रचना की। अनुवाद कार्य में – भागवत,गरूड़पुराण ,योगवसिष्ठ,पंचतंत्र, सिंहासनबत्तीसी, बैतालपच्चीसी आदि कथात्मक रचनाएं प्राप्त होती हैं।

भोजपुरी और अवधी की गद्य रचनाएं

भोजपुरी में प्राचीनगद्य के नाम पर कुछ पत्र ,दस्तावेज ,सनद ,पंचनामें अदि अभिलेख ही प्राप्त हैं ,जो प्रायः अनलंकृत और शुष्क हैं। काशी नागरी प्रचारिणीं सभा के संग्रह में 1644 ई. का फणीनद्र मिश्र का पंचायत का न्ययपत्र' नामक अवधी–मिश्रित भोजपुरी का एक अभिलेख सुरक्षित हैं स प्रकार केकागज–पत्रों का गद्य तथ्यकथनात्मक औ व्यावहारिक है।

रीतिकाल में अवधी गद्य – (ब्रज भाषा ,खड़ीबोली मिश्रित अवधी –गद्य)की ये रचनाएं प्राप्त हैं–भानुमिश्र–रसविनोद ,नित्यनाथ –उड्डील ,रामचरण दास– मानस टीका , गौत्मरिषि–सगुनावली ,प्रियादास की व्यवहारपाद ,महाराजा विश्वनाथ सिंह की कबीर –

बीजक टीका तथा परमधर्म–निर्णय।

2.8 इकाई सारांश/याद रखने की बातें–

निम्न पंक्तियां हैं--

- तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार
  इनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार।। – भिखारी दास
- 'केशव को कठिन काव्य का प्रेत' –रामचंद्र शुक्ल
- "रीझि हैं सुकवि तो कविताई/न तो राधिका कन्हाई सुमिरन का बहानो है"–भिखारीदास
- "जदपि सुजाति सुलक्षिणी,सुवरण सरस सुवृत/भूषण बिनु न विराजहिं कविता,बनिता ,मित"–केशवदास
- "फागु की भीर अभीरन में गहि गोविंद लै गई भीतर गोरी"–पद्माकर
- "वेद में बखानी तीन लोकन को ठुकरानी"–सेनापति
- " लोग हैं लागि कबित्त बनावत/मोहें तो मेरे कबित बनावत।।–घनानंद
- "क्यों इन आंखिन से निहसंक ह्वै/मोहन को तन पानिप पीजै।"–मतिराम
- " अमिय हलाहल मद भरे,सेत,स्याम रतनार/जियत,मरत,झुकि झुकि परत जेहि चितवत एक बार" –रसलीन
- "अभिधा उत्तम काव्य है मध्य लक्षणा लीन/अधम व्यंजना रस विरस,उलटी कहत नवीन।।"–देव
- " भले बुरे सब एक सम,जौ लौ बोलत नाहिं/जानि परत हैं काक पिक ,ऋतु बसंत के माहिं।"–वृंद
- ईसा की सत्रहवी शती के मध्य भाग में संस्कृति की काव्य शास्त्रीय परंपरा के क्षीर्ण होते ही हिंदी के आचार्यो ने अपना स्थान बनाया।
- आधुनिक इतिहासकारों ने दो सौ सालों के साहित्यिक काल को 'रीतिकाल' की संज्ञा दी हैं
- हिंदी के आचार्यो का उद्देश्य संस्कृत के आचार्यो से नितांत भिन्न था। जहाँ संस्कृत आचार्य काव्यशास्त्री लक्ष्य–ग्रथों को आधार पर लक्षण–ग्रंथों का निर्माण करते चले आ रहे थे वहीं हिंदी के आचार्यो ने लक्ष्य–ग्रंथें को आधार बनाकर स्वतंत्र सिद्धांतों का निर्माण नहीं किया ।
- हिंदी के रीति–ग्रंथकार वस्तुतः कवि पहले थे,और आचार्य बाद में। इनका प्रमुख उद्देश्य श्रृंगार रस–परिपूर्ण अथवा स्तुति–परक कवित्त–सवैये लिखकर आश्रयदाता राजाओं से आश्रय एवं पुरस्कार प्राप्त करना था।

- इसी आधार पर आधुनिक इतिहासकारों ने दो सौ सालों के इस साहित्यिक काल को 'रीतिकाल' की संज्ञा दी है।
- हिंदी के अधिकांश काव्य शास्त्रियों का प्रमुख लक्ष्य श्रृंगार एवं स्तुतिकपरक उदाहरणों का निर्माण करना है।
- रीतिकाल के अंतर्गत लिखे गये समस्त उपलब्ध ग्रंथों का पर संक्षिप्त लक्षण–उदाहरण दे कर अथवा स्वरचित अध्ययन करने पर यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि इस युग के कवियों में व्यापक प्रवृति रीति निरूपण की ही रही। क्या राजाश्रित और क्या जनकवि, इनमें अधिकांश ने एतद्विषयक एकाध ग्रंथ लिख कर आत्मप्रदर्शन अवश्य किया। यहाँ यह स्पष्ट कर देना असंगत न होगा कि यह प्रवृति इन ग्रंथों के भीतर तीन रूपों में मुखर हो कर आयी है। जिसे हम रीतिबद्ध ,रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त कहते हैं।
- इनमें रस –निरूपपण करने वालों के भी तीन वर्ग कियें जा सकते हैं: समस्त रसों के निरूपक,श्रृंगाररस निरूपक, श्रृंगार रस के आलंबन नायक–नायिकाओं के भेदोपभेदों के निरूपक।
- काव्यांग–विवेचन के आधार पर इस प्रवृति की दो अंतःप्रवृतियां कही जा सकती हैं–(1) सर्वांग विवेचन (2) विशिष्टांग विवेचन की।
- गौण प्रवृतियां– (क) राजप्रशस्ति (वीरकाव्य), (ख) भक्ति (ग) नीति (क) राजप्रशस्ति (वीरकाव्य)– प्रवृतियों में राजप्रशस्ति अथवा वीरकाव्य की प्रबृति मूलतः अलंकार और छंदोविवेचन के ग्रंथों में ही देखने को मिलती है।
- स्वच्छदतावादी साहित्य की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं:–
  1. यह आंतिरिक अनुभूतियों का काव्य होता है, फलतः इसमें भावावेग का उच्छल प्रवाह बहता है।
  2. यह मूलतः आत्मप्रधान और व्यक्तिपरक होता है,अर्थात कवि बाह्य जगत को उतना महत्व नहीं देता ,जितना अपने को देता हैं।
  3. यह सब प्रकार की रूढ़ियों से मुक्त होता है,इसलिए इसमें अभिनवत्व और अद्भुतता के तत्व निहित रहते हैं।
  4. अभिव्यंजना में यह संकेतिक और व्यंजनाप्रधान होता है,इसीलिए कहीं–कहीं रहस्यात्मकता का पुट भी इसमें आ जाता है।
  5. इसमें कल्पना और असाधारणता का प्राचुर्य रहता है।
  6. यह भावप्रधान अधिक और यथार्थप्रधान कम होता है । कवि की प्रवृत अपने हृदय की पर्त खोलने की अधिक होती है,अपनी उक्ति को सजाने संवारने की

कम।

- रीतिमुक्त काव्यधारा के विकास में धनानंद,आलम ,ठाकुर ,बोधा और द्विजदेव का योगदान है।
- प्रमुख गद्य विधाएं हैं– कथा–कहानी, वार्ता, वात, वर्णन, चरित्र, नाटक, ख्यात, पीढ़ी, विगत,वचनिका, दवावैत,सलोका ,वचनामृत (प्रवचन) गोस्ट,जनमसाखी, परचीओ,जीवनी, वंशावली,पट्टावली, पत्र (मौलिक रूप) और बालावबोध, टीका, टिप्पण,भाषा, परमारथ, भाव भावना ,वर्तिक (व्याख्यानुवाद), पुस्तक परिचय,निबंधात्मक रचनाए। और जीवनीशैली की रचनाएं भी प्राप्त हैं।

2.9 अपनी प्रगति की जांच

(क)

1 स्वंछंदतावादी साहित्य की प्रमुख विशे ाताएं बताइये।

2 रीतिमुक्ति काव्यधारा के विकास में किन–किन कवियों का योगदान रहा उनके नाम बताइये।

3 रीतिमुक्ति काव्यधारा के विकास में योगदान देने वाले किसी एक कवि का मूल्यांकन कीजिये।

4 रीतिकालीन कविता में कितने प्रकार के काव्य का विवरण प्राप्त होता है।

5 हिंदी साहित्य के इतिहास में मान्य प्रमुख रीतिबद्ध दस कवियों के नाम बताइये।

6 सेनापति अथवा बिहारी में से किसी एक का परिचय दीजिये।

8 रीतिकाव्य के लक्षण बताते हुए ,मतिराम का परियच दें।

9 रीतिकाल के गद्य साहित्य का परिचय देंते हुए,इस समय की प्रमुख गद्य विधाओं के नाम बताइये।

10 रीतिकाल के गद्य में प्रतिपादित वि ाय क्या हैं।

(ख)– वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए–

1. "बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय
   सौंह करे भौंहन हंसे दैन कहै नट जाय।" –किसकी पंक्तियां हैं
   (1) लालकवि (2) बिहारी (3) मतिराम
2. "तेरे नैन मेरे मन के खिलौना"––किसकी पंक्तियां हैं
   (1) लालकवि (2) सेनापति (3) मतिराम
3. "कुंदन को रंग फीको लगै झलकै अति अंगन चारू गोरई"–किसकी पंक्तियां हैं

(1) लालकवि (2) बिहारी (3) मतिराम

4. "अमिय हलाहल मदभरे,स्वेत,स्याम,रतनार
जियत मरत झुकिझुकि परत जेहिं चितवत एक बार।। –किसकी पंक्तियां हैं
(1) लालकवि (2) बिहारी (3) रसलीन

5. ऋतुवर्णन के लिए रीतिकाल में कौन से कवि प्रसिद्ध हैं–
(1) सेनापति (2) बिहारी (3) रसलीन

6. रीतिकाल के किस कवि ने भक्ति,श्रृंगार और वीर तीनों में बराबर अधिकार से लिखा है–
(1)लालकवि (2)बिहारी (3) पद्माकर

7. रीतिकाल के अधिकांश कवियों की भाषा कौन सी थी–
(1) ब्रज (2) अवधी (3) मैथिल

8. 'रीतिकाव्य की भूमिका' नामक पुस्तक किसने लिखी ?
(1) विश्वनाथ (2) ग्रियर्सन (3) डां नगेन्द्र

9. 'बिहारी सतसई की भूमिका' के रचनाकार कौन हैं–
(1)लालाभगवानदीन (2)देव (3) पद्मसिंह शर्मा

10. ब्रजभाषा व्याकरण के रचयिता हैं–
(1) केशवदास (2) चिंतमणि (3) मिर्जा खां

11. 'जहांगीर जस चंद्रिका' किसकी रचना है–
(1) लालकवि (2) बिहारी (3) केशवदास

12. 'कवित्त रत्नाकर' किसकी रचना है ?
(1) सेनापति (2) बिहारी (3) रसलीन

(ग)– वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. "बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय
सौंह करे भौंहन हंसे दैन कहै नट जाय।" –किसकी पंक्तियां हैं
(2) बिहारी

2. "तेरे नैन मेरे मन के खिलौना"––किसकी पंक्तियां हैं
(2) सेनापति

3. "कुंदन को रंग फीको लगै झलकै अति अंगन चारू गोरई"–किसकी पंक्तियां हैं

(3) मतिराम

4. "अमिय हलाहल मदभरे,स्वेत,स्याम,रतनार
जियत मरत झुकिझुकि परत जेहिं चितवत एक बार।। –किसकी पंक्तियां हैं
(3) रसलीन

5. ऋतुवर्णन के लिए रीतिकाल में कौन से कवि प्रसिद्ध हैं–
(1) सेनापति

6. रीतिकाल के किस कवि ने भक्ति,श्रृंगार और वीर तीनों में बराबर अधिकार से लिखा है–
(3) पद्माकर

7. रीतिकाल के अधिकांश कवियों की भाषा कौन सी थी–
(1) ब्रज

8. 'रीतिकाव्य की भूमिका' नामक पुस्तक किसने लिखी ?
(3) डां नगेन्द्र

9. 'बिहारी सतसई की भूमिका' के रचनाकार कौन हैं–
(3) पद्मसिंह शर्मा

10. ब्रजभाषा व्याकरण के रचयिता हैं–
(3) मिर्जा खां

11. 'जहांगीर जस चंद्रिका' किसकी रचना है–
(3) केशवदास

12. 'कवित्त रत्नाकर' किसकी रचना है ?
(1) सेनापति

2.9 आगे की पढाई

1. हिंदी साहित्य का इतिहास –रामचंद्रशुक्ल
2. रीतिकाव्य और विद्यापति –वीरेन्द्रकुमार वड़स
3 रीतिकाव्य की भूमिका –डॉ नगेन्द्र
4 हिंदी रीतिकाव्य के प्रमुख आचार्य

इकाई–तीन

1. आधुनिक काल की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक–पृष्ठभूमि

2. अठारह सौ सन्तावन की क्रांति एवं पुनर्जागरण

इकाई संरचना

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2.1 आधुनिक काल की सामाजिक पृष्ठभूमि
3.2.2 आधुनिक काल की राजनीतिक पृष्ठभूमि
3.2.3 आधुनिक काल की आर्थिक पृष्ठभूमि
3.2.4 आधुनिक काल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि
3.3.1 अठारह सौ सन्तावन की क्रांति
3.3.2 पुनर्जागरण
3.4 सारांश
3.5 जाँच के बिन्दु
3.6 (अ) चर्चा के बिन्दु
3.6 (ब) स्मरणीय बिन्द
3.7 संदर्भ ग्रंथ

1 उद्देश्य

आधुनिक काल का संबंध स्वतंत्रता प्राप्ति एवं स्वांतष्योत्तर भारत की विकासोन्मुखी दिशाओं से है। इसलिए आधुनिक काल के साहित्य की सर्जनात्मक पृष्ठभूमि का तथ्यात्मक एवं वस्तुपरक अध्ययन किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। जिस प्रकार किसी परिवार अथवा व्यक्ति विशेष की वर्तमान स्थिति उसके पूर्वजों द्वारा धारित एवं व्यवहृत रीतियों–नीतियों पर अवलम्बित होती है, उसी प्रकार समाज एवं राष्ट्र की वर्तमान स्थिति का वास्तविक आधार उसकी पूर्वकालिक परिस्थितियों में निहित मिलता है। अपने वर्तमान को समझने और भविष्य की दिशा निर्धारित करने के लिए अपने अतीत को जानना समझना आवश्यक होता है। अपने विगत को जाने बिना हम अपने वर्तमान को ठीक से नहीं समझ सकते और वर्तमान को

सम्यक्ता से जाने बिना भविष्य की योजनाओं का सम्यक् विनिश्चय असंभव है। अतः विगत का सम्यक् ज्ञान अनिवार्य घटक सिद्ध होता है। राष्ट्रीय एवं सामाजिक संदर्भों की भाँति साहित्यिक संदर्भ में भी यह तथ्य सर्वथा सत्य है। अतः साहित्य की वर्तमान स्थितियों उसकी समस्याओं और उपलब्धियों को समझने के लिए उसकी पृष्ठभूमि का ज्ञान होना अनिवार्य है। अतः आधुनिक साहित्य की निर्माणक एवं निर्धारक स्थितियों की प्रेरणा परक भूमिका का अध्ययन तथा अभिज्ञान कराने के उद्देश्य से इस इकाई को पाठ्यबिन्दु के रूप में चुना गया है। साहित्य के विद्यार्थी साहित्यिक इतिहास की निम्नांकित पृष्ठभूमि का अध्ययन करके साहित्य की प्रेरक एवं परिवर्तनकारी शक्ति का महत्व भली भाँति समझ सकेंगे, इस आशा और विश्वास के साथ यह इकाई हिन्दी–साहित्य के इतिहास–अध्ययन हेतु चयनित है।

राष्ट्रीय भावनाओं का विकास और सांस्कृतिक एवं सामाजिक मर्यादाओं के प्रति दायित्व बोध का जागरण आज के भारत की अत्यंत महत्वपूर्ण आवश्यकता है। आज हमारे पास भौतिक समृद्धि है; तकनीकी ज्ञान है और वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी है। विश्व के विकासशील देशों में हमारी भूमिका अग्रणी है; किन्तु अति भौतिकवादी दृष्टि और पाश्चात्य विकृतियों के अंधानुकरण ने हमारी अस्मिता को प्रायः प्रश्नांकित कर दिया है। आधुनिक हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि अठारह सौ सन्तावन के शौर्य एवं तत्पश्चात निर्मित सांस्कृतिक उत्थान की पुनर्जागरण विषयक अवधारणाओं में भारतीय अस्मिता के अमृत संकेतों को रेखांकित करती है। इन राष्ट्रीय–सांस्कृतिक संकेतों के दिग्दर्शक आलोक में हमने न केवल अपनी खोई हुई स्वाधीनता अर्जित की, अपितु नए भारत के निर्माण की संकल्पना भी साकार की। भ्रष्टाचार और आतंकवाद की ज्वलन्त समस्याओं से जूझती हमारी युवा पीढ़ी को सांस्कृतिक चेतना और शौर्य का चिर परिचित पाठ पुनः पढ़ने के लिए आधुनिक हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि से अवगत कराया जाना चाहिए; क्योंकि सांस्कृतिक उत्थान एवं स्वातांत्र्य चेतना के सर्वाधिक उर्वर बीज इसी पृष्ठीभूमि में सुलभ हैं।

इस प्रकार साहित्य की वर्तमान संस्थितियों के निर्धारक तत्वों को समझने, राष्ट्रीय भावों को उद्वेलित करने, सांस्कृतिक अवधारणाओं को पुष्ट बनाने एवं अनावश्यक भौतिकता का परिहार सिखाते हुए भारतीय जीवन मूल्यों के अनुरूप मानसिक वातावरण युक्त प्रबुद्ध विद्यार्थियों– युवाओं के विकास का उद्देश्य प्रस्तुत इकाई का बिन्दु है। यही इसका प्रयोजन भी है।

3.1 प्रस्तावना

भारतीय भाषाओं में हिन्दी अग्रणी है। वह न केवल भारतवर्ष के बहुत बड़े भू–भाग की भाषा है, अपितु भारतवर्ष के विगत तेरह सौ वर्षों के श्रेष्ठ साहित्य की समर्थ संवाहिका भी है। इस देश की सांस्कृतिक परम्पराओं और जीवन–आदर्शों का जैसा प्रामाणिक एवं

व्यापक चित्रण हिन्दी साहित्य में सहज सुलभ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। हिन्दी–साहित्य का आदिकाल भारतीय–शौर्य (ओज–तेज) की; भक्तिकाल उदात्त मानवीय चिन्तन का और रीतिकाल कोमल कामभावों के विशिष्ट दर्शन का संधारक है। मानवमन की तीन प्रमुख स्थितियाँ, वीर (उत्साह) शृंगार (रति) एवं शान्त (भक्ति) हिन्दी साहित्य में प्रमुखता से अंकित हैं किन्तु आधुनिक काल में इनकी संयुक्तिगत प्रस्तुति मिलती है। आदिकाल का वीर रस प्रधान काव्यवैभव राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्यधारा को नव जीवन देता है, तो भक्तिकाल का समर्पण भाव ईश्वर और राष्ट्र दोनों के प्रति सर्वस्व समर्पित करने को प्रेरित करता है। छायावादी प्रयोगवादी काव्य की कोमल रोमांसपूर्ण कल्पनाओं और प्रेमपरक गीतों में रीतिकालीन शृंगारिक भावों का सौन्दर्य विद्यमान है। तात्पर्य यह है कि हिन्दी का आधुनिक कालीन साहित्य अपनी पूर्ववर्ती समस्त काव्य–प्रवृत्तियों की समग्र एवं एकान्वित प्रस्तुति करता है। इस दृष्टि से वह पूर्ववर्ती युग–प्रवृत्तियों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है।

हिन्दी का आधुनिक कालीन साहित्य संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्पराओं के साथ ही पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय अवधारणाओं की भी युक्ति–युक्त प्रस्तुति करता है। जहाँ रीतिकाल तक के भारतीय हिन्दी कवि साहित्यशास्त्रीय अवधारणाओं के लिए केवल संस्कृत आचार्यों के ही अनुकर्त्ता रहे, वहाँ आधुनिक काल के प्रारम्भ में ही उन्हें अनेक पाश्चात्य साहित्यकारों और विचारकों की साहित्यत्कि अवधारणाओं का भी पूर्ण परिचय प्राप्त हुआ। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी साहित्य अपेक्षाकृत अधिक व्यापक फलक पर प्रतिष्ठित हो सका। साहित्य की इस प्रतिष्ठा एवं नवीनता के मूल में आधुनिक काल की पृष्ठभूमि का महत्वपूर्ण योगदान है। अतः उसके अवदान को समझने के लिए आधुनिक काल की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का अध्ययन अपेक्षित है।

3.2 आधुनिक काल की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्क तिक प भठभूमि–

मानव जीवन एक सतत् विकासमान प्रक्रिया है। जीवन में परिवर्तन विभिन्न कारणों से होता है। इन परिवर्तनकारी शक्तियों को सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक संदर्भों में चिह्नित करके इतिहास लिखा जाता है जो कि युग विशेष की प्रवृत्तियों का ज्ञान कराने में बहुत सहायक सिद्ध होता है। साहित्यिक संदर्भों में भी युग के परिवर्तन की प्रवृत्ति उपर्युक्त कारणों का ही परिणाम होती है। अतः आधुनिक काल के साहित्य की स्थितियों को सम्यक् रूप से विश्लेषित एवं व्याख्यायित करने के लिए आधुनिक काल की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का अध्ययन निम्नांकित बिन्दुओं में इस प्रकार प्रस्तुत है–

3.2.1 सामाजिक प भठभूमि –

साहित्य के सृजन में सामाजिक जीवन की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है, क्योंकि रचनाकार जिस सामाजिक परिवेश में रहता है उसे अपनी संवेदना के माध्यम से

आत्मसात करता है। परिवेश से प्रभावित होकर उसकी विविध अनुभूतियाँ उसके सृजनशील मस्तिष्क में उसके व्यक्तिगत संस्कारों, विचारों और रुचियों के अनुरूप एक नए मनोराज्य का निर्माण करती हैं, जिसमें उसका युगजीवन प्रायः यथावत प्रतिबिम्बित होता है। रचनाकार अपने इस मनोराज्य से अपने समकालीन समाज और भावी पीढ़ीयों को परिचित कराना चाहता है। अपनी इसी इच्छापूर्ति के लिए वह स्व–अनुभूति, तथ्य चिरसंचित ज्ञान एवं अनुभव को शब्द के स्तर पर रचना के रूप में प्रस्तुत करता है। इस प्रकार सामाजिक परिवेश काल विशेष की साहित्य–सृष्टि का एक प्रधान कारक तत्व है। आधुनिक काल की साहित्यिक सृष्टि के संदर्भ में यह तथ्य सर्वत्र प्रमाणित होता है।

आधुनिक काल की सामाजिक पृष्ठभूमि का निरूपण इस प्रकार प्रस्तुत है–

(i) विशृंखलित सामाजिक–संबंध–

आधुनिक काल के प्रारम्भ में भारतीय समाज सामाजिक संबंधों के सदर्भ में अत्यंत भ्रमित एवं विशृंखलित दिखाई देता है। वर्णाश्रम व्यवस्था जो कि वैदिक काल, महाकाव्यकाल आदि प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक सोपानों में सर्वोत्तम विकास का पथ प्रशस्त करती रही तथा सम्राट चन्द्रगुप्त स्कन्दगुप्त, हर्षवर्द्धन आदि के समय तक भारत को समृद्धि, वैभव एवं शक्ति प्रदान करती रही, परवर्ती काल में उत्तरोत्तर विकृत्ति होती गई तथा भारतीय राजनीति और समाज के पराभव का बड़ा कारण सिद्ध हुई। मुगल कालीन शासन में ये व्यवस्थाएँ और भी विकृत हुईं क्योंकि इस्लाम के प्रभाव और जीवन दर्शन ने पारम्परिक भारतीय मान्यताओं और मान्य रीतियों–नीतियों के प्रति अविश्वास एवं भ्रान्तियों का अत्यंत अहितकर वातावरण निर्मित कर दिया। निगुर्ण संतों की दृष्टि ने भी देश के पारम्परिक सामाजिक ढाँचे को दूर तक प्रभावित करते हुए वर्ण–विद्वेष को विशेषतः उभार दिया। इस कारण चारो वर्णों के रागात्मक संबंध स्वतः क्षतिग्रस्त हो गए और भारतीय समाज में विभाजन एवं मर्यादाहीन आचरण की दुखद एवं विडंम्बनापूर्ण स्थितियाँ निर्मित हुईं। इन कारणों से देश का सामाजिक जीवन संकटापन्न होता चला गया।

आधुनिक काल के प्रारम्भ में भारतीय समाज की दुखद स्थिति का वर्णन डॉ. रामकुमार वर्मा ने इन शब्दों में किया है। "उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय समाज अपनी परम्परा का अनुसरण ही करता रहा और अपने गुण दोषों में अधिक संशोधन करने में समर्थ नहीं हुआ।... भारतीय समाज अपनी वर्णव्यवस्था में ऐसा बन गया था कि बड़ी–से–बड़ी राजनीतिक उथल–पुथल हो जाती थी, किन्तु उसके दैनिक क्रियाकलाप में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आता था। वर्ण व्यवस्था से कार्य के विभाजन में भले ही कुछ सुविधा हुई हो किन्तु उससे जो आपस का अलगाव और विभेद उत्पन्न हो गया था उससे समाज में एक स्थिरता और जड़ता की अवस्था ही आ गई थी।" (1) यही जड़ता उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय समाज के संकट को और गहरा बनाती है।

आधुनिक काल में भारतीय समाज में पतन के कारणों का विश्लेषण करते हुए डॉ. रामकुमार वर्मा ने वर्णव्यवस्था की रूढ़ि को भारतीय समाज के पतन का मुख्य कारण बताया है। एक सीमा तक यह निष्कर्ष सही भी है, किन्तु वर्णव्यवस्था के भंग होने से भी भारतीय समाज में अहितकर अराजक स्थितियाँ निर्मित हुई। वर्णव्यवस्था भंग होने से सब ब्रह्मवेत्ता बन गए और स्वनियत कर्त्तव्य त्याग की विकृत रुचि ने जनता को अकर्मण्य बना दिया। 'भारत दुर्दशा' में भारतेन्दु बाबू हरिशचन्द्र ने इस बिडम्बनापूर्ण स्थिति को इन शब्दों में रेखांकित किया है– "... महाराज! वेदांत ने बड़ा ही उपकार किया। सब हिन्दू ब्रह्म हो गए। किसी की इति कर्त्तव्यता बाकी ही न रही। ज्ञानी बनकर ईश्वर से विमुख हुए, रुक्ष हुए, अभिमानी हुए और इसी से स्नेहशून्य हो गए। जब स्नेह ही नहीं तब देशोद्धार का प्रयत्न कहाँ ? ... संतोष ने भी बड़ा काम किया राजा–प्रजा सबको अपन चेला बना लिया। अब हिन्दुओं को खाने मात्र से काम, देश से कुछ काम नहीं। राज न रहा, पेन्शन ही सही। रोजगार न रहा, सूद ही सही। वह भी नहीं तो घर का ही सही। 'संतोष परमं सुखं'– रोटी को ही सराह–सराह के खाते हैं। उद्यम की ओर देखते ही नहीं।" (2) इस वर्णन से स्पष्ट है वर्णव्यवस्था के पतन और विरक्ति की स्थितियां।

(ii) स्वस्थ चिन्तन का अभाव –

आधुनिक काल की सामाजिक स्थितियों का विश्लेषण करने पर स्पष्ट होता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वाध का भारतीय समाज रूढ़ियों आन्धविश्वासों के मकड़जाल में उलझा हुआ था। इनके कारण ज्ञानार्जन एवं युगानुरूप अपेक्षित स्वास्थ चिन्तन का पथ अवरुद्ध था। पणिामतः सद्भाव, सहयोग, एकता एवं संगठन के स्थान पर संकीर्णता और भेदभाव बढ़ रहा था। गृहस्थ जीवन अन्धविश्वाषों से आक्रान्त था। क्रियाशीलता अनैतिकता के कारण पथ–भ्रष्ट थी और भाग्यवाद की अन्ध स्वीकृति ने अकर्मण्यता को बढ़ा दिया था। मद्यपान एवं व्यभिचार की कुवृत्तियों के कारण सद्गति की संभावनाएँ उत्तोत्तर क्षीण हो रही थीं। पाश्चात्य–सभ्यता और अँग्रेजी शिक्षा का प्रचार–प्रसार भी आधुनिकता के नाम पर मद्यपान और व्यभिचार को बढ़ावा दे रहा था। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र कृत 'प्रेमजोगिनी' नाटिका में द्वितीय गर्भांक के अन्तर्गत काशी की दुर्दशा के बहाने से इस पतितावस्था को स्पष्ट रूप से रेखांकित किया गया है।

(iii) सामाजिक विघटन –

भक्तिकाल में कबीर आदि संतकवियों ने सामाजिक एकता का जो दिव्य संदेश प्रसारित किया था, वह आधुनिक कालीन समाज में अतीत का विषय बन गया। जाति पाँति के अविवेकपूर्ण भेदभाव ने छुआछूत और ऊँच–नीच को प्रसारित करके न केवल हिन्दुओं में पारस्परिक विद्वेष, अविश्वास एवं उपेक्षा की वृद्धि कर दी, बल्कि हिन्दू–मूसलमानों के मध्य भी घृणा का प्रसार किया। औरंगजेब की दुर्नीतियों से पोषित मुस्लिम धर्मान्धता ने रहीम–रसखान

की जिस सद्भाव पोषित शुभ–परम्परा को तार–तार किया था, वह इस युग तक आते–आते नामशेष हो गयी। अँग्रेजी राज्य के विरुद्ध हुई अठारह सौ सन्तावन की क्रांति के समय हिन्दू–मुस्लिम एकता एक बार फिर परवान चढ़ी थी, किन्तु क्रांति की समाप्ति के उपरान्त अँग्रेजों के बढ़ते प्रभाव ने इसे निगल लिया। उन्होंने 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति के अनुसार मुसलमानों की पीठ पर हाथ रखा; उन्हें विकास के सुनहरे सपने दिखाए और भारतीय सामाजिक संगठन की जड़ें खोद दीं। सरसैयद अहमद खाँ के नेतृत्व में अँग्रेजी भेदनीति की विषवेलि ऐसी लहलहाई कि हिन्दू–मुस्लिम एकता का झीना वसन उसके कॉटों में उलझकर तार–तार हो गया। भारतीय समाज के विघटन का यह विनाशकारी और आत्मघाती सिलसिला परवर्ती काल में उत्तोत्तर दुखदायी सिद्ध होता रहा है।

(iv) नारी जीवन की त्रासदियाँ : परिवर्तन का प्रारम्भ

भक्तिकाल मध्यकाल में सामाजिक–राजनीतिक कारणों से भारतीय नारियों का जीवन क्रमशः अवनति के गर्त में पतित होता रहा था। मुस्लिम शासकों की अबाध विलसिता से आंतकित नारियाँ पर्दा–प्रथा के पालन के लिए विवश थीं। बालविवाह की अन्धी पृष्ठभूमि में भी यही अन्धी विलसिता प्रधान कारण थीं। पर्दा–प्रथा ने नारियों का सामाजिक जीवन घरों की चहारदीवारी में सीमित कर दिया। इसलिए उनकी सामाजिक सक्रियता भी दुष्प्रभावित हुई। परिणामतः उनकी सम्मान संभावनाएँ विरल होने लगीं। नारियों का शिक्षा प्राप्ति का सनातन अधिकार भी इसी आतंकपूर्ण विलासिता की दावाग्नि में स्वाहा हो गया किन्तु आधुनिक काल में इन त्रासद स्थितियों में सकारात्मक प्रयत्नों का योजनाबद्ध सिलसिला प्रारम्भ हुआ। ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज आदि संस्थाओं के प्रयत्न इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। इन संस्थाओं ने नारी जाति का उत्थान करने के लिए नारी शिक्षा पर विशेष बल दिया तथा पर्दा प्रथा से मुक्ति के निमित्त प्रयत्न किए। विधवाओं के पुनर्विवाह की क्रांतिकारी पहल इन संस्थाओं की महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। बाल विवाह एवं सती प्रथा के विरुद्ध चेतना जगाकर इन संस्थाओं ने तत्कालीन नारी जीवन को समुन्नत और यातनामुक्त बनाने में अद्भुत सफलता अर्जित की।

(v) ग्राम–व्यवस्था में परिवर्तन –

ग्राँम भारतीय समाज की आधार भूमि है। आधुनिक काल से पूर्व की ग्राम व्यवस्था अत्यंत सरल थी। ग्राम पूर्ण रूप से स्वतंत्र एवं स्वायत्तशील इकाई के रूप में प्रतिष्ठित थे। गॉव की अन्न, वस्त्र एवं आवासीय आवश्यकताएँ किसान, जुलाहे एवं कुम्हार, बढ़ई, लुहार, मजदूर मिलकर पूरी कर देते थे। शिक्षा की व्यवस्था पाठशाला के पंडित अथवा मक्तब–मस्जिद के मौलवी के माध्यम से सम्पन्न हो जाती थीं। वैद्य और हकीम चिकित्सा सुविधाओं के लिए और गॉव के वृद्धजन पंच आदि न्याय व्यवस्थाओं के संदर्भ में समर्थ थे। कला, संस्कृति, मनोरंजन, शिक्षा, चिकित्सा, स्वच्छता, न्याय; उत्पादन, विपणन आदि समस्त व्यवस्थाओं की

ग्राम स्तरीय सहज उपलब्धता ने ग्राम–जीवन को बाह्य शोषण से लगभग मुक्त कर रहा था। इसलिए ग्रामवासी अल्प संसाधनों में भी प्रायः सुखी और संतुष्ट थे। संघर्ष कम और सद्भाव अधिक था। उपर्युक्त अवस्थितियों के कारण ग्राम महानगरों की राजनीतिक उथल–पुथल से भी प्रायः अप्रभावित बने रहे किन्तु आधुनिक काल की अँग्रेजी व्यवस्थाओं ने प्रत्येक क्षेत्र में हस्तक्षेप करके इस व्यवस्था को प्रभावित किया और ग्रामों को नगरों–महानगरों का मुखापेक्षी बना दिया। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार–" ... अँग्रेजों की नई व्यवस्था से जनता को घोर संकट का सामना करना पड़ा। खेत अनेकानेक टुकड़ों में बँट गए। किसान और सरकार के बीच बहुत से मध्यस्थ हो गए और पैदावार घटती गई। ग्रामीण उद्योग धन्धों के नष्ट होने पर अधिक–से–अधिक लोग खेती पर आश्रित हो गए बहुत से शहरी उद्योग भी अँग्रेजों की कृपा से काल कवलित हो गए।" (3) इस प्रकार आधुनिक काल में अँग्रेजों की योजनाओं के फलस्वरूप ग्राम–व्यवस्था भारतीय ग्राम–परम्पराओं से दूर हो गई और नगरीय–महानगरीय समस्याओं से घिर गई। उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय नेतृत्व ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया और गॉवों को अँग्रेजों की मंशा के अनुसार ढलने दिया। वीसवीं शताब्दी के पूर्वाध में महात्मा गांधी ने इस ह्रासोन्मुखी परिवर्तन को लक्ष्य किया और गॉवों को पुनः स्वायत्तशासी पूर्ण इकाई बनाने के लिए सार्थक प्रयत्न किया। पंडित दीनदयाल उपाध्याय आदि अन्य भारतीय चिन्ताकों की सर्जनात्मक–दृष्टि भी गॉवों को आत्मनिर्भर इकाई बनाने के पक्ष में ही थी किन्तु स्वतंत्र भारत में पाश्चात्य प्रभाव की वृद्धि के कारण महानगरों के विकास एवं औद्योगीकरण ने ग्रामों को उनकी पूर्व परम्परा की ओर लौटने से रोक दिया। इसी के साथ गॉवों से नगरों की ओर पलायन की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई जो आज तक जारी है।

(vi) आधुनिक शिक्षा व्यवस्था –

आधुनिक काल में आँग्रेज शासकों ने भारतीय समाज को भारतीयता से विमुख करने के लिए नई शिक्षा प्रणाली का सूत्रपात किया। भारतीय समाज में शिक्षा की अनौपचारिक व्यवस्था सर्वसुलभ थी। लोक–गीतों, लोक–कथाओं, लोकोक्तियों, सूक्तियों, प्रवचनों, उपदेशों आदि विविध माध्यमों से यहाँ की निरक्षर जनता भी उन्नत जीवन मूल्यों से समृद्ध हो जाती थी और विवके पूवर्क सद्व्यवहार करने में समर्थ थी। अँग्रेजी शिक्षापद्धति ने इस अनौपचारिक मूल्योन्मुखी शिक्षा को सिरे से नकार दिया और इसके स्थान पर मॅहगी औपचारिक शिक्षा की व्यवस्था दी जो कि मनुष्य को मानवमूल्य सिखाने की अपेक्षा अधिकतम आर्थिक लाभ प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती थी। साथ ही पैतृक धंधे छोड़कर नौकरी के लिए उकसाती थी। आधुनिक काल से पहले भारत में विद्या (शिक्षा) का प्रयोजन मनुष्य को मनुष्यता सिखाना और रचनात्मक कार्यों द्वारा जीविकोपार्जन में सक्षम बनाना था। 'सा विद्या या विमुक्तये'– जैसी उक्तियाँ विद्या अथवा शिक्षा के इसी गौरवपूर्ण स्वरूप को व्याख्यायित करती हैं, किन्तु अँग्रेजी शासन ने विज्ञान एवं तकनीकी की दुहाई देते हुए शिक्षा को नौकारी का माध्यम और

श्शोषण का अस्त्र बना दिया। परिणामतः अँग्रेजी शिक्षा पद्धति से शिक्षित भारतीय प्रायः भारतीयता से दूर होते चले गए। महात्मा गांधी, सुभाषचन्द्र बोस आदि अत्यंत प्रबुद्ध और विवेकशील भारतीयों की बात छोड़ दें तो अधिकतर अँग्रेजी पढ़े–लिखे भारतीय ही भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति में बाधक सिद्ध हुए। आधुनिक शिक्षा व्यवस्था का यह लाभ अवश्य मिला कि भारतीय–शिक्षा विज्ञान एवं तकनीकी की नई दिशा पाने में सफल रही।

(vii) ईसाई धर्मप्रचार एवं शिक्षा –

आधुनिक काल के प्रारम्भ में समाज को शिक्षित करने के नाम पर ईसाई धर्म के प्रचार का व्यापक प्रयत्न हुआ । डॉ. बच्चन सिंह ने लिखा है कि –"... सन 1813 में कम्पनी ने एक नए चार्टर को स्वीकृति दी जिसके अनुसार शिक्षा आदि उपयोगी कार्यों के लिए अनुदान देने की व्यवस्था की गई। इस चार्टर के बाद आने वाले मिशनरियों में अलेक्जेंडर डफ का कार्य सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं कम्पनी के अधिकारियों पर डफ का विशेष प्रभाव था। वह धर्म प्रचार का कार्य अँग्रेजी शिक्षा के प्रचार द्वारा चाहता था। डफ को धर्म प्रचार में सफलता प्रायः नहीं मिली पर इसी बहाने अँग्रेजी शिक्षा देने वाले बहुत से स्कूल कॉलेज खुल गए। ईसाई मिशनरियों के कार्य के पीछे न तो कोई आध्यात्मिक प्रेरणा थी, न अनुग्रह की भावना। वे ईसाई धर्म के प्रचार में लगे हुए थे जिसके लिए उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के धर्मों पर निस्संकोच आक्रमण किया, उनकी निन्दा की। प्रत्येक स्कूल में ईसाई धर्म की शिक्षा अनिवार्य थी।... आँकड़ों से स्पष्ट है कि बहुत कम लोग ईसाई धर्म की श्रेष्ठता से प्रभावित होकर उसमें दीक्षित हुए। जिन लोगों ने उस धर्म को स्वीकार किया उन्हें प्रेरणा देने वाली वस्तु धर्म की श्रेष्ठता नहीं, अर्थ की श्रेष्ठता थी।" (4) इस कथन से स्पष्ट है कि आधुनिक काल के प्रारम्भ में शिक्षा का दुरुप्योग भारतीय समाज की धर्मनिष्ठा परिवर्तित करने के लिए किया गया।

(viii) प्रेस एवं यातायात का विकास –

आधुनिक काल के प्रारम्भ में भारतीय समाज में प्रेस के प्रवेश एवं यातायात के साधनों के विकास ने भी महत्वपूर्ण प्रभाव स्थापित किया। अपने आर्थिक लाभ में वृद्धि एवं सामरिक व्यवस्थाओं को अधिकाधिक सुदृढ़ करने के लिए अँग्रेजों ने भारत में यातायात के साधनों का विकास किया यह विकास भारतीय समाज के लिए भी वरदान सिद्ध हुआ। पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से विचार और संदेश देश स्तर पर प्रसारित हो सके। राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधने और सुविचारित सही दिशा देने की दृष्टि से यह प्रयत्न सर्वथा उपयोगी रहे। मुद्रणालयों की स्थापना और पत्र–पत्रिकाओ के विस्तार ने समाज सुधार के प्रयत्नों को नई गति दी और भारतीय समाज में आवश्यक परिवर्तन किए। ये परिवर्तन निश्चय ही देश के लिए वरदान सिद्ध हुए।

इस प्रकार आधुनिक काल की सामाजिक पृष्ठभूमि विभिन्न संदर्भों में निन्तात गतिशील सिद्ध हुई। अँग्रेजों द्वारा स्थापित विविध व्यवस्थाओं ने भारतीय समाज के पारम्परिक स्वरूप को तोड़ने की जी तोड़ कोशिश की। वे एक सीमा तक इस कोशिश में सफल भी हुए क्योंकि यहाँ के अँग्रेजी पढ़े–लिखे लोगों का एक बड़ा वर्ग अँग्रेजों द्वारा स्थापित व्यवस्थाओं को भारतीयों के लिए हितकर मानते हुए उनके समर्थन एवं प्रचार–प्रसार में व्यस्त रहा। परिवर्तन की इस आयातित आँधी में भारत का श्रेष्ठतम भी बहुत कुछ पीछे छूट गया तथा आधुनिकता के नाम पर पश्चिम का बहुत–सा हानिकारक कचरा भी नए भारत के विकास–पथ पर पाथेय बन गया। जीवन की सहज शांति, समाज का श्शांत स्वभाव, मनुष्य की मूल्य–निष्ठा और व्यक्तिगत सदाचार के साथ सामूहिक जीवन का सौहाद्र पीछे छूट गया तथा अनन्त अर्थ लिप्सा प्रेरित मूल्यहीन संघर्ष पूर्ण जीवन की गलाकाट स्पर्धा भारतीयों की आधुनिकता की तथाकथित नूतन उपलब्धि बन गई।

3.2.2 राजनैतिक पृष्ठभूमि –

भारत में व्यापार के लिए यूरोपीय व्यापारियों का आगमन पन्द्रहवीं–सोलहवीं शताब्दी से ही प्रारम्भ हो चुका था। सत्रहवीं शताब्दी तक इनके पैर भारत में व्यापार की दृष्टि से जम गए, किन्तु राजनीति में इनकी भूमिका नगण्य रही, क्योंकि उस समय भारत में मुगलों की केन्द्रीय सत्ता अत्यंत बलवती थी। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत की राजनीतिक–स्थितियाँ बिगड़ गईं। पानीपत के तीसरे युद्ध में मराठों की पराजय ने देश की सामरिक–शक्ति छिन्न–भिन्न कर दी और अन्य यूरोपीय देशों के साथ आन्तरिक संघर्ष में सर्वाधिक सशक्त हुए अँग्रेज भारत में कम्पनी राज्य–विस्तार के स्वप्न देखने लगे। कूटनीति, सामरिक शक्ति कुटिलता और धूर्त्तता में अँग्रेज अन्य यूरोपीय जातियों से बहुत आगे थे। साथ ही लम्बे समय से भारत में रहते हुए भारतीय समाज की आन्तरिक दुर्बलताओं से सुपरिचित हो चुके थे। अतः भारतीय राजनीति पर वर्चस्व स्थापित करने में वे सफल होने लगे।

अठारहवीं श्शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक अँग्रेज भारत में अपने पैर जमा चुके थे। दक्षिण में मद्रास पर उनका कब्जा था। पूर्व की ओर कासिम बाजार, पटना, ढाका आदि स्थानों पर उनकी व्यापारिक कोठियाँ स्थापित हो चुकी थीं। कलकत्ता का फोर्ट विलियम स्थल उनका केन्द्रीय स्थान था। बंगाल के नबाव सिराजुद्दौला ने अँग्रेजों की धूर्त्तता को भाँपकर उन्हें नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया। परिणामस्वरूप सन् 1756 ईसवी में प्लासी और सन् 1764 ईसवी में बक्सर का युद्ध हुआ। बक्सर के युद्ध में देश द्रोहियों के कारण नबाव की हार हुई। भारत में अँग्रेजी राज्य की जड़ें जमने लगीं। क्लाइव बंगाल का गवर्नर बना। उसने भारतीय राजाओं और नबावों को समाप्त करने के लिए कूटनीतिक प्रयत्न किए। क्लाइव के बाद कार्नवालिस एवं डलहौजी ने भी भारत में अँग्रेजी राज्य का विस्तार किया। सन् 1856 ईसवी

तक कम्पनी के शासन में अवध, झाँसी, सतारा, नागपुर, सिंध, पंजाब, मणिपुर, मेसूर, कुर्म आदि अनेक राज्य आ गए थे। इस प्रकार अँग्रेजों का साम्राज्य देश में उत्तरोत्तर पैर पसार रहा था।

अठारहवीं शताब्दी का पूवार्द्ध भारत में अँग्रेजों की क्रूरता और अत्याचारों से भरा पड़ा है। क्लाइव, होस्टिंग्ज, डलहौजी आदि अँग्रेज गवर्नरों की नीतियाँ अँग्रजों के हितसाधन के लिए आग्रही थीं। उनकी दृष्टि में भारतीयों के कल्याण की कोई योजना नहीं थी। योजनाओं के भ्रम अवश्य थे। उदाहरण के लिए अँग्रेजों द्वारा स्थापित एवं प्रचारित शिक्षा–व्यवस्था ईसाई धर्म और पश्चिमी सभ्यता के विस्तार का माध्यम थी। इसी प्रकार यातायात व्यवस्था भी अन्ततः उन्हीं की आवश्यकताओं की पूर्ति का माध्यम थी। व्यापार का विस्तार और दूरस्थ क्षेत्रों तक सैन्य नियन्त्रण का कार्य बिना यातायात सुविधाओं का विकास किए असम्भव था। अँग्रेजी नौकरियों में भी भारतीयों के लिए अवसर नगण्य थे। अँग्रेजों ने शस्त्र कानून बनाकर हिन्दुस्तानियों से श्शस्त्र रखने के अधिकार भी छीन लिए थे। कथित तौर पर यह कानूनी अपराध और हिंसा को नियन्त्रित करने के लिए था किन्तु इसका वास्तविक प्रयोजन भारतीयों के सामरिक सामर्थ्य और उनके शस्त्र संचालन कौशल को समाप्त करना था। अठारह सौ सन्तावन की सशस्त्र क्रांति से भयभीत अँग्रेज भारतीयों को निश्शस्त्र बनाना चाहते थे, क्योंकि इनकी निश्शस्त्रता में उनकी सुरक्षा थी।

प्रायः यह प्रचारित किया जाता रहा है कि औरंगजेब के श्शासनकाल से हिन्दू मुसलमानों में भेदभाव की राजनीति बढ गई थी और इसके कारण पीड़ित हिन्दू समाज ने अँग्रेजी शासन के स्थापित होने से राहत की साँस ली। अँग्रेजी श्शासन द्वारा स्थापित व्यवस्था से हिन्दू समाज सन्तुष्ट था; किन्तु वास्तविकता यह है कि हिन्दुओं की गति आसमान से गिरे खजूर में अटके जैसी थी। अँग्रेजी सुधार और शासन नीतियाँ मीठे आवरण में लिपटे जहरीले कैप्सूलों जैसी थीं। हिन्दू समाज का बुद्धिजीवी वर्ग इस मर्म को समझाता था। इसीलिए उसने अठारह सौ सन्तावन की क्रांति के समय मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर को अपना सम्राट घोषित करके उनके नाम पर संघर्ष किया। यदि हिन्दू समाज राजनीतिक स्तर पर अँग्रेजी श्शासन में सुख अनुभव करता तो प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में मुस्लिम क्रांतिकारियों के साथ मिलकर संघर्ष नहीं करता। सन् 1835 ईसवी में हिन्दी के कवि घासीराम की निम्नांकित पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन हिन्दू बुद्धिजीवी अँग्रेजी शासन को छोड़कर देशी राजाओं–नबाबों के श्शासन में रहना श्रेयस्कर समझता था।

"छांड़ि कै फिरंगिनि को राज, लै सुधर्म काज।
जहाँ होत पुण्य आज, चलौ वाही देश कौ।।" (5)

जिस प्रकार अँग्रेजी राजनीति ने हिन्दुओं को सुधार के नाम पर अपने पक्ष में बरगलाने का प्रयत्न किया, उसी प्रकार उसने मुस्लिम समाज को भी पाश्चात्य आकर्षण से

चमत्कृत कर उन्हें उनकी निष्ठा से विरत करने की कोशिश की। पटना और मुरादाबाद में जो बहावी आन्दोलन सन् 1870 तक चलता रहा तथा पंजाब में अहमदिया आन्दोलन मुस्लिम समाज में सकारात्मक परिवर्तनों की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण रहे, किन्तु सर सैयद अहमद खाँ द्वारा अलीगढ़ में स्थापित 'एंग्लो ओरियंटल कॉलेल' की दृष्टि देश के राष्ट्रीय हितों के पक्ष में नहीं रही। इस कॉलेज के माध्यम से अँग्रेजी राजनीति ने परवर्ती स्वतंत्रता आन्दोलन में मुस्लिम युवकों की सक्रिय भागीदारी को हतोत्साहित किया और उन्हें अँग्रेजी श्शासन में उच्च पदों पर आकर सुविधाएँ पाने के लिए प्रेरित किया। कदाचित् यही कारण है कि अठारह सौ सन्तावन में हिन्दू मुसलमानों ने जो एकता प्रदर्शित की थी, वह परवर्ती युग में उत्तरोत्तर विरल होती चली गई। अँग्रेजी राजनीति की यही कूटनीतिक चाल अन्ततः भारत विभाजन का कारण सिद्ध हुई।

इस प्रकार आधुनिक काल की राजनीतिक पृष्ठभूमि अँग्रेजी श्शासन की स्वार्थपूर्ण अनीतियों से पोषित रही। उनके समस्त राजनीतिक प्रयत्न 'ईस्ट इंडिया कंम्पनी' और ब्रिटिश शासन के हित सम्बर्द्धन के लिए थे। यह अलग बात है कि उन प्रयत्नों के विषकुम्भ से भी भारतीय मनीषा ने अथक अध्यवसाय पूर्वक देश कल्याण के लिए अमृतमयी संभावनाएँ खोज लीं और अँग्रेजी शिक्षा–पद्धति से शिक्षित होकर भी भारतीय स्वातंष्य के लिए संघर्ष किया। आधुनिक काल का साहित्य ऐसी ही विषम, भ्रामक राजनीति की छाया में रचा गया तथापि उसमें राष्ट्रीय हितों की चिन्ता सर्वत्र पुष्ट रही ।

3.2.3 आर्थिक पृष्ठभूमि –

आधुनिक काल की आर्थिक पृष्ठभूमि अत्यंत वैषम्यपूर्ण रही। उत्तरमध्यकाल में भारतीय समाज सामन्तवादी विलासिता, युद्धों की विभीषिका और अकालों की काली छाया तले अपनी आर्थिक समृद्धि से हाथ धो चुका था। सत्रहवीं श्शताब्दी में भारतीय जनता जिन भयानक आर्थिक संकटों से गुजर रही थी उनका स्पष्ट चित्रण 'कवितावली' की निम्नांकित पंक्तियों में इस प्रकार दृष्टव्य हैं–

"खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान; सोच वश
कहैं एक एकन सों कहाँ जाई का करी।।" (6)

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में भारत की यह दुर्दशा थी। अँग्रेजों के बढ़ते वर्चस्व के साथ बढ़े शोषण में यह स्थिति और भी दयनीय होती गई। अठारहवीं उन्नीसवीं शताब्दी में आर्थिक संकट चरम सीमा पर पहुँच गया। सन् 1864 ईसवी में तत्कालीन वाइसराय लार्ड लारेंस ने स्पष्ट किया था कि भारत बड़ा गरीब देश है। देश की बहुसंख्यक जनता कठिनाई

से ही अपना पेट भर पाती है। भारतीय विद्वान दादा भाई नौरोजी के निम्नांकित कथन से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है– "मैंने हिसाब लगाकर देखा है कि प्रत्येक भारतीय की औसतन वार्षिक आय केवल बीस रुपया है। इसमें भी उच्च वर्ग का भाग अधिक है। 40 से 80 प्रतिशत भारतीय आजीवन अध–भूखे हैं।" (7)

देशवासियों की इस दुर्दशा के लिए उत्तरमध्यकालीन सामन्तवाद और आधुनिक युगीन ब्रिटिश नीतियाँ ही उत्तरदायी रहीं।

उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय समाज में आर्थिक दृष्टि से तीन वर्ग मिलते हैं– राजाओं, नबावों और अँग्रेज अधिकारियों के रूप में अत्यंत समृद्ध एवं ऐश्वर्य भोगी शासक वर्ग; धन सम्पन्न जमींदार–व्यापारी वर्ग तथा निर्धन एवं शोषित, कृषक, श्रमिक वर्ग। इस तृतीय वर्ग का शोषण प्रथम एवं द्वितीय वर्ग– दोनों के द्वारा किया जा रहा था। इसलिए तृतीय वर्ग अर्थात् जनसाधारण के पास पर्याप्त भरण–पोषण तक के साधन उपलब्ध नहीं थे। अथक परिश्रम एवं अनन्त अभाव ही मानो उनकी नियति थी। अठारह सौ सन्तावन की क्रांति के उपरान्त जब भारत में अँग्रेजी राज्य की पूर्ण सत्ता स्थापित हुई, तब यह आशा बँधी कि अब अँग्रेजों की सुधारवादी दृष्टि जनसाधारण के लिए कल्याणकारिणी सिद्ध होगी किन्तु यह आशा उत्तरोत्तर भ्रम सिद्ध होती गई क्योंकि ब्रिटिश पार्लियामेंट से पारित कानून भी अंततः ब्रिटिशों के ही हित में बनते थे। उनका उद्देश्य इंग्लैण्ड की श्री–वृद्धि करना था। भारतीय जनता से उन्हें सच्ची सहानुभूति नहीं थी। 'ब्रिटिश रूल इन इंडिया' शीर्षक से रचित पुस्तक में रामगोपाल ने उक्त स्थितियों का यथार्थ चित्रण किया है– "यदि मुगलों या नबावों के शासन में कृषक वर्ग की दशा खराब थी, तो ब्रिटिश राज्य में तो वह और भी खराब हो गई। सन् 1770 में जो भयंकर अकाल पड़ा उसमें बंगाल की एक तिहाई जनसंख्या समाप्त हो गई। लगान की वसूली में कम्पनी के कर्मचारी बड़ी सख्ती करते थे। कृषकों के पास खाने के लिए कौन कहे बोने के लिए बीज भी नहीं बच पाता था। एक ओर भारतीय जनता अकाल से मर रही थी दूसरी ओर अन्न का निर्यात हो रहा था। वाइसराय लार्ड लिटन की नीति किसानों को राहत देने की न थी। वह पूँजीपतियों, जमीदारों और ताल्लुकेदारों को तुष्ट कर राज्य को दृढ़ बनाना चाहता था। उसने सन् 1877 में भयंकर अकाल के समय भारतीयों द्वारा ब्रिटेन की रानी विक्टोरिया को 'भारत की महारानी' घोषित कराने के लिए खर्चीले दरबार को आयोजित कर भारतीयों के हृदय को दुखी करने का उपक्रम किया।" (8) इस प्रकार निर्धन देश की शेष सम्पत्ति का उपयोग ब्रिटिश अधिकारियों की विलसिता एवं साम्राज्य लिप्सा की पूर्ति के लिए हो रहा था।

अँग्रेजों ने भारतीय अर्थव्यवस्था के परम्परागत स्वरूप को परिवर्तित करने में अद्भुत सफलता प्राप्त की। उन्होंने अपनी सुविधा और लाभ के लिए भारतीय अर्थव्यवस्था के स्वरूप में मनमाने परिवर्तन किए। लार्ड कार्नवालिस ने सन् 1793 ईसवी में बंगाल, बिहार और

उड़ीसा में जमींदारी प्रथा लागू की। बाद में बम्बई उत्तरप्रदेश एवं मध्यप्रदेश के अनेक भागों में भी यह व्यवस्था प्रारम्भ की गई। सन् 1820 ईसवी में सर टॉमस मुनरो ने 'इस्तमारारी बन्दोवस्त' लागू करके जमीन को व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में बदल दिया। जमींदार और जोतदार दोनों ही जमीन का क्रय विक्रय कर सकते थे। कृषिभूमि के व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में मान्य हो जाने से कृषि का स्वरूप व्यावसायिक होने लगा तथा ग्रामवासियों के उपयोग में आने वाली उपज बाजारों में विक्रय के लिए आने लगी। यातायात की सुविधाओं ने भी बाजारवाद की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया। इन समस्त परिवर्तित व्यवस्थाओं का अधिकतम लाभ अन्ततः अँग्रेजों को ही मिला। भारतीय किसानों की दुर्दशा यथावत बनी रही।

अँग्रेजी व्यवस्थापन ने कृषकों की भाँति श्रमिकों को भी पीड़ित किया। अँग्रेज व्यापारियों ने भारतीय व्यापार की समप्ति के लिए नीतियाँ बनाईं और यहाँ के बाजार पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। उन्होंने इस देश को उत्पादन–क्षमता से वंचित करने और तैयार माल की खपत का बाजार मात्र बनाने के लिए यहाँ की कारीगरी और उद्योग–धन्धों को नष्ट कर दिया। साथ ही आर्थिक क्षेत्र में अनेक नई समस्याएँ भी उत्पन्न कर दीं। डॉ. जय किशन प्रसाद खण्डेलवाल के अनुसार –" ... ब्रिटिश माल की खपत के लिए ब्रिटिश सरकार ने कुछ कर भी लगाये जैसे भारतीय कपड़े पर और इस प्रकार अपने हित को बढ़ाया। इस प्रकार विदेशी वस्तुओं का प्रचार धीरे–धीरे बढ़ता गया और भारतीय उद्योग–धन्धों की दशा बिगड़ती गई।... मँहगाई, अकाल, टेक्स और दरिद्रता इस युग की आर्थिक समस्याएँ थीं।" (9) इस प्रकार आधुनिक काल की आर्थिक पृष्ठभूमि में वर्ग वैषम्य की भयावह स्थितियां प्रकट होती हैं। एक ओर विलासी राजाओं, नबावों और अँग्रेज अधिकारियों की अबाध रंगरेलिएँ हैं तो दूसरी ओर जनसाधारण का करुण आर्त्तनाद है। इसी विकट विषमता युक्त संकटापन्न भूमि पर आधुनिक साहित्य की चेतना आकार लेती है और अपने अमृत स्वर से संधर्ष की प्रेरणा देती सी संघर्ष की है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके समकालीन साहित्यकारों की रचनाएँ इस तथ्य की साक्षी हैं।

3.2.4 सांस्कृतिक पृष्ठभूमि –

आधुनिक काल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि सबसे अधिक संकटापन्न है, क्योंकि इस अवधि में भारतीय मान्यताओं और मूल्यों के ह्रास का काला अध्याय प्रारम्भ होता है। इस युग में भारतीय जीवनमूल्यों को उत्तरोत्तर हाशिये पर धकेला गया तथा पश्चिमी सभ्यता की विकृतियों को आधुनिकता के नाम पर उत्साह पूर्वक स्वीकार किया गया। आधुनिक काल के प्रारम्भ में भारतीयों ने अँग्रेजों का जैसा अन्धानुकरण प्रारम्भ किया, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

भारतीय बुद्धिजीवी, अँग्रेजी पढ़े–लिखे लोग आधुनिक काल के प्रारम्भ में अँग्रेजों के अन्धानुकरण में व्यस्त थे। उनकी क्रिया–पद्धति पर व्यंग्य करते हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'अँग्रेज स्त्रोत' नामक रचना में लिखा है–

"हे अंगरेज ! हम तुमको प्रणाम करते हैं।"

"हे वरद ! हमको वर दो, हम सिर पर शमला बाँध के तुम्हारे पीछे–पीछे दौड़ते, तुम हमको चाकरी दो, हम तुमको प्रणाम करते हैं।"

"हे अन्तर्यामिन्! तुम परोपकारी कहो इसलिए परोपकार करते हैं, तुम विज्ञान कहो इस हेतु विद्या पढ़ते हैं ! अतएव हे अँग्रेज तुम हम पर प्रसन्न हो! हम तुमको नमस्कार करते हैं।"

"हे मिष्ट भाषित! हम मातृभाषा त्याग करके तुम्हारी भाषा बोलेंगे, पैतृक धर्म छोड़ करके ब्राह्म धर्मावलंबन करेंगे, बाबू नाम छोड़कर मिस्टर नाम लिखवायेंगे, तुम हम पर प्रसन्न हो हम तुमको प्रणाम करते हैं।" (10)

अँग्रेजी सभ्यता के अन्धानुकरण की यह मानसिकता आज भी भारतीय संस्कृति को नष्ट कर रही है। आधुनिक काल के प्रारम्भ में अँग्रेजी सभ्यता का प्रभाव नगरीय जीवन पर ही विशेष रूप से दिखाई देता है, क्योंकि उस युग की सांस्कृतिक चेतना अपेक्षाकृत अधिक जागरूक मिलती है। उस युग का भारतीय कवि भारतीय युवक को पाश्चात्य–सभ्यता के अन्धानुकरण से विरत करने के पक्ष में लिखता है। बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमधन' की निम्नांकित पंक्तियों से इस तथ्य की पुष्टि होती है–

"सोहै न तोके पतलून सांवर गोरवा !
कोट बूट जाकेट कमीज क्यों पहिनि बने बैबून। सां. गो.।।
काली सूरत पै काला कपड़ा देत किए रंग दून। सां. गो.।।
अँग्रेजी कपड़ा छोड़ह कितौ, व्याय लगाव मुंहै चून। सां. गो.।" (11)
दाढ़ राख कै बार कटावत और बढ़ाये नारक्न। सा.गो.

भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य सभ्यता का यह आक्रमण न केवल राजशक्ति के बल पर प्रोत्साहित किया गया, अपितु अँग्रेजों के पिट्ठू भारतीयों ने भी इसे प्रसारित करने में कोई–कोर–कसर नहीं छोड़ी। परिणामतः आधुनिक काल के प्रारम्भ में नवजागरण और विकास के नाम पर भारत में भारत–विरोधी संस्कृति (विकृति) को प्रोत्साहित आरोपित करने का कूट प्रयत्न किया गया जिसने यहाँ की ईश्वरीय–आस्था, मूल्य–निष्ठा, नैतिकता एवं जातीय गौरव आदि भारतीय–अस्मिता के निर्धारक तत्वों की जड़ें खोद डालीं। परवर्ती भारत में बढ़े–चढ़े भ्रष्टाचार, व्यभिचार, काला बाजारी, प्रदूषण, हिंसा, हत्या, यौन–अपराध आदि समस्याओं की पृष्ठभूमि में भारतीयों का यही सांस्कृतिक पतन प्रमुख कारण रहा है।

धार्मिकता भारतीय जीवन की आधारभूत विशेषता रही है और आज भी है किन्तु बीसवीं शताब्दी से पूर्व भारतीयों के धार्मिक दृष्टिकोण में परिवर्तन करने के अनेक कूट प्रयत्न अँग्रेजी शासन के द्वारा किए गए। उन्होंने हिन्दू और इस्लाम धर्म की कटु आलोचना करते

हुए इनमें दोषों को तो बार–बार रेखांकित किया, किन्तु इनके गुणों की ओर कोई संकेत नहीं किया। सर्वधर्म–समभाव जो कि हिन्दू–धर्म का सार है, सहिष्णुता और पूजा–पद्धति की स्वतंत्रता जैसी अनेक विशेषताओं की उपेक्षा की गई। इस्लाम की सामाजिक समानता के सिद्धांत को भी महत्व नहीं दिया गया। अँग्रेजों ने उसे युग में भारतीय–संस्कृति एवं इन धर्मों की ऐसी प्रस्तुति की कि अँग्रेजी पढ़े–लिखे भारतीयों को अपनी संस्कृति और धर्म में बुराइयाँ ही नजर आने लगीं और वे ईसाई धर्म की ओर आकृष्ट हुए। जहाँ भारतीय–धर्म अनेक सामाजिक मर्यादाओं और नैतिक–मानवीय मूलयों के बंधन में मनुष्य को दायित्वों की डोर में बाँध रहे थे, वहाँ ईसाई धर्म व्यक्तिगत स्वतंत्रता के रूप मे सामाजिक अराजकता को पुष्ट कर रहा था। यही अराजकता उस युग की आधुनिकता बन रही थी और कवि मधुसूदन दत्त जैसे लोग 'माईकल मधुसूदन दत्त' बनकर 'मेघनाद धर्म' जैसी कृतियाँ लिखकर भारतीय नायकों को खलनायक बना रहे थे। इस प्रकार भारतीयों द्वारा भारतीय पौराणिकता, ऐतिहासिकता एवं धार्मिकता के विरुद्ध लेखन किया जा रहा था, जबकि दूसरी ओर अँग्रेज लेखक ईसाई धर्म के प्रचार के लिए उसके पक्ष में बढ़चढ़ाकर लिख रहे थे। इस तथ्य की पुष्टि 'जान बनियन' द्वारा रचित 'पिलग्रिम्स प्रोगेस के अनुवाद 'यात्रा स्वप्नोदय' में मुद्रित धार्मिक गीतों से होती है। सन् 1867 ईसवी में बनारस से प्रकाशित 'यात्रा स्वप्नोदय' में ईसाई धर्म स्वीकार करने को ही मुक्ति का पथ बताया गया है। निम्नांकित गीतपंक्तियां इस संदर्भ में दृष्टव्य हैं–

"धन्य–धन्य तें पुरुष दयालु मम हित लज्जा पाई।
झुकि–झुकि मैं निज पीठहिं लाद्यो, आद्य बोझा दुखदाई।।
काहु न मेरो बोझ उतारयो, कष्टी जीव छुड़ाई।
आयो भागी यहाँ लगि मैं, जब अगिनित सुख तब पाई।।
क्रूसहिं देखि भार निज खोयों, या सुखदायक ठाई।
टूटे बन्ध गिरयो अद्य मेरयो, कबरहिं गयो समाई।।
क्रूस–कबर दोऊ धन्य करत हौं, धन्य यीशु अधिकाई।। " (12)

भारतीय भक्ति–पद्धति के अनुकरण पर रचित ऐसी रचनाओं के माध्यम से राम, कृष्ण, गौतम हजरत मुहम्मद साहब आदि के द्वारा निर्देशित धर्म–पथ को 'अघ बोझा दुखदाई' बताया गया है तथा 'क्रूर' 'कबर' आदि को महिमा–मण्डित करते हुए ईसा को सर्वश्रेष्ठ निरूपित किया गया है। अँग्रेज शासकों ईसाई मिशनरियों, और धर्मान्तरित भारतीयों के संयुक्त प्रयत्नों ने उस समय सांस्कृतिक स्तर पर भारतीय धर्म–दृष्टि को और भी अधिक भ्रमित बना दिया। निष्ठाएँ टूटने लगीं और धर्म पर प्राण देने वाली जनता धन के लिए धर्म छोड़ने लगी। आर्थिक दृष्टि से निर्बल वर्ग को सुविधाओं का प्रलोभन देकर ईसाई

धर्म प्रचारकों ने ईसाई धर्म का प्रसार करने में अपूर्व सफलता प्राप्त की। प्रतिक्रिया स्वरूप महर्षि दयानन्द, राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द बाबा भीमराव अम्बेडकर आदि ने प्रयत्न पूर्वक धार्मिक–सांस्कृतिक क्षेत्र में नई ऊर्जा उत्पन्न की। इसलिए तत्कालीन सांस्कृति पृष्ठभूमि अनेक नकारात्मक शक्तियों की सक्रियता के बाद भी अन्ततः भारतीयता के पक्ष में उचित दिशाएँ निर्देशित कर सकी और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राष्ट्रीय–सांस्कृतिक काव्यधारा का आधार बनीं।

3.3.1 अठारह सौ सन्तावन की क्रांति

अठारह सौ सत्तावन की क्रांति भारत में अँग्रेजी राज्य की दुर्नीतियों का दुष्परिणाम थी। उसकी पृष्ठभूमि में अँग्रेजों के लम्बे प्रयत्नों की सक्रियता मिलती है। 31 दिसम्बर सन् 1600 ईसवीं को इंग्लैण्ड की महारानी एलिजावेथ प्रथम ने लंदन के व्यापारियों को पूर्वी देशों के साथ व्यापार करने की अनुमति प्रदान की और तब 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' आस्तित्व में आई। इस व्यापारिक कम्पनी का प्रथम जहाज हैक्टर सन् 1608 ईसावीं में सूरत के प्रसिद्ध बंदरगाह पर आया। कम्पनी के अधिकारियों ने तत्कालीन मुगल सम्राट जहाँगीर से भारत के पश्चिमी क्षेत्र में व्यापार करने और वास्तियां बसाने की अनुमति प्राप्त की। अपने व्यापारिक हितों की पूर्ति के लिए सन् 1615 ईसवीं में ब्रिटिश सरकार के राजदूत सर टॉमस रो ने सम्राट जहाँगीर से भेंट करके भारत में कम्पनी की कोठियाँ बनाने की अनुमति ले ली। ये कोठियाँ इस्ट इंडिया कम्पनी की व्यापारिक गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र थीं। इन्हें उस समय फैक्ट्रियाँ कहा जाता था, किन्तु इनमें आजकल की फैक्ट्रियों की तरह मशीनें नहीं होती थीं। वस्तुतः ये अँग्रेजों के बड़े गोदाम थे जिनमें व्यापारिक एवं सामरिक सामग्री का भण्डारण किया जाता था। आगे चलकर यही कोठियाँ भारत में अँग्रेजी राज्य का गढ़ बनीं। बम्बई, कलकत्ता और मद्रास की कोठियाँ कम्पनी की गतिविधियों के संचालन में प्रमुख थीं।

अँग्रेजों ने अपने कूटनीतिक चातुर्य से पहले अपनी प्रतिस्पर्धी अन्य यूरोपीय कम्पनियों को व्यापारिक एवं सामरिक प्रयत्नों से पराजित करके भारत से निष्कासित किया और भारतीय व्यापार पर अपना पूर्ण एकाधिपत्य स्थापित कर लिया। साथ ही भारतीय राज्यों पर भी अधिकार करने के लिए कूटनीतिक चालें चलने लगे। हैदराबाद, अवध, बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मैसूर आदि भारतीयों राज्यों में कम्पनी शासन की स्थापना से उत्साहित अँग्रेजों ने पंजाब पर गिद्ध दृष्टि डाली। पहले सिक्ख–शक्ति में विघटन उत्पन्न किया और फिर 1845–46 ईसवी तथा 1848–49 के युद्धों में सिक्खों को पराजित करके पंजाब पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक भारत के अधिकांश भाग पर अँग्रेजों का राज्य प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से स्थापित हो चुका था।

'महाभारत' में सूक्ति है– 'लाभेन वर्द्धते लोभः' अर्थात् लाभ से लोभ बढ़ता है। अँग्रेजों की राज्य–लिप्सा भी भारत में पैर पसारने के साथ उत्तोत्तर बढ़ने लगी और उन्होंने सम्पूर्ण

देश पर अधिकार करने की मंशा से मनमानी नीतियाँ आरोपित करनी प्रारम्भ कर दीं। सन् 1848 ईसवी में लार्ड डलहौजी भारत में 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' का गवर्नर जनरल बना। उसने न केवल सिक्किम और बर्मा पर अधिकार किया, अपितु देशी राज्यों को हड़पने के लिए भारत में परम्परागत रूप से मान्य दत्तक–व्यवस्था पर अँग्रेजी नियन्त्रण स्थापित किया। उसने यह घोषित किया कि निस्संतान भारतीय राजा का राज्य अँग्रेजी शासन में मिला लिया जाएगा। ऐसे राजाग कम्पनी सरकार की अनुमति के बिना दत्तक नहीं ले सकेंगे। इस हड़प नीति के अधिकार पर डलहौजी ने सन् 1848 ईसवी में जैतपूर और सम्भल सन् 1852 ईसवी में उदयपुर, सन् 1853 ईसवी में झाँसी, एवं सन् 1854 ईसवी में नागपुर राज्य पर अधिकार कर लिया। सन् 1853 ईसवी में बरार पर भी अँग्रेजों ने कब्जा कर लिया क्योंकि इस वर्ष हैदराबाद का निजाम जो कि राज्य में श्शांति व्यवस्था के लिए निजी व्यय पर अँग्रेजी सेना रखता था, कम्पनी सरकार को खर्चे की रकम अदा नहीं कर सका था। अवध पर सन् 1855 ईसवी में अँग्रेजी राज्य में यह कहकर मिला लिया गया कि नबाव के श्शासन में प्रबन्ध ठीक नहीं है। इस प्रकार सन् 1856 ईसवी तक एक–एक करके लगभग समस्त भारतीय नरेश प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से ईस्ट इंडिया कम्पनी के श्शासन के अधीन हो गए थे। मुट्ठी भर अँग्रेज अपनी क्रूरतापूर्ण कुटिलता के बल पर भारतीयों की अदूरदर्शिता और मूढ़ता के कारण भारतीयों के सहयोग से भारत के भाग्य विधाता बन गए। भेड़ियों ने सिंहों को गुलाम बना लिया। यह दुर्दशा भारतीयों में राष्ट्रीय–चेतना की कमी के कारण हुई।

यह स्वीकृत तथ्य है कि भारत में कम्पनी राज्य और फिर ब्रिटिश राज्य की स्थापना भारतीय शासकों की राजनीतिक अकुशलता, मूढ़ता, मिथ्या आत्मगौरव, अहंकारिता तथा पारस्परिक द्वेष का दुष्परिणाम था। जिस प्रकार मुस्लिम शासकों के सत्ता विस्तार में हिन्दू नरेश सहयोगी रहे, उसी प्रकार अँग्रेजों के साम्राज्य–संरक्षण एवं विस्तार में किसी–न–किसी भारतीय शासक की सक्रियता अवश्य बनी रही। यहाँ तक कि अठारह सौ सन्तावन का महासंग्राम भी अँग्रेजों ने भारतीयों के बल पर ही फतह किया था। यह बिडम्बना ही है कि उस युग में एक ओर अँग्रेज अपनी सारी शक्ति अपने राष्ट्र को समृद्ध करने में लगा रहे थे, तब हमारी राजनीतिक शक्तियाँ हमारे देश को दुर्बल और कंगाल बनाने में जुटी थीं। हमें जब अँग्रेजों से राष्ट्रभक्ति, एकता, दूरदर्शिता, संगठन सहयोग एवं संघर्ष का पाठ पढ़ना चाहिए था, तब उनसे अपने तथाकथित समाज सुधार का पाठ पढ़ रहे थे। हम अपनी संस्कृति की जड़ें खोदकर पाश्चात्य–सभ्यता की जड़ें जमाने में लगे थे। हमारी दृष्टि आत्मविरोधी और परपोषी थी और भारत में अँग्रेजी राज्य आर्थिक शोषण का आधार बनने के साथ–साथ ईसाई धर्म के प्रचार–प्रसार का भी सशक्त माध्यम बन रहा था। उन्नीसवीं शताब्दी के छठे दशक का उत्तरार्द्ध यही दुखद परिदृश्य उपस्थित करता है और यहीं से अँग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह की आग भड़कती है।

अठारह सौ सत्तावन की जनक्रांति का प्रथम विस्फोट बैरकपुर में 29 मार्च 1857 में हुआ। अमर शहीद मंगल पांडे ने इस दिन चर्बी के नए कारतूस लेने से इंकार कर दिया और अँग्रेज अधिकारी को गोली से उड़ा दिया। इसी विद्रोह की आग उत्तर भारत में फैलने लगी, क्योंकि अँग्रेजों ने पहले से ही सामाजिक, राजनीतिक वातावरण अपने विरुद्ध बना लिया था। मंगल पांडे को बंदी बनाकर मृत्युदण्ड दे दिया गया। अँग्रेजों की दृष्टि में ऐसा करके भारतीयों को विद्रोह से विरक्त किया जाना सम्भव था, किन्तु यह उनकी भूल सिद्ध हुई। मंगल पांडे की सजा ने आग में घी का कार्य किया और 10 मई, 1857 को मेरठ की एक सैनिक टुकड़ी ने विद्रोह कर दिया। इस टुकड़ी ने जेल से बंदियों को मुक्त कराया और अँग्रेज अफसरों को मौत के घाट उतार दिया। यह विद्रोही टुकड़ी अपार जनसमूह के साथ 11 मई 1857 को दिल्ली पहुँची और उसने मुगल सम्राट बहादुर श्शाह द्वितीय को अपना क्रांति नेता घोषित कर दिया। इस विद्रोह की सूचना मिलते ही लखनऊ, इलाहाबाद, कानपुर, बरेली, झाँसी, बनारस आदि जिलों में जन विद्रोह फैल गया। (13) इस विदोह को कुचलने के लिए अँग्रेजों ने पूरी शक्ति झोंक दी और सितम्बर 1857 में दिल्ली पर फिर अँग्रेजों का अधिकार हो गया। मुगल सम्राट के दो पुत्रों और एक पौत्र को कत्ल करके उनके कटे हुए सिर सम्राट को भेंट किए गए। तदुपरन्त उन्हें और उनकी पत्नी जीनत महल को सुदूर रंगून में निर्वासित कर दिया गया।

1857 की जनक्रांति में अनेक स्थानों पर संघर्ष महत्वपूर्ण रहा। ऐसे स्थलों में लखनऊ, झाँसी, ग्वालियर, कानपुर, जगदीशपुर आदि प्रमुख हैं। लखनऊ में 4 जून 1857 को विद्रोह हुआ। इस विद्रोह का नेतृत्व निर्वासित नबाव वाजिद अली शाह की बेगम हजरत महल ने किया। अवध राज्य के ताल्लुकेदारों, जमींदारों के साथ प्रजा ने भी विद्रोह में भाग लिया किन्तु हेनरी लारेन्स, हैवलॉक, कोलिन कैम्पवेल आदि ने मार्च 1858 में लखनऊ पर पुनः अधिकार कर लिया।

कानपुर में विद्रोह 5 जून 1857 को प्रारम्भ हुआ और विद्रोही क्रांतिकारियों ने नाना साहब को पेशवा घोषित कर दिया। 6 दिसम्बर 1857 को कानपुर फिर अँग्रेजों के हाथों में आ गया, किन्तु नाना साहब के सेनापति तात्याटोपे झाँसी की ओर सुरक्षित निकल गए थे। झाँसी की सेना ने जून 1857 को विद्रोह किया और महारानी लक्ष्मीबाई को राज्य का स्वतंत्र श्शासक घोषित कर दिया। झाँसी के विद्रोह में स्वयं रानी की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही। 6 अप्रैल 1858 को अँग्रेजों ने झाँसी पर पुनः कब्जा कर लिया तब रानी लक्ष्मीबाई झाँसी से निकलकर कालपी की ओर बढ़ीं। बाँदा के नबाव, नाना साहब के भतीजे राव साहब, तात्या टोपे आदि ने रानी का साथ दिया। रानी ने ग्वालियर पर अधिकार भी कर लिया, किन्तु शीघ्र ही ह्यूरोज के साथ संघर्ष में रानी वीरगति को प्राप्त हुई और तात्याटोपे छापामार संग्राम करते रहे। कालान्तर में तात्या के मित्र राजा मानसिंह ने उन्हें प्रलोभन के कारण अँग्रेजों को

सौप दिया। 18 अप्रैल 1859 को तात्याटोपे को फॉसी दी गई। कहा जाता है कि तात्याटोपे के स्थान पर किसी अन्य व्यक्ति ने स्वेच्छ से तात्या को बचाने के लिए फॉसी की सजा तात्या बनकर स्वीकार की। क्रांति को असफल होता देखकर नाना साहब नेपाल की ओर निकल गए। बिहार के आरा जिले में जगदीशपुर के राजा कुअैर सिंह, रामगढ़ की रानी अवन्ती बाई, गोंड राजा शंकरशाह आदि ने भी क्रांति में सक्रिय सहयोग दिया और देश के लिए प्राण न्यौछावर किए। मध्यभारत में इंदौर, धार, नीमच, नसीराबाद आदि स्थानों पर विद्रोह हुआ। राजस्थान में भरतपुर विद्रोह के लिए अग्रणी रहा। इस प्रकार देश का एक बड़ा भाग इस महासंग्राम में भागीदारी बना, किन्तु भारत के दुर्भाग्य से पंजाब, बंगाल, राजस्थान एवं दक्षिण भारत का अधिकांश भाग इस स्वतंत्रता–संग्राम में या तो मूक दर्शक बना रहा अथवा उसने शत्रुपक्ष अँग्रेजों का साथ दिया। क्रांति की विफलता में यह एक बड़ा कारण रहा ।

अठारह सौ सन्तावन की क्रांति को इतिहास में विफल–क्रांति के रूप में अंकित किया गया और इसकी विफलता के कारणों पर पर्याप्त चर्चाएँ हुईं। विश्व प्रकाश गुप्ता के अनुसार– "1857 की क्रांति के असफल होने के अनेक कारण थे। वह समय से पहले शुरू हो गया था। योग्य नेतृत्व का अभाव था। सिक्खों, गोरखों और देशी नरेशों ने क्रांति का साथ नहीं दिया। वे अँग्रेजों के प्रति स्वामिभक्त बने रहे और उन्होंने विद्रोह का दमन करने में अँग्रेजों का साथ दिया। क्रांति सैनिकों के पास साधनों का अभाव था। उनके लक्ष्यों में भी साम्य न था।" (14) प्रख्यात क्रांतिकारी विनायक दामोदर सावरकर का मत उपर्युक्त कारणों से असहमति व्यक्त करता है। उन्होंने समय पूर्व क्रांति होने और क्रांति नेताओं में योग्यता के अभाव को अस्वीकार किया है। उनके अनुसार– "सन् 1857 की क्रांति की असफलता के लिए वे दोषी हैं जिन्होंने अपने आलस्य और प्रमाद तथा स्वार्थपरता और विश्वासघात से इस पर मर्मांतक प्रहार किया। उन महान वीरों को इसकी असफलता के लिए दोषी सिद्ध करने का दुस्साहस किसी को नहीं करना चाहिए, जिन्होंने अपना ही उष्ण रक्त प्रवाहित करने वाली तलवारों को उठाकर उस महान पूर्व प्रयोग के हेतु क्रांति के अग्निमय रंगमंच पर प्रवेश किया था।" (15) इस प्रकार इस महान क्रांति की असफलता के कारणों पर विद्वानों ने विभिन्न कोणों से विचार किया है, किन्तु यह शत–प्रतिशत सत्य है कि यदि समस्त भारत के राजवंश अपनी अस्मिता और गौरव के लिए संगठित होकर शत्रु पर प्रहार करते तो अँग्रेजों की सारी बहादुरी, सम्पूर्ण रणकौशल, समस्त कूटनीति और चातुर्य उनकी रक्षा नहीं कर पाता। उनकी सफलता और क्रांति की विफलता का सर्वाधिक महत्वपूर्ण और एकमात्र प्रधान कारण अनेक देशी राजाओं, शासकों, सामन्तों एवं प्रजावर्गों का असहयोग, आलस्य और संकुचित स्वार्थ रहा। धूर्त अँग्रेज अपनी प्रखर राष्ट्रीय चेतना के सूत्र में सबद्ध होकर परायी धरती पर भी सफल हो गए और ऐसी ही चेतना की कमी के कारण क्रांतिकारी नेतृत्व अपनी ही धरती पर हार गया।

सन् 1857 के महान विप्लव को पूर्णतया विफल मानना उचित नहीं है। वस्तुतः यह विषय विवादास्पद है तथा यह विवाद वैचारिक दृष्टि की भिन्नता के कारण है। राष्ट्रवादी दृष्टि से इसे असफल नहीं कहा जा सकता क्योंकि समस्त परवर्ती क्रांतिकारी सशस्त्र योजनाओं की प्रेरणा के बीज इसी महासंग्राम की रक्त–स्नात पुनीत भूमि में निहित हैं। इस महान विप्लव के तत्काल पश्चात्य होने वाला नहल–विद्रोह, (1859–60); कूका–विद्रोह (1857–69–72), वीर सावरकर, चन्द्रशेखर आजाद, सुभाषचन्द्र बोस आदि के सामरिक सशस्त्र प्रयत्न इसी महान क्रांति से प्रेरित रहे। स्वाधीनता प्राप्ति तक भारतीय जनमन जिस बलिदान दीप के शुभ्र आलोक में अपना संघर्ष–पथ तय करता रहा उसे असफल कैसे कहा जा सकता है ? क्रांति की असफलता केवल इस अर्थ में स्वीकृत हो सकती है कि इस सैन्य अभियान से देश अँग्रेजी शासन से मुक्ति नहीं पा सका तथापि इसकी विफलता भावी सफलता की सुदृढ़ नींव बनी। यहाँ तक कि काँग्रेस के अहिंसात्मक असहयोग के प्रति निष्ठावान श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान जैसी कवयित्री ने भी जन–जागरण के लिए इस क्रांति की नायिका महारानी लक्ष्मीबाई को ही काव्य–नायक बनाया। अतः इसका महत्व निर्विवादत है।

3.3.2 पुनर्जागरण –

1857 की महान क्रांति में वर्चस्व स्थापित हो जाने से उत्साहित अँग्रेजों ने भारत में नई व्यवस्था का सूत्रपात किया। भारत के दुर्भाग्य से उक्त क्रांति अलग–अलग समय पर अलग–अलग क्षेत्रों में प्रारंभ हुई और इस कारण अँग्रेजों को क्रांतिकारियों का दमन करने के पर्याप्त अवसर प्राप्त हो गए। अँग्रेजों ने क्रांतिकारियों से ही नहीं, बल्कि जनसाधारण से भी भीषण प्रतिशोध लिया और सहस्त्रों निर्दोष भारतीयों को जो कि क्रांति के समय तटस्थ मूक दर्शक बने रहे थे, फॉसियों पर लटका दिया। यद्यपि इन निर्दोषों ने मृत्यु के भय से क्रांतिकारियों का साथ नहीं दिया, किन्तु मृत्यु ने इन्हें फिर भी क्षमा नहीं किया। यदि फॉसी पर चढ़ाये जाने वाले ये निर्दोष समय रहते क्रांति में भाग ले लेते तो बहुत संभव था कि शत्रु का भी पराभव हुआ होता और इन्हें भी व्यर्थ में जान नहीं गॅवानी पड़ती। क्रांति के उपरांत उपस्थित भयानक एवं त्रासद स्थितियों को सम्राट बहादुर शाह 'जफर' ने इन शब्दों में अंकित किया है–

"यह रिआया–ए–हिंद तबाह हुई–
कहो क्या–क्या न इन पे ज़फा हुई।
जिसे देखा हाकिमे–वक्त ने कहा–
यह भी क़ाबिले–दार है।
यह किसी ने जुल्म भी है सुना

कि दी फाँसी लोगों को बेगुनाह।
वले कल्मागोइयों की सिम्त से
अभी उनके दिल में गुबार है।।
सभी जा वह मातमे–सख्त है
कहो कैसे गर्दिशे बख्त है।
न वह ताज है, न वह तख्त है
न वह शाह है न दयार है।।" (16)

यह निर्विवाद सत्य है कि अठारह सौ सन्तावन की क्रांति के उपरान्त अँग्रेजों ने भारतीयों से जो निमर्म प्रतिशोध लिया तथा जिस पाशविक क्रूरता से भारतीयों की जघन्य हत्याएँ की उसके कारण विश्व में अँग्रेजों की भारी निन्दा हुई और उसकी गूँज सुदूर इंग्लैण्ड तक भी पहुँची और भारत में अँग्रेजी राज्य की बागडोर 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' के हाथों से निकलकर इंग्लैण्ड की महारानी विक्टोरिया के हाथों में आ गई। डॉ. जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल के अनुसार– " सन् 1857 में भारतीयों ने अँग्रेजों के विरुद्ध प्रथम स्वतंत्रता युद्ध छेड़ा। एक वर्ष भी पूरा नहीं बीत पाया कि दासता के विरुद्ध किया गया विद्रोह दबा दिया गया। ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन समाप्त करके ब्रिटेन की सरकार ने भारत का शासन अपने हाथों में ले लिया। महारानी विक्टोरिया ने घोषणा की जिसमें भारतीयों को बड़े मधुर आश्वासन दिए गए। भारतीयों में एक नवीन चेतना और आशा की लहर दौड़ गई। कम्पनी के अत्याचार पूर्ण शासन और डलहौजी की नीति को देखते हुए विक्टोरिया का शासन भारत की जनता के लिए सन्तोष का विषय था। इसीलिए विक्टोरिया के मरने पर भारत वासियों ने बहुत दुख माना।" (17) इस प्रकार अठारह सौ सन्तावन की क्रांति के परिणामस्वरूप भारत में अँग्रेजी राज्य की दिशा परिवर्तित हो गई। जहाँ अब तक केवल लार्ड डलहौजी जैसे क्रूर राज्य लोभी अँग्रेज ही भारत आते थे, वहाँ अब ब्रिटेन के उदार मानवतावादी लोगों ने भी भारत की समस्याओं का समाधान खोजने में रुचि ली। यहीं से भारत में पुनर्जागरण काल प्रारम्भ होता है और भारत में विकास की नई वीथियां प्रशस्त होने लगती हैं।

डॉ. बच्चन सिंह के अनुसार – "ब्रिटिश राज्य की स्थापना के कारण भारत की अर्थनीति, शिक्षा–पद्धति, यातायात के साधन आदि में बुनियादी परिवर्तन हुए। इसके फलस्वरूप समाज का भी आधुनिकीकरण प्रारम्भ हुआ। वह पुराने धार्मिक संस्कारों, रीतियों, नीतियों, संघटनों के मेल में नहीं था। नए यथार्थ और पुराने संस्कारों के बीच सामंजस्य की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। इसी सामंजस्य के साथ ही नए भारतीय समाज के निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई।" (18) इसीलिए यह समय पुनर्जागरण के नाम से जाना जाता है।

पुनर्जागरण में सर्वाधिक परिवर्तन धार्मिक सोच–विचार के क्षेत्र में मिलता है। जहाँ इससे पूर्व तक का भक्ति तथा रीति कालीन समाज आस्तिकता और ईश्वरीय आस्था से परिपूरित था; ईश्वर को ही सब कुछ मानता था तथा प्रचलित परम्पराओं के पालन में दृढ़ विश्वास रखता था, वहाँ पुनर्जागरण के कारण श्रद्धा और विश्वास का स्थान तर्क ने ले लिया और अनेक आध्यात्मिक मान्यताएँ खण्डित हो गईं। ब्राह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज आदि संस्थाओं ने मनुष्य को ईश्वर, भाग्य और नियतिके प्रति अनन्य निष्ठा से मुक्ति दिलाई तथा स्वकर्म की महत्ता प्रतिपादित करके आचरण की शुद्धता पर बल दिया। अब धर्म केवल श्रद्धा–विश्वास का विषय नहीं रहा, वह बुद्धि, विवेक और तर्क की ओर उन्मुख हुआ। उपर्युक्त संस्थाओं के अतिरिक्त रामकृष्ण मिशन, आर्य सभा, थियोसोफीकल सोसायटी आदि ने भी धार्मिक क्षेत्र में वैचारिक परिवर्तन के लिए महत्वपूर्ण कार्य किए।

व्यक्ति स्वातंष्य की भावना पुनर्जागरण का महत्वपूर्ण परिणाम था। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक भारतीय समाज संयुक्त परिवार का विश्वासी था और परिवार के लिए व्यक्तिगत सुख–सुविधाओं के उत्सर्ग के लिए उत्सुक था, किन्तु अँग्रेजी–शिक्षा के प्रभाव ने इस प्रणाली को अस्वीकृत किया। जो व्यक्ति पारिवारिक हितों के लिए, सामाजिक मान–मर्यादाओं के लिए प्राण तक न्यौछावर कर देता था, वह नई सभ्यता के प्रभाव में व्यक्तिगत सुखों के लिए सचेष्ट हो गया। सामाजिक बंधन शिथिल हुए और व्यक्ति स्वातंष्य की चेतना निर्बाध एवं निरंकुश हो गई। त्याग, उपकार जैसी अवधारणाएँ हाशिए पर चली गईं, जीवन–मूल्यों की दिशा बदलने लगी तथा वैयक्तिक सुखों की चाह बढ़ गई। इस प्रकार भारत में पुनर्जागरण के मूल में व्यक्ति स्वातंष्य की अवधारणा मुख्य रही।

भारत में पुनर्जागरण ने संगीत, चित्रकला और साहित्य को नई दिशाएँ दीं। मध्यकाल तक भारत में संगीत का पोषण राजघरानों से होता था। ग्वालियर, अवध जयपुर आदि अनेक राजघराने संगीत को प्रश्रय देते थे। दिल्ली के मुगल बादशाहों ने भी संगीत और कला को विशेष महत्व दिया। अकबर के नवरत्न राजदरबारों की शोभा थे। इस प्रकार कला, संगीत एवं साहित्य राज्याश्रयों में सतत् विकसित था, किन्तु अँग्रजी शासन की स्सापना के साथ ही राजवंश निषप्रभ होने लगे और वित्तीय क्षीणता के कारण दरबारों से भारतीय कला, संगीत एवं साहित्य धीरे से बहिष्कृत हो गए। इनके स्थान पर पश्चिम के संघर्ष प्रभावित मिश्रित कलाएँ अस्तित्व में आईं। पाश्चात्य–संस्कृति ने भारतीय संगीत, साहित्य और कला को प्रभावित करके उसे उसकी परम्परा से बिरल कर दिया तथा नई दिशा दी। रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा कल्पित 'रवीन्द्र–संगीत' इस तथ्य का साक्षी है। इस संगीत में पूर्व एवं पाश्चिम के स्वरों का मिश्रण मिलता है।

संगीत की भाँति चित्रकला के क्षेत्र में भी पुनर्जागरण के कारण पश्चिमी कला–प्रतिमानों का वर्चस्व रहा। सन् 1854 ईसवी में 'कलकत्ता आर्ट स्कूल' की स्सापना के साथ ही

भारतीय चित्रकला में एक नया मोड़ उपस्थित हुआ। ई. वी. हैवेल इसके अध्यक्ष थे। उन्होंने अवनीन्द्रनाथ ठाकुर और आनन्द कुमार स्वामी के साथ मिलकर भारतीय चित्रकला को नया रूप दिया। यह नई चित्रकला मूलतः इस देश से सम्बद्ध होकर भी नई जीवन दृष्टि से अनुप्राणित थी। सन् 1907 ईसवी में गगनेन्द्रनाथ ठाकुर ने 'इंडियन सोसायटी ऑफ ओरिएंटल आर्टस' की स्थापना की। इन प्रयत्नों के परिणामस्वरूप भारतीय कला चित्रशैली का नया रूप विकसित हुआ जो कि पुनर्जागरण का परिणाम था।

साहित्य के क्षेत्र में पुनर्जागरण ने सर्वप्रथम बंगला साहित्य को प्रभावित किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस तथ्य को इन शब्दों में रेखांकित किया है– "... संवत् 1922 में वे (भारतेन्दु हरिशचन्द्र) अपने परिवार के साथ जगन्नाथ जी गए। उसी यात्रा में उनका परिचय बंगला देश की नवीन साहित्यिक प्रगति से हुआ। उन्होंने बंगाल में नए ढंग के सामाजिक, देश–देशान्तर सम्बन्धी ऐतिहासिक और पौराणिक नाटक उपन्यास आदि देखे और हिन्दी में वैसी पुस्तकों के अभाव का अनुभव किया।" (19) स्पष्ट है कि भारतेन्दु जी ने हिन्दी में नई गद्यविधाओं और नए विषयों का विकास बंगला साहित्य के अनन्तर ही किया। इस प्रकार पुनर्जागरण ने भारतीय साहित्य को भी परिवर्तित करने में प्रमुख भूमिका का निर्वाह किया।

पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप हिन्दी–साहित्य में सर्वथा युगान्तरकारी परिवर्तन उपस्थित हुआ। साहित्य में विषय, विधा, भाषा, रचना–दृष्टि– सब कुछ दूर तक परिवर्तित हो गए। हिन्दी–साहित्य में रीतिकाल तक काव्य का विषय भक्ति, शृंगार और ऐतिहासिक प्रधान वीर चरित थे। प्रबन्ध काव्यों और मुक्तकों में इन्हीं विषयों की प्रस्तुति होती थी। साहित्य में अभिजात्य वर्ग की चर्चा थी। पुनर्जागरण ने इस स्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन किया। परिणामतः साहित्य के विषय बदल गए। राष्ट्रप्रेम और सामाजिक समस्याएँ साहित्य के केन्द्र में आ गईं। मातृभूमि के प्रति अनुरक्ति, देश की दुर्दशा पर चिन्ता, प्राकृतिक सौन्दर्य का निरूपण, गौ–रक्षा, बाल–विवाह निषेध, धार्मिक हिंसा का निषेध, मद्य–निषेध, शिक्षा का महत्व, ग्रामोत्थान की दिशाएँ आदि विविध विषयों को साहित्य का विषय बनाया गया। इस प्रकार साहित्य जो अब तक मनोरंजन प्रधान था, वह समाज सुधार की दिशा में प्रवृत्त हुआ। यह पुनर्जागरण का प्रभाव था।

विषय–वस्तु की भाँति साहित्य का कला–पक्ष भी पुनर्जागरण से दूर तक प्रभावित हुआ। भाषा के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली प्रतिष्ठित हुई और गद्य की अनेक विधाएँ विकसित हो गईं। अलंकारों का बोझ काव्य की पीठ से हटा और उसमें चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति समाप्त हुई। साहित्य सहज एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति के धरातल पर प्रतिष्ठित होने लगा। ये परिवर्तन पुनर्जागरण के सुपरिणाम थे। यद्यपि पुनर्जागरण काल में साहित्य पर रीतिकालीन प्रभावों की छाया भी यत्र–तत्र स्पष्टतः

अंकित मिलती है तथापि उसमें आग्रह नूतनता और मौलिकता का ही है। समग्रतः आधुनिक साहित्य सर्वथा पुनर्जागरण के प्रभावों से दूर–दूर तक प्रभावित है।

इस प्रकार पुनर्जागरण काल में समाज, कला, साहित्य, संगीत, धर्म आदि विविध क्षेत्रों में अपनी प्रचलित परम्पराओं से भिन्न नितान्त नवीन दिशाओं में विकास की प्रवृत्ति मिलती है। इस मोड़ पर साहित्य का अधिकांश भाग वस्तुनिष्ठता बुद्धिवादिता और परिवर्तित मान्यताओं से युक्त है। साथ ही उसमें परिवर्तित सौन्दर्यवादी दृष्टि के दर्शन होते हैं। निष्कर्ष यह है कि पुनर्जागरण ने पौर्वात्य साहित्य को पाश्चात्य साहित्य एवं संस्कृति के समीप लाकर स्वरूप परिवर्तित किया है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अठारह सौ सन्तावन की क्रांति की विफलता के पश्चात अँग्रेजों ने भारत में जिस नई व्यवस्था को विकसित किया उसमें भारतीय समाज को उसकी प्रचलित परम्पराओं से भिन्न नई दिशा देने की अद्‌भूत शक्ति थी और इसी शक्ति के सहारे पुनर्जागरण ने नए भारत का परिवर्तित स्वरूप प्रस्तुत किया।

3.4 इकाई सारांश

उपर्युक्त बिन्दुओं में आधुनिक काल की पृष्ठभूमि का अध्ययन करते हुए अठारह सौ सन्तावन की क्रांति एवं पुनर्जागरण से स्पष्ट होता है कि आधुनिक काल का प्रारम्भ अनेक नवीन संभावनाओं से समृद्ध है। उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में ही भारतीय जीवन पाश्चात्य प्रभावों से सभी क्षेत्रों में दूर–दूर तक प्रभावित हो गया था। अँग्रेजों ने अपने बढ़ते राजनीतिक वर्चस्व का उपयोग भारत की आर्थिक संपदा के शोषण और सांस्कृतिक विरासत पर पाश्चात्य प्रभावों के आरोपण के लिए किया। परिणमतः न केवल भारतीय व्यापार, अपितु भारतीय शिक्षा–पद्धति, भारतीय–कलाएँ, भारतीय–धर्म दृष्टि, भारतीय सैन्य–प्रणाली और भारतीय जीवन शैली (खान–पान, वेश–भूषा, आचार–विचार आदि) यहाँ तक कि चिन्तन–धारा भी अँग्रेजी सभ्यता के अन्धानुकरण में प्रवृत्त होने लगी। अँग्रेजों ने अपने शासन में भारतीय–समाज के ठेकेदारों (राजाओं, नबावों, धर्मगुरुओं, जमींदारों, जाति–प्रमुखों) को उपाधियाँ, पद, आर्थिक लाभ एवं अन्य प्रलोभन देकर अपने पक्ष में इस सीमा तक कर लिया कि वे स्वयं भारतीयता के विरोधी और पाश्चात्य–सभ्यता के प्रचारक बन गए। भोली भारतीय जनता उन्हें ही अपना हितैषी और स्वामी मानती थी। अतः उनका अन्धानुकरण कर पाश्चात्य–सभ्यता को स्वीकृति देने लगी। इस प्रकार कुटिल अँग्रेजों की कूटनीति ने पग–पग पर सफलता प्राप्त करते हुए भारतीय समाज को उसकी परम्पराओं से काटकर पश्चिम की नई आयातित रीतियों से जोड़ दिया। इस परिवर्तन में एक ओर भारतीय समाज को उसकी पारम्परिक रूढ़ियों से मुक्ति मिली, तो दूसरी ओर वह पाश्चात्य–सभ्यता की नई बुराइयों से घिर गया। पाश्चत्य सभ्यता ने भारतीय समाज में व्यक्तिगत स्वतंत्रता को प्रचारित करते हुए सामाजिक–वर्जनाओं की उपेक्षा की और भारतीय समाज में मद्यपान,

मांसाहार एवं व्यभिचार की नई बुराइयों में उलझा दिया। आचरण की शुद्धता वैयक्तिक स्वतंत्रता के नाम पर इन कुरीतियों पर न्यौछावर कर दी गई। सार यह है कि उन्नीसवी शताब्दी की ये कूटनीतिक योजनाएँ परवर्तित काल में इतनी बलबती सिद्ध हुईं कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी भारतीय–अस्मिता के संस्थापन एवं विकास की सही दिशाएँ स्पष्ट नहीं हो सकीं। देश पाश्चात्य सभ्यता के गुणों (जातीय–एकता, राष्ट्रीय–भावना, सामरिक–कूटनीति आदि) को ग्रहण नहीं कर सका, किन्तु मांसाहार, व्यभिचार, भ्रष्टाचार, मर्यादाहीनता और नैतिक–सामाजिक दायित्वों से पलायन जैसी बुराइयों में उत्तरोत्तर उलझता चला गया। उल्लेखनीय है कि आधुनिक काल से पूर्व का भारत कहीं अधिक शाकाहारी, व्यभिचार मुक्त एवं नैतिक दायित्व बोध से सम्पन्न है, किन्तु आधुनिक काल की पृष्ठभूमि में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्तरों पर अँग्रेजों ने जिन भारत विरोधी बीजों को बोया और सींचा था उनके विषैले एवं आत्मघाती फल खाने को भारतीय समाज आज भी विवश है। इतना ही नहीं वह इसे प्रगति एवं विकास समझकर आत्ममुग्ध है तथा उत्तरोत्तर भारतीयता से पलायन कर रहा है।

यद्यपि अँग्रेज शासकों और उनके अन्धभक्त भारतीयों के प्रयत्नों ने भारतीय–समाज को उसकी जड़ों से दूर करने का भरसक प्रयास किया है और भारतीय समाज में नई जटिलताएँ नए अन्तर्विरोध और नई भ्रांतियां उत्पन्न कर दी हैं तथापि इन प्रतिकूल परिस्थितियों में भी भारतीयता के पोषक विचारकों ने नए प्रश्नों के समाधान भारतीय–चिन्तन परम्परा में खोजने के प्रयत्न किए हैं। उन्होंने विषम परिस्थितियों की विकट झंझाओं में भी भारतीय अस्मिता के उज्ज्वल प्रदीप को सतत सुरक्षित रखा है। इसलिए आधुनिक साहित्य में संघर्ष एवं विजय की सुस्पष्ट चित्रावलियां भी सर्वत्र अंकित हैं।

अँग्रेज शासकों ने भारत में पाश्चात्य सभ्यता के प्रचार–प्रसार और ब्रिटिश साम्राज्य संस्थापन के लिए जो कूट–प्रयत्न किए उन्होंने भारतीय–समाज को आर्थिक–सांस्कृतिक दृष्टि से विपन्न बनाया। भारतीय समाज का निर्मम शोषण किया तथा भारतीय अस्मिता पर जो निर्दय–आघात किए उनकी प्रतिक्रिया अठारह सौ सन्तावन की महान क्रांति के रूप में सामने आई। इस क्रांति मे भारतीय–समाज के सभी वर्गों का योगदान रहा और यह व्यापक–स्तर पर प्रकट हुई, किन्तु भारतीय शासकों की विलासिता, कायरता एवं अदूरदर्शिता जनित पारस्परिक फूट के कारण विफल हो गई। देश भक्तों के प्रयत्नों पर देश द्रोहियों ने पानी फेर दिया और अँग्रेजों से उस समय भारतीयों को मुक्ति नहीं मिल सकी। अँग्रेज लेखकों और उनके अंधभक्त भारतीय लेखकों ने इस महाक्रांति को सैन्य–विद्रोह के रूप में प्रचारित किया तथा इसकी असफलता के लिए क्रांतिकारी–नेतृत्व को दोषी ठहराया। इस प्रकार इस महान बलिदान को समाज में स्मरणीय प्रेरणा स्रोत बनने से रोकने के कूट–प्रयत्न किए गए, किन्तु क्रांति के पचास वर्ष बाद वीर विनायक दामोदर सावरकर ने इस महान

विप्लव से संबंधित ग्रंथ '1857 का स्वातन्त्र्य समर' लिखकर इसके सम्बन्ध में नई–दृष्टि दी तथा यह सत्य उद्घाटित किया कि अठारह सौ सत्तावन का स्वतंत्रता संग्राम वह भारतीय शौर्य का वह अनन्त ज्योतिपुंज है जिसके प्रकाश से परवर्ती इतिहास सतत आलौकित है। इस महान विप्लव के उपरान्त हुए समस्त सशस्त्र अभियानों की प्रेरणा इसी महासंग्राम में निहित है। यह भारतीय–स्वातंष्य शिखर की नींव का सर्वाधिक सुविशाल एवं सुदृढ़ पाषाण है और इसी पर परवर्ती स्वातंष्य संघर्ष की प्रेरणा आश्रित रही हैं। अतएव इसकी विफलता भी सराहनीय है क्योंकि वही परवर्ती सफलता का शुभ हेतु है।

अठारह सौ सत्तावन की क्रांति के उपरान्त अँग्रेजी राज्य 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' के अधिकारियों के हाथ से गया। इससे भारत में अँग्रेजी शासन का नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। प्रायः यह समझा जाता है कि विक्टोरिया–शासन भारत के लिए उदार रहा और उसने भारतीय समाज को पुनर्जागरण के माध्यम से नई दिशा दी किन्तु तथ्य इसके विपरीत हैं। भारत में कम्पनी शासन के शासन के बाद बनी नीतियों में भी इंग्लैण्ड के हितों के लिए भारतीय हितों की बलि निरन्तर दी जाती रही और अँग्रेजों का दमन–चक्र सत्याग्रहियों को निर्दयता से कुचलता रहा। जलियाँवाला बाग जैसी घटनाएँ इसकी साक्षी हैं। कुछ गिने–चुने अँग्रेज जैसे दीनबन्धु एण्ड्रज आदि भले ही उदार हृदय से भारतीयों के पक्षधर रहे हो, किन्तु शासन सत्ता में वर्चस्व क्रूर और कुटिल अँग्रेजों का ही रहा जिन्होंने पुनर्जागरण के नाम पर भारतीय समाज में भ्रन्तियाँ उत्पन्न करते हुए भारतीय समाज, संस्कृति, शिक्षा, धर्म, कला, संगीत, साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में पाश्चात्य प्रभाव को गहराई तक स्थापित कर दिया। पुनर्जागरण के परिणाम भारतीय–अस्मिता के लिए घातक और एक नई मिश्रित सभ्यता के लिए पोषक सिद्ध हुए। आधुनिक भारत की अधिकांश समस्याएँ इसी कथित पुनर्जागरण की देन हैं। ईश्वर में अनास्था, सामाजिक मर्यादाओं की अवमानना, अनन्त अर्थ लिप्सा, भ्रष्टाचार, पर्यावरणीय–प्रदूषण एवं शोषण इसी पुनर्जागरण के परिणाम हैं। समग्रतः कहा जा सकता है कि आज का भारत विगत डेढ़ सौ वर्ष पूर्व हुए ब्रिटिश–भारत संघर्ष की निर्मिति है जिसमें अब भी भारतीय–अस्मिता अपनी स्थापना के लिए संघर्षरत है।

3.5 जाँच के बिन्दु

1. आधुनिक काल की पूर्व पीठिका पर प्रकाश डालिए?
2. आधुनिक काल की सामाजिक पृष्ठभूमि में व्याप्त समस्याओं की सविस्तार विवेचना कीजिए?
3. आधुनिक काल की सांस्कृतिक परिस्थितियों में क्या परिवर्तन हुए ?
4. भारत की सांस्कृतिक परम्पराओं पाश्चात्य प्रभावों से कहाँ तक प्रभावित हुई हैं और इन प्रभावों की सांस्कृतिक वातारण के विकास में क्या भूमिका है?
5. आधुनिक काल के प्रारम्भ में ईसाई मिशनरियों के कार्य की समीक्षा कीजिए ? यह

कहाँ तक भारतीयों के हित में था ?

6. भारतीय शिक्षा पद्धति के परवर्तित स्वरूप पर एक लेख लिखिए।
7. ब्रिटिश शासन की भारत विरोधी नीतियों पर प्रकाश डालिए।
8. भारतीय अर्थ व्यवस्था को समाप्त करने और भारतीय उद्योगों को नष्ट करने के लिए अँग्रेजों के कूट प्रयत्नों पर प्रकाश डालिए।
9. अठारह सौ सन्तावन की क्रांति के कारण लिखिए।
10. अठारह सौ सन्तावन की क्रांति के स्वरूप की विवेचना कीजिए।
11. भारत में विभिन्न क्षेत्रों में हुई क्रांतिकारी घटनाओं पर प्रकाश डालिए।
12. अठारह सौ सत्तावन की क्रांति में महिलाओं की भूमिका रेखांकित कीजिए।
13. अठारह सौ सत्तावन की क्रांति के प्रमुख महानायकों के कृतित्व पर एक लेख लिखिए।
14. अठारह सौ सन्तावन की क्रांति के परिणामों की विवेचना कीजिए।
15. अठारह सौ सन्तावन की क्रांति को आप कहाँ तक विफल अथवा सफल मानते हैं ? कारण सहित विवेचना कीजिए।
16. भारतीय साहित्य, राजनीति और समाज पर इस क्रांति के प्रभावों की युक्ति--युक्त समीक्षा कीजिए।
17. पुनर्जागरण से आप क्या समझते हैं ? आधुनिक काल के साहित्य निर्माण में इसके प्रभावों की विवेचना कीजिए।
18. भारतीय संस्कृति को पुनर्जागरण ने किस प्रकार प्रभावित किया ?
19. पुनर्जागरण के कारण भारतीय समाज में क्या परिवर्तन हुए ?
20. पुनर्जाकरण के फलस्वरूप उत्पन्न भारतीय सांस्कृतिक--धार्मिक संस्थाओं के कार्यों का उल्लेख कीजिए।
21. आधुनिक भारत के निर्माण में पुनर्जागरण की भूमिका समझाइए।

3.6 (अ) चर्चा के बिन्दु

1. आधुनिक काल की सामाजिक भूमिका पर रीतिकालीन प्रभावों की विवेचना।
2. रीतिकालीन साहित्य से भारत के आधुनिक हिन्दी साहित्य की भिन्नता।
3. आधुनिक साहित्य पर तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव।
4. आधुनिक काल की पृष्ठभूमि के निर्धारक तत्वों का विश्लेषण।
5. अठारह सौ सत्तावन की प्रेरक पृष्ठीभूमि।

6. अठारह सौ सत्तावन की क्रांति में जनसाधारण का योगदान।
7. क्या अठारह सौ सन्तावन की क्रांति सैन्य विद्रोह थी ?
8. आधुनिक भारत पर अठारह सौ सन्तावन की क्रांति का प्रभाव।
9. परवर्ती स्वतंत्रता संग्राम में अठारह सौ सत्तावन की भूमिका।
10. अठारह सौ सत्तावन पर रचित साहित्य।
11. लोक साहित्य और अठारह सौ सन्तावन की क्रांति।

1.6 (ब) स्मरणीय बिन्दु–

1. भारत में अँग्रेजी शासन की स्थापना अँग्रेजों के कूट प्रयत्नों का परिणाम थी।
2. भारत में व्यापार करने के लिए आने वाले सभी यूरोपीय व्यापारियों में अँग्रेज सर्वाधिक संगठित थे।
3. अँग्रेजों ने अपनी संगठन शक्ति के बल पर भारत में राज्य किया और आपसी फूट के कारण भारतीय नरेश अपना शासन कायम नहीं रख सके।
4. अठारह सौ सन्तावन की महान क्रांति अँग्रेजों के अत्याचारों का परिणाम थी।
5. इस महान क्रांति में राजा, प्रजा, सैनिक, कवि आदि सभी वर्गों ने तथा सभी जातियों–धर्मों के लोगों ने भाग लिया।
6. यह महान क्रांति भारतीय शासकों की अँग्रेज भक्ति और अदूरदर्शिता के कारण असफल हुई।
7. अँग्रेजों की तुलना में भारतीय नेतृत्व अधिक साहसी और शौर्यपूर्ण था किन्तु साधनों की अल्पता एवं राष्ट्रीय एकता के अभाव में क्रांति पूर्णतया सफल नहीं हो सकी।
8. पुनर्जागरण के नाम पर अँग्रेजों ने भारत में प्रायः समस्त क्षेत्रों में पाश्चात्य सभ्यता की बुराइयाँ आरोपित कर दीं।
9. आधुनिक भारत की समस्त ज्वलन्त समस्याएँ पाश्चात्य प्रभावों के अंधानुकरण का दुष्परिणाम है।

1.7 शोध–संदर्भ एवं संदर्भ ग्रंथ –

1. हिन्दी साहित्य (तृतीय खण्ड) – पृष्ठ 14 (संपादक–डॉ. धीरेन्द्र वर्मा प्रकाशक– भारतीय हिन्दी परिषद प्रयाग–1 संस्करण सन् 1969 ईसवी)।
2. भारतेन्दु ग्रंथावली– पृष्ठ 462 (संपादक–हेमन्त शर्मा; प्रकाशक– हिन्दी प्रचारक संस्थान पिशाचमोचन, वराणासी–3 संस्करण सन् 1989 ईसवी)।
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास– पृष्ठ 442 (संपादक–डॉ. नगेन्द्र; प्रकाशक– नेशनल

पब्लिशिंग हाउस 23 दरियागंज नई दिल्ली – संस्करण सन् 1986 ईसवी)।

4. हिन्दी साहित्य का इतिहास– पृष्ठ 443 (संपादक–डॉ. नगेन्द्र)।
5. हिन्दी साहित्य का वृहत्त इतिहास (अष्टम भाग)– पृष्ठ 07 (संपादक पं. कमलापति त्रिपाठी आदि ; प्रकाशक– नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी उ.प्र., संस्करण सन् 2029 विक्रमी)
6. कवितावली– (7/276)– पृष्ठ 67 (संपादक– श्री इन्द्रदेव नारायण गीता प्रेस, गोरखपुर– 36 वाँ 36 संस्करण संवत् 2053 विक्रमी)।
7. ब्रिटिश रूल इन इंडिया–पृष्ठ 16 (हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास– पृष्ठ 01 पर उद्धृत)
8. हिन्दी–साहित्य का वृहत् इतिहास (अष्टम भाग) – पृष्ठ 18
9. हिन्दी–साहित्य की प्रवृत्तियाँ– डॉ. जयकिशन खण्डेलवाल, प्रकाशक–विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा–बारहवाँ संस्करण, प्रकाशन वर्ष अमुद्रित।
10. भारतेन्दु–ग्रन्थावली– पृष्ठ 993 ।
11. प्रेमधन सर्वस्व (प्रथम भाग)– पृष्ठ 542 –बदरी नारायण चौधरी प्रेमधन –प्रकाशक (हिन्दी–साहित्य सम्मेलन प्रयाग–1, संस्करण संवत् 1996 विक्रमी)।
12. तेजस्वी पुरुषों का आशीर्वाद (यात्रा स्वप्नोदय)– पृष्ठ 40, हिन्दी–साहित्य तृतीय खण्ड पृष्ठ11 पर उद्धृत।
13. स्वतंत्रता संग्राम और महिलाएँ– पृष्ठ 94–95– (विश्व प्रकाश गुप्त प्रकाशक– नमन प्रकाशन अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली–2, द्वितीय संस्करण 2004)।
14. स्वतंत्रता संग्राम और महिलाएँ– पृष्ठ 95
15. 1857 का स्वातंष्य समर– पृष्ठ 422 (प्रभात प्रकाशन–4/19 आसफअली रोड, नई दिल्ली–110002) संस्करण 2007 ई.।
16. साक्षात्कार (मई–जून 2008)– पृष्ठ 58 (संपादक–डॉ. देवेन्द्र दीपक–प्रकाशक साहित्य अकादमी म.प्र. शासन, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद, संस्कृति भवन बाणगंगा–भोपाल–3)।
17. हिन्दी–साहित्य की प्रवृत्तियाँ– पृष्ठ 370
18. हिन्दी–साहित्य का इतिहास (डॉ. नगेन्द्र)– पृष्ठ 448
19. हिन्दी–साहित्य का इतिहास (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)– पृष्ठ 368 प्रकाशक– नागरी प्रचारिणी सभा–काशी–उन्नीसवाँ पुनर्मुद्रण, संवम् 2038 विक्रमी।

इकाई –1

भारतेंदुयुग :प्रमुख साहित्यकार , रचनाएं और साहित्यिक विशेषताए

1.1 उद्देश्य

1.2 प्रस्तावना

1.3 पुनर्जागरण–काल

1.4 भारतेन्दु युग वरिवेश

(क) काव्यधारा

(ख) राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना

(ग) भक्तिभावना

(घ) श्रृंगारिकता

(ड) प्रकृति चित्रण एवं हास्य व्यंग्य

1.5 प्रमुख साहित्यकारों की रचनाएं एवं उनकी विशेषताएं

(क) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

(ख) बद्रीनारायण प्रेमघन

(ग) प्रताप नारायण मिश्र

(घ) जगमोहनसिंह

1.6 गद्यसाहित्यकार

(क) नाटककार और उनकी रचनाएं

(1) (अ) कृष्ण चरित संबधी नाटक

(ब) कृष्ण परिवार संबधी नाटक

(2) रामचरित संबधी नाटक

(3) (क) अन्य पौराणिक नाटक

(ख) उपन्यासकार एवं रचनाएं

(ग) कहानीकार और रचनाएं

(घ) निबंधकार और रचनाएं

(ड) आलोचना

1.7 इकाई सारांश/याद रखने की बातें

1.8 अपनी प्रगति की जांच /प्रश्नोत्तरी

1.9 चर्चा और स्पष्टीकरण के बिन्दु

1.10 आगे की पढाई/संदर्भ ग्रंथ

1.1 उद्देश्य

- भारतेंदु युग की पुनर्जागरण चेतना का परिचय कर सकेगें।
- खड़ीबोली के प्रारंभिक काल से परिचित हो सकेगें।
- भारतेंदु हरिश्चंद्र ने जनता को उद्बोधन प्रदान करने के उद्देश्य से जिस 'जातीय संगीत' अर्थात लोकगीत की शैली पर सामाजिक कविताओं की रचना पर बल दिया, उनका परिचय कर सकेगें।
- मातृभूमि–प्रेम, स्वदेशी भाव, गो रक्षा, बाल–विवाह–निषेध, शिक्षा–प्रसार किस प्रकार साहित्य के विषय बन रहे थे की जानकारी।
- मुद्रणयंत्रों के विस्तार और समाचारपत्रों के प्रकाशन ने नवजागरण में किस प्रकार योग दिया का परिचय कर सकेगें।
- राष्ट्रीयता एवं सामाजिक चेतना, भक्ति भावना, श्रृगांरिकता–प्रकृति चित्रण एवं हास्य व्यंग्य पर किस प्रकार के साहित्य का सृजन हो रहा था का परिचय कर सकेगें।
- प्रमुख साहित्यकारों की रचनाएं एवं उनकी विशेषताओं का अध्ययन कर सकेगें।
- भारतेंदु काल की आलोचना तथा गद्य साहित्य की अन्य विधाओं का किस प्रकार उद्भव हो रहा था कि जानकारी कर सकेगें।

1.2 प्रस्तावना

यहाँ आचार्य रामचद्रशुक्ल जी के शब्दों में भारतेंदु जी के बारे में देखें तो उस युग की संम्पूर्ण प्रवृति तथा भारतेंदु क्या करना चाहते थे उसमें प्रकाश पड़ता है।

"भारतेंदु जी ने जिस प्रकार हिंदी गद्य की भाषा का परिष्कार किया, उसी प्रकार काव्य की ब्रजभाषा का भी। उन्होंने देखा कि बहुत–से शब्द जिन्हें बोलचाल से उठे कई सौ वर्ष हो गये थे, कवित्तों और सवैयों में बराबर लाये जाते है। इसके कारण कविता जनसाधाराण की भाषा से दूर पड़ती जाती है। बहुत–से शब्द तो प्राकृत और अपभ्रंश काल की परंपरा के स्मारक के रूप में ही बने हुए थे। 'धक्कव', भुवाल', 'ठायों', 'दीह', 'लोय', आदि के कारण बहुत–से लोग ब्रजभाषा से किनरा खीचने लगे थे। दूसरा दोष जो बढ़ते–बढ़ते बहुत बुरी हद को पहुँच गया था, यह शब्दों के तोड़मरोड़ और मनगढ़ंत शब्दों

का प्रयोग था। उन्होंने ऐसे शब्दों को भरसक अपनी कविता से दूर रखा और अपने रसीले सवैयें में जहाँ तक हो सका, बोलचाल की ब्रजभाषा का व्यवहार किया। इसी से उनके जीवन काल में ही उनके सवैये चारों ओर सुनाई देने लगे।" –हिंदी साहित्य का इतिहास –आचार्य रामचन्द्र शुक्ल। उक्त कथन से स्पष्ट है कि भारतेंदु आधुनिक युग के प्रस्थान हैं।

भारतेंदु ने हिंदी गद्य को एक विशिष्ट रूप प्रदान किया।1883–84 में उन्होंने 'हिंदी–भाषा' नामक एक पुस्तक लिखी। अलंकार विहीन और संस्कृत के तत्सम शब्दों से रहित व्योहारोपयोगी भाषा उन्हें विशेष प्रिय था। भाषा की अभिव्यंजनाशक्ति बढ़ाने के लिए लोकप्रचलित मुहावरों और कहवतों को तथा देशज और तद्भव शब्दों को भी उन्होंने अपनी भाषा में स्थान दिया। भारतेंदु ने स्वयं को हिंदी गद्य का जनक कहा जा सत्य है। भारतेन्दु ने हिंदी गद्य के लिए जिस पध्यम सरल शैली को अपनाया उसे निःसंकोच उस यु ग के सभी लेखकों ने स्वीकार कर लिया। यद्यपि श्शैली का सरलीकरण उस युग की विशेषता थी पर भाषा के संबंध में भारतेंदु युग में भी गद्यकारों में आपस में बड़ा मतभेद था।कुछ लोग श्शुद्ध संस्कृत के तत्सम शब्दावली के प्रयोग पर बल देते थे और कुछ लोग देशज , तद्भव और अरबी–फारसी का प्रयोग श्रेयस्कर समझते थे।

बंगला के प्रभाववश कुछ लोग कोमलकांत पदावली का उपयोग हिंदी–गद्य में करते थे।पर बंगला की छाया हिंदी गद्य को प्रभावित न कर सकी।भारतेंदु युग में जहां एक ओर भाषा की बोधगम्यता पर बल दिया गया वहीं हिंदी–गद्य मे विदेशी शब्दों के ग्रहण का कार्य भी तेजी से चल रहा था। इस युग में विरामचिंहों में भी कोई स्थिरता नहीं थी। भारतेंदु–युग गद्य का प्रारभिक काल था।

इस इकाई में भारतेंदु युग का संपूर्ण परिचय दिया जा रहा है।

1.3 पुनर्जागरण–काल

आधुनिक कालः पूर्वपीठिका

साहित्य के इतिहास में काल सीमांकन सबसे अधिक जटिल समस्या है। किसी कालखंड का आरंभ किस समय से होता है, इसे वैज्ञानिक सत्य के रूप में नहीं बताया जा सकता। एक कालखंड दूसरे कालखंड से अपने बदलाव के कारण अलग होता है। बदलाव की प्रक्रिया तो अरसे से चलती रहती है, पर नए कालखंड का निर्धारण तब होता है जब बदलाव के चित्र हमारी आर्थिक–सास्कृतिक स्थितियों, काल–रूपों तथा भाषा में स्पष्टत दिखायी देने लगते हैं। इसलिए साहित्योतिहास के लेखन में जो काल–निर्धारण किया जाएगा, वह लचीला होगा; हिंदी–साहित्य के इतिहास में आनुधिक काल के विकास का क्रम एक शताब्दी पहले से ही प्रारंभ हो गया था, बदलाव के स्पष्ट चिन्ह उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में दिखाई पड़ने नगे थे। संयोग है कि हिंदी–साहित्य में आधुनिक जीवनबोध के प्रवर्तक भारतेंदु हरिश्चंद्र का जन्म उन्नीसवीं शती के ठीक मध्य में सन् 1850 में हुआ। अतः

इतिहास– लेखकों ने इस वर्ष को ही आधुनिक हिन्दी–साहित्य के आरंभ का वर्ष मान लिया। किंतु इतिहास की गतिमानता या बदलाव में यह वर्ष स्वयं किसी तरह की भूमिका नहीं अदा करता। इतिहास के काल– विभाजन की रेखा कम–से–कम दो विभिन्न प्रवृत्तियों को स्पष्टतः अलग करने वाली तथा इस अलगाव के लिए स्वयं भी बहुत–कुछ उत्तरदायी होनी चाहिए। यदि सन् 1857 को आधुनिक काल का प्रारंभिक बिंदु मान लिया जाए, तो उपर्युक्त दोनों शर्तें पूरी हो जाती है। सन् सत्तावन दो विरोधी ताकतों की टकराहट का काल था– सामंतवादी और पूंजीवादी। सामंतवादी शक्तियां अपनी सारी ताकत लगा कर सदा के लिए समाप्त हो गईं। सामंतवाद की संपूर्ण संभावनाएं खत्म होने के बाद देश के प्रबुद्ध वर्ग ने नए सिरे से सोचना शुरू किया और अंग्रेज़ शासकों ने भी इस देश की परंपरा को समझ कर आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का नवीनीकरण किया।

नामकरण–

'आधुनिक' शब्द दो अर्थों– मध्यकाल से भिन्नता और नवीन इहलौकिक दृष्टिकोण– की सूचना देता है; मध्यकाल अपने अवरोध, जड़ता और रूढ़िवादिता के कारण स्थिर और एकरस हो चुका थ, एक विशिष्ट ऐतिहासिक प्रक्रिया ने उसे पुनः गत्यात्मक बनाया; मध्यकालीन जड़ता और आधुनिक गत्यात्मकता को साहित्य और कला के माध्यम से समझा जा सकता है; रीतिकाल में कला और साहित्य अपने–अपने कथ्य, अलंकृति और शैली में एकरूप हो गए थे। वे घोर श्रृंगारिकता के बंधे घाटों से बह रहे थे। न छंदों में वैविध्य था और न विन्यास (डिक्शन) में – एक ही प्रकार के छंद, एक ही प्रकार के ढंग। आधुनिक काल में बंधे हुए घाट टूट गए और जीवन की धारा विविध स्त्रोतों में फूट निकली। साहित्य मनुष्य के बृहत्ता सुख–दुःख के साथ पहली बार जुड़ा।

'आधुनिक' शब्द में जो दूसरा अर्थ ध्वनित होता है, वह है– इहलौकिक दृष्टिकोण। धर्म, दर्शन, साहित्य, चित्र आदि सभी के प्रति नए दृष्टिकोण का आविर्भाव हुआ। मध्यकाल में पारलौकिक दृष्टि से मनुष्य इतना अधिक आच्छन्न था कि उसे अपने परिवेश की सुध ही नहीं थी, पर आधुनिक युग में वह अपने पर्यावरण के प्रति अधिक सतर्क हो गया। आधुनिक युग की पीठिका के रूप में इस देश में जिन दार्शनिक चिंतकों और धार्मिक व्याख्याताओं का आविर्भाव हुआ, उनकी मूल चिंधारा इहलौकिक ही है। सुधार, परिष्कार और अतीत का पुनराख्यान नवीन दृष्टिकोण की देन है। आधुनिक युग की ऐतिहासिक प्रक्रिया का ही परिणाम है कि साहित्य की भाषा ही बदल गई– ब्रजभाषा की जगह खड़ीबोली ने ले ली।

उपविभाजन–

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आधुनिक काल का जो उप–विभाजन किया है, वह एक सूत्रता के अभाव में विसंगतिपूर्ण हो गया है; उन्होंने आधुनिक काल को दो खंडों में बांटा है– गद्य–खंड और काव्य खंड। ये दोनों खंड एक–दूसरे से इतने पृथक है कि इनमें एकतानता

नहीं आ पाती। दोनों खंडों को दो–दो प्रकरणों में बांटा गया है। गद्य के पहले प्रकरण में ब्रजभाषा गद्य और खड़ीबोली –गद्य का विवेचन है। दूसरे प्रकरण में गद्य–साहित्य का आविर्भाव विश्लेषित है। इसे फिर तीन उत्थानों में विभाजित किया गया है– प्रथम, द्वितीय और तृतीय। कालखंड में भी दो प्रकरण हैं– पुरानी काव्यधारा और नई धारा। नई धारा के भी तीन उत्थान हैं– प्रथम , द्वितीय और तृतीय। शुक्ल जी के गद्य–खंड और काव्य–खंड एक–दूसरे से सर्वथा अलग हैं, एक की प्रवृत्ति का दूसरे की प्रवृत्ति से कोई तालमेल नहीं है। ऐसा लगता है कि मानों गद्य–खंड में एक प्रवृत्ति क्रियाशील है, तो काव्य–खंड में दूसरी। उदाहरणार्थ, काव्य–खंड के दूसरे प्रकरण के तृतीय उत्थान (काव्य में जिसे 'छायावाद' के नाम से अभिहित किया जाता है) तथा गद्य–खंड के द्वितीय प्रकरण के तृतीय उत्थान में कोई एकरूपता निरूपित नहीं की जा सकी है। इस खंड–दृश्टि के कारण इतिहास का नैरंतर्य ओझल हो गया है। शुक्ल जी के परवर्ती इतिहासकारों ने प्रायः शुक्ल जी का अनुगमन किया।

आधुनिक हिंदी–साहित्य में छायावाद–युग सर्वमान्य हो गया है। इसको केंद्रवर्ती बिंदु मान कर इस काल का उप–विभाजन करना अधिक सुविधाजनक होगा। छायावाद–काल के पूर्व हिंदी–साहित्य परिष्कार की दो पड़ा। साहित्य अपने नवीन पर्यावरण से जुड़ कर मध्यकालीन प्रवृत्तियों से पृथक हो गया। अतः आधुनिक काल की पहली मंजिल को 'पुनर्जागरण–काल' कहना समीचीन है। दूसरी मंजिल पर साहित्यकार अपने कथ्य, रूपाकार और भाषा के सुधार परिष्कार में संलग्न दिखाई पड़ते हैं। अतः इसे 'सुधारकाल' की संज्ञा दी जानी चाहिए। स्थूल रूप से छायावाद का समय सन्1918 से 1938 तक माना गया है। इसके अनंतर साहित्य में प्रगतिधर्मी और प्रयोगधर्मी आंदोलन एक साथ चले। इस काल को सन् 1938 से 1953 तक निर्धारित किया जा सकता है। 'दूसरा सप्तक' के प्रकाशन के साथ ही प्रयोगधर्मिता से छुट्टी पा कर बदले हुए परिवेश से आत्यंतिक संपृक्तता के कारण नए लेखन का जो प्रयत्न दिखायी पड़ता है, उसे 'नवलेखन–काल' की संज्ञा दी जा सकती है।

संक्षेप में आधुनिक काल के उप–विभाजन का प्रारूप निम्नलिखित ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है:

1.	पुनर्जागरण –काल (भारतेंदु काल)	1857.1900 ई.
2.	जागरण– सुधार–काल (द्विवेदी काल)	1900.1918 ई.
3.	छायावाद–काल	1918.1938 ई.
4.	छायावादोत्तर–काल	
	(क) प्रगति–प्रयोग–काल	1938.1953 ई.
	(ख) नवलेखन–काल	1953 ई. से...

कोई भी बदलाव यों ही नहीं आता, बल्कि उसके कुछ कारण होते हैं। दो संस्कृतियों का अंतरावलंबन परिवर्तन के लिए उतना कारगर नहीं होता जितने समाज के बुनियादी ढांचे को बदलने वाले आर्थिक कारण प्रभावशाली होते हैं। मुख्य कारण आर्थिक होता है, सांस्कृतिक कारण गौण होते हैं; पर इन दोनों को लाने का दायित्व जाने–अनजाने अंग्रेजों पर ही रहा। अतः आधुनिक काल की परिवर्तमान प्रक्रिया को समझने के लिए इनका विवेचन आवश्यक है।

आधुनिकता

हिंदी–साहित्य का सातवां दशक (1960–1970) आधुनिकता से विशेष रूप से प्रभावित है। इससे ध्वनित होता है कि यह 'आधुनिक' से कुछ अलग है। इसलिए यह आवश्यक है कि इन दोनों शब्दों का अर्थभेद कर लिया जाए। 'आधुनिक' शब्द की व्याख्या प्रारंभ में की जा चुकी है, अतः उसे दुहराना कोई अर्थ नहीं रखता; आधुनिक ज्ञान–विज्ञान और टेक्नॉलाजी के पफलस्वरूप उत्पन्न मानवीय स्थितियों का नया, गैर– रोमेंटिक और अमिथकीय साक्षात्कार 'आधुनिकता' है। 'आधुनिकता है। 'आधुनिकता' का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है कि उसके ऐतिहासिक संदर्भ और प्रवृत्ति को समझ लिया जाए। आधुनिक काल अपने ज्ञान–विज्ञान और प्रविधियों के कारण मध्यकाल से अलग हुआ। यह काल औद्योगीकरण, नगरीकरण और बौद्धिकता से संबद्ध है, जिससे नवीन आशाएं उभरों और भविष्य का नया स्वप्न देखा जाने लगा। देश, धर्म, राष्ट्र, ईश्वर आदि की नई–नई व्याख्याएं की जाने लगीं।

एक समय तक इहलौकिक हो कर यह आधुनिक दृष्टि प्रगतिशील बनी रही। प्रत्येक देश में पुनर्जागरण (रेनासां) आया, बहुत से पर तंत्र देश स्वंतत्र हुए 'अपने–अपने सपने' ले कर उन्होंने अपने–अपने ढंग की सरकारें बनाईं। एक बिन्दु पर खड़े हो कर मनुष्य ने पाया कि जिस औद्योगीकरण और प्रविधीकरण के सहारे उसने 'परी देश' का सपना देखा था, वह साकार नहीं हो सका। सरकारें स्थिर व्यवस्था में बदल गईं। लोकतंत्र तथा साम्यवादी सरकारें समान रूप से निराशाजनक सिद्ध हुईं। व्यक्ति या तो व्यवस्था का पुर्जा हो गया या प्रविधि का। उसका अपना व्यक्तित्व और पहचान खो गई। इस खोए हुए व्यक्तित्व की खोज–प्रक्रिया का नाम 'आधुनिकता' है।

'आधुनिक ज्ञान–विज्ञान ने मनुष्य को बहुत–कुछ बुद्धि–सम्मत बना दिया था। नीत्शे की इस घोषणा से कि 'ईश्वर मर गया', बौद्धिक जगत में एक क्रांतिकारी परिवर्तन आया। यथार्थ का स्वरूप ही बदल गया।पाप–पुण्य, धर्म–अधर्म, अच्छे–बुरे की जो कसौटियां धर्मग्रंथों में निर्धारित की गईं थीं उनकी प्रामणिकता समाप्त हो गई और पुराने मूल्य विघटित हो गए। मनुष्य ने पाया कि वर्तमान परिस्थिति (सिचुएशन) में वह असहाय, क्षुद्र और निरर्थक प्राणी है। विज्ञान की प्रगति ने भी निश्च्यवादी सिद्धांत को खोखला सिद्ध कर दिया। क्वांटम सिद्धांत और सापेक्षतावाद से सिद्ध हो गया कि न तो कोई सार्वभौम सत्य होता है

और न शाश्वत नैतिकता। अणुओं की सत्ता के असिद्ध हो जाने के बाद अणु शक्ति (एनर्जी) में बदल जाता है और शक्ति अणु में। निश्चयात्मकता की समाप्ति की अंतिम घोषणा हो गई। अस्तित्ववादी दर्शन ने इस पर अपनी मुहर लगा कर इसे और भी पुष्ट कर दिया।

अस्तित्ववादी दर्शन ने अपने पूर्ववर्ती दर्शन और विज्ञान की अमूर्तता पर आक्रमण किया। उसने अपने को ठोस अनुभवों तथा प्रत्येक व्यक्ति के बुनियादी सवालों के साथ जोड़ा। ये बुनियादी सवाल हैं– व्यक्ति की व्यग्रता, दुःख, निराशा, अकेलापन, मृत्युबोध, स्वतंत्रता, त्रास आदि। इसके साथ ही वह सामूहिकतावाद और निश्चयवाद के विरूद्ध भी खड़ा हुआ। वह उन समस्त विचारों के विरूद्ध है जो व्यक्ति को अ–मनुष्य और अस्तित्वहीन बनाते हैं। उसकी दृष्टि में मनुष्य स्वतंत्र है। वह न वस्तु है न मशीन है, वह क्रियात्मक शक्ति है। वह स्वतंत्र निर्णय लेने में समर्थ है और इसके लिए खुद जिम्मेदार है। कीर्केगार्ड, सार्त्र आदि के अस्तित्ववादी विचारों का प्रभाव आधुनिक पश्चिमी साहित्य पर खूब पड़ा है।

सातवें दशक के हिंदी–साहित्य में अकविता, अकहानी, अनाटक, अनुपन्यास की जो चर्चाएं हुई ('चर्चाए' कहना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि इन्होंने आंदोलन का रूप नहीं लिया), उनके आधार पर लिखा गया साहित्य केवल परंपरागत रूपों को तोड़ने का प्रयास नहीं है, बल्कि इन रूपों में आज के अनिश्चय, व्यर्थता, अकेलेपन, अजनबीपन, आत्मनिर्वासन आदि को भी व्यक्त किया गया है। यह अभिव्यक्ति किस दर्जे की है, यह अलग बात है।

आधुनिकता का यह बोध एक वास्तविकता है, जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हमारे देश में इस बोध को ले आने की बहुत–कुछ जिम्मेदारी हमारे भ्रष्टाचारी लोकतंत्र की भी है। पर आठवें दशक के आरंभ में हमारे साहित्यकारों में भी इससे छुटकारा पाने की बैचैनी दिखाई पड़ने लगी है। यो कामू और सार्त्र ने भी अलग–अलग ढंग से व्यर्थता से उबरने की, परिस्थितिजन्य बाधाओं में कर्म करने की चेतना उत्पन्न की है। सार्त्र का असितत्ववाद कर्म का ही दर्शन है। किंतु सार्त्र और कामू का दर्शन हमें सचेत कर सकता है, अपनी दृष्टि नहीं दे सकता। बदलाव, संघर्ष और अर्थान्वेषण के लिए हमें स्वयं अपनी राह बनानी होगी। सार्त्र मार्क्सवाद का समर्थक होते हुए भी व्यक्तिवादी भी है। उसका अपना अस्तित्वाद फ्रांसीसी परंपरा से सर्वथा अलग नहीं है। अतः हमारे भावी जीवन, चिंतन, कला, साहित्य आदि का भविष्य दो बातों पर निर्भर दिखाई दे रहा है: एक तो अर्थहीनता की स्वीकृति पर और दूसरे, उसके भीतर से गुजरते हुए अपने से संदर्भित अर्थान्वेषण की प्रक्रिया पर।

–उत्तर–आधुनिक विमर्श

उन्नीसवीं शताब्दी से ही भारतीय बुद्धिजीवी पश्चिमी यूरोप और बाद में संयुक्त राज्य अमेरिका की ओर मानसिक दासता की हद तक उन्मुख रहा है। फलतः वहाँ जो विचार–विमर्श चलता रहा है, हम उसका अनुसरण करते रहे हैं। हमारा आधुनिक काल का

साहित्य इन विचार–विमर्शों से प्रभावित होता रहा है। यह प्रभाव कम होने के बजाय बढ़ता ही रहा है। स्वातंष्योत्तर काल में बीसवीं शताब्दी के छठे–सातवें दशकों में आधुनिकता ने हिन्दी–साहित्य को प्रभावित किया। इन दशकों में हमने आधुनिकता, आधुनिकबोध, समकालीनता, समकालीनताबोध, परम्परा और आधुनिकता के पारस्परिक संबंध आदि को साहित्य के संदर्भ में समझने का प्रयत्न किया। उसे हम कितना समझ पाए, कहना मुश्किल है। पश्चिमी यूरोप और अमरीका में सातवें–आठवें दशक में विभिन्न उत्तर–आधुनिक विमर्शों ने जन्म लिया। हमारे यहाँ इन्हें पहुँचने में लगभग दो ढाई दशक लग गए। हमारे यहाँ इनकी चर्चा बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में प्रारम्भ हुई और अभी चल रही है। अभी तक इन्होंने हिन्दी–सहित्य को उतना प्रभावित नहीं किया है, जितना आधुनिकता ने किया था। फिर भी इनका कुछ–न–कुछ प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हो गया है। अतः उत्तर–आधुनिक विमर्शों से परिचित होना हमारे लिए अनिवार्य हो गया है। इसी अनिवार्यता के तहत उनका परिचय प्रस्तुत है:–

संरचनावाद (स्ट्रक्चरलिज्म)–

संरचनावाद आधुनिक काल की विवादस्पद सैद्धांतिकी है। यह ऐसा बौद्धिक आंदोलन है, जिसने एक ओर विज्ञानों को नया सैद्धांतिक आधार प्रदान किया है, दूसरी ओर साहित्य को समझने की विशेष दृष्टि प्रदान की। इसने तमाम परंपरागत अवधारणाओं पर प्रश्नचिह्न लगाए। संरचनावाद इस बात को स्वीकार नहीं करता कि साहित्य समाज का दर्पण है या साहित्य जीवन की आलोचना है या साहित्य रचनाकार की आत्माभिव्यक्ति है। इसके अनुसार 'सहज बुद्धि' (कॅमन सेंस) नाम की कोई चीज नहीं है। वह वस्तुतः विचारधारात्मक निर्मिति है। संरचनावाद यथार्थवाद, भाषा की पारदर्शिता, विचारधार, समाज की सुगठित पारंपरिक अवधारणा, विचार और भाषा के पारंपरिक संबंध आदि पर प्रश्नचिह्न लगाता है।

एक साहित्यक सैद्धांतिकी के रूप में संरचनावाद भाषिकी से आया है। स्विस भाषावैज्ञानिक फरदीनान्द द सॉस्युअर ने 1915 में प्रकाशित अपनी 'सामान्य भाषिकी का पाठ्यक्रम' नामक पुस्तक में भाषा का एक सिद्धांत प्रस्तुत किया। उसने मनुष्य की भाषिक क्रियाओं के तीन स्तर माने–(1) सामान्य भाषाः जिसमें मनुष्य की सम्पूर्ण भाषिक संभावनाएँ निहित हैं। यह भाषा का व्यापकतम रूप है, जो किसी एक भाषा तक सीमित नहीं है। उसने 'लांगेज' (स्ंदहंहम) कहा है। (2) विशेष भाषा (लांग– स्ंदहनम) : यह व्यवस्थाबद्ध विशेष भाषा होती है। सामान्यतः 'भाषा' शब्द का प्रयोग इसी के लिए किया जाता है। इसका प्रयोग जब एक व्यक्ति करता है तो इसका जानकार दूसरा व्यक्ति इसे समझ लेता है। (3) व्यक्ति–बोली (पैरोल– च्तवसम) : यह व्यक्तियों के द्वारा दैनंदिन उपयोग में लाई जाने वाली भाषा का रूप है। सॉस्युअर के अनुसार भाषिक अध्ययन का विषय भाषातंत्र होना चाहिए; क्योंकि भाषातंत्र समाज की उत्पत्ति है, परंपरा–प्राप्त है। लेकिन वास्तव में कोई भाषा तंत्र पहले से ही बना बनाया सृष्टि में विद्यमान नहीं होता। व्यक्तियों के द्वारा बोली जाने वाली

भाषा से हमें उसका निर्माण करना पड़ता है। भाषा विशेष के तंत्र या व्यवस्था से अपरिचित व्यक्ति के लिए वह भाषा अर्थहीन होती है। यदि मैं अँग्रेजी भाषा के तंत्र या व्यवस्था या पद्धति से अनभिज्ञ हूँ तो अँग्रेजी मेरे लिए निरर्थक ध्वनियों से कुछ भी नहीं है। इसलिए महत्वपूर्ण भाषा विशेष नहीं है अपितु वह व्यापक अमूर्त तंत्र है, जिससे भाषा निर्मित होती है।

सॉस्युअर ने अपनी इसी विचार–पद्धति के आधार पर इस धारणा पर इस धारणा को निरस्त कर दिया कि भाषा शब्दों से निर्मित होती है, जिसका लक्ष्य वस्तुओं का नामकरण है। कोई शब्द किसी वस्तु विशेष का व्यंजक नहीं है। वह संकेत मात्र है। जिस वस्तु के लिए उसका प्रयोग किया जाता है, उसका वह संकेतक (सिग्नीपफाइर) है, और वह वस्तु 'संकेतित' (सिग्नीपफाइड) है। सॉस्युअर की इस स्थापना में 'वस्तु' का कोई महत्व नहीं है। शब्दों में अर्थ संकेतित वस्तुओं के कारण नहीं होता है, अपितु उनमें अर्थ इसलिए होता है कि वे संबंधों के एक विशाल तंत्र का अंग हैं। शब्द और अर्थ के बीच का संबंध यादृच्छिक है। इसलिए भाषा प्रतीकों या संकेतों की ऐसी व्यवस्था है, जो प्रत्ययों को अभिव्यक्त करती है। यह मान लेने पर कि भाषा एक व्यवस्था है, यह आवश्यक हो जाता है कि उसकी संरचना का विश्लेषण किया जाए। कोई भी व्यवस्था या तंत्र इकाइयों से मिल कर बनता है। ये इकाइयां एक–दूसरे को प्रभावित करती हैं। इकाइयों के अंतःविन्यास से एक विशिष्ट तंत्र बनता है इकाइयों का यही अंतःविन्यास इसकी रचना का निर्माण करता है। इकाइयों के कुछ संयोजन ऐसे होते हैं जो अकसर व्यवहार में आते हैं, कुछ की कभी–कभी आवश्यकता पड़ती है और कुछ संभावना मात्र बने रहते हैं। भाषा के एक संरचना के रूप में अध्ययन ने संरचनात्मक भाषिकी को जन्म दिया। आगे चल कर अन्य भाषा वैज्ञानिकों ने भाषा का एक संरचना के रूप में अध्ययन किया और 'सार्वभौमिक व्याकरण' (यूनिवर्सल ग्रामर–चोम्स्की) जैसी अवधारणाओं को प्रस्तुत किया।

संरचनात्मक भाषिकी के सिद्धांतों को जब साहित्य के अध्ययन में उपयोग में लाया गया तो साहित्यालोचन में संरचनावाद का जन्म हुआ। इस संरचनावाद के दो पूर्व रूप–रूसी रूपवाद (फॉर्मलिज्म) और जॉन को रैसम की 'नई समीक्षा' के अंतर्गत प्रस्तुत की गई स्थापनाओं के रूप में सामने आए। रूस में रूपवाद 1915–1930 के बीच फूला–फला। लेकिन यूरोप और अमेरीका का ध्यान उसकी ओर 1955 के बाद गया, जब वहां संरचनावाद की चर्चा प्रारंभ हुई। कारण, संरचनावाद रूपवाद का ही स्वाभाविक विकास है। रूसी रूपवादियों ने रचना की वस्तु की अपेक्षा उसके रूप को तथा उसकी स्थिति सापेक्षता की अपेक्षा उसकी स्वायत्तता को अधिक महत्व दिया। इसीलिए मार्क्सवादियों ने उसका विरोध किया। रूपवादियों ने शैली के वस्तु परक और 'वैज्ञानिक' परीक्षण की ऐसी प्रविधियों पर बल दिया, जो ठोस और विश्लेष्य हों। उन्होंने कविता के विश्लेषण में रूपक और बिंब के स्थान पर उसके भाषिक तत्वों को महत्व दिया। लेकिन ये भाषिक तत्व सामान्य भाषिक तत्व नहीं

है। सामान्य भाषा साहित्यिक भाषा नहीं होती। उसे साहित्यिक भाषा 'बनाया जाता है। साहित्यिक भाषा 'बनावटी' या 'कृत्रिम' होती है और चूंकि यह कृत्रिमता या बनावट सबसे अधिक कविता की भाषा में होती है, इसलिए कविता की भाषा साहित्यिक भाषा का श्रेष्ठतम रूप है। उन्होंने साहित्यिकता की खोज 'अपरिचयन' (डिफ़ेमीलियराज़ेशन) में की। हमारे रोज़मर्रा के अनुभवों में ताजगी नहीं होती। एकधृष्ट आवृत्तियाँ उनमें बासीपन ला देती है। वे अनुभव हमारी आदत बन जाते है। साहित्य का लक्ष्य इन अनुभवों को इस रूप में प्रस्तुत करना होता है कि वे नए और ताजे लगें। उन्हें दैनंदिन यथार्थ अनुभवों से भिन्न रूप में हम अनुभव करें, वे हमें अपरिचित अनुभव लगें। किसी साहित्यिक रचना में व्यक्त अनुभव में नवीनता, ताजगी और अपरिचय, जीवन की अनुकृति से नही आता, अपितु कलात्मक सौंदर्यात्मक साहित्यिक तकनीक से आता है। इसीलिए वस्तु की अपेक्षा रूप अधिक महत्व की चीज है।

जब रूपवाद का प्रभाव अमरीका पहुँच तो वहाँ समीक्षा' सामने आई। 1941 में जॉन क्रो रैंसम की पुस्तक 'द न्यू क्रिटिसिज्म' प्रकाशित हुई। इसमें उन्होंने कविता की स्वायत्तता और वस्तुनिष्ठता को स्थापित किया। उन्होंने कहा कि कविता की अर्थवत्ता उसके होने में है, उसमें है, उसके बाहर नहीं। कविता की अपनी निजी संरचना होती है और उसके अपने अलग विशिष्ट नियम होते हैं। कविता दो चीजों से बनती है– एक चीज है उसकी संरचना (स्ट्रक्चर) या उसका अर्थविधान और दूसरी चीज है उसका तंतुविन्यास (टेक्सचर) या शब्द–विधान। कविता का अर्थ–विधान सुनिश्चित नहीं होता। वह बहुत–कुछ अनिश्चित होता है और शब्द–विधान पर निर्भर रहता है। इस दृष्टि से वह विज्ञान के अर्थ–विधान से भिन्न होता है। विज्ञान में अर्थ एक, और सुनिश्चित होता है, उसमें शब्द–विधान का कोई महत्व नहीं होता। विज्ञान में चाहे किन्हीं शब्दों का प्रयोग किया जाए, हर वैज्ञानिक उनसे एक ही अर्थ ग्रहण करेगा। लेकिन कविता में ऐसा नहीं होता। कविता में स्वर, लय, बिंब, प्रतीक, अलंकार आदि के द्वारा जिस कलात्मक सौंदर्य का निर्माण किया जाता है, सहृदय का काम उसको ग्रहण करना है। प्रत्येक कविता का शब्द–विधान विशिष्ट होता है। यह वैशिष्ट्य शब्द और अर्थ के जटिल और अतर्कित संबंध से उत्पन्न होता है। शब्द और अर्थ के इस जटिल और अतर्कित संबंध की संगति की खोज करना आलोचना का कार्य है। कविता के सौंदर्य का उद्‌घाटन उसके पाठ–विश्लेषण के द्वारा ही किया जा सकता है। कविता में प्रयुक्त शब्द बदले नहीं जा सकते और न ही हर पाठक/श्रोता के लिए उनका एक ही अर्थ होता है। अतः कविता शब्दों से लिखी जाती हैं।

रूसी रूपवाद से संबद्ध रहे रोमान याँकोब्सन की गणना संरचनावादी काव्यशास्त्र के प्रवर्त्तकों में की जाती है। उनकी मान्यता थी कि काव्यशास्त्र भाषिकी का ही एक अंग है। उन्होंने सॉस्युअर की भाषिक अवधारणाओं को काव्यशास्त्र में व्यहृत किया और संरचनावादी

काव्यशास्त्र के सैद्धांतिक आधारों को स्पष्ट किया। उनके अनुसार सृजनात्मक भाषा चयन और विन्यास–दोनों का उपयोग करती है। विन्यास के स्तर पर ही काव्य या साहित्य को उसकी प्रतीकात्मकता, सांकेतिकता, अर्थ की बहुस्तरीयता आदि की प्राप्ति होती है। यॉकोब्सन ने साहित्य की संप्रेषण–प्रक्रिया पर भी विचार किया है। उसके अनुसार संप्रेषण–प्रक्रिया इस प्रकार घटित होती है:

संदर्भ.....संबोधनकर्ता---पाठ---संबोधित....संपर्क.....भाषाई तंत्र

निःसंदेह 'पाठ' केन्द्र में है, किन्तु केवल उसी से अर्थ संप्रेषित नहीं होता; अपितु अर्थ के संप्रेषण में 'संदर्भ', 'संपर्क', 'भाषाई तंत्र' और संबोधनकर्ता की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अर्थ इन सबके सामूहिक योग से संप्रेषित होता है। स्पश्ट है कि कविता या किसी भी साहित्यिक कृति में अर्थ यया कथ्य महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण है उसकी संप्रेषण–प्रक्रिया। यह संप्रेषण–प्रक्रिया भाषिक संरचना के द्वारा घटित होती है। इसलिए कलाकृति संरचना है। यॉकोब्सन की इन स्थापनाओं को अन्य संरचनावादियों– जोनायन कुलर, रोलां बार्थ, कूको, देरिदा, कोलिन, मैककाबे आदि ने और आगे बढ़ाया और नए आयाम जोड़े।

व्यावहारिक स्तर पर कविता के विश्लेषण में जब संरनावाद को लागू किया गया, तब सभी प्रकार की भाषिक सम्मतियों– तुक से लेकर वाक्य–विन्यास की सूक्ष्मताओं, काल, वचन आदि तक– को रूपगत पररूपों में पुनर्स्थापित कर उन्हें स्थिर, निर्वैयक्तिक, भाषा के सामान्य संप्रेषणकर्म से विच्छिन्न करके देखा गया। संरचनावादियों से असहमत साहित्य–विश्लेषकों ने साहित्यिक विवेचन में इसे भाषिकी का दुरूपयोग माना। संरचनावाद की तकनीक अविवेक पूर्वक लागू करके कृत्रिम 'काव्य–संरचनाएं' निर्मित की गई। जिन्हें काव्य के पाठक ग्रहण नहीं कर पाए, न अपना पाए। यह अतिवाद था। वैसे विवेकपूर्वक यदि संरचनावादी स्थापनाओं को उपयोग में लाया जाए तो कविता के विवेचन में वे सहायक और उपयोगी हो सकते हैं।

कविता की अपेक्षा कथा–संरचना के विवेचन में संरचनावाद को अधिक सपफलता मिली। 1928 में ब्लादीमीर प्रॉप ने 'लोककथाओं का रूपविधान' (मॉर्फोलॉजी ऑफ़ फॉकटेल्स) में स्थापित किया के रूसी कथाओं में पात्रों के व्यक्तित्व में बड़ा वैविध्य है, किंतु उनके 'कार्यों' के प्रकार सीमित हैं। उसने 31 प्रकार गिनाए, जिन्हें सात वर्गों में वर्गीकृत कियया। इन प्रकारों और वर्गों के आधार पर पात्रों के क्रियाकलापों और संबद्ध प्रकार्यों के आधार पर किसी भी कथा के घटनाक्रम को विश्लेषित किया जा सकता है। यह वस्तुतः कथाओं का प्रजातिगत व्याकरण है। कथा का यह सीमित तंत्र असीमित कथा–श्रृंखलाओं को विवेचित कर सकता है। लेवी स्त्रास ने इसका भाशिक सादृश्य पकड़ा। उसके बाद ए.जे. ग्रीमास ने प्रॉप की स्थापनाओं की परिष्कृत अर्थवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की। यह मानक स्थापना बन गई कि कथा में घटना–विन्यास की संरचना वाक्य–विन्यास की संरचना के समान होती

है। इसने कथा की संरचना की विवेचना के लिए वाक्य–भाषिकी पर आधारित अधिभाषा का विकास किया। इस अधिभाषा के विकास में रोलां बार्थ, तोदोरोव और जेरॉल्ड जेनेट ने महत्वपूर्ण कार्य किया। कथा–विश्लेषण का यह मॉडल कई पश्चिमी कथा कृतियों पर लागू किया गया। परिणाम मिले–जुले रहे। हिंदी में व्यावहारिक विवेचन में संरचनावादी स्थापनाओं का कोई उल्लेखनीय उदाहरण सामने नहीं आया है।

उत्तरसंरचनावाद (पोस्टरस्ट्रक्चरलिज़्म)–

यह शब्द बीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में अस्तित्व में आया। उत्तरसंरचनावाद को ले कर प्रश्न उठता है कि यह संरचनावाद का विकास है अथवा उसका विरोधी है? इसका उपयोग इन दोनों रूपों में होता है। यह अपने आप में इतनी बातों को समेटे हुए है कि इसे स्पष्टता और निश्चयात्मकता से परिभाषित कर पाना लगभग असंभव है।

उत्तरसंरचनावाद का प्रारंभ देरिदा के विखंडन या विरचना (डिकांस्ट्रक्शन) की अवधारणा से हुआ। उसने कहा कि संरचना की अवधारणा कोई स्थिर अवधारणा नहीं है। वह परिवर्तनशील है। कारण, संपूर्ण भाषा रूपकात्मक या लाक्षणिक है। उत्तरसंरचनावाद इस भाषिक सिद्धांत पर आधारित है कि भाषा बाह्य जगत से संदर्भित नहीं होती है। वह स्वायत्त है। भाषा के बाहर कोई यथार्थ नहीं है। जिसे यथार्थ जगत कहा जाता है, वह वस्तुतः भाषा के द्वारा निर्मित है। जो संरचनाएं भाषा में विद्यमान हैं, उन्हें भाषा ने निर्मित किया हैं। यह भ्रांति है कि शब्द किसी वास्तविक यथार्थ को संदर्भित करते हैं। हमें यह इसलिए लगता है, क्योंकि इस तरह की कुछ परंपराएँ, रूढ़ियां या कोड बन गए हैं। इसलिए साहित्यिक कृति का पाठ ही सब कुछ है, पाठ के बाहर कुछ भी नहीं और पाठ का कोई अर्थ भी स्थिर नहीं है। शब्द और उसका अर्थ परस्पर एक नहीं हैं। प्रत्येक शब्द अपने अर्थ के लिए दूसरे शब्दों पर निर्भर है। शब्दों की अपने अर्थ के लिए पारस्परिक निर्भरता की श्रृंखला अनंत है। उत्तरसंरचनावाद की मूल चिंता यह रही है कि शब्द किस प्रकार अर्थश्रृंखला उत्पन्न करते हैं और किस प्रकार यह अर्थश्रृंखला भाषा और साहित्य के जटिलतंत्र में क्रियाशील रहती है।

उत्तरसंरचनावाद को जन्म देने और विकसित करने में जिन विचारकों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है, उनमें रोलां बार्थ, लॉक देरिदा, जॉक लकां, जूलिया क्रिस्टीवा और मिशेल फूको प्रमुख हैं। देदिरा की देन विखंडनवाद (विरचनावाद) के रूप हैं, जिस पर आगे विचार किया जाएगा। रोलां बार्थ की 1970 में प्रकाशित कृति 'एय/जेड' (६) में उसकी उत्तासंरचनावादी स्थापनाएँ सामने आईं। उसने अपनी दो सौ पृष्ठों की इस पुस्तक में बालजाक की तीस पृष्ठों की उपन्यासिका 'सारासीन' (ततेंपदम) की व्याख्या प्रस्तुत की। अपनी इस पुस्तक में वह संरचना के स्थान पर 'पाठ' को केन्द्र में ले आया। उसने प्रारम्भ में ही कहा कि विश्व की समस्त कहानियों की एक संरचना खोजना कष्टसाध्य भी है और अवांछित भी। उसके

अनुसार कथात्मक कृतियों की घटना–प्रस्तुति की सामान्यताओं की खोज के स्थान पर विशिष्ट कथाकृति का अध्ययन अधिक सार्थक है। यहाँ भी उसका 'यथार्थवाद' का विरोध बरकरार है। वह यथार्थवादी उपन्यास को 'बंद पाठ' कहता है, क्योंकि ऐसा उपन्यास पाठक को विशेष सीमित अर्थों और संदर्भों में बांध कर रखता है। वह उसे नए–नए अर्थ निकालने के लिए न उत्साहित करता है, न उसकी छूट देता है। उसने पाठ के दो प्रकार माने हैं– 'लेखकीय पाठ' और 'पाठकीय पाठ'। लेखकीय पाठ सृजनशीलता का परिणाम होता है। यह 'आदर्श' या 'प्रत्यय' पाठ है, जिसे अनंत प्रकार से पढ़ा जा सकता है और कोई भी पाठक यह दावा नहीं कर सकता कि उसने जो पढ़ है, वही अंतिम 'पाठ' है। दरअसल मूल पाठ को पढ़ने के लिए जितने 'कोड' उपयोग में लाए जाएँगे, उतने ही पाठकीय पाठ सामने आएँगे और इन कोडों की कोई सीमा नहीं है। इसलिए किसी भी मूल या लेखनीय पाठ की एकता कल्पना मात्र है। किसी मूल पाठ को पढ़ने का हमारा दृष्टिकोण, चाहे वह किसी विचारधारा, दर्शन, संस्कृति, समाज–व्यवस्था, राजनैतिक तंत्र आदि में से किसी एक पर आधारित हो या एकाधिक पर, उसके अर्थ को बदलता है और मूल पाठ की अद्वितीयता समाप्त हो जाती है। बार्थ ने 'सारासीन' के विभिन्न पाठ विभिन्न दृष्टिकोणों या विभिन्न कोडों का उपयोग करते हुए प्रस्तुत किए हैं। वह इन निष्कर्षों पर एकाएक नहीं पहुँचा। अपने चिंतन–लेखन के प्रारंभिक दौर में इसने संकेतविज्ञान (सीमियोलॉजी) को अपनाया। अपनी पुस्तक 'संकेतविज्ञान के मूल तत्व' (एलीमेंट्स ऑफ सीमियोलॉजी–1965) में उसने अपनी यह स्थापना सामने रखी कि मानव–संस्कृति के समस्त संकेत–तंत्रों को संरचनावादी पद्धति से समझा जा सका है। उसके अनुसार मानवीय संकेत–तंत्रों में भाषा या कोई कृति गौण तंत्र है। मूल तंत्र तो अभिभाषा (मेटालैंग्वेज) है। एक अधिभाषा भी पूर्णतः स्वाधीन नहीं है। वह दूसरी अधिभाषाओं के प्रति उत्तरदायी है। अधिभाषाओं के पारस्परिक उत्तरदायित्व का क्रम भी अनंत है और अधिभाषा के उत्तरदायित्व की यह अनंतता वहाँ तक जाती है, जहाँ अधिभाषा भी निरर्थकता या शून्य में परिणत हो जाती है। इसलिए कोई भी कृति या उसकी आलोचना ऐसी नहीं हो सकती, जिस पर परवर्ती रचनाकार या आलोचक प्रश्नचिह्न न लगा सकें।

संरचनावादी भाषिकी की बड़ी प्रसिद्ध उक्ति है कि भाषा बोलती है, मनुष्य नहीं (लैंग्वेज स्पीक्स, नॉट मैन)। इसी के आधार पर बार्थ ने लेखक की मृत्यु की घोषणा की और अपने प्रसिद्ध आलेख 'द डैथ ऑफ द ऑथर' में सूक्ति गढ़ी, 'लेखन लिखता है, लेखक नहीं' (राइटिंग राइट्स, नॉट राइटर)। लेखक की मृत्यु से उसका तात्पर्य यह है कि कोई भी रचना शुन्य में से जन्म नहीं लेती। वह सृजन–परंपरा की एक कड़ी मात्र होती है। कोई कृति न पहली होती है और न ही अंतिम। यदि पूर्ववार्तियों ने न लिखा होता तो परवर्ती भी नहीं लिख पाते। हर कृति एक विशेष समाज, संस्कृति, सोच, भाषा, साहित्यिक परंपरा आदि से पोषित होती है। अतः कोई भी रचनाकार अपनी परंपरा के प्रति कितना ही विद्रोह करे, वह उससे

पूर्णतः मुक्त नहीं हो सकता। उसी अर्थ में रचना विशेष किसी विशेष रचनाकार की रचना न हो कर एक परंपरा की परिणति या रचना होती है। इसलिए किसी विशेष रचना के रूप में जो मूल पाठ हमें उपलब्ध होता हैं, उसका या उसके अर्थ का उत्स उसका लेखक नहीं है और न ही वह उसकी व्याख्या का एक मात्र अधिकारी है। इसलिए केंद्र में रचना सिथत होती है, रचनाकार नहीं। स्थूल रूप में बार्थ की यह स्थापना 'नयी समीक्षा' की उस स्थापना से मिलती –जुलती है कि विचार/ विश्लेषण का केंद्र मुद्रित शब्द होना चाहिए; कोई और चीज नहीं। लेकिन बार्थ 'नयी समीक्षा' का विरोधी था। उसकी तो यह भी स्थापना थी कि " समस्त आलोचनात्मक दृष्टियां और निर्णय वस्तुतः जटिल राजनीतिक और विचारधारा के मुखौटे मात्र हैं। कोई भी आलोचनात्मक दृष्टि तटस्थ और विचारधारा – निरपेक्ष नहीं होती है।" उसकी यह स्थापना मार्क्सवादी विचारधारा के निकट प्रतीत होती है, लेकिन वह न तो मार्क्सवादी है और न ही नए समीक्षकों की तरह पूंजीवादी। वह आलोचक को महत्व देता है। रचना को आलोचक अर्थ देता है और जो अर्थ आलोचक देता है, वही रचना होती है। "आलोचक सक्रिय रूप से रचना का अर्थ निर्मित करता है। वही उसे अस्तित्ववान बनाता है।" (द क्रिटिक एक्टिवली कोस्ट्रक्ट्स द मीनिंग। ही मेक्स द वर्क एग्जिस्ट) और पाठक या आलोचक किसी पाठ का जो अर्थ निकालते हैं, वह भी अंतिम नहीं है। किसी भी रचना को जितनीं बार पढ़ा जाएगा, उसमें उतनी ही बार नए अर्थ निकलेंगे।

बार्थ संरचनावादियों और उत्तरसंरचनावादियों के बीच की कड़ी है। उसकी स्थापनाओं में सत्यांश अवश्य है; लेकिन उसकी स्थापनाएं अतिवादी हैं, इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

उत्तरसंरचनावादियों में ज़ॉक लकां का महत्वपूर्ण स्थान है। वह नवफ्रायडवादियों की श्रेणी में आता है। उसने फ्रायड के 'इड' (मूल कामतत्व) को केन्द्रीय माना और अहं (ईगो) को विकेंद्रित किया। इस तरह उसने फ्रायड को नई तरह से पढ़ा और यह स्थापना सामने रखी कि अवचेतन का अस्तित्व ही नहीं होता, उसकी संरचना भी होती है, जो मनुष्य की वृत्तियों और क्रियाओं को इतना और इस तरह प्रभावित करती है कि उसका विश्लेषण किया जा सकता है। उसकी स्थापनाओं ने साहित्यिक आलोचना में 'विषयी' (सब्जैक्ट) अर्थात व्यक्ति आलोचक को केंद्रीय महत्व प्रदान किया और आलोच्य 'विषय' (आब्जैक्ट) अर्थात कृति को गौण। वक्ता और उसके वक्तव्य के बीच जो अदृष्ट अंतराल है, उत्तरसंरचनावादियों ने उसी में प्रवेश किया। भाषा में संकेतकों का तंत्र पहले से विद्यमान रहता है किन्तु वे अर्थवान् तभी होते है जब कोई व्यक्ति उनसे जुड़ता है। स्त्री, लड़की, प्रेमिका, पत्नी, मां, छात्रा, परिचारिकी आदि भाषिक संकेत पहले से विद्यमान हैं, किंतु ये अर्थवान तभी होते हैं जब ये किसी विशेष व्यक्ति और संदर्भ से जुड़ते हैं। किसी 'स्त्री' का अर्थ 'पत्नी' तभी होगा, जब वह किसी 'पुरुष' व्यक्ति से ब्याही जाएगी। 'स्त्री' का अर्थ भी

'पुरुष' के संदर्भ में ही निकलता है। यह अर्थ भी तभी निकलता है जब शिशु 'व्यक्ति' बनता है, उसका 'अहं' स्थापित होता है और वह 'मैं' और 'अन्य' के बीच अंतराल स्थापित करता है। इसका कारण यह है कि यथार्थ कल्पनात्मक और प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियों में पूर्णतः अट नहीं पाता, वह इन दोनों के अंतराल में स्थित रहता है। व्यक्ति जब अपनी किसी प्रवृत्ति को तुष्ट करने का प्रयत्न करता है तो वह प्रवृत्ति पूर्णतः तुष्ट न हो कर नई आकांक्षाओं का जन्म देती है और ये नई आकांक्षाएं संकेतकों की एक श्रृंखला का रूप धारण कर लेती हैं। चूंकि व्यक्ति जब अपनी आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करता है, तब उसका अवचेतन दखलंदाजी करता रहता है, इसलिए भाषिक स्तर पर आकांक्षाओं की अभिाव्यक्ति संरूपकों और लाक्षण्णिक प्रयोगों के रूप में होती है। इस प्रकार भाषिकी मानव–मस्तिष्क और भाषा की संगति का नया मार्ग निर्मित करती है। लकां के अनुसारः " अचेतन मन की संरचना भाषा की संरचना जैसी है।" उसने फ्रायड के सिद्धांतों की नई व्याख्या सॉस्युअर के शब्दबंधों के आधार पर की है। इसके कारण साहित्य भी मनोविश्लेषण के समान केंद्रीय महत्व की चीज़ बन गया है।

लंका की तरह लिया क्रिरूटीवा ने भी साहित्यिक अध्ययन के लिए मनोविश्लेषणशास्त्र का सहारा लिया। उसने साहित्यिक अर्थविज्ञान पर कार्य किया और यह स्थापना सामने रखी कि जिन चीजों को जीवन में औचित्यपूर्ण एवं सुसंगठित माना जाता है, उनके सामने अनौचित्य और विघटन– का संकट बराबर बना रहता है। कारण, कोई भी व्यक्ति पूर्णतः सुसंगठित इकाई नहीं होता। व्यक्ति सुगठन कां उसकी कामना या वासना बराबर विघटित करती रहती है। सुगठित व्यक्ति की पहचान है उसकी सुगठित वाक्य–रचना। लेकिन इस सुगठित वाक्य रचना को काव्यभाषा बराबर विघटित करती रहती है। इसका दूरगामी परिणाम यह होता है कि सामाजिक/राजनीतिक तंत्र व्यक्ति को जितना नियंत्रित करता है, कामना–प्रेरित व्यक्ति सामाजिक/राजनीतिक तंत्र को अंदर–ही–अंदर उतना ही अस्थिर और विघटित करता रहता है। इसमें काव्यभाषा की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। ज़ब प्लेटो ने अपने आदर्श गणराज्य से कवियों को निकाल बाहर करने की बात कही थी, तब काव्यभाषा की इसी शक्ति को स्वीकार किया था। जूलिया क्रिस्टीवा तो यहां तक मानती हैं कि जब सामाजिक तंत्र अत्यधिक जटिल और संहिताबद्ध हो जाएगा, तब काव्यभाषा के द्वारा ही क्रांति संभव होगी। लेकिन इस क्रांति के संभव होने में सबसे बड़ी बांधा वह बुर्जुआ आचरण है, जो हर नई और क्रांतिकारी चीज़ को अपना कर उसे निष्प्रभ और निष्प्रभावी बना देता है। उत्तरसंरनावाद में जूलिया क्रिस्टीवा का योगदान इस रूप में है कि उसने मानव–मन, समाजतंत्र, वाक्यविज्ञान और काव्यभाषा के पारस्परिक संरचनात्मक संबंध और प्रभाव की सैद्धांतिकी निर्मित की है।

पेरिस के एक शिक्षा–संस्थान (कॉलिज द फ्रांस) में 'हिस्ट्री ऑफ़ थॉट' (विचार–प्रणालियों

का इतिहास) के प्रोफेसर मिशेल फूको ने अपने उत्तररसंरचनावादी चिंतन के केंद्र में विमर्श को रखा है। विमर्श (डिसकोर्स) से उसका तात्पर्य विचार, अभिवृत्ति, दृष्टिकोण, धारणाएं आदि सब--कुछ है। उसका कहना है कि विमर्श वह हिंसा है, जो हम चीजों के प्रति बरतते हैं (डिस्कोर्स इज़ ए वॉयलेंस दैट वी डूटू थिंग्ज़)। उसकी मूल स्थापना नीत्शे के 'शक्ति--कामना' (विल टू पॉवर) के सिद्धांत पर आधारित है। नीत्शे की मान्यता थी कि हम चीजों को वस्तुपरक या तटस्थ दृष्टि से नहीं देखते, अपितु आत्मपरक दृष्टि से देखते हैं। फलतः चीज़ें जैसी हैं, वैसी हमें दिखाई नहीं देतीं, अपितु जैसी हम उन्हें देखना चाहते हैं, वैसी दिखाई देती हैं। हम तथ्यों को अपने लक्ष्यों के अनुरूप ढाल लेते हैं। विमर्श का लक्ष्य यही है। इसलिए विचारों या अवधारणाओं का कोई रैखिक विकासक्रम नहीं खोजा जा सकता । इस संदर्भ में दो 'एपिस्टीम' (ज्ञानधाराओं) की अवधारणा उसने प्रस्तुत की है। एक धारा सत्तरहवीं शताब्दी से प्रारंभ होने वाली नवशास्त्रवादी धारणाओं (न्यो--क्लासिकल थॉट) की है, जिसका आज मनुष्यों के लिए कोई अर्थ नहीं है। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी से चलने वाली 'आधुनिक ज्ञानधारा' (मॉडर्न एपिस्टीम) ने वस्तुतः विषय और विषयी (आब्जैक्ट एण्ड सब्जैक्ट) दोनों रूपों में 'मनुष्य' को जन्म दिया है। जैसे ही भाषा की पदार्थ से और प्रकृत की सामान्य से भिन्नता स्पष्ट हुई है, वैसे ही उनका अंत भी खोजा जा सकता है। फूको ने समाजशास्त्र और मनोविज्ञान की गंभीर सीमाओं का उद्घाटन किया है और स्थापित किया है कि जैसे इन मानव-- विज्ञानों ने 'मानव' को निर्मित किया है वैसे ही मनोविश्लेषणशास्त्र जैसे मानव-- विज्ञानों के द्वारा 'मानव' को विनिर्मित भी किया जा सकता है। उसने बलपूर्वक यह स्थापना प्रस्तुत की कि 'आधुनिक ज्ञानधारा' धराशायी हो रही है। इसलिए उसका विषय 'मानव' भी मर गया है। अपनी परवर्ती रचनाओं में उसने अपनी इस स्थापना को और स्पष्ट किया। उसने निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य सत्ता/शक्ति के हाथ की कठपुतलियां हैं। जैसे कैदी स्वयं जेल का निर्माण--कार्य करते हैं, वैसे ही हम भी समाज में स्वयं अपनी कारा निर्मित करते हैं। एक सचेत सक्रिय यहां तक कि एक विद्रोही के रूप में अब मनुष्य मर गया है। आधुनिकता के विमर्श में मनुष्य को पराधीन सिद्ध किया गया था, उत्तरआधुनिक--विमर्श में स्वतंत्रता की अति होगी। मनुष्य के सामने चुनने के लिए तमाम विकल्प होंगे। ऐसी स्थिति में उसकी सलाह है कि हम जो सकारात्मक और बहुल है, उसको चुनें। हम एकरूपता के स्थान पर बहुरूपता, स्थिरता के स्थान पर गतिशीलता, निश्चित पद्धतियों के स्थान पर गतिशील व्यवस्थाओं को वरीयता दें। उसने इस बात की ओर संकेत किया है कि आगे का रास्ता स्त्रीवाद, समलैंगिकता तथा इसी प्रकार के अन्य सामाजिक आंदोलनों का रास्ता है। इस प्रकार वह अब तक की सामाजिक व्यवस्थाओं, नैतिक मूल्यों और बौद्धिक उपलब्धियों को अस्वीकार करता है। उसकी मान्यता है कि सारा ज्ञान अनित्य है। इसका प्रमाण यह है कि इतिहास के एक कालखंड में जो ज्ञानार्जन होता है और उसके माध्यम से जो स्थापनाएं प्रस्तुत की जाती हैं, वे इतिहास के दूसरे कालखंड में न केवल बदल जाती हैं, अपितु

निरर्थक भी हो जाती हैं। एक काल का सत्य दूसरे काल में मिथ्या बन जाता है, एक काल के नैतिक मूल्य दूसरे काल में निर्मूल्य बन जाते हैं, एक काल में सही मानी जाने वाली समाज –व्यवस्था दूसरे काल में गलत मानी जाने लगती है। इसलिए इतितहास विमर्शगत परिवर्तनों की एक श्रृंखला मात्र है, कोई स्थाई, अपरिवर्तनशील, शाश्वत सत्य नहीं।

इसी दृष्टि से उसने पाठात्मकता (टेक्स्ट्युलिटी) की तुलना में 'विमर्श' को ज्यादा महत्व दिया है। संसार में राजनीतिक, सामाजिक और विचारधारात्मक शक्तियों का खेल चलता रहा है और ये शक्तियाँ विमर्श के द्वारा अपने प्रयोजन के अनुकमल, अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए विमर्श के द्वारा पाठ का अर्थ या व्याख्या करती रही हैं। इसलिए ऐसा कोई विमर्श नहीं है, जो पूर्ण या अंतिम सत्य हो। हर विमर्श कम या अधिक शक्तिशाली है, सत्य या असत्य नहीं। फूको की इसी स्थापना के संदर्भ में एडवर्ड सईद ने पाश्चात्य प्राच्यविद्याविशारदों की कटु आलोचना की। इन प्राच्यविद्याविशारदों ने पूर्व की वैचारिक, साहित्यिक आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक, उपलब्धियों और बौद्धिक प्रवृत्तियों की गलत व्याख्या करके पूर्व वालों को हीन सिद्ध किया और पश्चिम वालों को श्रेष्ठ।

इस प्रकार उत्तरसंरचनावादियों की मुख्य समस्या संकेतक और उसके अर्थ के द्वंद्व की है। इस द्वंद्व में संकेतक या पाठ उसके अर्थ की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। संकेतक और उसके अर्थ के बीच व्याघात उत्पन्न करने वाली अनेक चीजें हैं, साथ ही शक्ति का खेल भी है, जो उपलब्ध ज्ञान असिद्ध कर देता है। इसलिए उत्तरसंरचनावादी केवल प्रश्न उठाते हैं, उनका कोई समाधान प्रस्तुत नहीं करते। उनके प्रश्न उठाने के आधारों और प्रक्रियाओं में भी बड़ी विविधता है।

विखंडन या विरचना (डिकांस्ट्रक्शन)–

विखंडन या विरचना उत्तरसंरचनावाद का ही अंग है, किन्तु इसके जन्मदाता जाक देरीदा की प्रखर प्रतिभा के कारण इसकी चर्चा–विवेचना अलग से की जाती है। विखंडन की चर्चा का प्रारम्भ 1966 में जॉन हॉपकिंस विश्वविद्यालय में आयोजित एक संगोष्ठी से हुआ। संगोष्ठी संरचनावाद पर विचार–विमर्श के लिए आयोजित की गई थी किन्तु संगोष्ठी में देरीदा की उपस्थिति और उसके आलेख–पाठ का परिणाम यह हुआ कि यह संगोष्ठी विखंडन का प्रस्थानबिन्दु बन गई। 1967 में देरीदा की तीन पुस्तकें– ऑफ ग्रैमैटोलॉजी, राइटिंग एण्ड डिरफरेंस तथा फेनोमेना एक साथ प्रकाशित हुई और विखंडन फ्रांस में ही नहीं, अमेरिका में भी चर्चा का केन्द्रीय विषय बन गया। अमेरिका में इसे लोकप्रिय बनाने में येल विश्वविद्यालय के साहित्यलोचकों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। जिन अमेरिकी साहित्यलोचकों ने विखंडन की विवेचना और प्रचार में निर्णायक भूमिका निभाई, उनमें पॉल दी मॉन, जैफरी हार्टमैन, जे. हिल्स मिलर, हेरल्ड ब्लूम और बारबरा जानसन के नाम उल्लेखनीय हैं। ये लोग 'नई समीक्षा' की बंदिश से मुक्त होना चाहते थे। इन्होंने अनुभव किया था कि किसी कृति

शीतलाप्रसाद त्रिपाठी– कृत'रामचरितावली '(1887), ज्वाला प्रसाद मिश्र–कृत'सीता–वनवास'(1895), और द्विजदास –कृत'रामचरित्र नाटक'(1891), उल्लेखनीय हैं।

(3)– अन्य पौराणिक आख्यानों पर आधारित नाटक–

भारतेंदु –कृत'सत्य हिरश्चंद्र' और'सती–प्रताप', गजराज सिंह कृत– 'द्रोपदी–हरण' (1885), श्रीनिवासदास कृत–'प्रहलाद चरित्र'(1888), बालकृष्ण भट्ट कृत– 'नल–दमयंती–स्वयंबर' (1895) , शालिग्राम कृत–'अभिमन्यु'(1896) उल्लेखनीय हैं। भारतेंदु युग के नाटकों का मूल उद्देश्य मनोरंजन के साथ ही जनमानस को जाग्रत करना और उसमें आत्मविश्वास पैदा करना था।

(ख) उपन्यास कार और रचनाएं– भारतेंदु –काल में सामाजिक , ऐतिहासिक , तिलस्मी–ऐयारी, जासूसी तथा रोमानी उपन्यासें की रचना–परंपरा का सूत्रपात हुआ। सामाजिक उपन्याससें में 'भाग्यवती'और 'परीक्षागुरु' के अतिरिक्त बालकृष्ण भट्ट –कृत'रहस्यकथा'(1879), 'नूतन ब्रह्मचारी'(1886), और 'सौ अजान एक सुजान'(1892), राधाकृष्णदास–कृत'निस्सहाय हिंदू'(1890), लज्जाराम शर्मा –कृत'धूर्त रसिकलाल'(1890), और 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी'(1899), किशोरीलालगोस्वामी–कृत'त्रिवेणी वा सौभाग्यश्री '(1890) आदि उल्लेखनीय हैं। तिलिस्मी–ऐयारी उपन्यासों में देवकीनंदन–कृत'चंद्रकांता'(1882), 'चंद्रकांता–संतति(चौबीस भाग, 1886), ।संक्षेप में कह सकते हैं कि हिंदी के भारतेंदुयुगीन मौलिक उपन्यासों पर संस्कृत के कथा–साहित्य एवं परवर्ती नाटक–साहित्य के प्रभाव के साथ ही बंगला –उपन्यासों की छाप भी लक्षित की जा सकती है।

(ग) कहानी – भारतेंदु युग में आधुनिक कलात्मक कहानी का आरंभ नहीं हुआ। कहानियों के नाम पर जो प्रकाशित संग्रह प्राप्त हुए हैं, जैसे मुंशी नवलकिशारे द्वारा संपादित 'मनोहर कहानी (1880)में संकलित एक सौ कहानियां, अंबिकादत्त व्यास–कृत 'कथा–कुसुम–कलिका'(1888), शिवप्रसाद सितारेहिंद–कतृ 'वामा–मनोरंजन'(1886), आदि वे लोकप्रचलित तथा इतिहास–पुराण–कथित शिक्षा, नीति या हास्यप्रधान कथाएं हैं। जिन्हें तत्कालीन लेखकों ने स्वयं लिख कर या लिखवा कर संपादन करके प्रकाशित करा दिया।

(घ) निबंध – भारतेंदु युग में सबसे अधिक सफलता निबंध–लेखन में प्राप्त हुई। राजिनीत, समाजसुधार, धर्म, अध्यात्म, आर्थिक दुर्दशा, अतीत का गौरव , महापुरुषों की जीवनियां आदि विषयों पर विचार प्रकट करते हुए भारतेंदु –युग के लेखकों ने विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से निबंध –साहित्य को खूब संमृद्ध किया । आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने तो बालकृष्ण भट्ट और प्रताप नारायण को 'स्टील'और 'एडीसन' कहा। भारतेंदु युग के प्रमुख निबंधकारों का संबंध उस समय की किसी न किसी पत्र–पत्रिकओं से भी था जिसमें भारतेंदु हरिश्चंद्र का हरिश्चंद्र मैग्जीन, प्रतापनारायण मिश्र का ब्राह्मण, बालकृष्ण भट्ट का हिंदी–प्रदीप , बदरीनारायण चौधरी का आनंद कादंबिनी, श्रीनविास दास का सदादर्श और

राधाचरणा गोस्वामी का भारतेंदु से। प्रतापनाराण मिश्र के कुछ निबंध–धोखा, खुशामद, आप बात , दांत , भौं, नारी, मुच्छ, परीक्षा, ह, द, समझदार की मौत आदि। बालकृष्ण भट्ट के निबंध–बाल–विवाह , स्त्रियां और उनकी शिक्षा, राजा और प्रजा , अंग्रेजी शिक्षा और प्रकाश आदि ।

(च) आलोचना तथा गद्य साहित्य की अन्य विधाएं– भारतेंदु युग में आलोचना का उत्कृष्ट उदाहरण नही मिलता। इस युग में पत्र–पत्रिकाओं में राष्ट्रीय हित और समाजकल्याण को दृष्टि में रख कर पुस्तकों की समीक्षा की जा रही थी। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारतेंदु–युग में आधुनिक हिंदी आलोचना का सूत्रपात तो हो गया था किंतु तत्कालीन समीक्षकों में न तो सूक्ष्म काव्य सौंदर्य–विधायक तत्वों को पहचानने की क्षमता थी और न ही रचना में निहित जीवनमूल्यों को सौंदर्य–तत्वों से जोड़ कर व्याख्यायित करने की शकित।

इस काल में जीवनी–साहित्य लिखने की परंपरा मिलती है , किंतु वह राजारानियों , तत्कालीन शासकों की जीवनी लिखने की अधिक दिखती है जैसे कार्तिकप्रसाद खत्री की अहिल्याबाई का जीवनचरित्र, छत्रपति शिवाजी का जीवनचरित्र(1890) या काशीनाथ खत्री के 'दिुस्तान की अनेक रानियों का जीवन चरित्र'(1883)आदि। यात्रावृत का यह प्रारंभ काल था।भारतेंदु के कविवचनसुधा के अंकोंमें 1871 से 1879 तक प्रकाशित मिलते हैं। जैसे सरयू–पार की यात्रा, लखनऊ की यात्रा आदि।बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण के कमशः गया –यात्रा और विलायत यात्रा आदि।

भारतेंदुयुग साहित्य के उत्थान का युग था। इस युग के साहित्यकारों का अदम्य साहस ही युग का मूल्यवान तत्व था।

1.7 इकाई सारांश/याद रखने की बातें

1. भारतेंदु जी ने जिस प्रकार हिंदी गद्य की भाषा का परिष्कार किया, उसी प्रकार काव्य की ब्रजभाषा का भी ।
2. भारतेंदु युग की चेतना पुनर्जागरण की थी। अतः उस युग के कवियों पर इसका प्रभाव स्वभाविक था। श्रृंगारिक रसिकता , अलंकरण मोह, रीति–निरूपण, प्रकृति का उद्दीपनात्मक चित्रण प्रभृति रीतिकालीन प्रवृतियों का महत्व कम हो रहा था।
3. भारतेंदु–युग अथवा पुनर्जागरण–काल का उदय हिंदी–कविता के लिए नवीन जागरण के संदेशवाहक युग के रूप में हुआ था, किंतु इसके सीमांकन के संबंध में मतभेद हैं।
4. काव्यधारा–भारतेंदु युगीन काव्यधारा को दो भागों में रखा जा सकता है।
5. भारतेंदु युग में यों तो सताधिक कवियों ने विविध प्रवृतियों के अंतर्गत रचनाएं की है किंतु उनमें राजा लक्ष्मण सिंह, भारतेंदु हरिश्चंद्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन',

प्रतापनारायण मिश्र, कार्तिक प्रसाद खत्री, जगन्मोहन सिंह, अंबिकादत व्यास और राधाकृष्णदास ही प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं।

6. उपन्यास :भारतेंदु –काल में सामाजिक , ऐतिहासिक , तिलस्मी–ऐयारी, जासूसी तथा रोमानी उपन्यसों की रचना–परंपरा का सूत्रपात हुआ।
7. कहानी – भारतेंदु युग में आधुनिक कलात्मक कहानी का आरंभ नहीं हुआ।
8. निबंध –भारतेंदु युग में सबसे अधिक सफलता निबंध–लेखन में प्राप्त हुई। राजिनीत, समाजसुधार धर्म, अध्यात्म, आर्थिक दुर्दशा, अतीत का गौरव , महापुरुषों की जीवनियां आदि विषयों पर विचार प्रकट करते हुए भारतेंदु –युग के लेखकों ने विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से निबंध –साहित्य को खूब संमृद्ध किया।
9. भारतेंदु युग में आलोचना का उत्कृष्ट उदाहरण नही मिलता। इस युग में पत्र–पत्रिकाओं में राष्ट्रीय हित और समाजकल्याण को दृष्टि में रख कर पुस्तकों की समीक्षा की जा रही थी।
10. इस काल में जीवनी–साहित्य लिखने की परंपरा मिलती है , किंतु वह राजारानियों , तत्कालीन शासकों की जीवनी लिखने की अधिक दिखती है ।
11. भारतेंदुयुग साहित्य के उत्थान का युग था। इस युग के साहित्यकारों का अदम्य साहस ही युग का मूल्यवान तत्व था।
12. हिंदी गद्य–साहित्य के विकास में भारतेंदु–युग का महत्व और मूल्य असाधारण है। इस युग में हिंदीप्रदेश में आधुनिक जीवनचेतना का उन्मेष हुआ।
13. आधुनिक गद्य–साहित्य का यह प्रथम उत्थान था और इसमें सबसे मूल्यवान तत्व था–साहित्यकारों का अदम्य उत्साह।
14. इस युग में न केवल हिंदी–गद्य का स्वरूप स्थिर हुआ, वरन उसके शुद्ध साहित्योपयोगी और व्यवहारोपयोगी रूपों की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई।

1.8 अपनी प्रगति की जांच /प्रश्नावली

प्रश्नों के उत्तर दीजिए–

1. भारतेंदु युंग की विशेषताएं बतलाइये
2. भारतेंदु युग के रचनाकारों की प्रवृति स्पष्ट करें
3. क्या राष्ट्रीयता का स्वर इस युग की विशेषता मानी जा सकती है ?
4. भारतेंदु युग की साहित्यिक , सामाजिक, धार्मिक प्रवृतियां बताइये
5. भारतेंदु युग के प्रमुख रचनाकारों की कृतियों की विशेषाएं बताइये।
6. भारतेंदु युंग की मौलिक विशेषताओं पर प्रकाश डालिएं ?

7. भारतेंदुयगीन काव्यधारा पर प्रकाश डालिये
8. भारतेंदु के नाटकों का संक्षिप्त परिचय दीजिए
9. भारतेंदु युग के सामाजिक नाटकों का परिचय दीजिए।

निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए–

1. आधुनिक काल की समय–सीमा मानी गई है?
   (अ) 1850 से आजतक (ब) 1830 से 1850 तक (स) 1870 से 1910 तक
2. 'सत्यार्थ प्रकाश' किस भाषा में दयानंद सरस्वती ने लिखा था ?
   (अ) हिंदी (ब) गुजाराती (स) संस्कृत
3. हिंदी का प्रथम उपन्यास कौन सा माना जाता है ?
   (अ) परीक्षा–गुरु (ब)गोदान (स) त्यागपत्र
4. 'सितारे हिंद' किस लेखक का उपन्यास है ?
   (अ) राजा शिवप्रसाद (ब) हरिश्चंद्र (स) प्रेमचंद
5. 'नासिकेतोपख्यान' किसकी रचना है ?
   (अ) सदल मिश्र (ब) बनारसी दास (स) परमानंद
6. "भारतेंदु ने हिंदी साहित्य को एक नये मार्ग पर खड़ा किया।वे साहित्य के नए युग के प्रवर्तक थे" –कथन किसका है ?
   (अ) रामचंद्रशुक्ल (ब) बनारसी दास (स) महावीर प्रसाद
7. "भारतेंदु का पूर्ववर्ती काव्य संतों की कुटिया से निकलकर राजाओं और रईसों के दरबार में पहुंच गया था। उन्होंने एक तरफ तो काव्य को फिर से भक्ति की पवित्र मंदाकिनी में स्नान कराया और दूसरी तरफ उस दरबारीपन से निकालकर लोक–जीवन के आमने–सामने खड़ा कर दिया।"–कथन किसका है ?
   (अ) रामचंद्रशुक्ल (ब) हजारी प्रसाद (स) महावीर प्रसाद
8. भारतेंदु युग की समय–सीमा कहां तक जाती है?
   (अ) 1850 से 1900 (ब)1830 से 1880 तक (स)1870 से 1970 तक
9. हिंदी का पहला समाचार पत्र कौन सा है ?
   (अ) आज (ब) उदंत मार्तण्ड (स) वाणी
10. हिंदी का पहला समाचार पत्र कहां से निकला है ?
   (अ) कानपुर (ब) कलकत्ता (स) प्रयाग

11. हिंदी का पहला समाचार पत्र कब निकला है ?
(अ) 1826 (ब) 1830 (स) 1870

12. 'स्वर्ग की विचार सभा 'निबंध किसका है ?
(अ) रामचंद्रशुक्ल (ब) हरिश्चंद्र (स) महावीर प्रसाद

13. किस आलोचक ने निबंधकार प्रताप नारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट को हिंदी का 'स्टील' और 'एडीसन' कहा ?
(अ) रामचंद्रशुक्ल (ब) हरिश्चंद्र (स) महावीर प्रसाद

14. भारतेंदु हरिश्चंद्र का पहला मौलिक उपन्यास कौन सा है ?
(अ) प्रेमयोगिनी (ब) वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (स) नीलदेवी

15. भारतेंदु हरिश्चंद्र का जन्म किस वर्ष हुआ ?
(अ) 1850 ई. (ब) 1830ई (स) 1870 ई.

16. आधुनिक हिंदी साहित्य का आरंभ कौन सा माना जाता है ?
(अ) 1850 ई. (ब) 1830ई (स) 1870 ई.

17. भारतेंदु युग को पुनर्जागरण काल किसने कहा ?
(अ) रामचंद्रशुक्ल (ब) डा नगेन्द्र (स) महावीर प्रसाद

18. आधुनिक काल को गद्यकाल किसने कहा ?
(अ) रामचंद्रशुक्ल (ब) हरिश्चंद्र (स) महावीर प्रसाद

19. हिंदी का प्रथम नाटक कौन सा है ?
(अ) आनंद रघुनंदन (ब) नीलदेवी (स) सीतास्वयंबर

20. गोपाल गहमरी ने किस प्रकार के उपन्यास लिखे ?
(अ) जासूसी (ब) ग्रमीण (स) सामाजिक

21. 'रानी केतकी कहानी' के रचनाकार कौन हैं ?
(अ) इंशा अल्लाह खां (ब) यशपाल (स) प्रेमचंद

22. 'समझदार की मौत'व्यंगात्मक निबंध किसका है ?
(अ) प्रतापनारायण मिश्र (ब) भारतेंदु (स) बालमुकुंद

23. 'अमर सिंह राठौन 'किसका एतिहासिक नाटक है ?
(अ) राधाचरण गोस्वामी (ब) प्रेमघन (स) अंबिकादत्त

24. मिश्रबंधु विनोद कितने भागों में है ?

(अ) चार (ब) पांच (स) तीन

25. 'निस्सहाय हिंदू' किस प्रकार का उपन्यास है ?
(अ) जासूसी (ब)ग्रमीण (स) सामाजिक

26. 'आलोचना' का प्रारंभ किस कवि द्वारा माना जाता है?
(अ) प्रतापनारायण मिश्र (ब) भारतेंदु (स) बालमुकुंद

27. 'गंगालहरी ' के रचनाकार हैं ?
(अ) पद्माकर (ब) भारतेंदु (स) बालमुकुंद

28. 'बिहारी–बिहार के रचनाकार हैं ?
(अ) अंबिकादत्त व्यास (ब) बिहारी (स) बालमुकुंद

29. 'हिंदी नवरत्न' किसकी पुस्तक है ?
(अ) रामचंद्रशुक्ल (ब) बिहारी (स) बालमुकुंद

30. "निजभाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल"– किसकी पंक्तियां हैं
(अ) प्रतापनारायण मिश्र (ब) भारतेंदु (स) बालमुकुंद

31. "आठ मास बीते जजमान, अब तो करौ दक्षिणा दान" –किसकी पंक्तियां हैं
(अ) प्रतापनारायण मिश्र (ब) भारतेंदु (स) बालमुकुंद

32. "भीतर भीतर सब रस चूसै, हंसि हंसि के तन–मन–धन मूसै।
जहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि सज्जन!नहिं अंगरेज।।" –किसकी पंक्तियां हैं
(अ) खुसरो (ब) भारतेंदु (स) बालमुकुंद

33. 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'नाटक का कौन सा रूप है?
(अ) भाण (ब) प्रहसन (स) गीतिरूपक

34 भारतेंदु पत्रिका' के संपादक कौन थे ?
(अ) राधाचरण गोस्वामी (ब) भारतेंदु (स) बालमुकुंद

35. तिलिस्मी–ऐयारी उपन्यास लिखने में सिद्ध हस्त थे ?
(अ) देवकीनंदन खत्री (ब) भारतेंदु (स) बालमुकुंद

36. 'पावस पचासा' किसकी रचना है?
(अ) अंबिकादत्त व्यास (ब) भारतेंदु (स) बालमुकुंद

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर--

1. आधुनिक काल की समय–सीमा मानी गई है?
   (अ) 1850 से आजतक
2. 'सत्यार्थ प्रकाश'किस भाषा में दयानंद सरस्वती ने लिखा था ?
   (अ) हिंदी
3. हिंदी का प्रथम उपन्यास कौन सा माना जाता है ?
   (अ) परीक्षा–गुरु
4. 'सितारे हिंद' किस लेखक का उपन्यास है ?
   (अ) राजा शिवप्रसाद
5. 'नासिकेतोपख्यान'किसकी रचना है ?
   (अ) सदल मिश्र
6. "भारतेंदु ने हिंदी साहित्य को एक नये मार्ग पर खड़ा किया।वे साहित्य के नए युग के प्रवर्तक थे" –कथन किसका है ?
   (अ) रामचंद्रशुक्ल
7. "भारतेंदु का पूर्ववर्ती काव्य संतों की कुटिया से निकलकर राजाओं और रईसों के दरबार में पहुंच गया था। उन्होंने एक तरफ तो काव्य को फिर से भक्ति की पवित्र मंदाकिनी में स्नान कराया और दूसरी तरफ उस दरबारीपन से निकालकर लोक–जीवन के आमने–सामने खड़ा कर दिया।"–कथन किसका है ?
   (ब) हजारी प्रसाद
8. भारतेंदु युग की समय–सीमा कहां तक जाती है?
   (अ) 1850 से 1900
9. हिंदी का पहला समाचार पत्र कौन सा है ?
   (ब) उदंत मार्तण्ड
10. हिंदी का पहला समाचार पत्र कहां से निकला है ?
    (ब) कलकत्ता
11. हिंदी का पहला समाचार पत्र कब निकला है ?
    (अ) 1826
12. 'स्वर्ग की विचार सभा 'निबंध किसका है ?
    (ब) हरिश्चंद्र

13. किस आलोचक ने निबंधकार प्रताप नारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट को हिंदी का 'स्टील' और 'एडीसन' कहा ?

(अ) रामचंद्रशुक्ल

14. भारतेंदु हरिश्चंद्र का पहला मौलिक उपन्यास कौन सा है ?

(ब) वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति

15 भारतेंदु हरिश्चंद्र का जन्म किस वर्ष हुआ ?

(अ) 1850 ई.

16. आधुनिक हिंदी साहित्य का आरंभ कौन सा माना जाता है ?

(अ) 1850 ई.

17. भारतेंदु युग को पुनर्जागरण काल किसने कहा ?

(ब) डा नगेंन्द्र

18. आधुनिक काल को गद्यकाल किसने कहा ?

(अ) रामचंद्रशुक्ल

19. हिंदी का प्रथम नाटक कौन सा है ?

(अ) आनंद रधुनंदन

20. गोपाल गहमरी ने किस प्रकार के उपन्यास लिखे ?

(अ) जासूसी

21. 'रानी केतकी कहानी' के रचनाकार कौन हैं ?

(अ) इंशा अल्लाह खां

22. 'समझदार की मौत'व्यंगात्मक निबंध किसका है ?

(अ) प्रतापनारायण मिश्र

23. 'अमर सिंह राठौन 'किसका एतिहासिक नाटक है ?

(अ) राधाचरण गोस्वामी

24. मिश्रबंधु विनोद कितने भागों में है ?

(अ) चार

25. 'निस्सहाय हिंदू' किस प्रकार का उपन्यास है ?

(स) सामाजिक

26 'आलोचना' का प्रारंभ किस कवि द्वारा माना जाता है?

(ब) भारतेंदु

27. 'गंगालहरी' के रचनाकार हैं ?

(अ) पद्माकर

28. 'बिहारी–बिहार के रचनाकार हैं ?

(अ) अंबिकादत्त व्यास

29. 'हिंदी नवरत्न' किसकी पुस्तक है ?

(अ) रामचंद्रशुक्ल

30. "निजभाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल"– किसकी पंक्तियां हैं

(ब) भारतेंदु

31. "आठ मास बीते जजमान, अब तो करौ दक्षिणा दान" –किसकी पंक्तियां हैं

(अ) प्रतापनारायण मिश्र

32. "भीतर भीतर सब रस चूसै, हंसि हंसि के तन–मन–धन मूसै।
जहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि सज्जन!नहिं अंगरेज।।" –किसकी पंक्तियां हैं

(ब) भारतेंदु

33. 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'नाटक का कौन सा रूप है?

(ब) प्रहसन

34. 'भारतेंदु पत्रिका' के संपादक कौन थे ?

(अ) राधाचरण गोस्वामी

35. तिलिस्मी–ऐयारी उपन्यास लिखने में सिद्ध हस्त थे ?

(अ) देवकीनंदन खत्री

36. 'पावस पचासा' किसकी रचना है?

(अ) अंबिकादत्त व्यास

1.9 चर्चा और स्प टीकरण के बिन्दु– छात्र स्वयं निकालें

चर्चा के बिन्दु

.....

.....

.....

.....

.....

टीकाकरण के बिन्दु

.....

.....

.....

.....

.....

1.10 आगे की पढाई/सन्दर्भ ग्रंथ

1. हिंदी साहित्य का इतिहास–रामचंद्रशुक्ल
2. हिंदी साहित्य का इतिहास–संपादकः डा नगेन्द्र
3. भारतेंदु ग्रंथावली–सं. हेमंतशर्मा
4. प्रेमघन सर्वस्व प्रथम भाग –1
5. हिंदी साहित्य का इतिहास –संपादकःकमलापति त्रिपाठी
6. हिंदी साहित्यः उद्भव और विकास–हजारी प्रसाद द्विवेदी
7. हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहासःराधाक भण प्रकाशन दिल्ली

इकाई–तीन

हिंदी स्वच्छंदतावादी चेतना का अग्रिम विकास–छायावादी काव्य:प्रमुख साहित्यकार , रचनाएं और साहित्यिक विशेषताएं

इकाई संरचना

3.1 परिचय

3.2 उद्देश्य

3.3 छायावाद युग का परिचय

3.4 काव्यधारा :

(क) राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्यधारा

(ख) राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्यधारा के प्रमुख कवि–

(अ) माखनलाल चतुर्वेदी

(ब) सियारामशरण गुप्त

(स) बालकृष्णशर्मा 'नवीन'

(द) सुभद्रा कुमारी चौहान

(इ) अन्य कवि

3.5 छायावाद की सामान्य विशेषताएं

3.6 छायावादी कवि परिचय:

(क) प्रथम वर्ग के कवि– जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी'निराला', सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा

(ख) द्वितीय वर्ग के कवि–रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, मोहनलाल महतो'वियोगी', लक्ष्मीनारायण मिश्र, जनार्दन प्रसाद झा'द्विज', गोपाल सिंह नेपाली, केदारनाथ मिश्र'प्रभात', आरसीप्रसाद सिंह आदि

3.7 अन्य काव्य परिचय–

(क)प्रेम और मस्ती का काव्य

(ख)हास्य व्यंग्य काव्य

(ग) ब्रजभाषा काव्य

3.8 छायावाद का गद्य साहित्य –

(क)नाटक

(ख)एकांकी नाटक

(ग)कहानी

(घ)समालोचन

(ङ) अन्यविधाएं–आत्मकथा, रेखचित्र, जीवनी, यात्रावृत्त, सस्मरण, पत्र–लेखन, पत्र–साहित्य, अभिनंदन एवं स्मृति–ग्रंथ, ज्ञान का साहित्य, पत्र–पत्रिकाएं

3.9 इकाई सारांश / याद रखने की बातें

3.10 अपनी प्रगति की जांच

3.11 चर्चा और स्पष्टीकरण के बिन्दु

3.12 आगे की पढाई

3.1 परिचय

छायावादी काव्य न केवल अपने उद्‌भव और विकास–काल में विवाद का विषय रहा है, वरन् अपनी प्रौढ़ता में भी वह मतामत का विषय रहा और पूर्ण अर्थो मे आज भी समीक्षकों में न मतैक्य ही हैऔर न इस युग के काव्य के साथ पूर्णन्याय ही किया जा सका है। इसे आरंभ में एक ओर से एक दर्शन–विशेष की अभिव्यक्ति का काव्य कहा गया और दूसरी ओर से इसे 'चित्र–भाषाकाव्य' अथवा घुमाकर नाक पकड़ने की शैली का काव्य कहा गया। किसी ने कहा वस्तु में 'आत्मा की छाया 'देखना छायावाद है।छायावी काव्य में प्रकृति–संबंधी कविताओं के बाहुल्य और उसमें प्रतिफलित प्रकृति –परक दृष्टिकोण को देखकर कुछ विचारकों ने छायावाद को प्रकृति–काव्य भी घोषित किया। रीतिवादी आलोचकों ने इसे कविता के नामपर बकवास, नवीनता का 'फैशन', कवीन्द्र रवीनछ का जूठन और अंग्रेजी के 'रौमानी पुनरुत्थान–युग' के वर्डस्वर्थ, शेली और कीट्स आदि कवियों की अनुकृति घोषित किया। 'छायावाद' जैसी नाम से निकाली गई पत्रिकाओं और 'ठहर तू नानी' जैसी पुस्तक–कृतियों द्वारा इसकी खिल्ली उड़ाई गयी।

छायावाद को 'रहस्य और आदर्श' की कठोर परिधियों से बाहर लाकर , उसे अपने समय के आर्थिक , सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवेश में मूल्यांकित करने का प्रयास होना चाहिए। छायावादी काव्य का वास्तविक मूल्यांकन अभी अधूरा है। छायावाद अपने युग के जीवित इतिहास का एक सहज काव्यात्मक परिणाम है। छायावाद में कहां तक मूल भारतीय सांस्कृतिक चेतना प्रतिफलित हुई है और कहां तक परिवर्तित परिवेश और नवीन पर्यावरण के तत्व उसमें प्रतिबिंबित हुए हैं, और सब मिलाकर इस काव्यधारा की समष्टिगत उपलब्धि और हिंदी काव्य–धारा के लिए उसकानिजी अवदान क्या है, इन पर

सम्यक् विचार करने के पश्चात ही छायावाद की सही समीक्षा हो सकती है।

छायावादी काव्य समाज की एक बदलती हुई सांस्कृतिक चेतना का प्रतिफलन था। छायावादी कवि वस्तुनिष्ठ कवि न होकर आत्मनिष्ठ कवि थे। उन्होंने वस्तुओं की बाह्य रूप–रेखा और ऊपरी गुण को अधिक महत्व न दे कर , वस्तुओं द्वारा अपने हृदय में जगाई गई अनुभूतियों भावाओं और कल्पनाओं को ही अधिक महत्व दिया। इसी गुण के कारण इन्हे विभिन्न समीक्षकों ने 'अन्तर्वादी', 'भाविक कवि', अन्तर्मुखी', 'व्यक्तिवादी कवि', 'भव–प्रधान कवि', 'कल्पना–प्रवण कवि', 'स्वानुभूति–निरूपक कवि' आदि विशेषणों से स्मरण किया है। अतः छायावादी कविता व्यक्ति के चिर–उपेक्षित अन्तःकरण की अभिव्यक्ति का काव्य है।उसे उचित स्थान प्रदान करने की प्रेरणा भीतर–ही –भीतर उकसा रही थी, व्यक्ति–स्वच्छंदता और व्यक्तित्व–स्वतंत्रता की जो एषणाएं अन्तस्तल में उमड़ रही थीं, स्वानुभूति–निरूपण की यह काव्य–प्रवृति उसी दिशा का द्योतक और संकेतक है।

सामान्यतः छायावाद का नाम आते ही हमारे सामने प्रमुख रूप से चार रचना कार सामने आते हैं। जिन्हे हम छायावाद का स्तंभ मानते हैं। वे हैं जयशंकार प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी और प्रायः इनके भी काव्य तक हम सीमित रहते हैं। कई–कई बार तो यह भ्रम भी बना रहता है कि क्या प्रसाद जी ने काव्य और नाटक के अतिरिक्त भी कुछ लिखा है। क्या महादेवी 'नीर भरी दुख की बदरी'तक ही सीमित रही हैं या कोई गद्य लेखन भी किया है। अथवा इन कवियों के अलावा भी इस काव्य धारा में कोई कवि हैं । इस काल में पद्य के अलावा भी गद्य साहित्य का प्रचुर भंडार हैं। यह एक ऐसा काल है जहां प्रेम और मस्ती, हास्य और व्यंग्य के भी काव्य प्रचुर मात्रा में हैं। पत्र–पत्रिकाओं के साथ अन्य प्रकार का लेखन भी इस युग की अपनी विशेषता है।

छायावाद युग के आगमन के साथ, समाज की सर्वातिशायी सत्ता और सर्वशोषी आधिपत्य के विरुद्ध व्यक्ति की प्रतिष्ठा का प्रादुर्भाव हुआ।सामान्य–साधारण जन के आशा–स्वप्नों एवं अश्रु–हासों को सीधे काव्य में स्वीकृति मिली। नारी के 'मुक्ति वाधक' और विलासिनी रूप के स्थान पर छायावाद में उसे 'देवी, मां, सहचरि, प्राण! के विविध महत्वपूर्ण आयामों को प्रतिष्ठा मिली और वह समानाधिकारिणी और सहयोगी के रूप में सामन उपस्थित हुई। इस प्रकार छायावाद किसी श्शैली–विशेष अथवा प्रचलन विशेष के रूप में सांयोगिक ढंग से न आकर जीवन–जगत् के प्रति एक परिविर्तित जीवन–दृष्टि और परिवर्तित भाव–संदर्भो के साथ हिंदी–क्षितिज पर समुदित हुआ। इन विशिष्ट मूल्यों पर ध्यान न देकर छायावाद को , केबल नतूनता–प्रेम अथवा अनुकृति –मोह कहकर टालने वाले विचारकों और समीक्षकों द्वारा , स्पष्ट है कि छायावाद के साथ उचित न्याय नहीं हो सकता था।

3.2 उद्देश्य

- काल विशेष के साहित्य को विविध धाराओं में बांट कर अध्ययन करना।
- समय के साथ–साथ विकासशील साहित्य का अध्ययन करना।
- काल की सीमांकन , प्रवृतियों के विकास को समझना।
- विशेष काल के विशिष्ट रचनाकारों का अध्ययन।
- सांस्कृतिक विकास की दोनों प्रवृतियों–भौतिक एवं आध्यात्मिक का अध्ययन।
- संम्पूर्ण काल का सरल अध्ययन एवं नवीन काल और परिस्थितियों के आधार पर मूल्यांकन करना।
- छायावाद की वस्तुगत प्रवृतियों को समझना।
- छायावाद में रहस्य एवं विस्मय की भावना किस तरह है उसे समझना।
- छायावादी कवियों का मानवतावाद एवं मानववाद को समझना।
- छायावाद मे वेदना–संवेदना की विवृति किस प्रकार है समझना।
- छायावाद की श्शैलीगत प्रवृतियों की जानकारी।
- छायावादी काव्य में लक्षणा–प्रधानता, बिंबात्मकता, प्रतीकात्मकता, विशेषण–विपर्यय, नादार्थ–व्यंजकता, विरोधप्रियता, अप्रस्तुतात्मकव्यंजना, उपचार–वक्रता, प्राणीकरण आदि का अध्ययन।

3.3 छायावाद युग का परिचय

(क) सीमांकन – आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने छायावाद का आरंभ संवत्1975, (1918ई.) से माना है। सन् 1918 को ही छायावाद का आरंभ मानने का कारण इस प्रवृति की रचनाओं का इस सन् के आसपास प्रकाशन ही माना जा सकता है। निराला की 'जूही की कली'(1916) तथा पंत की 'पल्लव' की कुछ कविताओं का रचना काल 1920 ई. के आसपास का है। इन दोनो कवियों की रचनाओं को देखें तो यह मानने में कोई बुराई नही है कि जब काल का निर्धारण वर्ष के आधार पर होता है तो थोड़ा आगे –पीछे की रचनाओं का संम्मिलित होना स्वाभाविक है। इसलिये छायावाद का आरंभ सन् 1918ई. से और अंत सन्1938ई. तक माना जाता है। इस काल में पुरानी प्रवृतियों में हो रही रचनाओं में थोड़ा परिवर्तन हुआ था। सन् 1935 में छायावादी काव्य–चेतना को मूर्तिवान करने वाली प्रसाद की कृति 'कामायनी' का प्रकाशन हुआ। राजनीतिक दृष्टि से भी विचार करें तो 1936 से 1939 तक का समय आधुनिक भारतीय इतिहास में एक नये मोड़ के रूप में आया था। कारण सन्1936 में प्रांतों में कांग्रेस के मंत्रिमंडल स्थापित हुए किंतु ब्रिटिश सरकार ने भारतीय प्रतिनिधि दलों से बातचीत किये बिना भारत के विश्वयुद्ध में शामिल होने की घोषणा की तो 1339 में मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिये। यह बात अलग है कि पंत जैसे रचनाकार

'युगांत'(1936), और निराला की 'अनामिका' (1938)में अनेक ऐसी रचनाएं आ रही थी जो इस काल की प्रवृतियों का सीमोलंघन कर रहीं थी। इस कारण 1938 को छायावाद की अंतिम सीमा मानना उचित है।

(ख) नामकरण– किसी युग का नामकरण अपने आप में एक कठिन कार्य है, फिर उसे स्वीकृति प्राप्त होना और भी कठिन। सन् 1918 से 1938 एक ऐसा कालखंड है जब पत्र–पत्रिकाओं की सुविधा होने के कारण विपुल साहित्य का प्रकाशन हुआ। साथ ही सामाजिक उद्देश्य की व्यापक स्वीकृति के कारण अनेक सजग और संवेदनशील प्रतिभाओं ने रचना की। एक ओर जहां जयशंकर प्रसाद, सुमित्रांनंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' आदि कवि रचनाओं कर रहे थे, वहीं राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग ले रहे माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'आदि थे। इनमें पहले के रचनाकारों का तो पूरा जीवन ही साहित्य के लिये समर्पित था। दूसरे वर्ग के रचनाकारों का लक्ष्य मात्र रचना नहीं था बल्कि इनकी साधना जीवन को लक्ष्य बना कर चल रही थी। इस काल में एक विशेषता यह भी रही कि ब्रजभाषा के रचनाकार भी अपने काव्य निर्माण में नये जीवन और उनकी आकांक्षाओं और भावनाओं को अभिव्यक्ति दे रहे थे। इनके अतिरिक्त हरिवंशराय बच्चन, नरेंद्रशर्मा, और अंचल की अनेक रचनाएं भी संवेदना में नये युग के साथ थीं। जिनका प्रमुख स्वर प्रणय की लौकिक एवं मांसल अनुभूति ही थी। यद्यपि साहित्य रचना की दृष्टि से यह काल विपुल था किंतु परिणाम में छायावादी पद्धति की रचनाएं राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक धारा की रचनाओं की तुलना में अधिक नहीं थीं। इसलिये यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि फिर इस काल का नाम 'छायावाद'क्यों रखा। तो इसको दो प्रकार से समझना ठीक होगा। एक तो कुछ रचना की प्रवृतिगत कारण दूसरा वातावरण। पहले कारण को देखा जा रहा है। इस मान्यता के मोटे तौर पर तीन कारण हैं –पहला तो यह की कवित्व की दृष्टि से अथवा अनुभूति की तीव्रता की दृष्टि से , साथ ही सूक्ष्मता और अभिव्यजंना के उत्कर्ष की दृष्टि से यह काव्य सर्वश्रेष्ठ है। दूसरा कारण यह है कि छायावादी काव्य में भारतीय परंपरा का प्रवेश हुआ । बल्कि प्रवेश ही नही हुआ तो बल्कि उसने युग के काव्य को काफी गहराई तक प्रभावित किया। यही छायावादी काव्य आगे छायावादोत्तर काल के कवियों के लिये प्रतिस्पर्धा का कारण भी बनी। तीसरा कारण यह रहा कि छायावादी काव्य में ही अपने युग के जनजीवन की समग्रता की अभिव्यक्ति मिलती है। यह काव्य पूर्ण और सर्वांगीण जीवन के उच्चतम आदर्श को व्यक्त करने का प्रयास करता है। 'कामायनी' इस काव्य स्वीकृति का चरम है । इन्ही कारणों से यह काल छायावाद कहलाया।

(ग) परिवेश– कवि हो रचनाकार अपने परिवेश में ही जीता है। इसलिये किसी भी काव्य या साहित्यधारा को समझने के लिए उस युग का परिवशगत अध्ययन आवश्यक है। कारण युग की विषमताएं और आकांक्षाएं साहित्यकार में माध्यम से उसके काव्य में रूपायित

होती हैं। साहित्यकारों की अपनी प्रतिभा और उनके परिवेशगत संस्कार ही उसके चिंतनधारा को प्रभावित कस्ते हैं। इसीलिये कभी वह अपनी संस्कृति और परंपरा से प्रभावित दिखता है कभी विदेशी संस्कारों, विचारों से। अस्तु छायावाद को भी समझने के लिए आवश्यक है कि हम उस युग के तत्वों और मूल्यों को समझें। कहा जाता है कि मनुष्य के जीवन में परिवर्तन तीन प्रकार से होते हैं–पहला मनुष्य एक परिवर्तनशील प्राणी है। उसकी चेतना स्थिति के आधार पर अपना रूप ग्रहण करती चलती है। दूसरी स्थिति है –क्रिया की प्रतिक्रिया । काल का अध्ययन , साहित्य के पठन और सर्जना की कोई नयी लहर पैदा होती है जो वह समय के साथ अपना विकास करती है। और तब चली आ रही धारा में प्रतिक्रया होती है। और तब उसके रोध और प्रतिरोध में रचना संसार खड़ा होता है। तीसरा कारण या सांस्कृतिक विकास का तीसरा तत्व है नवीन स्थितियों का प्रभाव। यह आंतरिक अथवा भौतिक या राजनैतिक कारणों से होता है। अथवा किसी परकीय सत्ता के आने अथवा जाने के कारण होता है। छायावाद में लगभग यह तीनों तत्व दिखाई देते हैं। भारतेंदु –युग और द्विवेदी युग के अध्ययन के पश्चात एक बात तो स्पष्ट रूप से सामने आती है कि विकास की धारा नकानात्मक दृष्किोण से नही होता । आचार्य द्विवेदी के काल में प्रायः भारतेंदु काल की सभी परिस्थियां मौजूद थी किंतु उन्होंने किसी भी प्रवृति का विरोध न कर उनके बीच से जनता की परिवर्तित चेतना के आधार पर विषय चुन कर काव्य की धारा को मोड़ दिया। आधुनिक काव्य की दृष्टि से यह एक क्रातिकारी परिवर्तन था। द्विवेदी–युग में जहां हरिऔध और गुप्त कृष्ण और राम के चरित्र का सहारा लेकर राष्ट्रोद्धार का प्रयत्न कर रहे थे, वही वही प्रसाद, निराला पंत और महादेवी शैव–दर्शन, अद्वैत और भक्ति, बेदांत और अरविंद–दर्शन को लेकर बढ़ रहे थे। द्विवेदी जी जिस रीतिकालीन श्रृंगार–भावना का तीव्र निषेध कर रहे थे छायावाद –युग में वह सूक्ष्म और स्थूल दोनों रूपों में उभरकर आयी। इस प्रणयानुभूति की अभिव्यक्ति न सिर्फ छायावादी कवियों ने की, बल्कि राष्ट्रीय विचार धारा के कवियों ने किया।

यहां एक बात का विस्मरण नही किया जा सकता कि छायावाद का काल भारतीय राष्ट्रीय चेतना में अत्यधिक महत्व का काल है। सदियों से परकीय सत्ता को माथा नवाती आ रहा भारतीय जनता का नेतृत्व (सामान्य जनता नही) आत्मकेंद्रित हो कर रूढ़िग्रस्त हो चुका था। पाश्चात्य साम्राज्यवाद का भारतीय आत्मा के विरुद्ध खड़े होते नग्न तांडव को देख अंततोगत्वा भारतीय जनमानस की चेतना जाग ही उठी । अंग्रेजी शिक्षा से भारतीय मनीषी अपने परिवेश की त्रासपूर्ण विघटनमयी स्थिति के प्रति सजग हुए और उसके व्यापका सुधार की आवश्यकता की ओर उनका ध्यान गया। इस काल में एक और दुभाग्य पूर्ण वातावरण तैयार हो रहा था जिसमें सत्ता का सहार लेकर ईसाई धर्म–प्रचारक पाश्चात्य जीवन पद्यति की गरिमा और भारतीय संस्कृति की निस्सारता की बात करने लगे थे। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय सांस्कृतिक जागरण का व्यापक आंदोलन राजाराम मोहन राय के नेतृत्व

में खड़ा हुआ।स्वामी दयानंद, स्वामी रामकृष्णपरमहंस, स्वामी विवेकानंद, गोपालकृष्ण गोखले, बालगंगाधर तिलक , महात्मा गांधी, डां केशव वलीराम हेडगेवार आदि इस विराट आंदोलन के नेता सामने आये। छायावाद के अधिकांश कवि इन महानुभावों से प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित हुए।गांधी जी से प्रभावित कवियों की पूरी एक कतार खड़ी दिखाई देती है। इस काल के माध्यम से हम एक बात पर और विचार कर सकते हैं कि यह विज्ञान के विकास का काल माना जाता है। हम पाश्चात्य तकनीकी के संपर्क में आ रहे थे। और भारत को अपने और पाश्चात्य सभ्यता के बीच रूढ़ि की एक खाई दिखाई दे रही थी। यह बात सहज स्वीकार योग्य दिखती अवश्य है पर ऐसा है नही। कारण भारत उस समय अपनी ग्रामीण तकनीकी में चाहे वह कला का क्षेत्र हो या व्यापार का या उद्यौगिक लघु–कुटीरों का सबल, सक्षम और आर्थिक रूप से अत्यंत सक्षम था। हां अपनी लम्बी वैदिक परंपरा से कटते जाने के कारण जिस वैदिक (वेद–ज्ञान) को वैज्ञानिक ज्ञान बनाना था हम न बना सके।पाश्चात्य पढ़े लिखे लोगों ने इसका फायदा उठाया । और देश के वेद, संस्कृत भाषा का अध्ययन कर हमारे ही ज्ञान को प्राप्तकर हमारे प्रणेता बन गये। यहां एक बात और ध्यान देने की है कि गांधी को कहा गया कि वे यांत्रिकता के विरोधी थे, वस्तुतः ऐसा नही था । पाश्चात्य प्रभावित नेताओं ने उन्हे समझा ही नही। गांधी उस समय भी अपनी परंपरागत तकनीकी को बढ़ाने की सोच को लेकर चल रहे थे। इसी का संतुलन न होने के कारण जहां संचार–व्यवस्था, यातायात, यांत्रिकता और नयी शिक्षापद्वति की स्थापना से राष्ट्रीय जीवन एक नई आशा देख रहा था , वहीं एक अज्ञात तनाव से भयभीत भी था।

इसलिये एक ओर तो इस युग के काव्य में द्विवेदीयुगीन नैतिकता और स्थूलता की प्रतिक्रिया दिखई देती है और दूसरी ओर विदेशी दासता के प्रति विद्रोह का स्वर सुनायी देता है। इसे हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि जहां राष्ट्रीय–सांस्कृति–धारा के कवियों ने विदेशी शासन का विरोध किया और जनता में आत्मविश्वास की भावना उत्पन्न की। वहीं इसके लिये साहित्य में नये विषय, नये छंद, भाषा आदि की खोज की और नये मूल्यों की स्थापना की। उस समय का सामजिक –राजनीतिक वातावरण इस प्रकार था कि रचनाकार एक साथ उत्साह और कुंठा दोनों के घेरे में दिखाई देते हैं। 'नवीन'जैसे कवि भी कुठित होते दिखते हैं। किंतु छायावादी कवियों का क्षेत्र व्यापक था।पुनर्जागरण से प्रभावित थे इसलिये वे पलायन, मादकता या निराशा से बाहर भी होने का सामर्थ्य रखते थे। उनके काव्य में मूल्यों की अभिव्यक्ति, व्यापक मानवीय संवेदना, जीवन का, व्यक्ति का जाति का स्वाभिमान अतर्निहित था।

वातावरण की दृष्टि से संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस युग के कवियों ने द्विवेदी युगीन इतिवृत्तिात्मकता के विरुद्ध अतीत भारत के प्राणवान मूल्यों की प्रतिष्ठा की,

तत्कालीन रूढ़ियों और इसाई –धर्मप्रचारकों के आक्षेपों के विरोध में खड़े होकर भारतीय संस्कृति के प्राणवान मूल्यों की प्रतिष्ठा की, आर्थिक–राजनीतिक दासता के विरुद्ध युग का स्वर उच्च किया।

3.4 काव्यधारा

(क) राष्ट्रीय–सांस्कृतिक काव्यधारा– भारतीय इतिहास में यह एक ऐसा कालखंड था जिसमें नेतृत्व करने वालों में अगर सजग और स्वाभिमानी एतिहासिक तथा भविष्य की दूरदृष्टि होती आज देश की तकदीर और तदवीर बदली हुई होती। हजार सालों की भूल को दफनाया जा सकता था। परकीय विधर्मी सत्ता ने जिस भारतीय जनता को धर्म, आंतक , तलवार के आधार पर बदला था और उसके पूर्वजों को ही पीढ़ी दर पीढ़ी उनके मस्तिष्क से हटाने का अनवरत प्रयत्न किया था उसे पुनःस्मरण दिलाया जा सकता था। इस्लामिक दासता और अंग्रेजी गुलामी ने हमें तात्कालीन मुक्ति का मार्ग दिखाया और हम आजादी का स्वप्न तो देखना प्रारंभ कर भी दिये किंतु वर्षो से विधर्मी होकर सांस्कृतिक मूल्यों से कट रहे बंधु–बांधवों को स्वधर्म, पूर्वजों की सांस्कृतिक विरासत से कटने का स्मरण नही दिला सा सके। वस्तुतः यहां दो प्रकार की लड़ाई चलनी थी। एक सत्ता केंद्रित–स्वतंत्रता की तो दूसरी सांस्कृतिक दासता से मुक्ति और जातीय पहचान की। किंतु दुर्भाग्य से हमने स्वतंत्रता को मुख्य लक्ष्य बनाया और स्वाभिमान, राष्ट्रीय और जातीय अस्मिता को गौड़ बना दिया। साहित्य ने भी जो गये सो गये अब जो हैं उन्हे ही सजग–जाग्रत करने में लगा रहा। ऐतिहासिक तर्क–वितर्क यहां पर हो सकते हैं किंतु सच्चाई का एक हिस्सा यह है, इसे नकारा नही जा सकता।

स्वाधीनता संग्राम और गाधी जी के नेतृत्व ने हमारे रचनाकारों को प्रभावित किया। माखनलाल चुतर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, बालकृष्ण शर्मा आदि साहित्य के माध्यम से स्वतंत्रता का बिगुल तो फूक ही रहे थे अपने काव्य से भी हुंकार भर आह्वान कर रहे थे। माखनलाल जी की 'कैदी और कोकिला' एक ऐसी ही कविता है–

क्या? देख न सकती जंजीरों का गहना?
हथकड़ियां क्यों? यह ब्रिटिश राज्य का गहना,
कोल्हू का चर्र क चूं ? जीवन की तान,
गिट्टी पर लिक्खे अंगुलियों ने गान?
हूं मोट खींचता लगा पेट पर जुआ,
खाली करता हूं ब्रिटिश अकड़ का कूआं।

उक्त पंक्तियों में ब्रिटिस साम्राज्यवाद के विरोधी किसी भी ऐसे व्यक्ति की आवाज

सुनी जा सकती है, जिसे आजादी के लिए संघर्ष करने की जुर्म में कैद किया गया हो। स्वाधीनता–संग्राम के प्रेरक तत्व भारतीय थें । तभी तो 'सत्य' और 'अहिंसा' रूपी हमारे हथियार उन धूर्त अंग्रेज़ों से लड़ने के लिये थे, जिनका लक्ष्य धूर्तता से अपनी राज्यसत्ता कायम करना था। 'नवीन' जी की ये पंक्त्यिा देखें, यथा–

ओ भिखमंगे, अरे पराजित, ओ मजलूम, अरे चिरदोहित,
तू अखंड भंडार शक्ति का, जाग अरे निद्रा–सम्मोहित!
प्राणों को तड़पाने वाली हुंकारों से जल–थल भर दे,
अंगारों के अंबारों में अपना ज्वलित पलीता धर दे।

उस युग में जनता में आत्मविश्वास का संचार करने का जो दूसरा उपाय हमारे लोगों ने ढूढां वह था भारतीय जीवन–दर्शन, जीवन मूल्यों के प्रति श्रद्धा पैदा करना । नित्य–नूनत चिरपुरातन संस्कृति के अखंड प्रवाह को समयानुकूल ढालकर उसे जनता के सामने जिन महानुभावों ने रखने का प्रयत्न किया उनमें धर्मसमाज, आर्यसमाज, प्रार्थना समाज के संस्थापक गण थे। कहा जा सकता है कि छायावाद में यह प्रयास छायावादी कवियों का पथ–प्रशस्त कर रहा था। तत्कालीन कवियों ने अपने काव्य का विषय भी राम, कृष्ण, भीम , अर्जुन, हरिश्चंद्र आदि पुरातन युगपुरुषों को बनाया। सियारामशरण गुप्त की 'बापू' कविता देखें, यथा–

प्राप्त इसे दूर के अतल से
सत्य हिरश्चन्द्र की अटलता,
लब्ध इसे तारग्रह मंडल से
श्री प्रह्लाद कीअनंत भक्ति–समुज्ज्वलता,
क्रुद्ध कुरुक्षेत्र के समर में
साधा है अकाम ज्ञान कर्मयोग इसने
पुण्यरत पांचजन्य स्वर में
जीवन का पाया है अमर योग इसने।

निराला का देखें 'दिल्ली' कविता में किस प्रकार अपने गौरव मय अतीत से वर्तमान को संदेश दे रहे हैं, यथा–

क्या यह वही **देश है–**
भीमार्जुन आदि का कीर्तिक्षेत्र
चिरकुमार भीष्म की पताका ब्रह्मचर्य–दीप्त

उड़ती है आज भी जहां के वायुमण्डल में
उज्जवल अधीर और चिरनवीन?–
श्रीमुख से कृष्ण के सुना था जहां भारत ने
गीता गीत–सिंहनाद–
मर्मवाणी जीवन–संग्रम की–
सार्थक समन्वय ज्ञान–कर्म–भक्ति–योग का?
निराला की मातृभूमि महिमा की पंक्तियां, यथा–
भारति, जय विजय करे,
कनक, शस्य कमल धरे।
लंका पदतल शतदल
गर्जितोर्मि सागर जल
धोता शुचि चरण–धवल
स्तव कर बहु–अर्थ भरे।

वस्तुत: यह अतीत को वर्तमान से जोड़ने उसमें आत्मविश्वास भरने का प्रयत्न था। जनता ही जनार्दन है, यह धारणा पुष्ट होती है रामनरेश त्रिपाठी की इस कविता से, यथा–

मेरे लिए खड़ था दुखियों के द्वार पर तू
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में।
बन कर किसी के आंसू मेरे लिए बहा तू
मैं देखत तुझे था माशूक के बदन में।

रामनरेश की राष्ट्रीय मूल्यों की यह कविता हमें क्या वर्तमान के साथ रामयुग से नही जोड़ती। 'न में रोच्यते ...लक्ष्मण'। यथा–

करेंगे क्या ले कर अपवर्ग , हमारा भारत ही सुख–स्वर्ग।
नहीं है किसी लक्ष्य पर ध्यान, चाहिए केवल स्वत्व समान।।
इसे तज कर क्या तरु निर्मूल, करेंगे लेकर किंशुक फूल।
प्रकृत पुरुषों का जीवन–मूल, चाहिए केवल घर का रूल।।

स्वाधीनता आंदोलन के इस युग में साहित्यकार भी दो महत्वपूर्ण मूल्यों– असहयोग और आत्मबलिदान को लेकर रचना करता दिखाई देता है। सुभद्राकुमारी चौहान की पंक्तियां देखें, यथा–

विजयनी मां के वीर सुपुत्र, पाप से असहयोग ले टान।

गुंजा डालें स्वराज्य की तान, और सब हो जावें बलिदान।।

बालकृष्णशर्मा 'नवीन' का आह्वान देखें–यथा

है बलिबेदी, सखे प्रज्वलित मांग रही ईधन क्षण–क्षण,

आओ युवक , लगा दो तो तुम अपने यौवन का ईंधन।

अंत में काव्य मूल्यों की दृष्टि से राष्ट्रीय–सांस्कृतिक काव्य को स्पष्टतः दो वर्गों में रखा जा सकता है, पहली वे रचनाएं जो अपने युग–धर्म को सार्थक करती हैं। दूसरी युग के साथ युग निरपेक्ष हैं। जिनमें केवल तात्कालिक सामाजिक–राजनीतिक उद्देश्य ही अभिव्यक्त नहीं हुए , अपितु इनमें मानव–जीवन को शक्ति प्रदान करने वाल साम्य, साधना, न्याय, स्वाधीनता आदि सामान्य मूल्यों की भी प्रतिष्ठा हुई है।

(ख) राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्यधारा के प्रमुख कवि–

(अ) माखनलाल चतुर्वेदी– माखनलाल चतुर्वेदी (1889–1968) का जन्म मध्यप्रदेश के बाबई, होसंगावाद वैष्णव संस्कार से दीक्षित परिवार में हुआ। पिता जी गांव के स्कुल में अध्यापक थें, इसलिए चतुर्वेदी जी की शिक्षा गांव में हुई।प्रतिभाशाली विद्यार्थी और पढ़ने के शौक ने इन्हे उस काल की परिस्थितियों से जोड़ा। स्वामी रामतीर्थ और माधवराव सप्रे का इनके जीवन पर विशष प्रभाव रहा। शिक्षक से इन्होंने अपना कैरियर पत्रकारिता के क्षेत्र में बदला। ये 'प्रभा' 'प्रताप' तथा 'कर्मवीर' के संपादक रहे। साहित्य और उस काल के राष्ट्रीय आन्दोलन में जुड़े होने से इनको 'एक भारतीय आत्मा' उपनाम से जाना जाने लगा। राजनीतिक सक्रियता के कारण कईबार जले की यात्रा की। 'हिमकिरीटिनी'और 'हिमतरंगिनी' इनकी छायावाद की प्रमुख रचनाएं हैं। भारतमाता की स्वतंत्रता के इस पुजारी की मान्यता थी कि देश के कल्याण के लिए व्यक्तिगत सुख और अभिलाषाओं की तिलांजलि देनी ही होगी। अपनी रचनाओं के माध्यम से देशवासियों को यही पाठ पढ़ाया। वैष्णवी संस्कार के कारण इनकी प्रारंभिक रचनाओं में आध्यात्मिक अनुभूति दिखाई देती है। किंतु रचनाओं में प्रधान स्वर राष्ट्रप्रेम ही है।

(ब) सियारामशरण गुप्त– (1895–1963) ये मैथिलीशरण जी गुप्त के छोटे भाई थे। इनका जन्म उत्तरप्रदेश के जिला झांसी के चिरगांव नामक ग्राम में हुआ था। इनका स्वभाव अत्यंत सरल था। रोग और पारिवारिक दुख ने इन्हे सदा घेरे रखा।पहली बार इनकी रचना 'इंदु' पत्रिका में और फिर बाद में 'सरस्वती' में कई रचनाएं छपीं।

इनकी प्रमुखकाव्य–कृतियोंमें'मौर्य–विजय', 'अनाथ', 'दूर्वादल', 'विषाद', 'आर्द्रा', 'पाथेय', 'बापू'

'मृण्मयी', 'दैनिकी' आदि हैं। द्विवेदी युगीन रचनाशैली से प्रभावित सियाराम जी गांधी जी से अत्यधिक प्रभावित थे। इनकी रचनाओं में जहां एक ओर अहिंसा, सत्य, करुणा

, विश्ववंधुता, शांति आदि के भाव मिलते हैं, वहीं भारतीय आख्यानों के माध्याम से आध्यात्मिक तथा जीवन मूल्यों को निखारा है। इनकी भाषा–शैली सरल और स्पष्ट तथा शिल्प छायावादी है। इनके काव्य में मुक्त छंद का प्रयोग मिलता है

(स) बालकृष्णशर्मा 'नवीन': (1897–1960) – ग्वालियर राज्य के भयाना गांव में जन्मे 'नवीन' जी की शिक्षा मुख्य रूप से कानपुर में गणेश शंकर विद्यार्थी के सानिध्य में हुई। स्वतंत्राता संग्राम के वैचारिक परिवेश में जुड़े 'नीवन' जी जल्दी ही पढ़ाई से तौवा कर राजनीतिक आन्दोलनों में कुद पड़े तथा कई बार जेल यात्रा की। 'प्रभा' और 'प्रताप' के कुछ काल तक संपादक रहै। 1918 ई से ही इनकी रचनाएं पत्रिकाओं में छपने लगीं थी। 'कुमकुम' (1939) इनका पहला काव्य संग्रह था। इनका 'ऊर्मिला' काव्य सन् 1934 में पूरकर लिया था किंतु इसका प्रकाशन 1975 में हुआ। इसमें कवि ने उर्मिला के चरित्र के माध्यम से भारत की प्राचीनतम सांस्कृति का परिचय दिया है जहां स्थान–स्थान पर भारतीय संस्कृति और अंग्रेजी साम्राज्यवाद की तुलना और अंतर भी दिखाते गये हैं। 'अपलक', 'रश्मिरेखा', 'क्वासि', 'हम विषपायी जनम के' आदि इनकी प्रमुख कृतियां हैं। 'नवीन' जी की रचनाएं छायावादी प्रणय से प्रभावित हैं, जिसमें प्रेम, परवर्ती प्रेम और मस्ती भी है। इनकी राष्ट्रीय कविताओं में अनुभूतियों का सीधा संबंध इनकी जीवन के साथ है। राष्ट्रीय–सांस्कृतिक धारा के अन्य कवियों के समान ही इन्होंने अपने काव्य का प्रधान विषय– अतीत के गौरवगान, तत्कालीन भातीय समाज की दयनीय, स्वाभिमान रहित व्यवस्था, भविष्य के प्रति उज्ज्वल कामना बनाया। इनकी प्रमुख रचना 'हम अनिकेतन' पाठकों को बहुत भायी।

(द) सुभद्रा कुमारी चौहान– (1905–1948) प्रयाग जिले के निहालपुर गांव में जन्मी सुभद्राकुमारी चौहान की शिक्षा प्रयाग में ही हुई । गांधी के असहयोग आंदोलन के आह्वान में वे अपनी पढ़ाई बीच में ही छोड़कर आंन्दोलन में कूद पड़ी। विद्यार्थी जीवन से ही वे काव्य रचने लगीं थी। इनकी कविताओं को दो रूपों में देखा जा सकता है। प्रथम वे कविताएं जो राष्ट्रीय आंन्दोलन से जुड़ी है तथा दूसरी जो उनकी पारिवारिक –सामाजिक परिवेश को उजागर करती हैं। बच्चों का प्रेम पति का व्यवहार उनमें परिलक्षित होता है। भाषा–शैली भावों के अनुरूप सरलता और प्रवाह लिये है।

(इ) अन्य कवि– छायावाद के राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्यधारा के विकास में तत्कालीन जिन कवियों का उल्लेखनीय योगदान माना जा सकता है , उनमें रामनरेश त्रिपाठी (1889–1960) , जिनकी प्रमुख कृतियां 'मानसी'1927, जो देशभक्ति परक काव्य है के अलावा 'पथिक', और 'स्वप्न' खंण्डकाव्यों में काल्पनिक कथाओं के माध्यम से देश के उद्धार और आत्मोसर्ग की भावना लोगों को प्रेरित करती हैं। उदयशंकर भट्ट (1896–1966) का आख्यान काव्य 'तक्षशिला'। जगन्नाथ प्रसाद मिलिंदः (1907–1986) की रचना 'जीवन

संगीत'। दिनकर–कृत 'रेणुका' इसी प्रकृति की रचनाएं हैं।

3.5 छायावाद की सामान्य विशेषताएं

'छायावाद' आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे सीमित अर्थ में एक शैली विशेषमाना, जिसमें लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, प्रतीक–विधान , विरोध–चमत्कार, विशेषण–विपर्यय, मानवीकरण, अन्योक्ति–विधान आदि पर बल रहता है। 'छायावाद' के व्यापक अर्थ में उन्होंने रहस्यवाद को भी समाविष्ट किया हैं । इधर प्रसाद जी ने छायावाद में स्वानुभूति की विवृति पर बल दिया । लेकिन आज छायावाद और रहस्यवाद दो सवतंत्र बाद माने जाते ह।। 'छायावाद' में श्शैलीगत विशेषताओं के साथ–साथ प्रेम, सौंदर्य आदि भावनाओं को भी स्वीकार किया जाता है, जबकि अव्यक्त निराकार प्रिय के प्रति प्रणय–निवेदन को रह स्यवाद की मूल विशेषता माना जाता है। यद्यपि प्रसाद ने रहस्यवाद को अध्यात्मवाद और विशेषतः श्शैव दर्शन के साथ संबद्ध करने का प्रयास किया, किंतु उनकी वह व्याख्या सर्वमान्य न हो सकीं जहां तक भाषा–शैली का प्रश्न है, छायावाद और रहस्यवाद में समानता पायी जाती है। किंतु , विषयवस्तु की दृष्टि से दोनों में स्पष्ट अंतर है। रहस्यवादी भावना का आलंबन जहां अमूर्त निराकार ब्रह्म है जो सर्वव्यापका है, वहां छायावाद का विषय लौकिक ही होता हैं।

इसीलिये आज भी छायावाद शब्द को ले कर आलोचना जगत में एक विवाद बना हुआ हैं । उसका एक कारण 'छायावाद' के अंर्तगत किस तरह की रचनाओं को रखा जाय। जब हम यर्थाथवाद, आदर्शवाद, प्रगतिवाद की बात करते है तो उसके अंतर्गत स्वीकृति रचनाओं की प्रकृति स्वरूप के आधार पर उसे आसानी से समझा जा सकता है किंतु छायावाद के साथ ऐसा नही है। इसलिये छायावाद को काव्य की प्रवृतियों के आधार पर ही समझा जा सकता है। जैसा कि डॉ नगेंद्र कहते हैं 'इसलिए 'छायावाद' के अर्थ को समझने के लिए हमें उन प्रवृतियों को जानने का प्रयत्न करना होगा, जो छायावादी काव्य में पयी जाती हैं। जहां यथार्थ वाद, प्रगतिवाद आदि काव्यधाराओं के विवेचन में यथार्थ, प्रगति आदि के अर्थ से सहायता ली जाती है, वहीं छायावाद के अर्थ को समझने के लिए विपरीत दिशा में चलना होगा नामवाचक शब्द के अर्थ से काव्यगत विशेषताओं की ओर जाने के स्थान पर काव्य की विशेषताओं से नामवाचक शब्द के अर्थ निर्धारण का प्रयास करना होगा। लेकिन 'छायावाद' के जो अर्थ आरंभ में निर्धारित किये गये, उनमें 'छाया' शब्द के अर्थ कौ समझाने की ही कोशिश की गयी। अदाहरणार्थ, आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसका संबंध अंग्रेजी के शब्द 'फैंटेमैस्टा' से जोड़ने का प्रयास किया, तो प्रसाद जी ने इसे 'विच्छति' या 'मोती की–सी तरलता' से संबद्ध किया। लेकिन आज इन मान्यताओं का केवल ऐतिहासिक महतव है''।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'छायावाद'के विवेचन के प्रसंग में स्वच्छंदतावादी प्रवृति का भी उल्लेख किया है।उन्होंने श्रीधर पाठक को आधुनिक काव्रूधारा में 'सच्चे स्वच्छंदतावाद

के प्रवर्तक' के रूप में स्वीकार किया है,''हरिश्चंद्र के सहयोंगियों में काव्यधारा को नये–नये विषयों की ओर मोड़ने की प्रवृति तो दिखायी पड़ी , पर भाषा ब्रज ही रहने दी गयी और पद्य के ढांचों, अभिव्यंजना के ढंग तथा प्रकृति के स्वरूप–निरीक्षण आदि में स्वच्छंदता के दर्शन न हुए। इस प्रकार की स्वच्छंदता का आभ्यास पहले–पहल पं.श्रभ्धर पाठक ने ही दिया। उन्होंने प्रकृति के रूढ़िबद्ध रूपों तक ही न रहकर अपनी आंखों से भी उसके रूपों को देखा––'स्वर्गीय वीणा' में उन्होंने उस परोक्ष दिव्य संगीत की ओर रहस्यपूर्ण संकेत किया, जिसके ताल–सुर पर यह सारा विश्व नाच रहा है।इन सब बातों का विचार करने पर पं. श्रीधर पाठक ही सच्चे स्वच्छंदतावाद (रोमेंटिसिज्म) के प्रवर्तक ठहरते हैं। खेद है कि सच्ची और स्वाभाविक स्वच्छंदता का यह मार्ग हमारे काव्यक्षेत्र के बीच चल न पाया।'' शुक्ल जी ने उसका कारण यह माना है कि 'गीतांजलि' की धूम मच जाने के कारण हिंदी के परवर्ती कवि चित्रात्मक भाषा और प्रतीकवाद की ओर आसक्त हुए। लेकिन यह स्प्ष्ट है कि एक अटूट धारा के रूप में स्वच्छंदतावाद का आरंभ श्रीधर पाठक से नहीं हुआ। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि शुक्ल जी ने स्वछंदतावाद का उल्लेख करते हुए'पद्य के ढ़ाचों, अभिव्यंजना के ढ़ंग, प्रकृति के स्वरूप–निरीक्षण'आदि की बात की है।ये विशेषताएं परवर्ती छायावादी काव्य में सामने आयीं। वैसे छायावादी काव्य का एक प्रधान लक्षण है–स्वानुभूति की प्रत्यक्ष विवृति, जो व्यक्तिगत प्रणय से ले कर करूणा और आनंद तक फैली हुई है।

छायावाद और स्वच्छंदतावाद– छायावाद और स्वछंदतावाद (रोमांटिसिज़्म) की समानता पर ध्यान दें तो दोनों में प्रथम दृष्टया समानता दिखती है, किंतु इन दोनों में काफी अंतर है। इसका कारण इनकी मूल प्रवृति है। काल का भी इसमें प्रभाव देखा जा सकता है। अंग्रेजी के स्वच्छंदतावादी काव्य से पहले काव्य पर कई शताब्दियों तक कठोर अनुशासन रहा था। अंधकार युग में यह प्रतिवंध धार्मिक और नैतिक था। किंतु नव्यशास्त्रवादी युग में काव्यशास्त्रीय। अंग्रेजी के स्वछंदतावादी कवियों ने इन सब बंधनों का आग्रहपूर्वक तिरस्कार किया। किंतु हिंदुस्थान में छायावादी काव्य से पूर्व द्विवेदी –युग में नैतिक दृष्टि की प्रधानता दिखाई देती है, जिसका छायावाद काव्य में विरोध दिखाई देता है। किंतु इस विरोधात्मक प्रवृति को कोई क्रांतिकारी प्रवृति नही मानेगा। छायावादी काव्य स्वच्छंदतावादी कम पुनुरुत्थानवादी अधिक है। रीतिकालीन श्रृंगार का प्रभाव छायावादी काव्य पर है। जहां नीति, नैतिकता के साथ श्रृंगार है और भक्ति का सहारा है।काव्यशास्त्रीय मूल्यों की दृष्टि से भी छायावाद प्राचीन सिद्धांतों, विशेषकर रस–सिद्धांत के अनुरूप है साथ ही दार्शनिक सिद्धांत भी छायावादी काव्य में सर्ववाद, कर्मवाद , शैव–दर्शन, अद्धैतवाद, भक्ति आदि पुराने सिद्धांतों के साथ दिखाई देता है।

छायावादी काव्य में एक प्रमुख घटक भाषा भी है। द्विवेदी–युगीन खड़ीबोली छायावाद तक आते–आते अपना रूप काफी संवार चुकी थी। जहां घनानंद की ब्रजभाषा वक्रता और सूक्ष्मता के विकास में पूर्ण दिखाई देती है वही खड़ी बोली उस वक्रता को अभी

पकड़ रही थी। छायावादी काव्य अभिव्यजंना –पद्धति नवीनता और ताजगी लिए हुए है। द्विवेदी युगीन खड़ीबोली और छायावादी काव्य की खड़ीबोली में अंतर है। हम जानते है कि भाषा का विकास समग्र काव्य चेतना विकास का ही अंतरंग तत्व होता है। द्विवेदीयुगीन काव्य बहिमुर्खी था, इसलिए उसकी भाषा में स्थूलता और वर्णनात्मकता अधिक थी। इसके उल्टे छायावादी काव्य में जीवन की सूक्ष्म निभृत स्थितियों को आकार प्राप्त हुआ, इसलिए उसकी शैली में उपचारवक्रता मिलती है, जो मानवीकरण आदि अनेक विशोषताओं के रूप में दिखायी देती है। छायावाद में ब्रजभाष और खड़ीबोली में एक प्रतिस्पर्धा दिखाई देती है और उसका परिणाम यह हुआ कि छायावादी कवियों ने खड़ीबोली को अधिक सूक्ष्म, चित्रात्मक और वक्र बनाया। इस काल के काव्य में अभिव्यजंना को महादेवी वर्मा के इन पंक्तियों में देखा जा सकता है–

झर चुके तारक–कुसुम जब
रश्मियों के रजत–पल्लव,
संधि में आलोक–तम की
क्या नहीं नभ जानता तब,
पार से, अज्ञात वासंती
दिवस–रथ चल चुका है।

काव्य के अर्थ की दृष्टि से तीन पक्षों को छिपाएं इन पंक्तियों का निर्वाह एक साथ देख सकते है। एक अप्रस्तुत हैं प्रातःकाल का दूसरा पतझर की समाप्ति की बेला का , तीसरा आलोक और तम की संधि का प्रयोग मृत्यु के लिए हुआ है और नभ का चेतना के लिए।

ऐतिहासिक संदर्भ के आधार पर यदि 'छायावाद' को समझने का प्रयत्न किया जाय तो द्विवेदीयुगीन काव्य विषयनिष्ठ, वर्णनप्रधान और स्थूल था। इसके विपरीत छायावादी काव्य व्यक्तिनिष्ठ और कल्पनाधारित है। निराला हो या प्रसाद इनमें कहीं न कहीं व्यक्तिगत अनुभूति दिखाई देती है। साथ ही छायावादी अभिव्यंजना विशिष्ट और सांकेतिक हो गयी है। छायावादी कवियों ने मुख्यतः प्रणय और उसकी अनुभूति को अपने अभिव्यक्ति का साधन बनाया। जहां हम आशा, आकुलता, आवेग, लीनता, नैराश्य, दुःख, अतृप्ति, स्मरण, विषाद आदि का–अभिनव एवं मार्मिक चित्रण प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। यहां पाठक और रचनाकार का मिलन विंदु अनुभूति की एकात्मता है। इसीलिए छायावादी कवि अपने काव्यों के माध्यम से अनुभूति के स्तर पर मानव–मात्र की एकता की स्थापना करने में समर्थ हुआ है। यहां एक और विशेषता है कि छायावादी काव्य में प्रसाद ने 'संकल्पात्मक अनुभूति' की व्याख्या करते हुए 'मूल चारुत्व' की बात की है तो महादेवी भी सत्य को काव्य का साध्य मानती हैं और

सौंदर्य को उसका साधन। प्रसाद के 'आंसू' और 'कामायनी' में नायिका सौंदर्य या पंत के 'भावी पत्नी के प्रति' में नायिका सौंदर्य परोक्ष तथा सांकेतिक रूप में भी लक्षित होता है, यही भाव निराला की जुही की कली में दिखाई देता है। इनके अतिरिक्त 'वीती विभावरी जाग री', 'संध्या–सुंदरी', पंत की 'नौका–विहार' आदि इसी तरह की कविताएं हैं।

छायावादी कविता अपने आरंभिक काल में चाहे जितनी व्यक्तिनिष्ठ, अनुभूतिप्राण और सौंदर्यमयी रही हो किंतु बाद में जैसे जैसे कवियों की दृष्टि जीवन के अन्य प्रसंगों की ओर गयी तो उनकी कविताओं का दायरा सामाजिक यर्थाथ को ग्रहण करने लगा। प्रसाद की 'पलय की छाया', निराला की 'राम की शक्तिपूजा', और पंत की 'परिवर्तन' श्शीर्षक कविताएं जीवन के मूर्तस्थूल आख्यानों और प्रसंगो को या प्रकृति की वरिवर्तनशीलता के तथ्य को चित्रित करती हुई भी तीव्र अनुभूति की अविच्छिन्ना धरा के कारण तथा सौंदर्यमय सांकेतिक बिंब –विधान के कारण सहज ही छायावादी काव्य की मूल भवमलूक बाह्य और स्थूल पक्ष के चित्रण में नयी स्फूति और आवेग का संचार किया। छायावादी कवि अनुभूति के क्षेत्र में मन के स्तर पर ही नही टिकते बल्कि वे आत्मा के लोक में संचरण करते हैं। छायावादी काव्य व्यक्ति और प्रकृति के बीच संबंध बनाता है फिर इसे बढ़ाते हुए अध्यात्मिक चेतना तक पहुचता है। छायावाद काव्य भारतीय संस्कृति को उज़ागर करता है। वह इतिहास के अख्यानों से विषय को उठाता है और उसे लोक के साथ जोड़ता है। उसका अध्यात्म व्यक्तिनिष्ठ नही है बल्कि वह लोककल्याण का आधार बनता है । इसीलिये छायावाद में निराशा के स्थान पर आशा, आत्मविश्वास और कर्मवाद मिलता है। आंसू, कामायनी, तुलसीदास, रामकी शक्तिपूजा, परिवर्तन आदि कविताएं छायावाद के आधार हैं

3.6 छायावादी कवि परिचय

(क) प्रथम वर्ग के कवि– जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी'निराला', सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा

(अ) जयशंकर प्रसाद–छायावाद को अध्यात्मिक, ऐतिहासिक भूमि प्रदान करते हुए मानवता का गीत गाने वाले प्रसाद (1890–1937) का जन्म काशी के एक संपन्न परिवार में हुआ । परिवार 'सुघनीसाहू' के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त था। आठवी तक स्कूली शिक्षा के बाद शेष संस्कृत, हिंदी, उर्दू और अंग्रेजी की पढ़ाई घर में ही की। ब्रजभाषा से अपनी काव्य–यात्रा प्रारंभ कर खड़ीबोली की श्रेष्ठ रचना की। छायावादी आधुनिक रचनाकार होते हुए भी प्रसाद जी प्राचीन भारतीय गौरव परंपरा को अपने काव्य का आधार बनाया। उनके साहित्य का संसार बहुत बड़ा है। काव्य से लेकर नाटक और निवंध तथा कहानी की यात्रा बड़े ही यशश्वीतापूर्वक पूर्ण की। समालोचना के सिद्धांतो को भी उन्होंने प्रतिपादित किया। प्रसाद जी के प्रमुख काव्य रचनाएं – 'उर्वशी' (1909), ' वनमिलन'(1909), 'प्रेमराज्य'(1909),

'अयोध्या का उद्धार' (1910), 'शोकोच्छ्वास' (1910), 'वभ्रुवाहन' (1911), 'काननकुसुम' (1913), 'प्रेम पथिक' (1913), 'करुणालय' (1913), 'महाराणा का महत्व' (1914), 'झरना' (1918), 'आंसू' (1925), 'लहर' (1933), और 'कामायनी' (1935), ।'प्रेमपथिक' पहले ब्रज भाषा की प्रसाद जी की रचना थी बाद में उसे खड़ीबोली में लिखा। इसमें एक बात विचार की जा सकती हैं कि प्रसाद के काव्य में छायावाद तो था ही परंतु कुछ पूर्ववर्ती रचनाओं में द्विवेदी जी का भी प्रभाव दिखाई देता है। खासतौर पर प्रेम–पथिक, कानन कुसुम, झरना तथा आंसू के कुछ पदों में यह प्रभाव दिखता है। प्रसाद जी की रचना शैली में अयोध्या सिंह उपाध्याय की सांस्कृतिक शैली से प्रभावित दिखती है। झरना इनकी पहली रचना है जिसमें अंतर्मुखी कल्पना द्वारा सूक्ष्म भावनाओं को व्यक्त करने का प्रयास किया है। इनकी रचनाओं में सूक्ष्म और मानसिक पक्ष को बाह्य सौंदर्य के चित्रण में व्यक्त किया गया है। प्रसाद के कुछ छंदों को उदाहरण के रूप में देखे तो एक बात स्पष्ट होती है कि प्रसाद की आरंभिक कविताओं में जहां व्यक्तिगत वेदना है वहीं समय के साथ आगे की कविताओं में समष्टिगत हो जाती है, यथा–

"इस करुणा कलित हृदय में
अब विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती ?

आगे देखे कैसे मन परिवर्तित होता है और वह व्यक्तिगत जीवन से विश्व–सदन तक जाता है–

सबका निचोड़ ले कर तुम
सुख से सूखे जीवन में
बरसो प्रभात हिमकन–सा
आंसू इस विश्व–सदन में।।

आचार्य रामचंद्रशुक्ल जी कहते हैं– "कहने का तात्पर्य यह है कि वेदना की कोई एक निर्दिष्ट भूमि न होने से सारी पुस्तक का कोई एक समन्वित प्रभाव नहीं निष्पन्न होता।" शुक्ल जी की आंसू पर यह टिप्पणी कई बातों को उजागर करती है और उनमें से प्रमुख बात यह है कि रचनाकार कोई भी रचना एक ही मनोभूमि पर नही करता। आंसू जैसी रचना कोई एक बैठक में लिखी रचना नही हो सकती । मनुष्य प्रतिपल नये नये अनुभव से गुजरता है और उसका प्रभाव रचना पर पड़ता है। फिर दूसरा कारण यह भी है कि आंसू स्मृति काव्य है। तीसरी बात यह है कि इससे स्पष्ट होता है कि छायावादी काव्य खासकर प्रसाद जी निराशावादी कवि नही है और न ही उनका काव्य निराशावादी है, इसका एक बड़ा कारण

है उनका अधिष्ठान भारतीय संस्कृति और इतिहास है।'लहर' प्रसाद जी का गीतकला का उत्कृष्ट उदाहरण है।

प्रसाद जी को काव्य में ख्याति देनेवाली रचना है कामायनी। कामायनी प्रसाद की अंतिम कृति है। इसके कथानक का आधार प्रचीन आख्यान है। प्रसाद जी के स्वयं के शब्दों में –'आर्य–साहित्य में मानवों के आदिपुरुष मनु का इतिहास वेदों से लेकर पुराण और इतिहासों में बिखरा हुआ मिलता है। श्रद्धा और मनु के सहयोग से मानवता के विकास की कथा को, रूपक के आवरण में, चाहे पिछले काल में मान लेने का बैसा ही प्रयत्न हुआ हो जैसा कि सभी वैदिक इतिहासों के साथ निरुक्त के द्वारा किय गया, किंतु मन्वन्तर के अर्थात् मानवता के नवयुग के प्रवर्तक के रूप में मनु की कथा आर्यो की अनुश्रुति में दृढ़ता से मानी गयी है। इसलिए वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है। प्रायः लोग गाथा और इतिहास में मिथ्या और सत्य का व्यवधान मानते हैं किंतु सत्य मिथ्या से अधिक विचित्र होता है। आदिम युग के मनुष्यों के प्रत्येक दल ने ज्ञानोन्मेष के अरुणोदय में जो भवपूर्ण इतिवृत संगृहीत किये थे, उन्हें आज गाथा या पौराणिक उपाख्यान कहकर अलग कर दिया जाता है; क्योंकि उन चरित्रों के साथ भावनाओं का भी बीच–बीच में संबंध लगा हुआ सा दिखता है, घटनाएं कहीं–कहीं अतिरंजित–सी भी जान पड़ती हैं। तर्क संग्रहकारिणी तर्कबुद्धि को ऐसी घटनाओं में रूपक का आरोप कर लेने की सुविधा हो जाती है। किंतु उनमें भी कुछ सत्यांश घटना से संबंध है ऐसा तो मानना ही पड़ेगा। आज के मनुष्य के समीप तो उसकी वर्तमान संस्कृति का क्रमपूर्ण इतिहास ही होता है; परंतु उसके इतिहास की सीमा जहां से प्रारंभ होती है ठीक उसी के पहले सामूहिक चेतना की दृढ़ और गहरे रंगों की रेखाओं से, बीती हुई और भी पहले की बातों का उल्लेख स्मृति पट पर अमिट रहता है;परंतु कुछ अतिरंजना–सा। वे घटनाएं आज विचित्रिता से पूर्ण जान पड़ती हैं। संभवतः इसीलिए हमको अपनी प्राचीन श्रुतियों का निरुक्त के द्वारा अर्थ करना पड़ा जिससे कि उन आर्थो का अपनी वर्तमान रुचि से सामंजस्य किया जाय।"

प्रसाद जी का मानना है कि"श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन क सहयोग से मानवता का विकास रूपक है, तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाध्य है।यह मानुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है।"कामायनी का कथानक संक्षिप्त है किंतु कवि ने इसमें जीवन के अनेक पक्षों को समन्वित करके मानव–जीवन के लिए एक व्यापक आदर्श व्यवस्था की स्थापना का प्रयास किया है।

कामायनी का प्रारंभ अपने आप में हमें ऊचाई देता है। कवि का चिंतन ही कितना उतंग है–

हिम गिरि के उतुंग शिखर पर बैठ शिला की शीतल छांह,
एक पुरुष भीगें नयनों से देख रहा था प्रलय प्रवाह।।

कवि के नायक में धैर्य और अथाह के देखने की दृष्टि है। वह व्यक्ति की नही समष्टि की सोचता है, तभी तो कहता है–

'ओ चिंता की पहली रेखा, अरी विश्व बन की व्याली;
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण, प्रथम कंप सी मतवाली!

'कामायनी' के एक संदर्भ का संबंध मनु और श्रद्धा के व्यक्तिगत जीवन और प्रणय के साथ है। इड़ा के चरित्र का एक अंश भी इस प्रसंग से संबद्ध है। किंतु प्रसाद ने इन चरित्रों के विस्तार में सामान्य मानव की अनुभूतियों, कामनाओं और आकाक्षाओं, स्मृतियों को समेटा है। कामायनी की चेतना संसृति की चेतना बनती है। तभी तो कवि कहता है–

"चिंता करता हूँ मैं जितनी उस अतीत की , उस सुख की;
उतनी ही अनंत में बनती जाती रेखायें दुख की।।

कामायनी केवल मनु और श्रद्धा के जीवन की कहानी नही है। प्रसाद जी कहते हैं"यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया हैं इसलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात मन के दोनों पक्ष, हृदय और मस्तिष्क का संबंध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।"

यहां प्रसाद जी कथानक को देव मान्यताओं , परंपराओं से उपर लेकर जाते हैं जहां विश्वदेव , सविता का ही अस्तित्व है? प्रसाद उससे आगे की जानना चाहते हैं?

"विश्वदेव, सविता या पूषा , मरुत, चंचल पवमान;
वरुण आदि सब घूम रहे हैं किसके शासन में अम्लान?

कवि अतीत के प्रति आशावान है वह परंपरा को छोड़ना नही चाहता । सुख का झरना कहीं वहीं छिपा है–

"परम्परागत कर्मो की वे कितनी सुन्दर लड़ियां,
जीवन साधन की उलझी हैं जिसमें सुख की घड़ियां।।

कामायनी में बुद्धिवाद के विरोध में षवना अर्थात हृदय को प्रतिष्ठा दी गयी है। यहां कवि काम के मंगल से प्रवेश कर व्यक्ति के आध्यात्मवादी चेतना तक की यात्रा करता है। कवि व्यक्ति और समाज के विभिन्न स्तरो पर असीमित विकास की संभावनाओं को खोजता है।

श्रद्धा के मधु अधरों की छोटी छोटी रेखाएं;
रागारुण किरण कला सी विकसी बन स्मिति लेखाएं।
वहकामायनी जगतकी मंगल कामना अकेली;

थी ज्योतिष्मती प्रफुल्लित मानस तट की वन बेली।।
वह विश्व चेतना पुलकित थी पूर्ण काम की प्रतिमा;
जैसे गंभीर महानद हो भरा विमल जल महिमा।।
जिस मुरली केनिस्वन से यह शून्य रागमय होता;
वह मामायनी विहंसती अग जग था मुखरित होता।।

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'–

सुमित्रानंदन पंत– कविवर पंत (1900–1970) सुकुमारता के कवि माने जाते हैं। प्रकृति का चितेरा कवि परमात्मा की सबसे प्यारी धरती उतरांचल में जन्म पाता है यह प्रभु की कृपा नही तो और क्या है।, उतरांचल के अल्मोड़ा के कसौनी ग्राम में जन्में बालक पंत के भाग्य में माता का स्नेह नही था, जो जन्म के कुछ घंटो में ही इस लोक से विदा हो गई। आचार्य विष्णुकांत शास्त्री कहते है–"पंत जी के पिता जी ने उनका नाम गुसांई दत्त रखा था , किंतु अपने सौन्दर्यबोध केकारण उन्होंने उसे बदल कर सुमित्रानन्दन कर दिया। पंत जी में निश्चय ही लक्ष्मण वाला तत्व विद्यमान था"। यह भी प्रभु की इच्छा ही थी कि मातृस्नेह से वंचित बालक को प्रकृति ने अपना भरपूर प्यार दिया। पंत का जीवन प्रकृति के प्रभाव से इतना आच्छादित था कि उन्हे कभी लौकिक जीवन के सुख उसकी तुलना में अच्छे नही लगे। उनकी रचना का शैशवकाल संवेदना से भरपूर दिखाई देता है। प्रकृति के वाह्य रूप, रस, गंध, स्पर्श, ध्वनि–समन्वित–सौन्दर्य को अपने भीतर समाहित कर लेने केलिए आकुल दिखाई देते हैं। वे तितलियों का उड़ना और उनके रंगीन पंखों का उठना–गिरना देखते हैं। वन प्रांतर में तरुओं की मर्मर ध्वनि और पक्षियों का कलरव सुनते हैं। खिले हुए फूँलोंमें परियों की मुस्काराहट का अनुभव करते हैं–

विजन वीथि मेंमिलती परियां,
इन्द्र धनुष अंचल फहराये;
धूप–छांव रंग सारी पहले,
स्वर्ण गंध–कुंतल छहराए।

कवि की देवदारु शिखरों की कल्पना देखें, उन्हे ऐस लगता है कि नीले आकाश के रहस्य कोजानने के लिए मानो पृथ्वी की जिज्ञासा ही तरु–शिखर बनकर आकाश केतारों से हंस–हंस कर बातें कर रही है।

देवदारु के हरित शिखर उठ
भू की विज्ञासा –से ऊपर
तारों से हंस बातें करते

नभ का नील रहस्य चीर कर।।

पंत जी कहते हैं–'' कभी–कभी मुझे लगता है कि सौन्दर्य ही ईश्वर है और अगर वह सुन्दर न हो तो मुझे ईश्वर की ओर भी कोई आकर्षण न हो।''

उनका प्रश्न देखे–

''छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?
छोड़ अभी से इस जग को।

इसे सामान्य अर्थ में बाले अर्थात सुन्दर रमणी से अनाकर्षण के रूप में लिया जाता है किंतु ऐसा नही है। कारण एक तो पंत आगे की कविताओं में भौतिक आकषणों में घिरे पाते हैं। यहां भी जीवन की वह स्थिति है जब वह जीवन के तरंगों में वहां गोता खाता है जहां समझता है कि सब कुछ उसके हाथ में है। उसके जीवन में च्वाइस की गुंजाइस है। विराग के रूप में देखना यहां उचित नही होगा। प्रेम स्थूल से सूक्ष्म या सूक्ष्म से स्थूल को जाय किंतु वह विरक्ति नही पैदा करता । उसका प्रथम लक्षण होता है जीवन में विराटता का बोध। मन की भावनाओं का विस्तार।

कवि 'गिरजे का घंटा'(1916) से अपनी रचना प्रारंभ करता है तो उसमें आजीवन निरंतरता बनी रहती है। उनकी आरंभिक रचनाएं हैं–'उच्छ्वास'(1920), 'ग्रंथि'(1920), 'वीणा'(1927), 'पल्लव'(1928), 'गुजंल'(1932), । 'वीणा' की रचनाएं सन्1918 –19 की लिखी हुई हैं। छायावाद की अंतिम रचना 'गुंजन' को कहा जा सकता है। पंत की एक विशेषता है कि वे बाद के काल में अपनी रचना तथा जीवन में अरविंद से प्रभावित दिखते हैं। वे रामकृष्ण का वचनामृत पान करते हैं।स्वामी विवेकानंद का वेदांतगर्जन सुनते हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र की विश्व–वाणी में नये युग का सौन्दर्य दर्शन करते हैं और भारतमाता को मुक्त कराने के लिए जीवन –अर्पण करने वाले युवकों के अपूर्व उतसाह से प्रेरित और प्रभावित होते हैं। वे गांधीवाद मार्क्सवाद के लैति आर्थिक पक्षों को लेकर गंभी उहा–पोह कर रहे थे। पंत जी की आत्मस्वीकृति देखें–''अपने मित्र तथा भाई के सम्पर्क में आकर मैं मार्क्सवाद के गहन कांतार को , अपने ढीठ कल्पना पंखों से, साहसपूर्वक, अत्यन्त उत्साह तथा हषनुभूति के साथ पार कर सका , (तब जब हिंदी में, संभवत: इस प्रकार की कविता का जन्म भी नहीं हुआ था, जो पीछे प्रगतिशील कहलाई) और कालांकांकर के गांवों का वातावरण पार 'युगवाणी' और 'ग्रम्या' की रचनाओं में अपनी उस नवीन जीवन–दृष्टि की प्रक्रियओं को उन्मुक्त रूप से वाणी द सका''। 'चिदम्बरा ' की भूमिका में वे कहते हैं– '' युगवाणी और ग्राम्या में भी मेरा दृष्टिकोण मानव जीवन केसतय केप्रति समन्वयात्मक ही रहा है, जैसा कि मैं 'आधुनिक कवि भाग दो'

की भूमिका में कह चुका हूँ। मैंने मानव जीवन केविकास केलिए भैतिक–आध्यात्मिक दोनों मूल्यों की अनिवार्य आवश्यकता बतलाई है।'' वे कहते हैं–

भूतवाद उस धरास्वर्ग के लिए मात्र सोपान।
जहॉ आत्मदर्शन अनादि से समासीन अम्लान।।

पंत की काव्य–यात्रा के अनुशीलन में सदा दो पक्ष रहे हैं–कवि का मन और काव्य वस्तु।1942–43 के बीच पंत जी बीमार पड़ते हैं। उन्हें लगता है किअब उनका जीवन –दीप बुझ जायेगा। इसी समय उन्हें श्री अरविंद की 'दी लाईफ डिवाइन' पढने का अवसर मिला। कुछ दिनों तक वे पांडुचेरी में भी रहे। श्री अरविंद का गहरा प्रभाव उनके मन मस्तिष्क पर पड़ा। वे लिखते हैं–

श्री अरविंद सभक्ति प्रणाम,
दिव्य तुम्हारा मरम तपोबल,
अमृत ज्योति से भ दे भूतल
सफल मनोरथ सृष्टि हो सकल,
श्रीललाम निष्काम प्रणाम।।

और उनके जीवन की तीसरी रचना यात्रा यहां से प्रारंभ हुई। 'स्वर्णकिरण' (1947), 'स्वर्णधूलि'(1947), 'उत्तरा'(1949), 'रजतशिखर'(काव्यरूपक 1954), 'कला और बूढा चांद' (1859), 'लोकायतन'(महाकाव्य, 1965)' किरणवीणा' (1967), 'गीत हंस' (1969), 'शंख ध्वनि'(1971), 'समाधिता'(1973) आदि रचनाएं इसी काल की हैं। इस अवधि में कवि ईश्वर, धर्म, संस्कृति, बंधन–मुक्ति, साधना, उपासना, आध्यात्मिकता, भौतिकता, नवमानवता, सांस्कृतिक चेतना आदि विषयों को अपनी रचना के केन्द्र में रखा। पंत जी जीवन मूल्यों के पक्षधर हैं। जिस तथाकथित मूल्य–दृष्टि से मनुष्य मानव से दानव बन जाय उसका वे विरोध करते हैं। पुरुषोत्तम राम में पंत जी कहते हैं–

'अन्धकार में;मानव पशु से भी नृशंस हो
दानव का पर्याय बन रहा अब दिन प्रतिदिन ।।

वे स्वयं कहते हैं–''मैंने इस युग में अधिक महत्व भू–जीवन की उन्नत मंगल रचना को ही देना उचित समझा है, जिसमें व्यापक से व्यापक अर्थ में भागवत गुणों का अवतरण एवं भागवत वास्तविकता का साक्षात्कार संभव हो सकता है।''

वैसे तो छायावाद के सभी रचनाकार भाषा के धुरंधर है किंतु पंत की भाषा में जादूगरी है। शब्दों, स्वरों, शब्द–शक्तियों, अलंकारो का जितना सूक्ष्म और गहरा ज्ञान गीतकार से अपेक्षित है पंत उसमें बीस ही हैं, उन्नीस नहीं। भाव और भाषा के उचित स्वरैक्य को पंत 'चित्ररागं' की संज्ञा देते हैं। पंत जी कहते हैं ''भाषा का और मुख्यतः कविता की

भाषा का प्राण राग है। राग ही के पंखों को अबाध उन्मुक्त उड़ान में लय होकर कविता सांत को अन्नत से मिलाती है । ....राग का अर्थ आकर्षण है, यह वह शक्ति है जिस के विद्युतस्पर्श से खिंचकर हम शब्दों की आत्मा तक पहुचते हैं, हमारा हृदय उनके हृदय में प्रवेश कर एक भाव हो जाता है। प्रत्येक शब्द एक संकेत मात्र इस विश्वव्यापी संगीत की अस्फुट झंकार है। जिस प्रकार समग्र पदार्थ एक–दूसरे पर अवलम्बित हैं, ऋणानुबंध हैं, उसी प्रकार शब्द भी एक विराट परिवार के प्राणी हैं।...जिस प्रकार शब्द एक ओर ब्याकरण के कठिन नियमों से बद्ध होते है। उसी प्रकार दूसरी ओर राग के आकाश में पक्षियों की तरह स्वतंत्र भी होते हैं। जहां राग की उन्तुक्त स्नेहशीलता तथा व्याकरण की नियमबद्धता में सामंजस्य रहता है वहां कोमल मॉ और कठोर पिता के घर में लालित–पालित संतान की तरह शब्दों का भरण–पोषण, अंग–विन्यास तथा मनोविकास स्वाभाविक और यथेष्ठ रीति से होता है।''

पंत के जीवन पर चर्चा करते समय एक और उनका महत्वपूर्ण योगदान याद रखना होगा कि छायावाद के प्रमुख स्तंभ पंत 'रूपाभ' के संपादक भी रहे हैं।

महादेवी वर्मा – (1907–1987) हिन्दी समीक्षा में महादेवी की कविताओं पर कम, उनके जीवन पर बहुत लिखा गया है। गंगाप्रसाद पांडेय से लेकर कुमार विमल तक , डॉ नगेन्द्र से लेकर डॉ नामवर सिंह , रमेश कुंतल मेघ तक। किंतु उनकी रचनाओं पर इन महानुभावों ने अपनी कलम कम ही चलाई। महादेवी जी छायावादी काव्यधारा के चार प्रमुख स्त्रोतों में से एक हैं। इनकी रचनाओं में भावों की गहराई तथा मार्मिकता के साथ–साथ अपने इष्टदेव के प्रति तन्मयता और तल्लीनता भी मुखर है जिसकी गूँज श्रोता अथवा पाठक मे मर्म–स्थल की झंकृत किये बिना नहीं छोड़ती। आरंभ में ब्रजभाषा में कविता लिखने वाली महादेवी वर्मा का जन्म उत्तर प्रदेश में हुआ। प्रारभिक शिक्षा घर में लीं। बाद में प्रयाग विश्वविद्यालय से दर्शन शास्त्र में एम.ए. की परीक्षा उतीर्ण की। रचना की गहराई में ज्यो–ज्यों वे पांव बढ़ाती गयी उनकी भाषा परिष्कृत खड़ीबोली होती गयी। इनका काव्य रचना का विशेषरूप से काल 1924से 1942 तक रहा। इनके प्रमुख काव्य छायावाद में ही प्रकाशित हुए : यथा– 'नीहार'(1930), 'रश्मि' (1932), 'नीरजा' (1935), 'सांध्यगीत' (1936), 'यामा' (1940), ।

डॉ रामविलास शर्मा कहते हैं –''महादेवी छायावाद की प्रतिनिधि कवि हैं। उनमें छायावाद का निराशावादी पलायनवादी पक्ष है तो जीवन और सौंदर्य की आकांक्षा का स्वस्थ मानववादी पक्ष भी हैं उनके अंदर एक विद्रोही आत्मा सोती है जो दृष्टिकोण और मनोबल की सीमाओं के कारण अपना पूरा चमत्कार न दिखा सकी।''

डॉ नामवर सिंह कहते हैं–''महादेवी की प्रतिक्रिया एक नारी की तरह घर की सीमा में हुई परंतु उनकी भी आरंभिक रचनाओं में जो भावुक असंतोष और तीव्र पीड़ा मिलती है, वह अंत तक जाते–जाते बौद्धिक परितोष में शामिल होने लगी। पहले जहां 'अतृप्ति' की

प्रधानता थी, बाद में [illegible] का काल्पनिक आनंद अनुभव किया जाने लगा''।

महादेवी जी जानती हैं कि शुद्ध अस्तित्व अलौकिक नहीं होता है बल्कि इसी समाज के व्यक्ति–पीढ़ी के मानस पटल पर अंकित होकर ही अमरता पाता है, अतः उस समाज से तादात्म्य जरूरी है– वे कहती हैं–'' कवि अपनी मर्मानुभूति का, उसके आधार तथा परिवेश के साथ, दूसरे व्यक्ति विरोधी किंतु जुड़े हुए अस्तित्वों में दैहिक नाशवान् है, रचना–अस्तित्व समाज सपेक्ष होकर अमर है जिस प्रकार बिजली नीलघन की समष्टि में नाशवान् होकर बिंब रूप में अमर है। गीत का अंतिम खंण्ड द्वंद्वात्मक प्रक्रिया को कलात्मक परिणिति तक पहुंचा देता है:

नशा भी हूँ मैं अनन्त विकास का क्रम भी
त्याग का दिन भी चरम आसक्ति का तम भी
तार भी, आघात भी , झंकार की गति भी,
पात्र भी, मधु भी , मधुप भी , मधुर विस्मृति भी,
अधर भी हूं और स्मित की चांदनी भी हूं।

महादेवी की कविताओं का एक विशेष संदेश है। यू कहें कि उनकी कविताएं, गीत अपनी ही भावनाओं के साथ अर्थबोध कराते हैं। महादेवी ने भौतिक शरीर और उस पर ही आधारित रचना–शरीर की द्वंद्वात्मकता को अभिव्यक्त करने के लिए 'दीपक' को चुना है। 'मधुर–मधुर मेरे दीपक जल' कविता में वाचिका आधार और द्वंद्वात्मकता को कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त करती हैं:

'सौरभ फैला विपुल धूप बन
मृदुल मोम सा घुल रे मृदु तन
दे प्रकाश का सिंधु अपरिमित
तेरे जीवन का अणु गल–गल!'

विस्मय, जिज्ञासा, और आध्यात्मिकता की तरंगे उठती और गिरती रहती हैं जो पाठक को कभी आंख मूदकर सोचने पर मजबूर करती है तो कभी ऐसा लगता है किसी सहारे का अनुभव कर रही हैं । कहीं अतल गहराई में आराधना है तो कहीं मजबूरी भरा संदेश। कहीं कोमलता का अंतःप्रवाह है तो कहीं दारुण अकिंचनता का बोध। महादेवी जी स्वयं मानती हैं कि '' सुख–दुख की भावावेशी अवस्था विशेष का गिने चुने शब्दों में स्वर–साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है। ...वास्तव में गीत के कवि को आर्तक्रंदन के पीछे छिपे हुए भावातिरेक को दीर्घ निःश्वास में छिपे हुए संयम से बांधना होगा, तभी उसका गीत दूसरे के हृदय में उसी भाव का उद्रेक करने में सफल होगा।''महोदवी के गीत भावप्रवण हैं।इनके गीतों में नाश और सृजन, क्षणिकता और स्थायित्व, मरण और

अमरता के ऐंटीथीसिस का प्रयोग मिलता है:

'मेर पग–पग संगीत भरा
श्वासों से स्वप्न पराग झरा
नभ के नवरंग बुनते दुकूल
छाया में मलय–बयार पली।'

महादेवी जी कहती है: 'मनुष्य चाहे प्रकृति के जड़ उपादानों का संघातविशेष माना जाय, और चाहे किसी व्यापक चेतना का अंशभूत, परंतु किसी भी अवस्था में उसका जीवन इतना सरल नहीं है कि हम उसकी पूर्ण तृप्ति के लिए गणित के अंकों के समान एक निश्चित सिद्धांत दे सकें। .... वे कहती हैं मनुष्य का निरन्तर परिष्कृत होता चलने वाला यह मानसिक जगत वस्तुजगत के संघर्ष से प्रभावित होता है, उसके संकेतों में अपनी अभिव्यक्ति चाहता है ;परंतु उसके बंधनों को पूर्णता में स्वीकार नहीं करना चाहता।अतःजो कुछ प्रत्यक्ष है, केवल उतना ही मनुष्य नहीं कहा जा सकता –उसके साथ–साथ उसका जितना विस्तृत और गतिशील अप्रत्यक्ष जीवन है, उसे भी समझना होगा। मनुष्य के इस दोहरे जीवन के समान ही उसके निकट बाह्य जगत की सब वस्तुओं का उपयोग भी दोहरा हैं .....मनुष्य के अंतर्जगत का विकास उसके मस्तिष्क और [illegible] परिष्कृति होता चलना है, परंतु इस परिष्कार का क्रम इतना जटिल होता है कि वह [illegible] रूप से केवल बुद्धि या केवल भावना का सूत्र पकड़ने में असमर्थ हो रहता है।''

इनके अन्दर व्यथा, पीड़ा, आशा, अज्ञात प्रिय के प्रति प्रणय–निवेदन और साधना की विविध अनुभूतियों के स्वर मुखरित हुए हैं। महादेवी जी कहती हैं– ''भौतिकता के कठोर धरातल पर तर्क से निष्करुण और हिंसा–जर्जरित जीवन में व्यक्त युग को देखकर स्वयं कभी–कभी मेरा व्यथित मन भी अपनी करुण भावना से पूछना चाहता है–'अश्रुमय कोमल कहाँ तू आ गई परदेशिनी री'।''

महादेवी ने अज्ञात प्रियतम के प्रति प्रणय निवेदन किया है, ऐसा प्रायः माना जाता है। और उसका एक कारण अगृस्थ जीवन है। किंतु यह सत्य नही है। छायावाद का अर्थ यह कतई नही कि रचनाकार अपनी मूल मान्यताओं, आस्थाओं से कट जाता है। वह तो प्रकृति के कारक तत्वों का ही नाम लेती हैं। महादेवी जी कहती है।– ''परंतु मेरे हृदय के कोनें–कोनें में सहज विश्वास जानता है कि जिस विद्युत के भार से कठोर पृथ्वी फट जाती है, उसी को बादल की सजलता अपने प्राणों का आलोक बनाये घूमती है। अग्नि को बुझाने के लिए हमें उसके विरोधी उपादानों में ही शक्तिशाली जल की आवश्यकता होगी, अंगारों के पर्वत और लपटों के रेले की नहीं।''

परमात्मा का रूप बनाकर , प्रियतम का आलिंगन कर , स्पर्श कर या बाह्य चक्षुओं से दर्शन कर या साथ रह कर ही हम प्रणय निवेदन नही करते । उससे दूर , उसकी अज्ञात

सत्ता की स्वीकृति के साथ भी उससे प्रणय आराधना की जाती है। भावनाओं की सुकुमारता को केवल मसल देना ही आत्मसमर्पण नही है। उसको अज्ञात के प्रति अक्षय, अनाघ्रत समर्पण भी निवेदन है। महादेवी मिलन की सत्यता से परिचित हैं। मिलन के बाद आनंद की अनुभूति नही होती । यदि आनंद की अनुभूति है तो वह सच्चा मिलन भी नही है। 'मिलन का मत नाम लो, मैं विरह में चिर हूँ'। यह न तो दैन्यता है, न ही पलायन और न ही निराशा। वे कहती हैं– '' जीवन के इतिहास में पशुता से पशुता की , कटोरता से कठोरता की और बुद्धि से बुद्धि की कभी पराजय नहीं हुइ, इस चिरपरीक्षित सिद्वांत की जैसी नयी कसौटी हम चाहते थे, वैसी ही लेकर हमार ध्वंस–युग आया है, इसके ध्वंसावशेष में निर्माण का कार्य मनुष्यता, करुणा और भावना मूलक विश्वास ही से हो सकेगा– यह मैं नहीं भूलना चाहती।''

पलायन–वृति के संबंध में महादेवी कहती हैं– ''पलायन–वृति के संबंध में हमारी यह धारणा बन गयी है कि वह जीवन संग्रह में असमर्थ छायावाद की अपनी विशेषता है। सत्य तो यह है कि युगों से, परिचित से अपरिचित, भैतिक से अध्यात्म, षव से बुद्धिपक्ष, यथार्थ से आदर्श आदि की ओर मनुष्य को ले जाने और इसी क्रम से लौठाने का अहुत कुछ श्रेय इसी पलाय–वृति को दिया जा सकता है।''

इसमें कर्मण्यता है, निरंतरता है मिलन की चिर प्रतीक्षा है। महादेवी के बारे में कहा जाता है कि वे दुःख को केवल व्यक्तिगत जीवन में स्वीकार करती हैं।ऐसा उन्होने कभी नही कहा। वे दुःख के सारे पहलू अपने में समेट लेना चाहती हैं जिसका अर्थ है समाज का सारा दुःख उनका अपना है। समाज व्यक्ति से बनता है। समाज के लिये जब व्यक्ति अपनी क्षमता बढ़ाता है और समाज के दुख की घनीभूत पीड़ा को आत्मसात करता है तो उसका व्यक्तिगत दुख समाज के सुख का कारण बनता है। वे कहती हैं ''अमरता उसमें मानती है मरण–त्योहार।'' उनकी 'नीर भरी दुख की बदरी' या दीपशिखा की बात करती हैं तो वे मांसल दुख की बात नही करती हैं। उनका संकेत अध्यात्मिक है। उसमें विशाल लोककल्याण निहित है। स्वयं के गलने से सुख की जो शीतलता बहती है वह करोड़ो मन को आनंदित करती है।

दुखव्रती निर्माण उन्मद
ये अमरता नापते पद
बंध देंगे अंक–संसृति से तिमिर में स्वर्ण–बेला।

महादेवी के ऊपर जहां बौद्ध का प्रभाव था वही वे उपनिषद से भी प्रभावित थी। अब यहां थोड़ा सा विचार करे तो यह एक फैशनपरस्त टिप्पणी हो गयी है कि यह रचनाकार या वह रचनाकार उस दर्शन से प्रभावित था। मेरा मानना है कि यदि हम ईशा से पंद्रह सौ वर्ष पीछे जाय तो कौन सा दर्शन हमें मिलेगा। दूसरी क्या हमारे प्रभा मण्डल

को बेधना बाला केवल हजार –बारह सौ वर्ष का इस्लाम या ईसाइयत का आक्रामक इतिहास ही प्रभावित करेगा। वैसे भी जो आध्यात्मिक है , चिर की , अनंत की कामना करता है वह खण्डित और मानव की मान्यता अवधारणा और उसकी निजी स्थापनाओं पर क्यों प्रभावित होगा। वैसे भी बुद्ध और उपनिषद को पृथक करके देखना भी संकुचित मानसिकता का कारण हैं। कहा जाता है महादेवी ने सर्व–वादी दर्शन को अपनाया।यहां विचारणीय है कि सर्व–वादी का अर्थ क्या है। सर्व–वादी हमारा नया गढ़ा शब्द है जो तरासा नही गया है और हमारे अलंकारों में जड़ दिया गया है। यहाँ महादेवी जी को पढ़े –"मैं कण–कण में ढ़ाल रही अलि, आंसू के मिस प्यार किसी का"। क्या यह प्यार सर्व का नही है? महादेवी जी कहती हैं–"कविता मनुष्य के हृदय के समान ही पुरातन है, परंतु अब तक उसकी कोई ऐसी परिभाषा न बन सकी;जिससे तर्क–वितर्क की सम्भावना न रही हो। धुँधलें अतीतभूत से लेकर वर्तमान तक और 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' से लेकर आज के शुष्क बुद्धिवाद तक जो कुछ काव्य से रूप और उपयोगिता के संबंध में कहा जा चुका हे, वह परिणाम में कम नहीं, परंतु अत तक न मनुष्य केहृदय का पूर्ण परितोष हो सका हैं और न उसकी बुद्धि का समाधान ।"

महादेबी के प्रणय पर आचार्य शुक्ल को देखें–"कहां तक वे वास्तविक अनुभूतियां हैं और कहां तक अनुभूति की रमणीय कल्पना है, यह नहीं कहा जा सकता"। महादेवी वर्मा का क्या कहना है–" कविता के लिए आध्यात्मिक पृष्ठभूमि उचित है या नहीं , इसका निर्णय व्यक्तिगत चेतना ही कर सकेगी। जो कुछ स्थूल, व्यक्त, प्रत्यक्षऔर यथार्थ नहीं है, यदि केवल यही अध्यात्म से अभिप्रेत है , तो हमें वह सौन्दर्य, शील, शक्ति, प्रेम आदि की सभी सूक्ष्म भावनाओं में फैला हुआ, अनेक अव्यक्त सत्य संबंधी धारणाओं में अंकुरित, इन्द्रियानुभूत प्रत्यक्ष की अपूर्णता से उत्पन्न उसी की परोक्ष–रूप भावना में छिपा हुआ दौर अपनी उर्ध्वगामी प्रवृतियों से निर्तित विश्व–बंधुता, मानवधर्म आदि के ऊँचे आदार्शो में अनुप्राणित मिलेगा।" यह सत्य भी है, रचनाकार की अनुभूति हम कैसे कर सकते हैं। सृजन के अद्भुत क्षण में क्या निर्माण हो सकता है जानने के लिये आलोचक को उसी पल में जीना होगा, जो संभव नही। इसीलिये केवल इतना ही मानना होगा कि उनकी अनुभूति रहस्यानुभूति हैं। उनका रहस्यवाद एक नया आयाम लिये हुए है। छायावाद के संबंध में महादेवी कहती हैं–"छायावाद नेकोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का संचय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य–सत्ता की ओर जागरुक कर दिया था, इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।" वे आगे कहती हैं–"छायावाद का जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं रहा, यह निर्विवाद है, परंतु कवि के लिए यह दृष्किोण कितना आवश्यक है, इस प्रश्न के कई उत्तर हैं।"

छायावाद के अन्य कवि– छायावादी काव्य के विकास में कुछ अन्य कवियों का भी योगदान रहा है। इनमें से कुछ तो ऐसे हैं, जो मुख्य रूप से इस युग की किसी अन्य धारा

के अंतर्गत आते हैं, किंतु युग और प्रधान साहित्यिक धारा के प्रभाव से छायावादी पद्धति की ओर भी आकृष्ट हुए हैं, उदाहरण के लिए :माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा आदि। प्रधान रूप से राष्ट्रीय–सांस्कृतिक काव्यधारा या प्रेम और मस्ती की काव्यधारा के अंतर्गत आते हैं, किंतु उन पर छायावादी विशषताओं का भी काफी प्रभाव दिखायी देता है। दूसरे प्रकार के छायावादी कवि वे हैं, जिनकी संपूर्ण प्रतिभा छायावादी काव्य के निर्माण में ही तल्लीन ही है, किंतु जिनका काव्य परिमाण में अधिक नहीं है। रामकुमारवर्मा, उदयशंकरभट्ट, मोहनलालमहतो'वियोगी', आर सी प्रसाद सिंह, केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' आदि कवियों को इस कोटि में रखा जा सकता हैं।

प्रथम वर्ग के कवियों में रामनरेश त्रिपाठी, माखनलाल चतुर्वेदी आदि ने जिस राष्ट्रप्रेम और सांस्कृतिक गरिमा का चित्रण हुआ है। माखनलाल चतुर्वेदी ने भारतीय प्राकृतिक सुषमा के जो सरस, सजीव और मूर्त चित्र खींचे हैं, वे उन्हें छायावादी कवियों के समीप ले आते हैं। 'नवीन' ने 'अपलक' में स्वानुभूति की आवेशमयी विवृति की है:

"सिहर उठा मलयानित, हम सिहरे बेकल –से
कांपा मन, उमड़ा हिय, नयन झरे झर–झर प्रिय
फिर गूंजे नव स्वर प्रिय।"

इस प्रकार की अभिव्यक्तियां छायावादी काव्य की अंतरंग विशेषताओं के रूप में दिखायी देती हैं।

द्वितीय वर्ग के कवियों में डॉ नगेन्द्र ने डॉ रामकुमार वर्मा (1905–1990) का नाम सर्वाधिक उल्लेख किया है। डॉ वर्मा के 'रूपराशि', 'निशीथ', 'चित्ररेखा', 'आकाशगंगा', आदि काव्य–संग्रहों में छायावादी पद्धति की रचनाएं संकलित हैं। इन रचनाओं में प्रकृति के विविध रूपों का मानवीकरण किया गया है। साथ ही रहस्यवाद भी दिखाई देता है। डॉ वर्मा की अभिव्यंजना पद्यति अलंकृत और वक्र होन पर भी सरल और अनुभूति को प्रभावी बनाती है। उदयशंकर भट्ट (1898–1990) के छायावादी पद्यति के काव्य–संग्रह हैं– 'राका', 'मानसी', 'विसर्जन', 'युगदीप', 'अमृत और विष', आदि। इनमें वैयक्तिक अनुभूति की सूक्ष्मता, सर्ववादी चेतना, प्रकृति के मानवीकाण , अभिव्यक्ति की सांकेतिकता आदि प्राप्त होते हैं। मोहन लाल वियोगी–(1899–1990) इनके प्रमुख छायावादी काव्य पद्यति के काव्य संग्रह हैं– 'निर्माल्य', (1926) 'एकतारा और कल्पना', (1935), आदि। इनमें वेदना, रहस्यानुभूति और अभिव्यक्ति की संकेतिकता आदि मिलती है। लक्ष्मीनारायण मिश्र (1903–1987) के 'अंतर्जगत' नामक कविता संग्रह में वेदना और व्यथा की अभिव्यक्ति मिलती है, किंतु बाद में मिश्र जी की प्रतिभा नाटक–रचना में ही केंद्रित हो गयी। इनके अतिरिक्त जनार्दनप्रसाद झा'द्विज', गोपाल़सिंह नेपाली , केदाननाथ मिश्र 'प्रभात', आदि कवि भी उल्लेखनीय हैं।

3.7 अन्य काव्य परिचय

छायावाद काल की एक विशेषता है कि इस काल में प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी वर्मा ने अपना ऐसा प्रभाव बनाया कि अन्य कवि और उनकी विधाएं, उनकी शैलियां गौण सी दिखाई देती है। किंतु यदि युग का समग्र मूल्यांकन करना है तो ऐसे भी कवियों को देखना होगा जो अपने में एक परिचय बन कर पाठक और आलोचकों के सामने आए हैं। अतः कुछ विन्दुओं पर रचनाकारों को यहाँ अध्ययन अपेक्षित है–

(क) प्रेम और मस्ती का काव्य– डॉ नगेन्द कहते हैं "छायावादी रचनाएं इतनी प्रौढ़ और शक्तिशाली हैं कि प्रायः इस काल का विवेचन करते हुए आलोचकों का ध्यान केवल छायावादी काव्यधारा में ही केंद्रित हो कर रह जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि इस काल के वे कवि, जो पूरी तरह से छायावाद के अंतर्गत नहीं आते, उपेक्षित से हो जाते हैं।" वस्तुतः इस काल के प्रेमाधारित काव्य रचनाओं को देखने समझने के लिये बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, अंचल आदि की प्रणयमूलक वैयक्तिक कविताओं का ध्ययन अपेक्षित है। डॉ नगेन्द्र कहते हैं " यद्यपि प्रेम और यौवन की प्रखरता तथा आवेश को व्यक्त करने वाली इनकी अधिकांश रचनाएं छायावादोत्तर–काल में प्रकाशितहुईं, तथापि इस दिशा में इनका आरंभिक कृतित्व छायावाद–युग में ही प्रकाश में आया।" डॉ नगेन्द्र उक्त कवियों को प्रेम और मस्ती की काव्यधारा के अंतर्गत रखते हैं। उनका मानना है कि बालकृष्ण शर्मा'नवीन' ने राष्ट्रीय–सांस्कृतिक काव्य की रचना की है, किंतु उनकी प्रणय संबंधी रचनाएं भी महत्वपूर्ण हैं। जब एक ओर छायावादी काव्य में बड़ी तल्लीनता के साथ प्रणय और और यौवन का वर्णन किया गया है, तो फिर इन कवियों को स्वतंत्र रूप से प्रेम और मस्ती काव्य धारा में क्यों रखा जाय। उत्तर कुछ इस प्रकार है कि छायावादी कवियों में प्रणय का महतव सीमित है। प्रसाद, निराला, और पंत की रचनाओं में रति के मांसल और आवेशमय रूप के विविध पक्षों की अभिव्यक्ति मिलती तो है, किंतु धीरे–धीरे इन कवियों ने स्थूल प्रणय–बंधन से ऊपर उठने का प्रयास करते हुए उसे एक व्यापक जीवन–चेतना के अंग–रूप में ग्रहण किया है। इस दृष्टि से प्रसाद का 'आसू' काव्य छायावादी प्रणयभावना के दोनों रूपों को –मांसल–वासनात्मक रूप को और उदात्त करुणा के रूप को–व्यक्त करता है। इसी तरह 'कामायनी' की कामगोत्रजा'श्रद्धा' का प्रेम संबधी लौकिक प्रणय सीमित है। निराला के 'तुलसीदास' में भी प्रणय के इस सामान्य लौकिक रूप का निषेध कर रागबोध को एक उदात्त, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक स्तर पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास है। वह भी प्रणय को साध्य नही मानता।महादेवी वर्मा का काव्य प्रारंभ से ही आध्यात्मिक प्रेम को लेकर चलता है। डॉ नगेन्द्र एक बात की ओर और ध्यान खीचते हैं, वह यह है कि यद्यपि छायावादी चेतना भी प्रधान रूप से व्यक्तिवादी चेतना है और प्रेम और मस्ती के इन कवियों की साधना भी व्यक्तिनिष्ठ रही हैं, तथापि दोनों के व्यक्तिवाद में

मूलभूत अंतर है। छायावादी व्यक्तिचेतना शरीर से ऊपर उठ कर मन और फिर आत्मा का स्पर्श करने लगती है, जबकि इन कवियों में व्यक्तिनिष्ठ चेतना प्रधान रूप से शरीर और मन के धरातन पर ही व्यक्त्स होती रही है। इन्होंने प्रणय को ही साध्य केरूप में स्वीकार करने का प्रयास किया है। छायावादी काव्य जहां प्रणय को जीवन की यथार्थ विषय व्यापकता में संजोने का प्रयास करती है, वहीं प्रेम और मस्ती का यह काव्य या तो यथार्थ से विमुख होकर प्रणय में तल्लीन दिखायी देता है या फिर जीवन की व्यापकाता को प्रणय की सीमाओं में ही खींच लाता है। 'नीवन' की 'साकी' शीर्षक कविता की पंक्तियां देखिए–

"हो जाने दे गर्क नशे में , मत पड़ने दे फ़र्क नशे में
ज्ञान ध्यान पूजा पोथी के फट जाने दे वर्क नशे में
ऐसी पिला के विश्व हो उठे एक बार तो मतवाला
सकी अब कैसा विलम्ब भर–भर ला तनमयता–हाला।।

प्रेम और मस्ती के इस काव्य में न तो दार्शनिकता है और न ही जीवन की व्यापकता। इसी तरह की एक पंक्ति बच्चन की देखें–"वह मादकता ही क्या जिसमें बाकी रह जाये जग का भय!"। डॉ नगेन्द्र कहते है कि इस तरह से कहा जा सकता है कि प्रणय का यह रूप छायावादी उदात्त प्रेम–भावना और अर्वाचीन नयी कविता की यौन–भावना के बीच की कड़ी है। यद्यपि प्रणय केये कवि श्शारीरिक प्रेम के महत्व को स्वीकार रकते हुए कहीं–कहीं जीवन की नैतिक मर्यादाओं का अतिक्रमण कर गये हैं, किंतु मुक्त ब्रिधा भोग के समर्थ क या प्रचारक ये भी नहीं है।। यहां देख्ना यह है कि वे कौन –सी ऐसी नैतिक रूढ़ियां 'जग का भ्य' है , जिसे ये आगंहपूर्वक अस्वीकार कर देना चाहते हैं दरअसल यह कविता भी उसी युग की उपज है, सिने छायावाद को जन्म दिया। छायावादी कवियों ने ाी नैतिकता के बोझ से आक्रांत प्रणय को मुत करने का प्रयास किया, तिु वे उसे पूरी तरह मुक्त न कर सके और उनकी प्रणय–भावना आध्यात्मिकता से संपृक्त हो गयी। प्रणय के इन कवियों ने द्विवेदीयुगीन नैतिकता के कठोर बंधनों के प्रति विद्रोह किया। लौकिक स्तर पर प्रणय की तीव्रता की स्वैकृति का एक परिणाम यह हुआ कि प्रणय केसाथ– साथ कविता में मादकता , शराब, साकी ? मै, ाने आदि का भरपूर वर्णन होने लगा। यह प्रवृति बच्चन की 'मधुशाला' आदि कृतियों में पूरी श्शक्ति के साथ दिखायी देती है। प्रणय और मदिरा का यह नशा, साकी और मैखाने का यह वर्णन व्यक्ति–स्वातंत्रता की भावना की अभिव्यक्ति है। कवि न तो संसार से डरताहै और न ही कोई लोकोत्तर आध्यात्मिक श्शकित उसे आतंककित करने में समर्थ है। इस प्रकार इन कवियों में व्यक्तिनिष्ठ यथार्थ की अधिक सशक्त अभिव्यक्ति दिखयी देती है।

यहां यह जिज्ञासा हो सकती है कि सवाधीनता –आन्दोलन के मध्य यह काव्यधारा किस प्रकार अपने आपको राष्ट्रीय यथार्थ से विमुख रख सके। पहली बाता तो यह है कि

'नवलीन' जैसे कवियों में राष्ट्रीय भावना षे पूरी प्रखरता के साथ दिखायी देती है, वे देश के व्यापक जीवन से जुड़े हुए हैं और स्वतंत्रता के गीत ही नहीं गाते, वरन उसकी प्राप्ति के लिए साधना भी करते हैं। किंतु नवीन का 'व्यक्ति' जब प्रबल हो उठताहैतो वे प्रणय की धरा में मुक्त होकर बहने के लिए आकुल हो उठते हैं। दूसी ओर भगवती चरण वर्मा, बच्चन , नरेंद्र शर्मा? अंख्ल आदि कवि भी हैं, जिनका प्रधान वर्ण्य प्रणय ही है। डॉ नगेंन्द्र यहाँ एक प्रश्न उठाते हुए कहते हैं कि ऐसी कौन सी परिस्थिति थी जिसमें ये कवि उस वातावरण से अछूते रह कर प्रणय की रचनाएं करते हैं। समाधान देते हुए डॉ नगेन्द्र कहते हैं पहली तो यह कि विवेच्य काल में लिखित इनकी कविताएं इनके कवि–जीवन की आरंभिक रचनाएं हैं, और इसलिए उनमें प्रणय की वैसी ही आवेशमयी अभिव्यक्ति हुई है, जैसी आरंभिक छायावादी काव्य– 'आंसू', 'पल्लव', 'अनामिक' आदि में मिलती हैं। दूसरी बात यह है कि जैसे जैसे स्वाधीनता का आंदोलन बल पकड़ता जा रहा था, वैसे–ही–वैसे ब्रिटिस साम्राज्यवाद का दमनचक्र और उसका आंतक बढ़ता जा रह था। इसलिए जो कवि खुल कर दमनचक्र और आतंक का सामना नहीं कर सके, वे आत्मकेंद्रित हो कर प्रणय के गीत गाने लगे यह उनके व्यक्तित्व की दुर्बलता या अपरिपक्वता का संकेत हो सकता हैं एक बात और भी है– काव्रू अपनी अंतरंग शक्ति से भी नये स्तरों और सोपानों की ओर बढ़ता है । प्रणय के इस काव्य में छायावादी प्रणय का एक नया सोपान दिखायी देता है, जहां प्रणय को प्रणय के रूप में ही, सांसारिक रूप में स्वीकार करने का आग्रह स्पष्टतः व्यंजित है। इस विशेषता को यथार्थवादी दृष्टि के विकास के रूप में देखा जा सकता है। इन कवियों की अभिव्यंजना–पद्वति भी इस विकास की साक्षी है। इनकी भाषा छायावादी सूक्ष्क्ता ओर वक्रता से रहित है तथा सीधी–सरल पदावली द्वारा जीवन की नित्य की अभिव्यंजना के चमतकार का उदय और उसके बाद जनभाषा से निकटता रखने वाली प्रणय–काव्य की यह भाषा निश्चय ही काव्य भाषा खड़ीबोली की अंतर्निहित शकित के विकास की सूचक है। इसके मूल में कविता के संबंध में बदलते हुए दृष्टिकोण को भी लक्षित किया जा सकता है। यद्यपि यह काव्य छायावादी चेतन की छाया में ही उदित और पल्लवित हुआ किंतु छायावाद के बाद–चाहे यह अंतर कितना ही कम क्यों न हो –काव्य होने केकारण इसमें छायावादी काव्यधारा कीप्रतिक्रया भी कार्यशील है। छायावादी अभिव्यंजना–पद्वति की सूच्म सांकेतिकता तथा लोकोत्तर स्तर की अनुभूति की दुरूहता इन कवियों केलिए एक वस्तुगत सत्य था। ज्ञात या अज्ञात रूप से ये कवि आरंभ से ही छायावादी काव्य की इन सीमाओं के प्रति सजग रहे होंगे और इन्होंने सायास एक नयी भावभूमि ओर नयी काव्य श्शैली के निर्माण का प्रयास किया हेगा। प्रेम और मस्ती का यह काव्य निस्संदेह अपनी सीधी–सच्ची अनुभूति और कला के कारण जनता में विशेष ख्याति पा सका। किंतु एक ही धरातल पर संरचरण केकारण यह काव्य एकांगी और सीमित होकर रह गया जिस प्रकार छायावादी कवियों ने अपने प्रणय और अपनी व्यथा से ऊपर उठने का प्रयास किया, वैसा प्रयास इन कवियों में कम दिखायी

देता है।

छायावाद काव्यधारा के कवियों में भगवतीचरण वर्मा(1903–1981)की कविताएं 'प्रताप' में सन् 1917 से ही प्रकाशित होने लगी थीं। इनकी अनुभूति के दो रूप दिखायी देते है। एकरूप तो वह है, जहां ये मस्ती और फक्कड़पन को अभिव्यक्त करते हैं, 'हम दीवानें की क्या हस्ती है, आज यहां कल वहां चले'। इस प्रकार की अनुभूति हमें नवीन के नजदीक ला खड़ा करती है। किंतु ऐसी रचनाएं परिमाण में बहुत कम हे। । प्रधान रूप से तो इन्होंने समाज की विषमताओं से पराजित और संघर्ष से विरत एकाकी व्यक्ति की अनुभूतियों को ही व्यक्त किया है।

"है इस जीवन का बोझ असह
मैं निर्बलता से चूर प्रिये।
उर शंकित है, पग डगमग है,
तुम मुझसे कितनी दूर प्रिये!

....

यहाँ सफलता या असफलता, ये तो सिर्फ बहाने हैं,
केवल इतना सत्य कि निज को हम ही स्वयं अनजाने हैं।

इस तरह की रचनाओं में जो बेबसी और कर्म से विमुखता लक्षित होती है, वह स्पष्ट ही महान काव्य की रचना में सहायक नहीं हो सकती। छायावादी कवियों में भी इस तरह के उद्‌गार मिलते हैं, जहां कवि यथार्थ के विष्म संघर्ष से की विमुख हो कर कहीं दूर चला जाता चाहता है। किंतु ऐसे उद्‌गार काव्य–साधना के किसी क्षण–विशेष में व्यक्त हों , तो निश्चय ही काव्य का व्यक्तित्व सीमित ही रह जाता है। वर्मा जी की भाषा श्शैली सरल है। उनमें छायावादियों की तरह तत्सम शब्दों की प्रधानता, सूक्ष्मता या वक्रता के दर्शन नहीं होते। काव्य–भाषा की दिशा में इनकी रचनाएं निश्चय ही खड़ीबोली –कविता के एक नये मोड़ की सूचना होती है।

हरिवंशराय बच्चन – (1907–2003) का आरंभिक जीवन अभावों एवं कष्टों में बीता । असहयोग आंदोलन में भाग लेने केकारण इन्हें जेल भी जाना पड़ा । इसका परिणाम यह हुआ हक इनकी कविता जीवन से पूरी तरह विमुख नहीं हैं जहाँये 'मधुशाला' में पूरी तरह गर्क दिखयी देते हैं, वहाँ भी उन्हें यह भान रहा है कि मधुश्शालाा धार्मिक–सामप्रदायिक अंतराल को दूर कर अनुभूति के धरातल पर , चाहे वह अनुभूति कर्महीन मस्ती की ही क्यों न हो, एकता की स्थापना करती है।इनके'मधुशाला,'मधुबाला'और 'मधुकलश'काव्य–संग्रहों में उमर खैयाम की रूबाईयों का प्रभाव लक्षित होता है।किंतु मधुशाला, में डूबा हुआ यह कवि सामाजिक विषमता से अनजान नहीं है। उसने एक ओर तो द्‌दाम यौवन की लालसा

को अपनाया है और दूसरी ओर उसी स्तर पर सामाजिक संवेदना को ष मुखर करने का प्रयास किया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि कवि ठोस यथार्थ को पूरी तरह से ग्रहणनहीं कर पाया । हां, जीवन की विषमताओं को एक सामान्य अनुभूति के स्तर पर सुलझाने का प्रयास उसने अवश्य किया है। भाषा की दृष्टि से भी बच्चन का महत्वपूर्ण योगदान है। सीधी और स्पष्ट अभिव्यक्ति का जोरूप भगवती चरण वर्मा में मिलता है, उसी का विकसित रूप बच्चन में दिखायी देता है।

प्रस्तुत काव्यधारा के अन्य कवियों मैं नरेंद्र शर्मा (1913–1989) प्रेम और मस्ती के भावों से प्रभावित तो हुए, किंतु वे प्रणय के उच्छ्वास में लड़खड़ाये नहीं। इसका कारण संभवतः यह है कि उन्होंने देश के राजनीतिक जीवन में सक्रिय भाग लिया है और इसलिए वे प्रणय को अधिक सहजता के साथ खुल कर व्यक्त कर सके हैं। 'प्रभात फेरी'(1938), 'प्रवासी के गीत'(1938), 'पलास वन'(1939), में इसी प्रकार की भावप्रधान रचनाएं संकलित हैं। ये वस्तुतः काव्य को मंच में जमाते थे। बाद में ये चलचित्रों के गीत लिखने लगे।

(ख) हास्य व्यंग्य काव्य– छायावाद–युग में हास्य–व्यंग्यात्मक काव्य की भी प्रभूत परिमाण में रचना की गयी– एक ओर तो ईश्वरीप्रसाद शर्मा, हरिशंकर श्शर्मा, उग्र, बेढ़ब बनारसी प्रीृति कुछ कवियों ने इस काव्यधरा का प्रमुख रूप में अवलंबन लिया और दूसरी ओर ऐसे कवियों की संख्या भी कम नहीं है, जिन्होंने मुख्यतः अन्य विषयों पर काव्य–रचना करने पर भी प्रसंगवश हास्य–व्यग्य को स्थान दिया हैं 'मनोरंजन' के संपादक ईश्वरीप्रसाद शर्मा इस युग के प्रथम उल्लेखनीय व्यंग्यकार हैं। 'मतवाल', 'भूत', 'मौजी', 'मनोरंजन'आदि पत्रिकाओं में इनकी अनेक हास्यरसात्मक कविताओं का प्रकाशन हुआ था। इनके कविता–संकलन 'चना चबेला'(1924)में खड़ीबोली और ब्रजभाषा दोनों की रचनाएं संकलित हैं। शर्मा जी ने तत्कालीन सामाजिक , राजनीतिक और साहित्यिक परिवेश के छिद्रों की खोज कर सुरुचिपूर्ण हास्य की शैली अपनायी है। यद्यपि छायावाद युग में उनका कोई संकलन प्रकाशित नहीं हुआ, किंतु 'पिंजरापोल'और 'चिड़ियाघर' शीर्षक गद्य–रचनाओं में कुछ हास्य–व्यग्यात्मक कविताओं और पैरोडियों का इन्होंने कहीं–कहीं समावेश किया है। सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में व्याप्त पाखंड और भ्रष्टाचार पर इन्होंने तीखे व्यंग्य किये हैं।

ठसी युग के व्यंग्यकारों में पांडेय बेचन श्शर्मा'उग्र'(1900–1967)का अलग ही स्थान है। इनकी व्यंग्य –कविताओं और पैरोडियों में जो ताज़गी और निर्भीकता मिलती है, वह आज भी उतना ही प्रभावित करतीहै। इसी कोटि के एक अन्य प्रसिद्ध हास्य–व्यंग्यकार थे–कृष्णदेवप्रसाद गौड़ 'बेढ़ब बनारसी'(1895–1968) छायावाद –युग में ही नहीं, उसके बाद भी सासामयिक सामाजिक –धार्मिक आचार–व्यवहार को ले कर इन्होंने व्यंग्य –विनोद की जो धरा प्रवाहित की, वह बपनी व्यावहारिक भाषा–शैली के कारण और भी अधिक

उल्लेखनीय है। हास्य की छटा बिखेरने के लिए इन्होंने अंग्रेजी और उर्दू की शब्दावली का भी खुल कर प्रयोग किया है। उपमा और वक्रोक्ति के प्रयोग द्वारा व्यंग्य को तीखा बनाने में भी ये सिद्धहस्त थे।एक उदाहरण देखें–

'बाद मरने के मेरे कब्र पर आलू बोना
हश्र तक यह मेरे ब्रेकफास्ट के सामां होंगे,
उम्र सारी तो कटी घिसते कलम ए बेढब
आख़िरी वक़्त में क्या ख़ाक पहलवां होंगे।

इस युग के अन्य हास्य व्यंग्यकार थे– अन्नपूर्णानंद (महाकवि चच्चा), कान्तानाथ पांडेय'चोंच'और शिवरत्न 'शुक्ल'। अन्नापूर्णानंद ने पश्चिम के अंधानुकरण , सामाजिक रूढ़ियों की दासता , मानव–स्वार्थ आदि विषयों पर उत्कृष्ट व्यंग्य–काव्य की रचना की है। कान्तानाथ पांडेय'चोंच'की कृतियों में 'चोंच–चालीसा', 'पानी पांडे' और 'महाकवि सांड़' आदि उल्लेखनीय हैं, जिनमें से अंतिम दो में इनकी कुछ हास्य–रसात्मक कहानियां भी समाविष्ट है। समाज की कुरीतियों पर इन्होंने शिक्षात्मक व्यंग्य–लेखन की पद्धति अपनायी है। अंगरेजी शब्दों के प्रयोग द्वारा हास्य की सृष्टि करने में भी से बेढब बनारसी की भांति सिद्धहस्त हैं।'परिहास–प्रमोद' (1930) के रचयिता शिवरत्न 'शुक्ल' की विनोदपूर्ण रचनाएं भी अनायास मन को मुग्ध कर लेती हैं। छायावाद–युगीन पत्रिकाओं में इनकी रचनाएं 'बलई' नाम से प्रकाशित हुआ करती थीं। इसीयुग में प्रकाशित हास्य–व्यंग्य रचनाओं में हरिऔध जी की 'चौखे चौपदे' और चुमते चौपदे; चतुर्भुज चतुरेश कृत– 'हंसी का फब्बारा', और ज्वालाराम नागर का 'विलक्षण' प्रसिद्ध कृतियां हैं।

(ग) ब्रजभाषा काव्य– छायावाद युग में ब्रजभाषा काव्य की परंपरा एक गौण धारा के रूप में ही दिखाई देती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आधुनिक काल में गद्य–रचना की भांति काव्य–रचना भी खड़ीबोली में स्वीकार की गयी।प्रसाद, निराला, आदि छायावादी कवियों ने खड़ीबोली–कविता में भी सूक्ष्मतम अनुभूतियों की मार्मिक अंभिव्यक्ति कर उसकी अंतरंग शक्ति को प्रत्यक्ष कर दिखाया।इसके बावजूद अनेक कवि ब्रजभाषा में काव्य–रचना करते रहे। इनमें रमनाथ जोतिसी(1874), रामचंद्रशुक्ल (1884–1940), रायकृष्णदास (1892–1980), वियोगीहरि (1896–1988), आदि हैं। छायावाद–युग में ब्रजभाषा काव्य के उन्नयन में अनूप शर्मा का योगदान अवस्मरणीय है। इनके चम्पू–काव्य 'फेरि मिलिबौ' (1938), में कुरुक्षेत्र में राधा–कृष्ण के पुनर्मिलन का वर्णन है।

3.8 छायावाद का गद्य साहित्य

छायावाद यगीन गद्य–साहित्य के अध्ययन– अनुशीलन केपूर्व इस युग की राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि का संक्षिप्त सर्वेक्षण आवश्यक है, क्याकेंकि युगविशेष

का साहित्य जहां पर्वूवर्ती साहित्य से जुड़ा होता है, वहीं समसामयिक वातावरण और रचना–प्रवृतियों का भ्झी उस पर प्र्याप्त प्रभाव पड़ता हे। राजनीतिक दृष्टि से इस युग में महात्मा गांधी का नेतृत्व जनता को सत्य, अहिंसा और असहयोग के माध्यम से स्वतंत्रता –प्राप्ति के लिए निरंतर प्रेरणा एवं श्शक्ति प्रदान कर रहा था। 1919 ई. के प्रथम अवज्ञा–आंन्दोलन की असफलता, जलियांवाला कांड तथा भगतसिंहकोप्रदत्त मृत्युदंड जैसी घटनाओं से जनता का मनोबल कमनहीं हुआ था, साइमन कमीशन केबहिष्कार तथा नमक–कानून–भंग सदृश जन –आंदोलनों से इसी तथ्य की पुष्टि होती है। पश्चिमी सम्यता तथा संस्कृति केप्रभावस्वरूप इस युग के सामाजिक जीवन में भी परिवर्तन आ ग या था। युवा मन परंपरागत रीति–रिवाजों को तोड़ कर पश्चिमी राष्ट्रों के स्वतंत्र नागरिकों के समान जीवन–यापन के लिए लालायित था। सामामजिक –राजनीतिक परिवर्तनों की जैसी स्पष्ट छाप छायावाद–युग के गद्य –साहित्य में लक्षित होती है, वैसी काव्य–साहित्य मेंनहीं होती । वस्तुतः आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से हिंदी–गद्य का व्याकरण सम्त परिमार्जित रूप प्रायः स्थिर हो चुका था, फलस्वरूप समकालीन परिवेश केसंदर्भ में विभिन्न गद्यविधाओं का यथार्थन्मुख विकास–परिष्कार स्वाभाविक था । इसलिए छायावाद–'युग का कद्य–साहित्य पूर्ववर्ती युगों की तुलना में अधि विकासशील और समृद्ध है।

(क) नाटक – नामकरण की दृष्टि से विचार करें तो हिंदी–नाट्यसाहित्य के इस युग को 'प्रसाद–युग' कहना ही युक्तिसंगत होगा। यद्यपि प्रसाद जीने सन् 1918 के पूर्व ही नाटकों की रचना आरंभ कर दी थी, पर उनकी आरंभिक दचनाएं :सज्जन, कल्याणी–परिणय, करुणालय, राज्यश्री नाट्कला की दृष्टि से अपरिपक्व हें। इनके अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे अपने लिए माध्यम की खोजकर रहे थे। यह माध्यम उन्हों आलोच्य युग में प्राप्त हुआ। विशाख (1921), अजातशत्रु (1922), कामना (रचना 1923–24, प्रकाशन 1927), जनमेजय का नागयज्ञ (1926), स्कंदगुप्त (1928), एकघूंट (1930), चंद्रगुप्त (1931) और ध्रुवस्वामिनी (1933) शीर्षक नाट्यकृतियों के रूप में। इनके माध्यम से उन्होंने हिंदी –नाट्यसाहित्य को विशिष्ट स्तर अरैर गरिमा प्रदान की। वस्तुतः हिंदी –उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में जो स्थान प्रेमचंद का हैं, नाटक के क्षेत्र में लगभग वही स्थान प्रसाद का है।भारतेंदु द्वारा स्थापित रंगमंच की परंपरा को ही जयशंकर प्रसाद जी ने आगे बढ़ाया।यद्यपि यह सत्य है हि प्रसाद जी जैसा नाटक लिखना चाहते थे पारसी रंगमञ्च उस तरह के नही थे फलतः प्रसाद ने साहित्यिक रंगमंच की स्व्यं कल्पना की और इस मानसिक रंगमंच की पृष्ठभूमि में ही अपने नाटक लिखे। प्रसाद रवींद्रनाथ ठाकुर की तरह व्यावहारिक और बहिर्मुखी नही रहे अन्रूथा प्रसाद का काल्पनिक रंगमञ्च निश्चत ही वैसा ही स्थान बना लेता जैया बंगला में रवीन्द्र नाटक मंख आदि । देश की परतंत्रता और चारों ओर के निराश वातावरण में प्रसाद जी ने अपने गौरवमय अतीत से वातावरण को ऐतिहासिक नाटक से मूल्यबोध कराया। प्रसाद ने इतिहास के पात्रों में नया जीवन भ्रा। गौतमबुद्ध, चाणक्य

चंद्रगुप्त , स्कंदगुप्त , राज्यश्री, ध्रुवस्वामिनी आदि ऐतिहासिक पात्र हैं, जिन्हे प्रसाद जी ने वर्तमान परिपेक्ष्य में गढ़ा। इनके अतिरिक्त प्रसाद जीने विविध प्रकार के पात्रों की सृष्टि की है जिनके माध्यमसे भारतीय संसकृति का गौरव गान कराया।

प्रसाद के नाट्कों में शिल्प पर कई तरह के प्रभाव आये हैं ।जहां एक ओर संस्कृति नाट्य साहित्य की गौरवमयी परंपरा तो थी ही, अंगरेजी के प्रसिद्ध नाटककार भी थे, जिनका प्रभाव इनके शिल्प पर है। प्रसाद वस्तु–योजना, नायक–परिकल्पना तथा रससृष्टि में जहाँ वे संस्कृत–नाटकों के निकट प्रतीत होते हैं, वहां कथावस्तु में संघर्ष का समायोजन, अंको का दृश्यों में विभाजन, वस्तुसंघटन एवं पात्रो की सृष्टि में संस्कृत–काव्यशास्त्र की रूढ़ियों की अवहेलना उन्हे शेक्सपियर के नजदीक ले जाती है। 'ध्रुवस्वामिनी' में इब्सन और वर्नार्ड शॉ का भी प्रभाव दिखाई देता है। कलात्मक उत्कर्ष की दृष्टि से प्रसाद के तीन प्रमुख नाटक दिखाई देते हैं–'स्कंछगुप्त', 'चंद्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' ।स्कंदगुप्त भारतीय और पाश्चात्य नाटक–पद्धतियों का इतना सुंदर समन्वय उनके अन्य किसी नाटक में नहीं मिलता। स्कंदगुप्त ओर देवसेना के चरित्र पाठकों पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाते हें। 'चंद्रगुप्त' की सबसे बड़ी विशता यह है कि इसमें प्रसाद विदेशियों से भारत के संघर्ष में अंततः भारत की विजय की थीम उठायी है। चद्रगुप्त की कथावस्तु स्कंदगुप्त से उदात्त है चाणक्य, चंद्रगुप्त, मालविका, कार्नेलिया आदि के रूप में उन्होंने अनेक प्रभावशाली चरित्र हमें दिये हैं ।प्रसाद के नाटको में ध्रुवस्वामिनी का विशेष स्थान है ।इसकी विशषता यह है कि यह ऐतिहासिक नाटक है किंतु इसका महतव समस्यानाटक के रूप में हैं इसमें तलाक और पुनर्विवाह की समस्या को बड़े ही कौशल से उठाया गया हैं।

प्रसाद के नाटकों के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि वे अपने समय के श्रेष्ठ प्रयोगधर्मी थे। उन्होंने हिंदी नाटक को उत्कर्ष तक पहुंचाया।

इस युग के अन्य नाटककारों में हरिकृष्ण प्रेमी, और लक्ष्मीनारायण मिश्र विशेष उल्लेखनीय हैं। हरिकृष्ण प्रेमी के इस अवधि के नाटक इस प्रकार हैं– 'स्वर्णविहान' (1930), 'रक्षाबंधन'(1934), 'पालाल–विजय'(1936), 'प्रतिशोध'(1937), 'शिवासाधना' (1937), आदि। इनमें स्वर्णविहान गीतिनाटक है, शेष गद्यनाटक हैं। प्रेमी के नाटक भी प्रसाद की तरह ऐतिहासिक हैं, यद्यपि दोनों के लक्ष्य और कालखंड के चुनाव में बहुत अंतर है। इसी काल के दूसरे नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'अशोक' (1927), 'सन्यासी' (1929), 'मुक्तिकारहस्य' (1932), 'राक्षस का मंदिर'(1932), 'राजयोग' (1934), 'सिंदूर की होली'(1934), 'आधी–रात'(1934) आदि। संन्यासी से लेकर आधीरात तक में मिश्र जी ने सामाजिक समस्याओं को विशेष रूप से नारी–समस्याओं को आधार बनाया है। मुक्ति का रहस्य में पचिम के उन्मुक्त प्रेम पर भारतीय दांपत्य–विधान की विजय और सिंदूर की होली मेंविधवा विवाह एवं नारी–उद्धार के प्रतिमनोरमा के दृष्टिकोण से इस कथन की पुष्टि होती है। डा

नगेन्द्र ने लिख है– "कही व्यकित की स्वतंत्रता की सिफारिश है, कहीं व्यक्ति को विश्व में लय कर देने की।" इस प्रकार कह सकते हैं कि मिश्र जी ने नाट्यशास्त्र की दिशा में भी अनेक मोलिक एवं क्रांतिकारी प्रयोग किये हैं। उनके सभी अंक तीन अंको के हैं। अंकों का विभाजन दृश्यों में नही किया गया है।

इस युग में उक्त के अतिरिक्त धार्मिक–पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की संख्या भी प्राप्त होती है:– यथा– अंबिकादत्त त्रिपाठी– कृत सीय–'स्वंयबर नाटक' (1918), रामचरित–कृत' देवी–द्रोपदी' (1921), रामनेश त्रिपाठी– कृत्र 'सुभद्रा' (1924) आदि। इनके अतिरिक्त इस युग में नाटकों की एक लम्बी श्रृंखला है।

(ख) एकांकी नाटक– एकाकी नाटकों का प्रचलन इस काल के उत्तरार्द्ध में ही मिलता है।इस संबंध में इतना ही कहा जासकता है हक महेशचंद्र प्रसाद के 'भारतेश्वर का संदेश' (1918) अथवा देवीप्रसाद गुप्त के 'उपाधि और व्याधि' का प्रारंभ हो चुका था। एकांकी–नाटक विधा हमारे लिय अति प्रचीन है। संस्कृत में 'अंक', 'व्यायोम', 'भाण', 'वीथी', आदि एक अंक वाले नाटकों का प्रचलन था। किंतु इस विधा को विशोष साहित्य भी उपलब्ध नहीं है।हिंदी में पश्चिमी ढंग के एकांकी नाटकों का प्रणयन 1930 ई के बाद के दशक में हुआ।इस क्रम में रामकुमार वर्मा के 'बादल की मृत्यु' (1930), शीर्षक एकांकी प्श्चात भुवनेश्वरप्रसाद का 'कारवां' (1935), नामक एकांकी–संग्रह उल्लेखनीय है, जिसमें 'श्यामा', 'एक साम्यवादी', 'शैतान', 'प्रतिमा क विवाह', 'लाटरी' आदि एकांकी संग्रहीत हैं।इस युग के अन्य एकांकीकारों में गणेशप्रसाद द्विवेदी, जगदीशचंद्रमाथुर, उदयशंकरभट्ट, उपेंद्रनाथअश्क, सेठ गोविंददास, आदि प्रमुख हैं। उपेंद्रनाथअश्क (1910–1996), के एकांकी नाटकों का विषय मध्यवर्गीय जीवन अपनी विशष भंगिमा के साथ आया। उदयशंकर भट्ट (1898–1961) की रचनाओं में सामाजिक जीवन की समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। जगदीयचंद्र माथुर (1898–1987) की रचनाओं में बाकपन, विशिष्ठ मनःस्थितियों की पकड़ और रंगमचीय निष्ठा दिखाई पड़ती है। वहीं गणेशप्रसाद द्विवेदी के एकांकियों में स्त्री–पुरुष के भावुकतापूर्ण आकर्षण तथा वैवाहिक वैषम्य का मनोवैज्ञानिक धरातल पर चित्रण हुआ हैं। संक्षेप में कह सकते है कि इस काल के उत्तरार्द्ध में ही अधिकतम एकांकी नाटकों की रचनाएं हुई हैं।

(ग)–उपन्यास– यह काल उपन्यास में प्रेमचंद के नाम से जाना जाता है। 'सेवासदन' प्रेमचंद की ऐसी प्रौढ़ कृति थी जहां से उनके नये औपन्यासिक जीवन का ही नहीं, बल्कि हिंदी उपन्यास के एक नये युग का भी प्रादुर्भाव हुआ। 'सेवासदन' के बाद 'प्रेमाश्रम' (1922), 'रंगभूमि' (1925), 'कायाकल्प' (1926), 'निर्मला' (1927), 'गबन' (1931), 'कर्मभूमि' (1927), 'गोदन' (1935), शीर्षक से सात मौलिक उपन्यास प्रकाशित हुए। हिंदी उपन्यास का यह काल महात्मागांधी से प्रभावित काल था। प्रेमचंद ने अपने उपनसों में

समाज के विभिन्न वर्गों का चित्रण किया है। यह वह वर्ग है जो गांवों में रहता था तथा या तो खेती करता था या खेतिहर मजदूर था। साथ ही तत्कालीन साहूकारों को भी उन्होंने अपने उपन्यास में लिया था। इसके साथ ही उनके जीवन का आधार राष्ट्र–प्रेम था। जिसकी अभिव्यक्ति का माध्यम तत्कालीन आम जनता के शोषण को बनाया था। शिल्प और भाषा की दृष्टि से वे उपने काल के मजे हुए रचनाकारों में थे।

प्रेमचंद के समकालीन उपन्यासकारों में– विश्वंभरनाथ 'कौशिक'(1891–1946) ने 'मां'और'भिखारिणी' लिखकर प्रेमचंद का ही अनुसरण किया। चतुरसेन शास्त्री ने आलोच्य अवधि में 'हृदय की परख'(1918), 'हृदय कीप्यास'(1932), 'अमर अभिलाषा'(1932), आदि उपन्यास लिखकर प्रेमचंद से अपनी अलग पहचान बनाई। इस काल के अन्य उपन्यासकार हैं– प्रतापनारायणमिश्र, शिवपूजन सहाय , बेचन शर्मा 'उग्र', ऋषभचरण जैन, अनूपलाल मंडल, आदि हैं। इस काल में ही प्रसाद ने भी 'कंकाल'(1929), 'तितली'(1934), उपन्यास लिखे। किंतु प्रसाद उपन्यासकार के रूप में सफल नहीं हुए। उपन्यास के इस काल में नवीन शैली और पहचान का कार्य जैनेन्द्र (1905–1988) ने बनाईं। यदि यह कहा जाय कि हिंदी उपन्यास को जो पहचान पानी थी वह इनके उपन्यास– परख, सुनीता त्यागपत्र आदि से ही पाई।

इस काल के अन्य उपन्यासकारों में भगवतीचरण वर्मा राधिकारमणप्रसाद सिंह, सियारामशरणगुप्त आदि थे।

3.9 इकाई सारांश/याद रखने की बातें

1. रामचंद्रशुक्ल ने प्रसाद के काव्य में 'मानवीय भूमि', निराला के काव्य में 'बुद्धि'तत्व और पंत के काव्य में 'कल्पना' की प्रधानता मानी।
2. तुलसी को 'लोकमंगल' का, सूर को 'जीवनोत्सव' का, जायसी को 'प्रेम की प्रीत' का कवि आलोचक रामचंद्रशुक्ल ने माना ।
3. लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी प्रकार कम नहीं होता।लोभ के बल से वे काम और क्रोध को जीतते हैं, सुख की वासना का त्याग करते हैं, मान अपमान में समान भाव रखते हैं।''–लोभ और प्रीति:रामचंद्रशुक्ल
4. ''इस पुस्तक में मेरी अंतर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं।यात्रा के लिए निकलती रही हैं बुद्धि पर हृदय को भी साथ लेकर।'' –चिंतामणि भाग–एक
5. ''कहानियों में तो हिंदी उनसे बहुत पीछे हर्गिज नहीं है, चाहे वे इसे मानें या न मानें।प्रसाद, कौशिक या जैनेन्द्र की रचनाओं के विषय में तो हमें कुछ कहना नहीं है।उनकी चुनी हुई चीजें किसी भी विदेशी साहित्यकार की रचनाओं से टक्कर ले सकती हैं।'' पाश्चात्य कहानी साहित्य से हिंदी की तुलना करते हुए प्रेमचंद ने कही है।

6. "अगर आप भारत की समस्त जनता के आचार–विचार, भाषा–भाव, रहन–सहन, आशा–आकांक्षा, दुख–सुख और सूझ–बूझ जानना चाहते हैं तो प्रेमचंद से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता ।"–हजारी प्रसाद

7. "बुरा आदमी भी बिल्कुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं देवता अवश्य छिपा होता है–यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है।" –प्रेमचंद

8. 'काव्य में 'रहस्य' कोई ऐसा 'वाद' नही है, जिसे लेकर निराला जी कोई पंथ ही खड़ा करें।" –रामचंद्रशुक्ल

9. "छायावाद विलायती अभिव्यंजना का विलायती संस्करण है।" –रामचंद्रशुक्ल

10. "मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है।" –हजारी प्रसाद

11. "काव्य आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति है।" – प्रसाद

12. "साहित्य जन समूह के हृदय का विकास है।" –बालकृष्णभट्ट

13. "मैं मजदूर हूं, मजदूरी किए बिना मुझे भोजन करने का कोई अधिकार नहीं।" –प्रेमचंद

14. "मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है, मनुष्य की मुक्ति–कर्म के बंधन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छंदों के शासन से अलग हो जाना है।" –निराला

15. "छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करतीहै।" –जयशंकर

16. "छायावाद काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।" –पंत

17. "देखते नहीं मेरी पास एक कवि की वाणी, कलाकार का हाथ, पहलवान की छाती और फिलासफर के पैर हैं ।" –निराला

18. "मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किंतु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भाव मेरे विचार में छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है।"–नंददुलारे वाजपेयी

19. "सृष्टि के बाहयाकार पर इतना लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अभिव्यक्ति के लिए रो उठा।स्वच्छंद छंद में चित्रित उन मानव अनुभूतियों का नाम 'छाया' उपयुक्त ही था और मुझे तो आजभी उपयुक्त लगताहै।" –महादेवी

20. "छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं रहा वरन् थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामंती साम्राज्यवादी बंधनों के प्रति विद्रोह रहा है।" –रामविलासशर्मा

21. "छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है।" –डा. नगेन्द्र

22. "परमात्मा की छाया आतमा में पड़ने लगती है और आतमा की छाया परमात्मा में।यही

छायावाद है।"—डा.रामकुमारवर्मा

23. "सुख—दुख की भावावेशमयी अवस्था विशेष का गिने—चुने शब्दों में स्वर—साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।" – महादेवी

3.10 अपनी प्रगति की जांच /प्रश्नोत्तर

1. छायावाद की अवधारणा को स्पष्ट करें।
2. छायावाद और प्रकृति का संबंध बताइये।
3. छायावाद रहस्य और दर्शन का काव्य है, आप इससे कहां तक सहमत हैं।
4. छायावाद की वस्तुगत प्रवृतियां बताइयें।
5. सिद्ध कीजिए छायावाद स्वानुभूति निरूपण का काव्य है।
7. छायावादी काव्य में अंतःसौन्दर्य बताइये।
8. छायावादी काव्य में मानव और मानवतावाद बताइये।
9. क्या छायावाद को वेदना—संवेदना का काव्य कहा जा सकता है।
10. छायावाद की श्शैलीगत प्रवृतियां बताइये।
11. निम्न पर 50 शब्दों में अपने विचार रखें –
    1. लक्षणा—प्रधनता
    2. विम्बात्मकता
    3. प्रतीकात्मकता
    4. विशेषण—विपर्यय
    5. अप्रस्तुतात्मक व्यंजना
    6. उपचार वक्रता

12. निम्न वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिये–

1. 'छायावाद' को मधुचर्या किस आलोचक ने कहा?
   (अ) हजारी प्रसाद (ब) रामचंद्रशुक्ल (स) रामकुमारवर्मा
2. छायावाद का सीमांकन माना जाता है ?
   (अ) 1918—1936 ई. (ब) 1918—1930ई (स) 1918—1967ई
3. 'जूही की कली' का प्रकाशन वर्ष है ?
   (अ) 1916 ई. (ब) 1918ई (स) 1919ई.
4. 'कामायनी' का प्रकाशन वर्ष' है ?

(अ) 1935 ई. (ब) 1918ई (स) 1919ई.

5. 'इंदुमती' का प्रकाशन वर्ष' है ?

(अ) 1900 ई. (ब) 1918ई (स) 1919ई

6. 'दिनकर जी की मृत्यु हुई वर्ष में ?

(अ) 1974 ई. (ब) 1978ई (स) 1979ई

7. जयशंकर प्रसाद का जन्म वर्ष' है ?

(अ) 1890 ई. (ब) 1878ई (स) 1879ई

8. 'झरना' का प्रकाशन वर्ष' है ?

(अ) 1900 ई. (ब) 1918ई (स) 1919ई

9. 'राम की शक्ति पूजा' का प्रकाशन वर्ष' है ?

(अ)1930 ई. (ब) 1918ई (स) 1919ई

10. निराला की अंतिम रचना'सांध्यकाकली' का प्रकाशन वर्ष' है ?

(अ) 1969 ई. (ब) 1978ई (स) 1989ई

11. 'सेवासदन' का प्रकाशन वर्ष' है ?

(अ) 1900 ई. (ब) 1918ई (स) 1919ई

12. 'गोदान' का प्रकाशन वर्ष' है ?

(अ) 1936 ई. (ब) 1918ई (स) 1919ई

13. 'सौत' का प्रकाशन वर्ष' है ?

(अ) 1915 ई (ब) 1918ई (स) 1919ई

14. 'पंच परमेश्वर'कहानी का प्रकाशन वर्ष' है ?

(अ) 1916 ई. (ब) 1918ई (स) 1919ई

15. 'फांसी'कहानी–संग्रह का प्रकाशन वर्ष' है ?

(अ) 1929 ई. (ब) 1928ई (स) 1939ई

16. बच्चन की'मधुशाला' का प्रकाशन वर्ष' है ?

(अ) 1935 ई. (ब) 1928ई (स) 1939ई

17. अज्ञेय का काव्य–संग्रह'भग्नदूत' का प्रकाशन वर्ष' है ?

(अ) 1933ई. (ब) 1928ई (स) 1939ई

18. भगवतीचरणवर्मा का'चित्रलेखा'उपन्यासका प्रकाशनवर्ष'है ?

(अ) 1934 ई. (ब) 1928ई (स) 1939ई

18. जैनेन्द्र की 'हत्या' कहानी का प्रकाशन वर्ष' है ?

(अ)1927 ई. (ब) 1928ई (स) 1929ई

19. 'त्रिपथगा' कहानी संग्रह का प्रकाशन वर्ष' है ?

(अ) 1931 ई. (ब) 1928ई (स) 1929ई

20. महादेवी वर्मा का काव्यसंग्रह 'सांध्यगीत' का प्रकाशन वर्ष है

(अ) 1936 ई. (ब) 1938 ई (स) 1939ई

21. किस आलोचन ने प्रसाद के काव्य में 'मानवीय भूमि', निराला के काव्य में 'बुद्धि'तत्व और पंत के काव्य में 'कल्पना' की प्रधानता मानी?

(अ) हजारी प्रसाद (ब) रामचंद्रशुक्ल (स) रामकुमारवर्मा

22. तुलसी को 'लोकमंगल' का, सूर को 'जीवनोत्सव' का जायसी को 'प्रेम की प्रीत' का कवि किस आलोचक ने माना ?

(अ) हजारी प्रसाद (ब) रामचंद्रशुक्ल (स) रामकुमारवर्मा

23. नंददुलारे वाजपेयी की पहचान किस युग के समर्थ आलोचको में मानी जाती है?

(अ) भक्तिकाल (ब) छायावाद (स) प्रयोगवाद

24. लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी प्रकार कम नहीं होता।लोभ के बल से वे काम और क्रोध को जीतते हैं, सुख की वासना का त्याग करते हैं, मान अपमान में समान भाव रखते हैं।''– किस निबंध की पंक्तियां हैं ?

(अ) करुणा (ब) लोभ और प्रीति (स) काम

25. इस पुस्तक में मेरी अंतर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं।यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि पर हृदय को भी साथ लेकर।''–ये पंक्तियां किस निबंध संग्रह के 'निवेदन' से उद्धृत की हैं?

(अ) त्रिवेणी (ब) चिंतामणि भाग–एक (स) तुलसीदास

26. ''कहानियों में तो हिंदी उनसे बहुत पीछे हर्गिज नहीं है, चाहे वे इसे मानें या न मानें। प्रसाद, कौशिक या जैनेन्द्र की रचनाओं के विषय में तो हमें कुछ कहना नहीं है।उनकी चुनी हुई चीजें किसी भी विदेशी साहित्यकार की रचनाओं से टक्कर ले सकती हैं।'' पाश्चात्य कहानी साहित्य से हिंदी की तुलना करते हुए किसने कही है?

(अ) हजारी प्रसाद (ब) रामचंद्रशुक्ल (स) प्रेमचंद

27. ''अगर आप भारत की समस्त जनता के आचार–विचार, भाषा–भाव, रहन–सहन,

आशा–आकांक्षा, दुख–सुख और सूझ–बूझ जानना चाहते हैं तो प्रेमचंद से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता।" किसका कथन है ?

(अ) हजारी प्रसाद (ब) रामचंद्रशुक्ल (स) प्रेमचंद

28. "बुरा आदमी भी बिल्कुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं देवता अवश्य छिपा होता है– यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है।" किसका कथन है ?

(अ)हजारी प्रसाद (ब) रामचंद्रशुक्ल (स) प्रेमचंद

29. "काव्य में 'रहस्य' कोई ऐसा 'वाद' नही है, जिसे लेकर निराला जी कोई पंथ ही खड़ा करें।" किसकी पंक्तियां हैं ?

(अ) हजारी प्रसाद (ब) रामचंद्रशुक्ल (स) प्रेमचंद

30. "छायावाद विलायती अभिव्यंजना का विलायती संस्करण है।" किसकी पंक्तियां हैं ?

(अ) हजारी प्रसाद (ब) रामचंद्रशुक्ल (स) प्रेमचंद

31. "मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है।" किसकी पंक्तियां हैं ?

(अ) हजारी प्रसाद (ब) रामचंद्रशुक्ल (स) गुलाबराय

32. "काव्य आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति है।" किसकी पंक्तियां हैं ?

(अ) हजारी प्रसाद (ब) प्रसाद (स) प्रेमचंद

33. "साहित्य जन समूह के हृदय का विकास है।" किसकी पंक्तियां हैं ?

(अ) हजारी प्रसाद (ब) बालकृष्णभट्ट (स) प्रेमचंद

34. "मैं मजदूर हूं, मजदूरी किए बिना मुझे भोजन करने का कोई अधिकार नहीं।" किसकी पंक्तियां हैं ?

(अ) गुलाबराय (ब) बालकृष्णभट्ट (स) प्रेमचंद

35. "मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है, मनुष्य की मुक्ति–कर्म के बंधन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छंदों के शासन से अलग हो जाना है।" किसकी पंक्तियां हैं ?

(अ) गुलाबराय (ब) बालकृष्णभट्ट (स) निराला

36. "छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है।" किसकी पंक्तियां हैं ?

(अ) महादेवी (ब) निराला (स) जयशंकर प्रसाद

37. "छायावाद काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।" किसकी पंक्तियां हैं?

(अ) महादेवी (ब) निराला (स) पंत

38. ''देखते नहीं मेरी पास एक कवि की वाणी, कलाकार का हाथ, पहलवान की छाती और फिलासफर के पैर हैं।'' किसकी पंक्तियां हैं ?

(अ) महादेवी (ब) निराला (स) पंत

40. ''मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किंतु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भाव मेरे विचार में छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है।'' किसकी पंक्तियां हैं ?

(अ) नंददुलारे वाजपेयी (ब) रामचंद्रशुक्ल (स) गुलाबराय

41. ''सृष्टि के बाहयाकार पर इतना लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वच्छंद छंद में चित्रित उन मानव अनुभूतियों का नाम 'छाया' उपयुक्त ही था और मुझे तो आजभी उपयुक्त लगताहै।'' किसकी पंक्तियां हैं ?

(अ) महादेवी (ब) निराला (स) पंत

42. ''छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं रहा वरन् थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामंती साम्राज्यवादी बंधनों के प्रति विद्रोह रहा है।'' किसकी पंक्तियां हैं ?

(अ) रामविलासशर्मा (ब) रामचंद्रशुक्ल (स) गुलाबराय

43. ''छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है।''किस आलोचक ने कहा ?

(अ) रामविलासशर्मा (ब) रामचंद्रशुक्ल (स) डा. नगेन्द्र

44. ''परमात्मा की छाया आतमा में पड़ने लगती है और आतमा की छाया परमात्मा में ।यही छायावाद है।'' किस आलोचक ने कहा ?

(अ) रामविलासशर्मा (ब) रामचंद्रशुक्ल (स) डा.रामकुमारवर्मा

45. ''सुख–दुख की भावावेशमयी अवस्था विशेष का गिने–चुने शशब्दों में स्वर–साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।'' किसकी पंक्तियां हैं ?

(अ) महादेवी (ब) निराला (स) पंत

46. ''प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिंब है, इसीलिए प्रकृति को काव्यगत व्यवहार में ले आकर छायावाद की सृष्टि होती है, यह सिद्धांत भी भ्रामक लगता है। यद्यपि प्रकृति का आलंबन, स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्यधारा में हो लगा है, किंतु प्रकृति से संबंध रखनेवाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता है।'' किस आलोचक ने कहा ?

(अ) रामविलासशर्मा (ब) रामचंद्रशुक्ल (स) डा.रामकुमारवर्मा

47. ''छायावाद के 'छाया'शब्द को 'मोती के भीतर की छाया जैसी तरलता'' किसने कहा?

(अ) प्रसाद (ब) निराला (स) पंत

48. निम्न रचनाओं के रचयिताओं के नाम बताइये ?

1. 'यथार्थवाद और छायावाद'
   (अ) प्रसाद (ब) निराला (स) पंत
2. 'कैदी और कोकिला'
   (अ) माखनलाल चतुर्वेदी (ब) निराला (स) पंत
3. 'उर्मिला'
   (अ) माखनलाल चतुर्वेदी (ब) बालकृष्ण शमा 'नवीन' (स) पंत
4. 'झांसी की रानी'
   (अ) माखनलाल चतुर्वेदी (ब) बालकृष्ण शमा 'नवीन' (स) सुभद्रकुमारी
5. 'रेणुका'
   (अ) माखनलाल चतुर्वेदी (ब) बालकृष्ण शमा 'नवीन' (स) दिनकर
6. 'कृतज्ञता'
   (अ) माखनलाल चतुर्वेदी (ब) निराला (स) पंत
7. 'आकाशगंगा'
   (अ) माखनलाल चतुर्वेदी (ब) रामकुमारवर्मा (स) पंत
8. 'साध्यगीत'
   (अ) महादेवी (ब) निराला (स) पंत
9. 'विसर्जन'
   (अ) उदयशंकर भट्ट (ब) निराला (स) पंत
10. 'कर्वला'
    (अ) प्रेमचंद (ब) निराला (स) पंत

12. उक्त वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर –

1. 'छायावाद' को मधुचर्या किस आलोचक ने कहा?
   (ब) रामचंद्रशुक्ल
2. छायावाद का सीमांकन माना जाता है ?
   (अ) 1918–1936ई.
3. 'जूही की कली' का प्रकाशन वर्ष है ?
   (अ) 1916 ई.

4. 'कामायनी' का प्रकाशन वर्ष' है ?
   (अ) 1935 ई.
5. 'इंदुमती' का प्रकाशन वर्ष' है ?
   (अ) 1900 ई.
6. 'दिनकर जी की मृत्यु हुई वर्ष में ?
   (अ) 1974 ई.
7. जयशंकर प्रसाद का जन्म वर्ष' है ?
   (अ) 1890 ई.
8. 'झरना' का प्रकाशन वर्ष' है ?
   (ब) 1918ई
9. 'राम की शक्ति पूजा' का प्रकाशन वर्ष' है ?
   (अ) 1930 ई.
10. निराला की अंतिम रचना'सांध्यकाकली' का प्रकाशन वर्ष' है ?
    (अ) 1969 ई.
11. 'सेवासदन' का प्रकाशन वर्ष' है ?
    (अ) 1900 ई. (ब) 1918ई
12. 'गोदान' का प्रकाशन वर्ष' है ?
    (अ) 1936 ई.
13. 'सौत' का प्रकाशन बर्ष' है ?
    (अ) 1915 ई.
14. .'पंच परमेश्वर'कहानी का प्रकाशन वर्ष' है ?
    (अ) 1916 ई.
15. 'फांसी'कहानी–संग्रह का प्रकाशन वर्ष' है ?
    (अ) 1929 ई.
16. बच्चन की 'मधुशाला' का प्रकाशन वर्ष' है ?
    (अ) 1935 ई.
17. अज्ञेय का काव्य–संग्रह'भग्नदूत' का प्रकाशन वर्ष' है ?
    (अ) 1933ई.

18. भगवतीचरणवर्मा का'चित्रलेखा'उपन्यासका प्रकाशनवर्ष' है ?

(अ) 1934 ई.

18. जैनेन्द्र की'हत्या' कहानी का प्रकाशन वर्ष' है ?

(अ) 1927 ई.

19. 'त्रिपथगा'कहानी संग्रह का प्रकाशन वर्ष' है ?

(अ) 1931 ई.

20. महादेवी वर्मा का काव्यसंग्रह'सांध्यगीत'का प्रकाशन वर्ष है

(अ) 1936 ई.

21. किस आलोचन ने प्रसाद के काव्य में 'मानवीय भूमि', निराला के काव्य में 'बुद्धि'तत्व और पंत के काव्य में 'कल्पना' की प्रधानता मानी?

(ब) रामचंद्रशुक्ल

22. तुलसी को 'लोकमंगल' का, सूर को 'जीवनोत्सव' का जायसी को 'प्रेम की प्रीत' का कवि किस आलोचक ने माना ?

(ब) रामचंद्रशुक्ल

23. नंददुलारे वाजपेयी की पहचान किस युग के समर्थ आलोचको में मानी जाती है?

(ब) छायावाद

24. लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी प्रकार कम नहीं होता।लोभ के बल से वे काम और क्रोध को जीतते हैं, सुख की वासना का त्याग करते हैं, मान अपमान में समान भाव रखते हैं।''–किस निबंध की पंक्तियां हैं ?

(ब) लोभ और प्रीति

25. इस पुस्तक में मेरी अंतर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं।यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि पर हृदय को भी साथ लेकर।''–ये पंक्तियां किस निबंध संग्रह के 'निवेदन'से उद्धृत की हैं?

(ब) चिंतामणि भाग–एक

26. ''कहानियों में तो हिंदी उनसे बहुत पीछे हर्गिज नहीं है, चाहे वे इसे मानें या न मानें।प्रसाद, कौशिक या जैनेन्द्र की रचनाओं के विषय में तो हमें कुछ कहना नहीं है।उनकी चुनी हुई चीजें किसी भी विदेशी साहित्यकार की रचनाओं से टक्कर ले सकती हैं।'' पाश्चात्य कहानी साहित्य से हिंदी की तुलना करते हुए किसने कही है?

(स) प्रेमचंद

27. "अगर आप भारत की समस्त जनता के आचार–विचार, भाषा–भाव, रहन–सहन, आशा–आकांक्षा, दुख–सुख और सूझ–बूझ जानना चाहते हैं तो प्रेमचंद से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता।" किसका कथन है ?

(अ) हजारी प्रसाद

28. "बुरा आदमी भी बिल्कुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं देवता अवश्य छिपा होता है–यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है।"किसका कथन है ?

(स) प्रेमचंद

29. 'काव्य में 'रहस्य' कोई ऐसा 'वाद' नही है, जिसे लेकर निराला जी कोई पंथ ही खड़ा करें।"किसकी पंक्तियां हैं ?

(ब) रामचंद्रशुक्ल

30. "छायावाद विलायती अभिव्यंजना का विलायती संस्करण है।" किसकी पंक्तियां हैं ?

(ब) रामचंद्रशुक्ल

31. "मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है।" किसकी पंक्तियां हैं ?

(अ) हजारी प्रसाद

32. "काव्य आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति है।" किसकी पंक्तियां हैं ?

(ब) प्रसाद

33. "साहित्य जन समूह के हृदय का विकास है।" किसकी पंक्तियां हैं ?

(ब) बालकृष्णभट्ट

34. "मैं मजदूर हूं, मजदूरी किए बिना मुझे भोजन करने का कोई अधिकार नहीं।" किसकी पंक्तियां हैं ?

(स) प्रेमचंद

35. "मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है, मनुष्य की मुक्ति–कर्म के बंधन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छंदों के शासन से अलग हो जाना है।" किसकी पंक्तियां हैं ?

(स) निराला

36. "छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करतीहै।" किसकी पंक्तियां हैं ?

(स) जयशंकर प्रसाद

37. "छायावाद काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।" किसकी पंक्तियां हैं?

(स) पंत

38. "देखते नहीं मेरी पास एक कवि की वाणी, कलाकार का हाथ, पहलवान की छाती और फिलासफर के पैर हैं ।" किसकी पंक्तियां हैं ?

(ब) निराला

40. "मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किंतु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भाव मेरे विचार में छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है।" किसकी पंक्तियां हैं ?

(अ) नंददुलारे वाजपेयी

41. "सृष्टि के बाहयाकार पर इतना लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अभिव्यक्ति के लिए रो उठा।स्वच्छंद छंद में चित्रित उन मानव अनुभूतियों का नाम 'छाया' उपयुक्त ही था और मुझे तो आजभी उपयुक्त लगताहै।" किसकी पंक्तियां हैं ?

(अ) महादेवी

42. "छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं रहा वरन् थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामंती साम्राज्यवादी बंधनों के प्रति विद्रोह रहा है।" किसकी पंक्तियां हैं ?

(अ) रामविलासशर्मा

43. "छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है।"किस आलोचक ने कहा ?

डा. नगेन्द्र

44. "परमात्मा की छाया आतमा में पड़ने लगती है और आतमा की छाया परमात्मा में ।यही छायावाद है।" किस आलोचक ने कहा ?

(स) डा.रामकुमारवर्मा

45. "सुख–दुख की भावावेशमयी अवस्था विशेष का गिने–चुने शब्दों में स्वर–साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।" किसकी पंक्तियां हैं ?

(अ) महादेवी

46. "प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिंब है, इसीलिए प्रकृति को काव्यगत व्यवहार में ले आकर छायावाद की सृष्टि होती है, यह सिद्धांत भी भ्रामक लगता है। यद्यपि प्रकृति का आलंबन, स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्यधारा में हो लगा है, किंतु प्रकृति से संबंध रखनेवाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता है।" किस आलोचक ने कहा ?

(ब) रामचंद्रशुक्ल

47. "छायावाद के 'छाया'शब्द को 'मोती के भीतर की छाया जैसी तरलता'' किसने कहा?

(अ) प्रसाद

48. निम्न रचनाओं के रचयिताओं के नाम बताइये ?

1. 'यथार्थवाद और छायावाद'

(अ) प्रसाद

2. 'कैदी और कोकिला'

(अ) माखनलाल चतुर्वेदी

3. 'उर्मिला'

(ब) बालकृष्ण शमा'नवीन'

4. 'झांसी की रानी'

(स) सुभद्रकुमारी

5. 'रेणुका'

(स) दिनकर

6. 'कृतज्ञता'

(स) पंत

7. 'आकाशगंगा'

(ब) रामकुमारवर्मा

8. 'साध्यगीत'

(अ) महादेवी

9. 'विसर्जन'

(अ) उदयशंकर भट्ट

10. 'कर्वला'

(अ) प्रेमचंद

3.11 चर्चा और स्पष्टीकरण के बिन्दु –छात्र स्वयं तैयार करें:

चर्चा के बिन्दु

.....

.....

.....

.....

.....

टीकरण के बिन्दु

.....

.....

.....

.....

.....

3.12 आगे की पढाई

1. हिंदी साहित्य का इतिहास–रामचंद्रशुक्ल
2. हिंदी साहित्य का इतिहास–संपादकः डा नगेन्द्र
3. हिंदी साहित्य की भूमिका– हजारी प्रसाद द्विवेदी
4. हिंदी का गद्य साहित्य–डा.रामचंद्र तिवारी
5. हिंदी साहित्य का इतिहास –संपादकःकमलापति त्रिपाठी
6. हिंदी साहित्यः उद्भव और विकास–हजारी प्रसाद द्विवेदी
7. हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहासःराधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली
8. कवि सुमित्रा नंदन पंत–नंददुलारे वाजपेयी
9. प्रसाद की दार्शनिक चेतना–चक्रवर्ती
10. निराला की साहित्य साधना–रामविलासशर्मा
11. महादेवीःचिंतन और कला–इंद्रनाथ मदान
12. आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धांतः रामविलास शर्मा

इकाई–चार

उत्तर छायावाद

उत्तर छायावादी काव्य की विविध प्रवृत्तियाँः –प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता, नवगीत, समकालीन कविता। प्रमुख साहित्यकार, रचनाएँ और साहित्यिक विशेषताएँ।

इकाई संरचना

4.1 परिचय
4.2 उद्देश्य
4.3 काव्यधारा
4.4 उत्तरछायावाद साहित्यिक विशेषताए
4.5 प्रगतिवाद और रचनाकार
4.6 प्रयोगवाद और रचनाकार
4.7 नई कविता और रचनाकार
4.8 नवगीत और रचनाकार
4.9 समकालीन कविता और रचनाकार
4.10 इकाई सारांश/याद रखने की बातें
4.11 अपनी प्रगति की जांच
4.12 चर्चा और स्पष्टीकरण के बिन्दु
4.13 आगे की पढाई

4.1 परिचय

प्रगति का साधारण अर्थ है आगे बढ़ना। जो साहित्य जीवन को आगे बढ़ाने में सहायक हो वही प्रगतिशील साहित्य है। हॉ इस प्रगति का अर्थ आगे बढ़ना अवश्य है ,परंतु एक विशेष ढंग से,एक विशेष दिशा में। इसकी एक विशेष परिभाषा है। इस परिभांषा के आधार हैं–द्वंदात्मक भौतिकवाद। इसमें दो शब्द हैं–भौतिकवाद और द्वंद्वात्मक। भौतिकवाद का सार यह है कि संसार का मूलाधार पंचभूत है। पंचभूत अर्थात पदार्थ। उसके सभी स्थूल और सूक्ष्म रूप पदार्थ से बने हैं। इस मान्यता के अनुसार जगत का एक ही सत्य हैं भौतिक जीवन। इस भौतिक

जीवन को नियंत्रित करती है दो विरोधी शक्तियां ,एक है पूंजीवाद जिसका अप्रत्यक्ष अं ग है साम्राज्यवाद तथा दूसरी है समाजवाद। प्रगतिवादी समाजवाद का पोषक है। साहित्य की इस धारा का समाज से सीधा संबंध होने के कारण प्रगतिवादी वैयक्तिक चेतना की जगह सामूहिक चेतना को मान्यता देता है। इस प्रकार प्रगतिशील साहित्य का उद्देश्य है अहं का सामाजीकरण। जिस प्रकार फ्रायड ने दमन और गोपन का पर्दा फाड़कर ,उसकी तह में छिपी हुई कुत्साओं का प्रदर्शन किया है,उसी प्रकार प्रगतिवादी स्वस्थ मानव–प्रवृतियों को जिनमें मुख्य क्षुधा और काम है–प्राकृति रूप में व्यक्त करने से नहीं घबराता। 'ललित कला कुत्सित कुरूप जग का जो रूप करे निर्माण।'इसीलिए प्रगतिवादी ने अपली अभिव्यक्ति के उपकरण आग्रहपूर्वक साधारण स्वस्थ जन–जीवन से ग्रहण करना आरंभ किया। सारंश यह है कि प्रगतिवाद जीवन के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का नाम है,जिसके मूल तत्व हैं–द्वंद्वात्मक भौतिकवाद,समाजवाद,राष्ट्रीयभावना।इसका नकारात्मक पहलू यह है कि इसका दृष्टिकोण मूलतःवैज्ञानिक होने के कारण बौद्धिक एवं आलोचनात्मक है। अतएव स्वभाव से ही उसमें वह तन्मयता या आत्म–विसर्जन नहीं है जो काव्य के लिये अनिवार्य है।

हिंदी साहित्य में निराला,पंत,इलाचंद जोशी,जैनेन्द्र तथा कुछ प्रगतिवादियों का विद्रोह अपनी मूल प्रकृति में वस्तुतः दब नहीं सका और भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में भिन्न भिन्न रूपों में वह प्रकट हुआ।यूरोप में जिस प्रकार नवीनतम साहित्यिक प्रवृतियों का प्रारंभ 'न्यू सिगनेचर' से माना जाता है उसी प्राकर हिंदी में नवीनतम प्रवृतियों का समारंभ तार सप्तक के प्रकाशन सन् 1943 ई. से माना जा सकता है। अज्ञेय ने अपने वैचारिक छः मित्रों के सहयोग से 1043 में इसे प्रकाशित किया। यह प्रयोगशील कविता का प्रारंभ था। तार सप्तक के सात कवियों के एकत्र होने का एक विशिष्ट कारण व प्रयोजन था। वे एक स्कूल के नहीं थे। काव्य के प्रति इनका एक अन्वेषी दृष्टिकोण था। प्रयोगशीलता के संबंध में अज्ञेय जी का कहना है कि जो वयक्ति का अनुभूत है उसे समष्टि तक कैसे उसकी संपमर्णता में पहुंचाया जाय ,यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है। क्योंकि कवि अनुभव करता है कि भाषा का पुराना व्यापकत्व कम होता जाता है। नई परिस्थिति से नया रागात्मक संबंध स्थापित करने के उद्देश्य ही नये कवि एक जगह इकट्ठे हुये थे। प्रयोगवाद ने छायावाद के अतिरिक्त प्रगतिवाद के विरुद्ध भी आवाज उठायी। प्रगतिवाद ने समष्टि को महत्व प्रदान किया था,प्रगतिवाद ने व्यष्टि का समर्थन किया। प्रगतिवाद वस्तुवादी था परंतु प्रयोगवाद ने शैलीशिल्प के नख श्रृंगार में ही सारी कला लगा दी। वस्तुतः प्रयोग,प्रतिभा संपन्न कलाकार की एक सहज प्रकृति है। प्रयोग पूर्वग्रहों से अधिक अनुशर्त और रचनात्मक अनुभव में विश्वास करता है। प्रयोगवादी काव्य पद्धति में प्रत्येक विषय के साथ–साथ उसका शिल्प स्वयं विकसित है।

हिंदी कविता में प्रगतिवाद युग के अवसान और तार सप्तक के प्रकाशन के साथ

बड़ी धूम से जिस प्रयोगवादी प्रवृति का उदय हुआ था। कालान्तर में उसका स्थान नई कविता ने ले लिया और वह हिंदी कविता की अभिनव प्रवृति हो गई। वस्तुतः नई कविता प्रयोगवादी कविता का विकसित रूप ही है। कविता कविता है और नई कविता भी कविता है।किंतु 'नयी' विशेषण उसे कुछ ऐसा वैशिष्टय प्रदान करता है कि 'नई कविता' का व्यक्तित्व सामान्य से कुछ अलग समझ आता है। इस प्रकार बदलते समय के साथ कविता छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नईकविता, नवगीत और समकालीन कविता के सोपान पार कर रही है। इस युग की सबसी बड़ी विशेषता यह है कि इस काल में सभी प्रकार की रचनाएं अपने अस्तित्व के साथ उपस्थिति दे रहीं हैं।

4.2 उद्देश्य

छात्र जब कविता पढ़ता है तो उसके ध्यान में रसानुभूति होती है। किंतु कई बार ऐसी कविता पढ़ता है जो उसे उद्वैलित भी करती है। कई प्रश्न खड़े करती है। तब वह साहित्य में उसकी पहचान ढूढ़ता है। और वहीं उसे छायावाद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, नवगीत, समकालीन कविता जैसे शब्द सुनाई देते हैं।

हिंदी छायावादोत्तर काल में काव्य ने विभिन्न प्रयोग कर अपने कलेवर बदले है।शैली से लेकर विषय और वस्तु भी समय समय पर पृथक पृथक दिखाई देते हैं। कहीं एक युग दूसरे की प्रतिक्रिया में खड़ा है तो कहीं एक वाद दूसरे से निकल कर नया प्रयोग कर रहा है। उसके तेवर कहीं समन्वयवादी हैं तो कहीं पृथकतावादी। कहीं रागात्मकता हावी है तो कही कथ्य शैली। अतः इस इकाई में छात्रों को यह बताने का प्रयत्न रहेगा कि छायावादोत्तर काव्य के कौन कौन से रूप हमारे सामने आते हैं। प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, नयीकविता, साठोत्तरी कविता,अकविता,नवगीत, और समकालीन कविता के लक्षण,गुण, विशेषताएं क्या हैं। वे कितना व्यक्तिपरक है कितनी वस्तुपरक और कितनी समाजपरक। इनकी प्रवृतियां कैसी है। इनके रचनाकार कौन कौन से हैं, उनकी रचनागत विशिष्टताएं क्या हैं। प्रस्तुत इकाई में उक्त सभी बातों की जानकारी देने का उद्देश्य है।

4.3. काव्यधारा

छायावादोत्तर काल की रचनाओं की परीक्षा करने पर यह प्रतीत होता है कि प्रस्तुत कालावधि के काव्य–साहित्य की अनेक प्रवृत्तियाँ हैं। इस बीच का इतिहास कई वादों और धाराओं से होकर गुजरा है। कई जीवन–दृष्टियों तथा काव्य की वस्तु और शिल्प–संबंधी मान्यताएँ उभरी हैं किसी धारा में व्यक्तिगत अनुभूति का घनत्व अधिक है, तो किसी में सामाजिक अनुभूति की स्थिति। किसी में रोमानी दृष्टि की प्रधानता है, तो किसी में बौद्धिक यथार्थवादी दृष्टि की। कृतियों के आधार पर यदि हम इन अनेक दृष्टियों, मान्यताओं और रचनारूपों का वर्गीकरण करें तो स्पष्ट रूप से पाँच–छह काव्यधाराएँ उभर कर आती लक्षित होती हैं। उन्हें राष्ट्रीय–सांस्कृतिक कविता क्रमागत छायावादी काव्यधारा या उत्तर–छायावाद,

वैयक्तिक गीतिकाव्य, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नई कविता कहा जाता है। इनमें से पहली दो धाराएँ नई नहीं हैं। राष्ट्रीय–सांस्कृतिक धारा भारतेंदु–काल से प्रारंभ होकर द्विवेदी–काल, छायावाद–काल को पार करती हुई इस काल की कविताओं में समकालीन प्रश्नों, स्वरों से संयुक्त होकर और भी उदार और वैविध्यपूर्ण हो गई। छायावादी काव्यधारा छायावाद–काल में अपना पूर्ण उत्कर्ष प्राप्त कर चुकी थी और परंपरा के निर्वाह–सी इस काल में भी बहती हुई दिखाई पड़ती है। शेष धाराएँ प्रस्तुत काल की ही उपज हैं। वे अपने–अपने ढंग से ऐतिहासिक अनिर्वायता के गर्भ से फूटी हैं।

प्रस्तुत युग में कुछ कृतियाँ ऐसी भी हैं, जिनमें एक ही साथ कई धाराएँ दिखाई पड़ती हैं। इन्हें भी भले ही किसी एक वर्ग में न रखा जा सके, किंतु ये इस बीच उभरने वाली एकाधिक काव्य–प्रवृत्तियों का निर्देश तो करती हैं। किंतु इनके अतिरिक्त शेष कृतियाँ स्पष्ट रूप से किसी–न–किसी धारा या प्रवृत्ति का स्वरूप निर्धारित करती हैं। इनका वर्गीकरण करें तो चित्र कुछ इस प्रकार होगा–'नहुष', 'कुणालगीत', 'अजीत', 'जयभारत' (मैथिलीशरण गुप्त), ' माता', ' समर्पण', 'युगचरण' (माखनलाल चतुर्वेदी), 'अपलक ', 'क्वासि', ' विनोबा–स्तवन', 'हम विषपायी जनम के' (बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'), 'नकुल', 'नोआखाली', 'जयहिन्द', 'आत्मोत्सर्ग', 'उन्मुक्त', ' गोपिका' (सियारामशरण गुप्त), ' हुंकार', ' द्वंद्वगीत', 'कुरुक्षेत्र', 'इतिहास के आंसू', 'रश्मिरथी', 'धूप और धुआँ', 'दिल्ली' (दिनकर), 'वासवदत्ता', 'भैरवी', 'कुणाल', 'चित्रा', 'युगाधार' (सोहनलाल द्विवेदी), 'सूत की माला' (बच्चन), 'हल्दीघाटी', 'जौहर' (श्यामनारायण पांडेय), 'विक्रमादित्य'(गुरुभक्तिसिंह 'भक्त'), 'विसर्जन', 'मानसी', 'अमृत और विष', 'युगदीप', 'यथार्थ और कल्पना', 'एकला चलो रे', 'विलयपथ' (उदयशंकर भट्ट), 'काल–दहन', 'तप्तगृह', 'कैकेयी', 'दानवीर कर्ण' (केदारनाथ मिश्र प्रभात), राष्ट्रीय–सांस्कृतिक धारा की कृतियाँ हैं। इनमें 'गोपिका', 'अपलक', 'क्वासि', और 'चित्रा', ऐसी कृतियाँ हैं, जिनमें राष्ट्रीय स्वर गौण है, प्रेम का स्वर प्रधान है। 'तुलसीदास', 'अणिमा', 'अर्चना', 'आराधना' (निराला), 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि', 'मधुज्वाल', 'युगपथ', 'उत्तरा', 'रजतशिखर', 'शिलपी', 'अतिमा', 'कला और बूढ़ा चाँद', 'लोकायतन'(सुमित्रानंदन पंत), 'दीपशिखा' (महादेवी वर्मा), 'रूप–अरूप', 'शिप्रा', 'मेघगीत', 'अवन्तिका' (जानकीवल्लभ शास्त्री), उत्तर–छायावाद की कृतियाँ हैं। 'अणिमा', में कुछ कविताएँ राष्ट्रीय और सांस्कृतिक व्यक्तित्वों पर भी हैं। पंत जी की इस काल की सभी उत्तर–छायावादी कृतियों में सांस्कृतिक स्वर सुनायी पड़ता है। भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के समन्वय की एक बेचैनी इनमें बराबर लक्षित होती है। इस तरह इन कृतियों का मूल स्वर तो छायावाद है, किन्तु विषय की दृष्टि से इन्हें अन्यान्य धाराओं से भी जोड़ा जा सकता है।

रोमानी धारा में आने वाली, किन्तु छायावाद से अलग ऐसी अनेक कृतियाँ हैं, जो एक नई प्रवृत्ति को सूचित करती हैं, जिसे वैयक्तिक प्रगीत–कविता कहा जा सकता है। इस

प्रवृत्ति के अंतर्गत आने वाली कृतियाँ हैं– 'निशा–निमंत्रण', 'आकुल अंतर', 'सतरंगिनी', 'मिलन–यामिनी' (हरिवंशराय बच्चन), 'रसवंती' (दिनकर), 'प्रभातफेरी', 'प्रवासी के गीत', 'पलाशवन', 'मिट्टी और फूल', 'कदलीवन' (नरेंद्र शर्मा), 'मधुलिका', 'अपराजिता', 'किरणवेला', 'लाल चूनर'(रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'), 'कलापी', 'संचयिता', 'जीवन और यौवन', 'पांचजन्य' (आरसीप्रसाद सिंह), 'रूपरश्मि', 'छायालोक', 'उदयाचल', 'मन्वंतर', 'दिवालोक' (शंभुनाथ सिंह), 'पंछी', 'पंचमी', 'रागिनी', 'नवीन' (गोपाल सिंह नेपाली), 'नींद के बादल' (केदारनाथ अग्रवाल), 'मंजीर' (गिरिजाकुमार माथुर), 'छवि के बंधन' (भारतभूषण अग्रवाल)।

'युगवाणी', 'ग्राम्य' (पंत), 'कुकुरमुत्ता' (निराला), 'युग की गंगा' (केदारनाथ अग्रवाल), 'युगधारा' (नागार्जुन), 'धरती'(त्रिलोचन), 'जीवन के गान', 'प्रलय–सृजन'(शिवमंगल सिंह सुमन'), अजेय खंडहर', 'पिघलते पत्थर', मेधावी' (रांगेय राघव), 'मुक्तिमार्ग', 'जागते रहो'(भारतभूषण अग्रवाल), कृतियाँ प्रगतिवादी धारा की सृष्टि करती हैं। इन कृतियों के अतिरिक्त नरेंद्र शर्मा, अंचल आरसीप्रसाद सिंह और शंभूनाथ सिंह की उपर्युक्त पुस्तकों की अनेक कविताएँ ऐसी हैं, जो इस धारा के अंतर्गत आती हैं।

प्रगतिवाद और वैयक्तिक कविताधारा की कृतियों के साथ–साथ कुछ ऐसी कृतियाँ भी सामने आईं, जिन्हें प्रयोगवादी कृतियाँ कहा गया। प्रगतिवादी और वैयक्तिक धारा की कविताएँ 1935 के आसपास प्रारंभी हो गई थीं, किन्तु प्रयोगवादी धारा की कविताएँ 1943 के आसपास उभरती हुई दिखती हैं, फिर सभी साथ–साथ चलती हैं। 'तार सप्तक'(सं. अज्ञेय), 'इत्यलम्', 'हरी घास पर क्षण–भर' (अज्ञेय), 'नाश और निर्माण' (गिरिजाकुमार माथुर), 'ठंडा लोहा'(धर्मवीर भारती) तथा 'दूसरा सप्तक' इस धारा की प्रमुख कृतियाँ हैं। प्रयोगवाद आगे चलकर नई कविता में पर्यवसित हो गया। इसलिए नई कविता में प्रयोगवाद के बहुत से तत्त्व मिलते हैं, फिर भी उसका स्वतंत्र विकास हुआ। बहुत से कवि ऐसे हैं, जो दोनों धाराओं में हैं, इसलिए उनकी कृतियों को लेकर बहुत साफ तौर पर यह कह पाना कठिन है कि कहाँ तक वे प्रयोगवादी हैं और कहाँ से वे नई कविताके कवि हो जाते हैं। फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि सन् 1950 के बाद नये भावबोध की जो कविताएँ लिखी गईं, वे नई कविता हैं और प्रयोगवादियों की भी सन् पचास के बाद की कविताओं को नई कविता कह सकते हैं। फिर भी 1951 में प्रकाशित 'दूसरा सप्तक' की अधिकांश कविताएँ अपने व्यक्तिवादी रूप के कारण प्रयोगवाद में ही शरीक की जाती हैं। इसलिए नई कविता को प्रयोगवाद के ही क्रम में देखना चाहिए। यदि सन् 1950 को विभाजक रेखा माना जाय, तो 'दूसरे सप्तक' की कुछ कविताएँ 'तीसरा सप्तक', 'बावरा अहेरी', 'इंद्रधनु रौंदे हुए थे', 'अरी ओ करुणा प्रभामय', 'आँगन के पार द्वार', 'कितनी नावों में कितनी बार', 'सागरमुद्रा', 'क्योंकि मैं उसे जानता हूँ', 'पहले सन्नाटा बुनता हूँ' (अज्ञेय), 'धूप के धान', 'शिलापंख चमकीले'(गिरिजाकुमार माथुर), 'अर्द्धशती' (बालकृष्ण राव), 'अनागता की आँखे', 'शून्य पुरुष और वस्तुएँ'(वीरेन्द्रकुमार

जैन), 'माध्यम मैं', 'खंडित सेतु'(शंभुनाथ सिंह), 'कुछ कविताएँ', 'चुका भी नहीं हूँ मैं'(गीतफरोश), 'चकित है दुःख', 'बुनी हुई रस्सी', 'खुशबू के शिलालेख'(भवानीप्रसाद मिश्र), 'स्वप्न–भंग', 'अनुक्षण', 'मेपल'(प्रभाकर माचवे), 'चाँद का मुँह टेढ़ा है'(मुक्तिबोध), 'ओ अप्रस्तुत मन'(भारतभूषण अग्रवाल), 'वनपाखी सुनो', 'संशय की एक रात'(नरेश मेहता), 'सात गीत वर्ष', 'कनुप्रिया', 'अंधा युग'(भारती), 'मृग और तृष्णा' (हरिनारायण व्यास), 'मछलीघर'(विजयदेवनारायण साही), 'काठ की घंटियाँ', 'बांस के पुल', 'एक सूनी नाव', 'कुआनों नदी'(सर्वेश्वरदयाल सक्सेना), 'चक्रव्यूह', 'परिवेश : हम–तुम', 'आत्मजयी'(कुंवर नारायण), 'सीढ़ियों पर धूप में', 'आत्महत्या के विरुद्ध', 'हंसो–हंसो जल्दी हंसो'(रघुवीर सहाय), 'वंशी और मादल'(ठाकुरप्रसाद सिंह), 'नाव के पांव', 'युग्म', 'हिमबिद्ध'(जगदीश गुप्त), 'इतिहास–पुरुष' (डॉ. देवराज), 'मायादर्पण'(श्रीकांत वर्मा), 'एक कंठ विषपायी', 'साये में धूप'(दुष्यंतकुमार), 'अतुकांत', 'तीसरा पक्ष'(लक्ष्मीकांत वर्मा), 'कविताएँ' (कीर्ति चौधरी), 'आत्मनिर्वासन तथा अन्य कविताएँ'(राजीव सक्सेना), 'अभी, बिलकुल अभी'(केदारनाथ सिंह), 'उजली कसौटी' (राजेन्द्रप्रसाद सिंह), 'बैरंग–बेनाम चिट्ठियाँ', 'पक गई है धूप'(रामदरश मिश्र), 'इतिहास का दर्द' (दणजीत), 'कल सुबह होने के बाद' (शलभ श्रीराम सिंह), 'संसद से सड़क तक' (धूमिल), 'नाटक जारी है' (लीलाधर जगूड़ी), 'दीवारों पर खून से' (चद्रकांत देवताले), 'आकाश विभाजित है' (विष्णुचंद्र शर्मा), 'अंगीरस' (ऋतुराज), 'जो नितांत मेरी है' (बालस्वरूप राही), 'एक पुरुष और' (डॉ. विनय), 'इस हादसे में' (नरेंद्र मोहन), 'त्रास' (विजेंद्र), तथा वे सब कृतियाँ, जिनकी चर्चा सप्तकों के बाहर के कवियों के संदर्भ में की गई हैं, नई कविता की कृतियाँ हैं। इस संदर्भ में 'कल्पना', 'कृति', 'लहर', 'ज्ञानोदय', 'कवि', आदि मासिक पत्रिकाओं तथा नई कविता से संबंधित निम्नलिखित त्रैमासिक या अर्द्धवार्षिक और वार्षिक पत्रिकाओं तथा संकलनों का अनुशीलन भी अभीष्ट है– प्रतीक (सं. अज्ञेय) 'कविता'(सं. भागीरथ भार्गव), 'निकष' (सं. धर्मवीर भारती), 'संकेत' (सं. उपेंद्रनाथ अश्क), 'आधुनिक कविताएँ' (सं. रणधीर सिन्हा), 'नई कविता' (सं. जगदीश गुप्त), 'कविताएँ सन् 1954, 1963,1964–1965' (अजितकुमार–देपीशंकर अवस्थी तथा अजित कुमार– विश्वनाथ त्रिपाठी), 'कविताएँ 1957–58' (सं. सुरेंद्र चतुर्वेदी– रामबहादुर मुक्त), 'संचेतना का विचार–कविता अंक' (सं. महीप सिंह और नरेंद्र मोहन), 'निषेध' (सं. जगदीश चतुर्वेदी), 'पहचान' शंखला के संकलन (सं. अशोक वाजपेयी)।

4.4 उत्तरछायावाद :साहित्यिक विशेषताए

उत्तर–छायावाद

वास्तव में इस अवधि के छायावादह का इतिहास मूलतः निराला और पंत के काव्य–विकास का इतिहास है। यों छायावाद की शैली में मिलने वाले और भी बहुत–से लोग आये, किन्तु उनमें अपना कोई उन्मेष नहीं। वे इस धारा को स्फीति भले ही दे सके हों, लेकिन वे कोई वैशिष्ट्य नहीं प्रदान कर सके। इसलिए उनकी चर्चा अनपेक्षित हैं। महादेवी

जी की 'दीपशिखा' उनकी रचनाओं के क्रम में ही अगली कड़ी के रूप में आई, इसलिए उन्हें भी पहले की महादेवी से मूलतः अलग नहीं किया जा सकता और फिर उसके बाद तो वे मौन हो गईं।

निरालाः– निराला के गीत छायावाद से अलग न हट कर उसकी संभावनाओं से निर्मित हैं। किन्तु उनमें एक बहुत बड़ी शक्ति का विकास होता गया है, वह है लोकोन्मुखता। निराला की छायावादी कविताओं में निराला का लोकोन्मुख व्यक्तित्व प्रारंभ से ही झलकता रहा है। निराला का जीवन संघर्षमय तथा लोकसंपृक्त रहा है, इसलिए वे स्वभावतः प्रेम–सौंदर्य के बोध के साथ–साथ जीवन के अन्य अनुभवों को अपने में समेट लेते हैं और व्यक्तिगत प्रणय के ही गीत न गा कर, लोकजीवन के सुख–दुःख को, यातना और संघर्ष को भी गहराई से उभरते हैं और उनकी व्यक्तिगत प्रणयानुभूमि भी एकांतवासिनी न रह कर प्रायः लोकगंध से उष्ण हो उठती है। निराला की यह विशेषता प्रस्तुत अवधि विकसित होती गई है। उनकी यह लोकोन्मुख दो रूपों में आई– (1) छायावाद से एकदम अलग हटकर कवि ने प्रगतिवादी कविताएँ लिखीं, (2) उनकी छायावादी काव्यधारा का स्तर अधिक लोकोन्मुख होता गया। प्रगतिवादी कविताओं में छंद, भाषा और भावभूमि सभी छायावाद के प्रभाव से मुक्त है। 'कुकरमुत्ता', 'गर्म पकौड़ी', 'प्रेम–संगीत', 'रानी और कानी', 'खजोहरा', 'मास्को डायलाग्स', 'स्फटिक शिला' और 'नये पत्ते' की अधिकांश कविताएँ इस प्रकार की कविताएँ हैं। इनमें प्रगतिशीलता अपने दार्शनिक रूप में नहीं है, बल्कि लोकानुभूतियों के रूप में है। इन कविताओं की भाषा लोक की है, मुहावरे लोक के हैं, शैली लोक की है। इनमें लोककथात्मक तथा संवादात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार निराला इस बात को समझते थे कि लोकजीवन को केवल उसके भाव, दृश्य, व्यापार में नहीं लिया जा सकता, उसके लिए उसकी भाषा भी आवश्यक होती है, दूसरी ओर पंत इस बात को समझते हुए भी इसे चरितार्थ नहीं कर सके।

'अधिमा', 'अर्चना', 'आराधना' आदि में संकलित इधर की छायावादी कविता में निराला ने एक ओर तो स्वानुभूतिपरक गीत लिखे हैं तथा दूसरी ओर विजयलक्ष्मी पंडित, प्रेमानंद जी, संत रविदास, प्रसाद जी, महात्मा बुद्ध आदि विविध क्षेत्रों के व्यक्तियों पर कविताएँ लिखी हैं। ये गीत कई तरह के हैं– इनमें प्रेम की संवेदना भी है और प्रार्थनापरकता भी। अन्य प्रकार की मानवीय संवेदनाएँ भी इनमें व्यक्त हुई हैं। ये सभी बातें निराला की 1938 से पहले की कविताओं में भी हैं, उनका अनुपात भले ही थोड़ा भिन्न हो। 'तुलसीदास' इस अवधि की इनकी विशिष्ट देन है। इसमें भारत को सांस्कृतिक और सामाजिक पराजय के गर्त से निकालने का संकल्प है। निराला की इस अवधि की नई देन है– उनकी लोकवादी कविताएँ, जो वास्तव में कविता की उपलब्धि के रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती, वरन् वस्तु और भाषा के एक नए प्रयोग के रूप में ही महत्त्व प्राप्त करती हैं। ये

कविताएँ एक ठहराव को तोड़ती हैं और कवि को पुनः समग्र भाव से जनजीवन से जोड़ती हैं। निराला की इस अवधि की कविताओं में उनकी जीवनभूति के जो स्वर उभरे, उनमें टूटने और पराजय भी थी। टूटने और पराजय की यह प्रवृत्ति कवि को भक्ति की ओर उन्मुख करती है। साथ ही कवि का असंतुलित मानस प्रेम, भक्ति खुलेपन और उलझाव का कुछ ऐसा मिश्रित रूप प्रस्तुत करता है कि ये कविताएँ उलझे प्रभाव से ग्रस्त हो गई हैं।

सुमित्रानंद पंतः– पंत जी के इस काल के काव्य–साहित्य का विश्लेषण किया जाये तो ऐसा प्रतीत होगा कि ये अपने चिंतन और विषय में अधिक विकासशील रहे; और चूँकि ये अपने संस्कार और भाषा में मूलतः छायावादी ही रहे, अतः यह कहा जा सकता है कि पंत के माध्यम से छायावाद को इस अवधि में नया चिंतन और नया विषय जगत प्राप्त हुआ है। सन् 1936 में 'युगांत' की घोषणा कर पंत ने 1939 में 'युगवाणी' और 1940 में 'ग्राम्य' को रचना की। इसलिए वे मार्क्सवाद के भौतिक दर्शन और जनजीवन के सत्यों की ओर उन्मुख हुए। यहाँ निराला और पंत के अंतर को समझा लेना चाहिए। निराला ने चिंतन के माध्यम से नहीं, बल्कि संवेदना और अनुभव के माध्यम से जनजीवन को ग्रहण किया। इसलिए उनकी कविताओं में मार्क्सवाद या समाजवाद का दर्शन कोई स्पष्ट स्वरूप नहीं पा सका, वहाँ जनजीवन अपने समस्त संवेदन के साथ उभरा। दूसरी ओर पंत ने मार्क्सवादी दर्शन को चिंतन के स्तर पर स्वीकार किया। वे प्रायः मार्क्सवादी सिद्धांतों को ही व्यक्त करते रहे हैं:

कहता भौतिकवाद वस्तु जग का कर तत्त्वान्वेषण,
भौतिक भाव ही एकमात्र मानव का अन्तर दर्पण,
स्थूल सत्य आधार सूक्ष्म आधेय, हमारा जो मन,
वाह्य विवर्तन से होता युगपात् अन्तर परिवर्तन।

कहना न होगा कि कवि ने मार्क्सवादी दृष्टि के आलोक में गांव के जीवन की विविध यथार्थ छवियों का बड़ा सुन्दर चित्र अंकित किया है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कुशल शिल्पी पंत ने गांव के जीवन–यथार्थ को जितना उसके रंग–रूप में पकड़ा है, उतना भीतर की चेतना में नहीं।

यह बात तब और भी स्पष्ट हो उठती है, तब पंत जी 'ग्राम्य' से आगे की यात्रा में अरविंद–दर्शन से प्रभावित हो उठते हैं। बीच में प्रगतिवाद के भौतिक दर्शन की ओर भटके हुए उनके विचार पुनः आध्यात्मिक लोक की ओर उठने लगते हैं। इस प्रकार विचार के स्तर पर छायावाद को एक नई दिशा और समृद्ध आधार प्राप्त होता है। कवि मार्क्स के भौतिकवाद से संतुष्ट नहीं है, फिर भी उसे आवश्यक मानता है। कवि आरंभ से ही मनुष्य मात्र के सुख, प्रेम, शांति का स्वप्न देखता रहा है। इस वायवी स्वप्न को उसने रूप देना चाहा, तो मार्क्सवाद में उसे आलोक दिखायी पड़ा, किन्तु पुनः उसे ऐसा लगा कि मार्क्सवाद एकांगी है, वह केवल भौतिक योगक्षेम की व्यवस्था कर सकता है। अतः कवि इसे आवश्यक मानते

हुए भी पर्याप्त नहीं मानता और अरविंदवाद में भौतिकवाद तथा अध्यात्मिकवाद का समन्वय ढूँढ़ता है। कवि ने 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि', 'शिल्पी', 'लोकायतन' आदि परवर्ती कृतियों में इसी समन्वय को स्वर दिया है। इस विकास यात्रा में पंत का काव्यपक्ष आहत हो गया, जबकि धारणपक्ष उठता गया है। कारण यही है कि वे मानव–समाज की समस्याओं, उनके समाधान और नये विचारों को धारणा और आकांक्षा के स्तर पर स्वीकार करते हैं, अनुभूति के स्तर पर नहीं। इसलिए चाहे मार्क्सवाद हो, चाहे अरविंदवाद, वह पंत–काव्य को समृद्ध बनाने में सहायक प्रायः नहीं हुआ है।

महादेवी वर्माः– महादेवी वर्मा की 'दीपशिखा' में उनकी क्रमागत भावधारा का ही उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। प्रेम उनका मुख्य विषय है। कवयित्री ने संयोग और वियोग में उभरने वाले प्रेम के अनेक कोणों को अपने अनुभव के आलोक में देखा है। वेदना महादेवी की मूल संवेदना है। यह वेदना विरहजन्य है। करुण–वेदना और निराशा से आक्रांत इनका प्रारंभिक काव्य 'दीपशिखा' में कुछ आलोक पा सका है– आशा का, उल्लास का और मिलन का। यथाः

(अ) सब बुझे दीपक जला लूँ।
घिर रहा तम आज दीपक रागिनी अपनी जगा लूँ।

(आ) हुए शूल अक्षत मुझे धूलि चन्दन
अगरु धूम सी साँस सुगिधगन्ध सुरक्षित।

महादेवी में गीतिकाव्य के उत्कर्ष की सुन्दर भावनाएँ है, लेकिन यह रहस्यात्मकता का आवतरण उनके प्रभाव की तीव्रता को कुछ कंठित कर देता है। कवयित्री के पास सीमित संवेदनाएँ हैं, इन्हें वह भिन्न–भिन्न प्रतीकों और रूपकों से व्यक्त करती हैं। ये प्रतीक और रूपक भी बहुत सीमित और अभिजात हैं। कवयित्री की लौकिक संवेदनाएँ रहस्यावादी आभास से लिपट कर निश्चय ही नये अर्थ का विस्तार करती हैं, किन्तु साथ ही अपनी लौकिक मूर्त्तता, प्रत्यक्षता और तीव्रता खो देती हैं। दीप, चंदन, मन्दिर, क्षितिज, आकाश, करुणा, धूल, मेघ, विद्युत, सागर आदि प्रतीक और शब्द बार–बार आते हैं और रहस्यात्मक संकेत में उलझ जाते हैं। इन निजी और छायावादी सीमाओं के बावजूद महादेवी जी छायावाद की विशिष्ट और समर्थ कवयित्री हैं और 'दीपशिखा' उनकी विशिष्ट कृति। रहस्य और संकोच के आवरण के बावजूद कवयित्री की अंतरंग निजता गीतों में बहती रहती हैं। जहाँ कहीं वह पारदर्शी हो जाती हैं या जहाँ समग्र दृश्य सिमट कर उसी की ओर संकेत करने लगते हैं, वहाँ वे बहुत उत्कृष्ट गीतों की रचना करती हैं। महादेवी की दूसरी विशेषता है– सूक्ष्म चित्रात्मकता। ये चित्र रूपजगत और भावजगत और भावजगत– दोनों के हैं, किन्तु रूपजगत के चित्र भी कवयित्री के मानसिक संदर्भ में ही नियोजित होते हैं। लोकपरिवेश और लोकभाषा से दूर, सीमित आत्मानुभूति की परिधि में विचरण करने वाले, भाषा की अभिजात छवि से मंडित ये गीत शब्द–चयन, पद–संतुलन, बिंब–ग्रहण, प्रांजलता,

कोमलता और स्वर–लय में बहुत विशिष्ट हैं।

जानकीवल्लभ शास्त्रीः–शास्त्री जी मूलतः गीतकार हैं, इनके गीतों में छायावादी गीतों के ही संस्कार शेष हैं। ये गीत छायावादी गीतों से अधिक खुले हुए अवश्य हैं, किन्तु इनकी संवेदना और गूंज–अनुगुंज प्रायः वैसी ही है। परंपरागत दर्शन, संवेदन और भाषा से निर्मित ये गीत उत्तर–छायावादी–युग के गीतों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं आ।र इनका अपना आकर्षण है। 'रूप–अरूप', 'शिप्रा', 'मेघगीत' और 'अवन्तिका' इनकी प्रमुख काव्य–कृतियाँ हैं।

इन कवियों के अतिरिक्त उत्तर–छायावाद के अन्य उल्लेख्य कवि हैं– रामकुमार वर्मा ('अंजलि', 'रूपराशि', 'चित्ररेखा', 'चंद्रकिरण' और 'एकलव्य'), सुमित्राकुमारी सिन्हा ('विहाग', 'पंथिनी') और विद्यावती कोकिल ('अंकुरिता' और 'सुहागिन')।

4.5 प्रगतिवाद और रचनाकार

प्रगतिवाद

प्रगतिवादी काव्य की संज्ञा उस काव्य को दी गयी जो छायावाद के समाप्तिकाल में 1936 के आसपास से सामाजिक चेतना को लेकर निर्मित होना आरंभ हुआ। इसके शब्दार्थ से इसके स्वरूप को समझने में भ्रांति होती रही है। इसलिए यही समझना चाहिए कि यह नाम उस काव्यधारा का है, जो मार्क्सवादी दर्शन के आलोक में सामाजिक चेतना और भावबोध को अपना लक्ष्य बना कर चली। प्रगतिवादी काव्य के उद्‌भव और विकास में राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियाँ तो सहायक हुईं ही, साथ ही छायावाद की जीवनशून्य होती हुई व्यक्तिवादी काव्यधारा की प्रतिक्रिया भी उसमें निहित थीं। एक ओर भारतीय समाज में उभरता हुआ जनसंकट था, तो दूसरी ओर रूस में मार्क्सवादी दर्शन के आधार पर सीपित साम्यवाद था, जो वहाँ के विषम संकट और संघर्ष से गुजरे जनजीवन को बल दे रहा था और जो सामंतवाद और पूँजीवाद की विभीषिकाओं को कुचल कर सर्वहारा का अधिनायकत्व सीपित कर रहा था। भारतीय बुद्धिजीवी एक ओर अपने समाज में उत्पन्न अनेक सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक विसंगतियों और संकटों को देख रहा था, दूसरी ओर वह रूस के उस समाज को देख रहा था जो इन विसंगतियों और संकटों से गुजर कर एक ऐसी व्यवस्था स्थापित कर रहा था, जिसमें सामान्य जनजीवन को महत्ता प्राप्त हो रही थी, जहाँ नये सुख–सुविधा की प्रतिष्ठा हो रही थी। रूस में प्रतिष्ठित साम्यावाद और पश्चिम के अन्य देशों में फेलता हुआ उसका मार्क्सवादी दर्शन भारतीय बुद्धिजीवियों के लिए प्रेरणा–केन्द्र बन रहा था। इधर देश की परिस्थिति विषम हो रही थी और उस विषम परिस्थिति में युवकों का हृदय असंतोष और विद्रोह से कसमसा रहा था। देश की अवस्था प्रगतिवादी विश्वासों और स्वरों के लिए उपयुक्त भूमि बन रही थी।

हमारा राष्ट्रीय वातावरण नवीन परिस्थितियों के कारण एक नये प्रकार के युयुत्साभाव से आंदोलित हो रहा था। गांधी जी के नेतृत्व में जो स्वाधीनता–आंदोलन चल रहा था,

उससे युवा हृदय की विद्रोही भावना को अभिव्यक्ति नहीं मिल पा रही थी। सन् 1934 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का जन्म हुआ। इससे विदित हुआ कि स्वयं कांग्रेस में गांधी जी के अहिंसावादी सिद्धांतों से असंतुष्ट लोग उभर रहे थे। वे अधिक उग्र विचारों के थे और उग्र आचरण में विश्वास करते थे। महात्मा गांधी ने हिंसा के भय से बार–बार जनता के आंदोलन को रोक दिया था। उमड़ता हुआ जनजीवन इसे सहज भाव से स्वीकार नहीं कर पाता था, अतः उग्र प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक था। मजदूरों का आंदोलन भी जोर पकड़ रहा था। धीरे–धीरे राजनीति में वामपंथी श्शक्तियों का जोर बढ़ता गया। इस वैचारिक उग्रता और समाजोन्मुखता को बल दे रही थीं तत्कालीन परिस्थितियाँ। राजनीतिक दासता देश में एक ओर पूँजीवाद और सामंतवाद की शोषक शक्तियों का प्रश्रय दे रही थी, दूसरी ओर जनसामान्य के लिए अपार भयावह गीबी, अशिक्षा, असुविधा और अपमान की सृष्टि कर रही थीं। इसके अतिरिक्त अकाल और युद्ध की भीषण विभीषिकाएँ भी देश को खा रही थीं। द्वितीय महायुद्ध और बंगाल का अकाल देश को निगलने वाली भीषण घटनाएँ थीं। युद्ध के दबाव में जनता और भी आक्रांत हो रही थी। जगती हुई उग्र जन–चेतना, रूस में स्थापित समाजवाद तथा पश्चिम के अन्य देशों में प्रचारित कम्युनिज्म के सिद्धांतों से उभरते हुए विश्वव्यापी प्रभाव के कारण भारत में 1935 के आसपास साम्यावादी (या समाजवादी) आंदोलन उगने लगा था। साहित्य भी उससे प्रभावित हुआ और प्रगतिवादी साहित्य का आंदोलन आरंभ हुआ। सन् 1935 में ई. एम. फार्स्टर के सभापतित्व में पेरिस में 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन' नामक अंतरर्राष्ट्रीय संस्था का प्रथम अधिवेशन हुआ। सन् 1936 में सज्जाद जहीर और डॉ. मुल्कराज आनंद के प्रयत्नों से भारतीवर्ष में भी इस संस्था की शाखा खुली और प्रेमचंद्र की अध्यक्षता में लखनऊ में इसका प्रथम अधिवेशन हुआ।

प्रगतिवाद रचना और आलोचना के क्षेत्र में सर्वथा नवीन दृष्टिकोण लेकर आया। यह सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति को ही रचना का उद्देश्य मानता है। 'सामाजिक यथार्थ' शब्द का भ्रांत अर्थ लेने वाले भी कम नहीं हैं। वे समाज की ऊपरी सतह पर दिखाई पड़ने वाली निर्जीव और पतनोन्मुख विकृतियों को ही सामाजिक यथार्थ मान बैठते हैं। बुनियादी सत्य क्या है ? प्रत्येक युग में यथार्थ की दो शक्तियों का द्वंद्व चलता रहता है– मरणोन्मुख पुरानी शक्तियों और नवीन जीवंत शक्तियों का सामाजिक स्तर पर पुरानी शक्तियो में शोषक लोग होते हैं और नवीन शक्तियों में शोषित, गरीब किसान–मजदूर होते हैं। नवीन जीवंत शक्तियाँ पुरानी शक्तियों को नष्ट कर नवीन जनमंगलशाली समाज की स्थापना की कोशिश करती हैं। ऊपरी सतह पर तो पुरानी शक्तियों की विकृतियाँ उतराती रहती हैं, लेकिन उनके नीचे नवीन शक्तियाँ धीरे–धीर उन्हें काटती रहती हैं। ये शक्तियाँ व्यक्ति की नहीं, बल्कि समाज की होती हैं, उनमें पीड़ा और अभाव के साथ ही जिंदगी का संघर्ष, अडिग विश्वास और भविष्य की सुन्दर आकांक्षा होती है। इन अनेक बुनियादी तत्त्वों को ग्रहण करने वाले ही सच्चा यथार्थवादी है। ऐसा ही साहित्य अपने युग की वास्तविकता

का सच्चा प्रतिनिधि होता है और भावी युगों के साहित्यों के लिए प्रेरणास्त्रोत होता है। प्रगतिवाद (जिसका दर्शन मार्क्सवादी है) भिन्न–भिन्न युगों के साहित्यों की उन युगों की वास्तविकताओं के आधार पर परीक्षा करता है। प्रगतिशील साहित्य समाज के युगीन संबंधों को छोड़कर हवा में श्शाश्वत् का महल बनाने वाले साहित्य को नकली और निर्जीव मानता है। यदि कोई श्शाश्वत् का महल वस्तु है तो यही कि नवीन सामाजिक मानवता सदैव पुरानी और जर्जर दानवी शक्तियो से युद्ध करती है। आज के युग में बुनियादी श्शक्तियाँ वे हैं, जो पूँजीवाद को नष्ट कर समाजवाद स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील हैं। इन बुनियादी श्शक्तियों को पहचानने और उनका समर्थन करने वाला साहित्य अनिवार्य रूप से किसानों और मजदूरों के संघर्ष को रूपायित कर उसे बल प्रदान करता है तथा पूँजीवादी (और सामंजवादी) श्शाक्तियों की श्शोषक, स्वार्थी, स्वकेंद्रित, जर्जर, विसंगतिमय प्रवृतियों पर चोट करता है।

प्रगतिवाद ने सौंदर्य को नये दृष्टिकोण से देखा। वह वर्तमान जनजीवन में सौंदर्य खोजता है। सौंदर्य का संबंध हमारे हार्दिक आवेगों और मानसिक चेतना दोनों से होता है। इन दोनों का संबंध सामाजिक संबंधों से होता है। नये समाज में पलने वाला अथवा उसके साथ चलने का प्रयास करने वाला कवि नये उठते हुए समाज में सौंदर्य देखेगा, वह संघर्षों से भाग कर किसी अतीत लोक या कल्पना–लोक के निष्क्रिय सौंदर्य में मुँह नहीं छिपायेगा। प्रसिद्ध मार्क्सवादी दार्शनिक एन.जी. चरनीशवस्की के शब्दों में मनुष्य को जीवन सबसे प्यारा है, इसीलिए सौंदर्य की यह परिभाषा अत्यंत संतोषजनक मालूम पड़ती है: 'सौंदर्य जीवन है।'

प्रगतिवादी साहित्य को सोद्देश्य मानता है। सोद्देश्यता और प्रचार को एक नहीं कर देना चाहिए। 'सोद्देश्यता' का अर्थ है किसी विशेष अभिप्राय से, किसी विशेष दृष्टि से कला की रचना करना। 'प्रचार' का अर्थ है, बहुत स्पष्ट रूप से, किसी सिद्धांत की, दृष्टिकोण की या मान्यता की घोषणा करते फिरना। प्रगतिवाद का उद्देश्य स्पष्ट किया जा चुका है, अर्थात् वह सामाजिक यथार्थ का इस प्रकार चित्रण करता है कि कुरूप, शोषक, सड़ी–गली, विसंगतिग्रस्त शक्तियों का पर्दाफाश हो और नई सामाजिक शक्तियों के संघर्षों, युयुत्सा और आस्था को बल मिले। 'साहित्य जनता का जनता के लिए' चित्रण करता है। प्रचार साहित्य को हलका बनाता है और सिद्धांत के स्तर पर मार्क्सवादी दर्शन के मनीषियों और साहित्य–चिंतकों ने साहित्य में प्रचार का विरोध ही किया है। किंतु व्यवहार में यह देखा गया कि अधिकांश प्रगतिवादी साहित्य प्रचार बनकर रह गया। सामाजिक जीवन की संश्लिष्ट वास्तविकता से कटकर केवल सिद्धांत का प्रचार करने का परिणाम यह हुआ कि कवि अपने परिवेश से संबद्ध न रहकर पहले लाल सेना और लाल रूस का, फिर बाद में लाल चीन का गीत गाने लगा। प्रचार का एक दूसरा खतरा यह भी हुआ कि कवियों ने जनजीवन से अपने को संबद्ध किये बिना ही जनजीवन का गीत गाना शुरू किया। अनुभव के स्थान पर फॉर्मूला

कविताओं की प्रेरणा बना।

कला का शिल्प उसके वक्तव्य विषय के अनुसार होता है। प्रगतिवादी कविता चूँकि सामाजिक जीवन की वास्तविकता को लेकर चली, जनता तक पहुँचना और जनता के जीवन की ही बात कहना, उसका लक्ष्य रहा। इसलिए वह छायावाद की वायवी, असामान्य, रेशमी परिधानशालिनी और सूक्ष्म भाषा को छोड़कर सुस्पष्ट, सामान्य, प्रचलित भाषा को अपना कर चली, उसके प्रतीक, बिंब, शब्द, मुहावरे, चित्र सभी जनजीवन के बीच से लिये। इसलिए एक बहुत ही जीवंत भाषा का उदय हुआ; जैसे रंगीन कुहासे को तोड़कर विषय यथार्थ धरातल उभर उठा हो। किन्तु प्रगतिवाद के आरंभ में भाषाशैली की यह स्पष्टवादिता, अतिवादिता तक पहुँच कर व्याख्यान की भाषा की तरह सपाट हो गई, उसमें अभिधा की प्रधानता हो गई। शैली सांकेतिक और चित्रात्मक न होकर उपदेशात्मक हो गई। इस प्रकार काव्य का कलात्मक सौंदर्य निखर नहीं पाया। ज्यों–ज्यों आंदोलन का उफान मंद पड़ता गया या ज्यों–ज्यों लोग मार्क्सवादी दृष्टि को साहित्य के संदर्भ में ठीक ढंग से समझते गये, त्यों–त्यों काव्य प्रचारक, अभिधात्मक, सपाट रूप को छोड़कर अधिक चित्रात्मक, गहन और सांकेतिक होता गया।

प्रगतिवाद ने अपनी सीमाओं के बावजूद हिन्दी–काव्यधारा के विकास में एक बहुत ही महत्वपूर्ण अध्याय जोड़ा। उसने काव्य को (साहित्य मात्र को) व्यक्तिवादी यथार्थ के बंद कमरे से निकाल कर जनजीवन के बीच प्रवाहित कर दिया। जीवन और साहित्य के मूल्य, सौंदर्यबोध और लक्ष्य को समाज के यथार्थ और उसकी रचना से जोड़ा, भाषा को कुहरे से निकालकर धरातल पर प्रतिष्ठित किया। निराला, सुमित्रानंदन पंत, केदारनाथ अग्रवाल, रामविलास शर्मा, नागार्जुन, शिवमंगलसिंह 'सुमन', त्रिलोचन और मुक्तिबोध इस धारा के प्रमुख कवि हैं। इनमें से निराला और पंत की प्रगतिवादी कविताओं की चर्चा छायावाद के प्रसंग में हो चुकी है।

केदारनाथ अग्रवाल (1911–2000) :– इनका जन्म कमासिन, जिला बांदा में हुआ। ये बांदा में वकालत करते थे और प्रगतिवादी वर्ग के काफी सशक्त कवि थे। इन्होंने उद्‌बोधनात्मक कविताएँ भी काफी लिखी हैं, किन्तु सच्ची कविताओं की भी इनके यहाँ कमी नहीं है। केदार की कविताओं में मानव और प्रकृति के सौंदर्य का बड़ा सहज, वेगवान और उन्मुक्त रूप मिलता है। 'मांझी न बजाओ वंशी', 'बसंती हवा' आदि कविताएँ (जो 'फूल नहीं, रंग बोलते हैं' में संगृहीत हैं ') केदार की प्रगतिकालीन सहज सौंदर्यवादी कविताओं के रूप में देखी जा सकती है। एक प्रकृति–चित्र देखिए:–

आज नदी बिलकुल उदास थी
सोयी थी अपने पानी में,
उसके दर्पण पर

बादल का वस्त्र पड़ा था
मैने उसको नहीं जगाया
दबे पाँव वापस घर आया।

रामविलास शर्मा (1912–2000) :– रामविलास शर्मा का जन्म झांसी में हुआ था। ये अँग्रेजी के पी–एच.डी. थे। दीर्घकाल तक ये बलवंत राजपूत कॉलेज, आगरा में अँग्रेजी के प्राध्यापक रहे और फिर के. एम. मुंशी हिन्दी विद्यापीठ, आगरा के निदेशक रहे। ये प्रगतिशील लेखक संघ के मंत्री तथा 'हंस' के संपादक भी रहे। ये प्रख्यात प्रगतिवादी समीक्षक हैं। इनकी कविताओं का सौंदर्य है– सादगी, वेग और सहजता। शर्मा जी की कविताओं में प्रचार और नारों की कमी नहीं, सूक्ति व्यंग्यों की भी अधिकता है। किन्तु जहाँ वे अतिवादिताओं से मुक्त होकर केवल कवि के रूप में रहे, वहाँ वे सामाजिक संवेदना को आत्मसात् करके उसे सरल, वेगवती भाषा में अभिव्यक्त करते रहे।

नागार्जुन (1910–1998) :– नागार्जुन का वास्तविक नाम वैद्यनाथ मिश्र है। इनका जन्म तरौनी (दरभंगा) में हुआ था। स्कूली शिक्षा के सीन पर इन्होंने हिन्दी–संस्कृत का स्वाध्याय किया। 'यात्री' नाम से ये मैथिली में भी कविताएँ लिखते थे। कवि के साथ–साथ ये हिन्दी के प्रमुख उपन्यासकार भी हैं। इनकी कविताएँ मुख्यतः तीन तरह की हैं, कुछ कविताएँ गंभीर, संवेदनात्मक और कलात्मक हैं, जिनमें कवि ने मानव–मन की रागात्मक और सौंदर्यमयी छवियों को अंकित किया है और साथ–ही–साथ मनुष्य की मानवीय संभावनाओं के प्रति आस्था व्यक्त की है। दूसरी कोटि की कविताएँ वे हैं, जो सामाजिक कुरूपता, राजनीतिक अव्यवस्था और धार्मिक अंधविश्वास पर बढ़िया, चुभता हुआ व्यंग्य करती हैं। शिक्षा–पद्धति पर एक व्यंग्य द्रष्टव्य है:–

घुन खाये शहतीरों पर की बारहखाड़ी विधाता बाँचे,
फटी भीत है, छत चूती है, आले पर बिस्तुइया नाचे,
बरसा कर बेबस बच्चों पर मिनट–मिनट में पाँच तमाचे,
इसी तरह से दुखरन मास्टर गढ़ता है आदम के साँचे।
(युगधारा)

नागार्जुन की तीसरी कोटि की रचनाएँ उद्‌बोधनात्मक हैं, किन्तु काव्य–तत्त्व की दृष्टि से ये रचनाएँ हलकी हैं। 'बादल को घिरते देखा है', 'पाषाणी', 'चंदना', 'रवीन्द्र के प्रति', 'सिन्दूर तिलकित भाल', 'तुम्हारी दंतुरित मुसकान' आदि कविताएँ इनकी उत्तम प्रगतिवादी कविताएँ हैं।

रांगेय राघव (1923–1962):– रांगेय राघव बहुमुखी प्रतिभा के प्रगतिवादी कवि थे। इन्होंने कविता के साथ–साथ कहानियाँ, उपन्यास और आलोचनाएँ तो लिखी ही, कविता

के क्षेत्र में भी ये प्रबंध और मुक्तक दोनों ही क्षेत्रों में सक्रिय रहे 'अज्ञेय खंडहर', 'मेधावी' और 'पांचली' उनकी प्रबंधात्मक कृतियाँ हैं, जिनमें विषय की नवीन योजना के साथ–साथ नूतन प्रबंधविन्यास भी लक्षित होता है। रांगेय राघव की कविताओं में समाजवादी चिंतन और उससे अनुप्राणित सामाजिक संवेदना की श्शक्ति है। 'राह के दीपक' की कविताओं में युगीन यथार्थ के संदर्भ में प्रकृति–छवि का भी अंकन किया गया है।

शिवमंगलसिंह सुमन (1915–2002):– शिवमंगलसिंह सुमन की कविताएँ भी दो तरह की हैं। एक तो वे, जो गीत हैं या छोटी–छोटी संगठित कविताएँ हैं। दूसरी वे, जो अधिक लंबी और उपदेशात्मक हैं। उनकी छोटी–छोटी कविताएँ और गीत जहाँ कला और प्रभाव की दृष्टि से उत्तम दिखती हैं, वहीं बड़ी कविताएँ अधिक सीन घेरती हैं और उनका प्रभाव बिखर जाता है, क्योंकि वे ध्वन्यात्मक और चित्रात्मक न होकर इतिवृत्तात्मक होती हैं।

त्रिलोचन (1917–2007) :– त्रिलोचन भी इस वर्ग के कवि हैं। 'मिट्टी की बरात' इनकी प्रमुख कृति हैं। इनकी कविताओं में बड़ी सादगी है और हर कविता में धरती की सोंधी गंध मिलती हैं। ये कविताएँ प्रायः आकार में छोटी और प्रभाव में तीव्र होती हैं।

मुक्तिबोध (1917–1964) :– अपने विश्वासों और संवेदनाओं से जनवादी हैं। प्रगतिशील कविता के अंतर्गत इनकी अनेक रचनाएँ आसानी से रखी जा सकती हैं, किन्तु कुल मिला कर इन्हें नई कविता के अंतर्गत रखना ही समीचीन होगा। इन कवियों के अतिरिक्त अज्ञेय, भारतभूषण अग्रवाल, भावनीप्रसाद मिश्र, नरेश मेहत्ता, शमशेर बहादुरसिंह, धर्मवीर भारती आदि में भी प्रगतिवादी किसी–न–किसी रूप में विद्यमान हैं, किन्तु मूलतः इन्हें प्रगतिवाद के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता।

4.6 प्रयोगवाद और रचनाकार

प्रयोगवादःप्रयोग तो प्रत्येक युग में होते आये हैं, किन्तु 'प्रयोगवाद' नाम उन कविताओं के लिए रूढ़ हो गया है, जो कुछ नये बोधों, संवेदनाओं तथा उन्हें प्रेषित करने वाले शिल्पगत चमत्कारों को लेकर शुरू–शुरू में 'तार सप्तक' के माध्यम से सन् 1943 में प्रकाशन–जगत में आईं, और जो प्रगतिशील कविताओं के साथ विकसित होती गईं तथा जिनका पर्यवसान नयी कविता में हो गया। 'प्रयोगवाद' नाम भ्रामक हैं, क्योंकि इस नाम से यह भाव टपकता है कि इन कवियों ने प्रयोग को साध्य मानकर एक नया वाद चला दिया। अज्ञेय जी ने 'दूसरे सप्तक' की भूमिका में कवि–कर्म की व्याख्या करते हुए 'प्रयोग' शब्द को स्पष्ट किया था। उनकी दृष्टि में प्रयोग अपने–आप में इष्ठ नहीं है, वरन् वह साधन है, दोहरा साधन है। एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है, जिसे कवि प्रेषित करता है और दूसरे वह उस प्रेषण–क्रिया और उसके साधनों को जानने का साधन है।

'तार सप्तक' और 'प्रतीक' पत्रिका को देखने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इनमें संगृहित या प्रकाशित कवियों के अनुभव के क्षेत्र, दृष्टिकोण और कथ्य एक ही प्रकार के नहीं

हैं। कुछ ऐसे हैं, जो विचारों से समाजवादी हैं और संस्कारों से व्यक्तिवादी, जैसे– शमशेर बहादुर सिंह, नरेश मेहता और नेमिचंद्र जैन। कुछ ऐसे हैं, जो विचारों और क्रियाओं दोनों से समाजवादी हैं, जैसे– रामविलास शर्मा और गजानन माधव 'मुक्तिबोध'। कुछ ऐसे हैं, जो प्रगतिशील कविता के द्वारा व्यक्त होते हुए जीवन–मूल्यों और सामाजिक प्रश्नों को असत्य या सत्याभास मानकर अपने व्यक्तिगत जीवन में जड़पने वाली गहरी संवेदनाओं को ही रूपायित करना चाहते हैं। प्रायः ये सभी कवि मध्यवर्ग के हैं। जिन कवियों ने समाजवादी विश्वासों को अपने संस्कारों में ढालकर कविताएँ लिखी हैं, वे वास्तव में जनवादी कवि हैं। किन्तु जो ऐसा नहीं कर सके हैं या करना चाहते हैं, वे अपने व्यक्तिगत सुख–दुःखों की संवेदनाओं को ही अपने काव्य का सत्य मानकर उन्हें नये–नये माध्यमों द्वारा व्यक्त कर रहे हैं। आलोचकों ने प्रयोगवाद की चर्चा करते समय मूलतः इन्हीं कवियों को ध्यान में रखा है। यह ठीक भी है, क्योंकि समाजवादी विश्वासो वाले कवि प्रगतिशील कविता के क्षेत्र में आ ही जाते हैं।

अतः प्रयोगवादी कविता ह्रासोन्मुख मध्यवर्गीय समाज के जीवन का चित्र है। प्रयोगवादी कवि ने जिस नये सत्य के शोध और प्रेषण के नये माध्यम की खोज की घोषणा की थी, वह सत्य इसी मध्यवर्गीय समाज के व्यक्ति का सत्य था। अतः प्रश्न यह उठाया गया कि क्यों न हम उसी यथार्थ को अभिव्यक्ति दें, जिसे हम भोगते हैं, अनुभव करते हैं, अर्थात् जिसे हम आत्मसात् कर लेते हैं। व्यापक जीवन की बड़ी–बड़ी सैद्धांतिक बातें और नैतिकता के बड़े–बड़े फलसफे ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में भले ही उपादेय हों, वे कला के क्षेत्र में, कलाकार के 'स्व' की आंच में तपे बिना न तो खप सकते हैं और न उपादेय ही हैं। प्रश्न यह नहीं कि हमने कला के जीवन के कितने व्यापक अंश को समेटा है, प्रश्न यह है कि हमने लिये हुए अंश को कितना जिया है, कितना भोगा है और कितनी ईमानदारी और सच्चाई के साथ उसे व्यक्त किया है। प्रयोगवादी कवि इसीलिए व्यापक जनजीवन के अंकन के फेर में न पड़कर, अपने जिये हुए जीवन के ही विभिन्न दर्दों को अंकित करना पसंद करते हैं।

मध्यवर्गीय कवियों ने व्यक्ति–मन के सत्यों को उद्घाटित करने में ही नये सत्यों की प्रतीति और उनका संप्रेषण समझा। मध्यवर्ग आज ह्रासोन्मुख है। वह अपने चारों ओर के कठोर परिवेश के दबाव से टूट रहा है। उसकी आकांक्षाएँ विराट हैं, सपने रंगीन हैं, संवेदनाएँ कोमल हैं। वह अपने चारों ओर खड़ी कठोर सामाजिक बंधनों और आर्थिक वैषम्य की अभेद्य दीवारों से टकरा कर अपने में लौट आता है और अपने को समाज से कटा हुआ, हारा हुआ, खंडित और कुंठित समझने लगता है तथा पीड़ा के अनेक स्तरों से उलझी हुई संवेदनाओं को मन का गहरा यथार्थ मान बैठता है। यह मध्यवर्गीय व्यक्ति या कवि जनजीवन के सामूहिक जागरण से असंपृक्त रहने के कारण अपनी सीमाओं को तोड़ने का कोई सक्रिय प्रयास न करके 'स्व' की गुफा में पीड़ा के मणि खोजता रहता है। इस प्रकार

वह जनजीवन के प्रवाह से कटकर उसी के बीच में नदी के द्वीप की तरह अपनी इकाई में अवस्थित रहता है। प्रायः सभी प्रयोगवादी कवियों में यह स्थिति देखी जा सकती है। यह पीड़ा–बोध इन कवियों में इतना गहरा और सजग है कि वे इसे दार्शनिक स्तर पर एक चिरंतन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं:–

दुःख सब को माँजता है
और
चाहे स्वयं सब को मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु
जिनको माँजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सब को मुक्त रखें।
(अज्ञेय)

प्रयोगवादी कवि यथार्थवादी हैं। वे भावुकता के स्थान पर ठोस बौद्धिकता को स्वीकार करते हैं। ये कवि मध्यमवर्गीय व्यक्ति–जीवन की समस्त जड़ता, कुंठा, अनास्था, पराजय और मानसिक संघर्ष के सत्य को बड़ी बौद्धिकता के साथ उद्घाटित करते हैं। यों तो मध्यवर्गीय व्यक्ति–जीवन की पीड़ा के अनेक स्तर इन कविताओं में उभरे हैं, किन्तु विशेषतया दमित कामवासना का ही प्राधान्य लक्षित होता है। इनकी काम–संवेदना जितनी ही तीव्र है, उतनी ही सामाजिक बंधनों की सीमाएँ कठोर हैं। अतएव तीव्र संवेदनाओं वाले मध्यवर्गीय कवि की यौन–वासना उभर–उभर कर कुंठित होती गई और कुंठित होकर दर्द बनती गई। छायावादी कवियों ने कल्पनालोक में नारी के साथ साहचर्य स्थापित कर अपनी प्यास मिटा ली, किन्तु यथार्थ कवियों के लिए यह संभव नहीं था। उन्होंने कल्पना का रंगीन आवरण हटाकर दमित यौन–वासनाओं के नग्न रूप को स्पष्ट कर दिया। फ्रायड का काम–सिद्धांत इनके लिए प्रधान जीवन–दर्शन बन गया। इन कवियों ने कहीं स्पष्ट रूप से और कहीं बारीक प्रतीकों तथा बिंबों के माध्यम से दमित काम–वासनाओं और उलझी हुई संवेदनाओं को रूपायित किया। अज्ञेय, शमशेर, गिरिजाकुमार माथुर और भारती के नाम इस संदर्भ में लिये जा सकते हैं।

प्रयोगवाद ने बड़ी–बड़ी घटनाओं, बड़े–बड़े संघर्षों बड़े–बड़े व्यक्तियों या समुदायों, बड़े–बड़े जीवन–प्रसंगों के विशाल फलक पर इतिवृत्तात्मक काव्य का निर्माण नहीं किया, बल्कि उसने व्यक्ति के अंतः संघर्षों, क्षणों की अनुभूतियों और सूक्ष्म–से–सूक्ष्म, छोटी–से–छोटी संवेदनाओं और मन की विभिन्न स्थितियों को लेकर छोटी–छोटी तीव्र प्रभावशाली कविताएँ लिखीं, लैश दिये। कला में मूल प्रश्न विषय की कद्दता या लघुता का नहीं है, मूल प्रश्न है उसे ईमानदारी के साथ जी कर व्यक्त करने का। लघु मानव को उसकी समस्त हीनता और महत्ता के संदर्भ में प्रस्तुत करके प्रयोगवादी कविता ने उसके प्रति सहानुभूतिमय दृष्टि से

सोचने के लिए एक नया रास्ता खोला। मनुष्य अपनी समग्र दुर्बलताओं, हीनताओं, लघुताओं और महत्ताओं के बीच यथार्थ है। अतः यथार्थ मानव की सृष्टि के लिए उसके जटिल परिवेश को अंकित करना कलाकार का धर्म है।

4.7 नई कविता और रचनाकार

नयी कविताः–'नयी कविता' भारतीय स्वतंत्रता के बाद लिखी गई उन कविताओं को कह गया, जिनमें परंपरागत कविता से आगे नये भावबोधों की अभिव्यक्ति के साथ ही नये मूल्यों और नये शिल्प–विधानों का अन्वेषण किया गया। यह अन्वेषण साहित्य में कोई नई वस्तु नहीं है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो प्रायः सभी नये वाद या नयी–नयी धाराएँ अपने पूर्ववर्ती वादों या धाराओं की तुलना में कुछ नवीन अन्वेषण की प्यास लिखे दिखाई पड़ती हैं। साहित्य की यह नवीनता सदैव श्लाघ्य है, यदि वह अपना संबंध बदलते हुए सामाजिक जीवन के मूल सत्यों से बनाये रखें। इस प्रकार नित नवता की एक परंपरा गतिमान रही है। फिर भी 'नयी कविता' नाम स्वतंत्रता के बाद लिखी गई उन कविताओं के लिए रूढ़ हो गया, जो अपनी वस्तु–छवि और रूप–छवि दोनों में पूर्ववर्ती प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का विकास होकर भी विशिष्ट हैं।

नयी कविता की प्रवृत्तियों की परीक्षा करने पर उसकी सबसे पहली विशिष्टता जीवन के प्रति उसकी आस्था में दिखाई पड़ती है। आज की क्षणवादी और लघु मानववादी दृष्टि जीवनमूल्यों के प्रति नकारात्मक नहीं, स्वीकारात्मक दृष्टि है। नयी कविता में जीवन का पूर्ण स्वीकार करके उसे भोगने की लालसा है। मनोविज्ञान द्वारा उद्घाटित सत्यों ने यह प्रमाणित किया है कि हम क्षणों में जीते हैं। क्षणों की अनुभूतियाँ सम्पूर्ण जीवनानुभूति की बाधक नहीं, साधक हैं। क्षणों को सत्य मान लेने का अर्थ होता है, जीवन की एक–एक अनुभूति को, एक–एक व्यथा को, एक–एक सुख को, सत्य मानकर, जीवन को सघन रूप से स्वीकार करना। लघु मानवत्व की जो बात नयी कविता में उठाई गई है, उसे भी जीवन की पूर्णता के ही संदर्भ में देखना होगा। लघु मानव का अर्थ है– वह सामान्य मनुष्य, जो अपनी सारी संवेदना, भूख–प्यास और मानसिक आंच को लिये–दिये उपेक्षित था। इस लघु मानव का अर्थ यदि मनुष्य की लघुता को खोज–खोज कर सत्य–रूप में उसकी प्रतिष्ठा करने से है, तो निश्चय ही यह अतिवादी, प्रतिक्रियावादी और असत्य जीवनदृष्टि है। स्वस्थ नयी कविता ने कभी–भी इस अर्थ को स्वीकार नहीं किया।

नयी कविता ने जीवन को उपर्युक्त धाराओं की कविताओं की तरह न तो एकांगी रूप में देखा, न केवल महत् रूप में, बल्कि उसने जीवन को (वह चाहे किसी वर्ग का हो, चाहे व्यक्ति का हो, चाहे समाज का हो) जीवन के रूप में देखा, इसमें कोई सीमा नहीं निर्धारित की। मनुष्य किसी वर्गीय चेतना, सिद्धांत अथवा आदर्श की बैसाखी पर चलता हुआ इसके पास नहीं आया, वह अपने सम्पूर्ण दुःख–सुख, राग–विराग के परिवेश से संयुक्त शुद्ध

मनुष्य के रूप में आया। अभिप्राय यह है कि नयी कविता कोई वाद नहीं है, जो अपने कथ्य और दृष्टि में सीमित हो। कथ्य की व्यापकता और सृष्टि की उन्मुक्तता नयी कविता की सबसे बड़ी विशेषता है। नयी कविता को हम नया बोध मानते हुए भी परंपरा से चिच्छिन्न करके नहीं देख सकते। नयी कविता के रचयिताओं में से अधिकांश प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के खेमों में रह चुके हैं। उनकी सीमाओं से अवगत होकर वे किसी खुले क्षेत्र में आने को आकुल थे, नयी कविता दोनों के लिए सामान्य भूमि के रूप में प्राप्त हुई। नयी कविता में दो तत्त्व प्रमुख हैं– अनुभूति की सच्चाई और बुद्धिमूलक यथार्थवादी दृष्टि। वह अनुभूति क्षण की हो या एक समूचे काल की, किसी सामान्य व्यक्ति की हो या विशिष्ट पुरुष की, आशा की हो या निराशा की, अपनी सच्चाई में कविता के लिए जीवन के लिए भी अमूल्य है। नयी कविता में बुद्धिवाद नवीन यथार्थवादी दृष्टि के रूप में भी है और नवीन जीवन –चेतना की पहचान के रूप में भी। दृष्टि हमारे अनुभवों का मूल्यांकन करती है, उनसे तटस्थ बनाये रखने का प्रयत्न करती हैं और जीवन –चेतना की पहचान हमारी भावात्मक सत्ता को नयी समझ से संक्रांत बनाती है। संवेदना ज्ञानात्मक हो उठती है।

अनुभूति की सच्चाई की बात बार–बार कही जा रही है। अनुभूति किसकी ? कवि की या समाज की ? उत्तर है– कवि की। समाज की अनुभूति कवि की अनुभूति बनकर ही कविता में व्यक्त हो सकती है। इसका सर्जक व्यक्तित्व कोई यंत्र नहीं है। वह हर कच्चे माल को पहले अपने में आत्मसात् करता है, फिर व्यक्त करता है। जितना वह ले पाता है, उतना ही उसके काव्य के लिए सत्य है। इसलिए उसके व्यक्तित्व का संस्कार करने वाली युग–सत्यग्राही चेतना की आवश्यकता होती है। युगबोध से संस्कृत व्यक्तित्व अपने माध्यम से सबको देख लेता है, क्योंकि मनुष्य अपने मूल दर्द में एक है और कवि का व्यक्तित्व दर्द की संवेदना का जागरूक भोक्ता:–

चेहरे थे असंख्य
आँखें थीं
दर्द सभी में था
जीवन का दंश सभी ने जाना था
पर दो
केवल दो
मेरे मन में कौंध गयीं
मैं नहीं जानता किसकी वे आँखें थीं
नहीं जानता किसकी वे आँखें थीं
नहीं समझता फिर उनको देखूँगा

परिचय मन–ही–मन चाहा तो उद्यम कोई नहीं किया
किन्तु उसी की कौंध
मुझे फिर – फिर दिखलाती है।

0 0 0

वही परिचित दो आँखें ही
चिर माध्यम हैं
सब आँखों से सब दर्दों से
मेरे चिर परिचय का।
(अज्ञेय)

नयी कविता जीवन के एक–एक क्षण को सत्य मानती है और उस सत्य को पूरी हार्दिकता और पूरी चेतना से भोगने का समर्थन करती है। क्षणबोध श्शाश्वत बोध का विरोध नहीं, उसे प्राप्त करने की यथार्थ प्रक्रिया है। क्षणों में दिखायी पड़ने वाला जीवन–सौंदर्य, क्षणों में अनुभूत होने वाली जीवन की व्यथा या उल्लास, क्षणों में लक्षित होने वाली मनःस्थिति या बाह्य व्यापार, क्षणों की सीमा में स्फूर्जित हो जाने वाला कोई सत्य छोटा नहीं है। अनुभूति–शून्य, व्यथा–रिक्त इतिहास असत्य है, निरर्थक है। इसलिए नयी कविता अनुभूति के गहरे क्षण, प्रसंग, व्यापार या किसी भी सत्य को उसकी आंतरिक मार्मिकता के साथ पकड़ लेना चाहती है। इस प्रकार जीवन के सामान्य–से–सामान्य दीखने वाले व्यापार या प्रसंग नयी कविताओं में नया अर्थ पा जाते हैं।

नयी कविता में क्षणों की अनुभूतियों को लेकर बहुत–सी मर्मस्पर्शी और विचार–प्रेरक कविताएँ लिखी गई हैं। ये कविताएँ कुछ क्षणों का, लघु प्रसंगों का, लघु दृश्यों का चित्रण नहीं करतीं, बल्कि कुछ संगत और असंगत बिंबों के माध्यम से क्षणों की परिधि में उफनते जीवन की संश्लिष्टता को मूर्तिमान कर देती हैं। ये कविताएँ आकार में छोटी होती हैं और प्रभाव में अत्यंत तीव्र। कुछ आलोचकों ने यह आरोप लगाया है कि नयी कविता में चित्रित जीवन–बोध या सत्य विदेशी–दर्शन और कविता से उधार लिया गया है और कविता यहाँ के लोगों के जीवन–सत्यों को न ग्रहण कर परोक्ष भाव से पश्चिम के जीवन–सत्यों को ग्रहण करती है। इस आक्षेप में कुछ सत्य हैं, किन्तु इसे नयी कविता की धारा का मूल स्वर हम नहीं मान सकते। इसे अपवाद रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। कहा जा चुका है कि नयी कविता जीवन को अनुभूति के क्षणों में पकड़ने की पक्षपातिनी है। अनुभूति प्राप्त करने वाला स्षष्टा अपने परिवेश की उपज होता है। अनुभूतियाँ उसे अपने परिवेश से ही

प्राप्त होती हैं। अतः नयी कविता अपने परिवेश के जीवन–सत्यों को छोड़कर खड़ी ही कहाँ रह सकती है?

हाँ, जीवन–सत्य को हमें दो रूपों में देखना होगा। कुछ जीवन – सत्य किसी विशेष समय और सीान के होते हैं, जो कविता में आकर समय और स्थान के बंधनों को तोड़ बैठते हैं। कुछ सत्य ऐसे होते हैं, जो प्रकृति से ही देशकाल की दूरियों से परे होते हैं। कविता एक ऐसी संश्लिष्ट कृति है कि इसमें हम परिवेशगत और परिवेशमुक्त सत्य को अलग करके नहीं देख सकते। नयी कविता का स्वर अपने परिवेश की जीवनानुभूति से फूटा है। विभिन्न कविताओं के जीवनानुभव विभिन्न परिवेशों से संबद्ध हो सकते हैं। नयी कविता में शहरी जीवन और ग्रामीण जीवन इन दोनों परिवेशों को लेकर लिखने वाले कवि हैं। अज्ञेय एक ऐसे कवि हैं, जिनका अनुभवक्षेत्र बड़ा व्यापक है। शहरी जीवन और देहाती जीवन की तीव्र चेतना इनकी कविताओं को व्यापक रूप देती है। किन्तु सभी कवियों का बोध अज्ञेय के समान व्यापक नहीं है। एक ओर बालकृष्ण राव, श्शमशेर बहादुर सिंह, गिरिजाकुमार माथुर, कुंवर नारायण, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे, विजयदेवनारायण साही, रघुवीर सहाय आदि कवि हैं, जिनकी संवेदनाएँ और अनुभूतियाँ मुख्यतः शहरी परिवेश की हैं। दूसरी ओर भवानीप्रसाद मिश्र, केदारनाथ सिंह, शभूनाथ सिंह, ठाकुरप्रसाद सिंह, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल आदि ऐसे कवि हैं, जो मूलतः गांव के संस्कारों और अनुभूतियों से बने हैं। किन्तु यह ऐकांतिक अलगाव नहीं है। दोनों प्रकार के क्षेत्रों में कवि संक्रमण करते हैं। परिवेश के प्रभाव को देखने के लिए एक ओर मदन वात्स्यायन की यांत्रिक परिवेश की कविताएँ देखिए, दूसरी ओर ठाकुरप्रसाद सिंह के संथाली जीवन के वातावरण में सर्जित आर्द्र गीत देखिए। अज्ञेय एक ओर मध्यवर्गीय व्यक्ति–मन की कुंठा–निराशा को, औद्योगिक नगरों की असंगति–भरी सभ्यता को, उसकी तीव्रता में पकड़ते हैं, तो दूसरी ओर उन्मुक्त प्रकृति या ग्राम–जीवन की किसी छवि, विषमता या व्यथा को व्यंजित करते हैं या प्रकृति और ग्राम्य–जीवन के बिंब लेकर अनुभूति या सौंदर्य का कोई स्वर उभारते हैं।

नयी कविता का परिवेश अपने यहाँ का जीवन है। लेकिन लोगों का आक्षेप है कि नयी कविता में अतिरिक्त अनास्था, निराशा, व्यक्तिवादी कुंठा और मरणधर्मिता है। ये विशेषताएँ परिश्चम की नकल से पैदा हुई हैं, अतः नयी कविता विदेशी परिवेश से प्रेरणा ग्रहण करती हैं। यह सत्य है कि नयी कविता में निराशा, कुंठा, मरणधर्मिता भी है, किन्तु इन विशेषताओं को जन्म देने वाले कारण अपने समाज में ही हैं। समाज का परिवेश बड़ा विषम है, किन्तु इन विशेषताओं को जन्म देने वाले कारण अपने समाज में ही हैं। समाज का परिवेश बड़ा विषम है। यदि सामाजिक स्थिति में तड़पते व्यक्ति को निराशा, कुंठा, लाचारी और मृत्यु की कामना प्राप्त होती है तो वह उधार में सुख, आशा और जीवन की प्रवंचना कहाँ से लाएगा ? जीवन के हर•क्षण को विश्वास के साथ भोगना, उसकी पीड़ा और निराशा को

भी जीवन–सत्य मानकर, सच्चे रूप में भोगना ही जीवन का सच्चा उपभोग है और असल में वही जीवन की आस्था है। किन्तु पीड़ा और निराशा को जीवन का मूल सत्य मानकर दिन–रात मरसिया पढ़ने का उपदेश देना सामाजिक जीवन के समस्त विकास के पीछे कार्य करने वाली मनुष्य की जिजीविषा, प्रेम और उल्लास को अस्वीकार करना है। नयी कविता में भी पीड़ा और निराशा को कहीं–कहीं जीवन का एक पक्ष न मानकर, समग्र जीवन–सत्य मान लिया गया है। वहाँ पीड़ा जीवन की सार्जनात्मक शक्ति न बन कर उसे गतिहीन करने वाली बाधा बनकर आयी है। ऐसी दृष्टि समाज या व्यक्ति–जीवन के अभाव पक्ष को ही उद्‌घाटित करने में रस लेती है। अभाव पक्ष के उद्‌घाटन की सार्थकता तभी है, जब कविता उपलब्धि–सी दीखने वाली किसी चीज के भीतर की रिक्तता को व्यंग्यात्मक ढंग से व्यक्त करे या वह अभाव पक्ष के भीतर से जीवन की ओर संकेत करे। नयी कविता जीवन–मूल्यों की पुनः परीक्षा करती है। ये मूल्य नवीन युग की आवश्यकताओं के परिवेश में कितने खरे उतरते हैं और अपने रूढ़ रूप में कितने असंगतिपूर्ण हो गये हैं, इनका कितना स्वरूप आज के लिए भी ग्राह्य है, जागरूक कवि और चिंतक को यह परीक्षा करनी पड़ती है।

नयी कविता ने जीवन–मूल्यों की फिर परीक्षा की है, जिसके ये परिणाम सामने आये हैं। कुछ मूल्य तो निश्चित ही सामयिक थे, जो आज सिद्धांत और व्यवहार दोनों ही रूपों में व्यर्थ हो गये हैं तथा कुछ मूल्य अपनी प्रकृति में मानव–जीवन की चिरंतन– निधि सिद्ध हैं, किन्तु वे व्यवहार में बड़े निकम्मे तरीके से प्रयुक्त किये गये हैं। वे केवल नीतिवाक्यों के रूप में उच्चारित किये जाते हैं। नयी कविता की प्रश्नाकुल दृष्टि इन मूल्यों को उनकी विकसित असंगतियों के बीच देखती है। इसलिए जहाँ ये मूल्य अपनी असंगतियों के कारण तीखे व्यंग्य का भाजन बनते हैं, वहीं नये संदर्भों में भी सिद्ध होने वाली उपयोगिता के कारण आस्था का आधार नये मूल्यों की पुनः परीक्षा का क्रम नया नहीं है। हर युग ने पुराने मूल्यों को अपने संदर्भ में कसा है, किन्तु इन युगों की कविताओं के सामने समाधान के तौर पर कोई आदर्शवाद उतर आता रहा है और प्रश्नाकुलता का स्थान भावात्मक मानवतावादी आस्था लेती रही है। परन्तु नयी कविता की यथार्थवादी दृष्टि काल्पनिक या आदर्शवादी या भावुकतामिश्रित मानववाद से संतुष्ट न होकर जीवन का मूल्य, उसका सौंदर्य, उसका प्रकाश जीवन में ही खोजती है। वर्तमान की गहन निराशा और बिखराव के बीच भी वह अनागत ज्योति के लिए प्रतीक्ष्यमान है। नयी कविता द्विवेदीकालीन कविता, छायावादी या प्रगतिवाद की तरह अपने बने–बनाये मूल्यावादी नुस्खे नहीं पेश करती, वह तो उसे जीवन की सच्ची व्यथा के भीतर पाना चाहती है। इसलिए नयी कविता में व्यंग्य के रूप में कहीं पुराने मूल्यों की अस्वीकृति है, तो कहीं दर्द की सच्चाई के भीतर से उगते हुए नये मूल्यों की संभावना के प्रति आस्था। नयी कविता ने धर्म, दर्शन, नीति, आचार सभी प्रकार के मूल्यों को चुनौती दी है और जीवन की नवीन अनुभूति, नवीन चिंतन, नवीन गति के मार्ग में आने वाले फॉर्मूलों अथवा मूल्यों की विधातक असंगतियों को अनावृत्त करना सर्जनात्मकता से असंबद्ध नहीं है,

वरन् सर्जन की आकुलता ही है।

लोक–संपृक्ति नयी कविता की एक खास विशेषता है। वह सहज लोकजीवन के करीब पहुँचने का प्रयत्न कर रही है। लोकजीवन के प्रति उसकी उन्मुखता प्रगतिवाद का प्रभाव कही जा सकती है, किन्तु प्रगतिवाद में एक आंदोलन का स्वर था, सहजता नहीं थी और उसने अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण लोकलीवन का एक विशिष्ट अर्थ लगा लिया था। प्रयोगवाद लोकजीवन से कट गया था। नयी कविता ने लोकजीवन की अनुभूति, सौंदर्यबोध, प्रकृति और उसके प्रश्नों को एक सहज और उदार मानवीय भूमि पर ग्रहण किया। साथ–ही–साथ लोकजीवन के बिंबों, प्रतीकों, शब्दों और उपमानों को लोकजीवन के बीच से चुनकर उसने अपने को अत्यधिक संवेदनापूर्ण और सजीव बनाया। प्रश्न यह उठता है कि लोकजीवन की संवेदना और बिंबों की सहज सुन्दरता से पूर्ण होकर भी नयी कविता क्यों लोकप्रिय नहीं हो पायी ? कारण यह है कि वह लोकजीवन की सतही भावनाओं का इतिवृत्ति नहीं पेश करती, अपितु लोकजीवन से लिये गये बिंबों के माध्यम से लोकजीवन की जटिल अनुभूतियों और प्रश्नों को ध्वनित करती है। कविता के ऊपर आयोजित नयी कविता वहन नहीं कर सकती, वह अपनी अंतर्लय, विंबात्मकता नव–प्रतीक–योजना, नये विशेषणों के प्रयोग नव–उपमान संघटना में कविता के शिल्प को मान्य धारणाओं से काफी अलग दिखती है, अर्थात् वह बाह्य चमत्कारों से मुक्त होकर कविता के लिए जो मूलभूत छवि होती है, उसी को संयोजित करना चाहती है। बिंब कविता की मूल छवि है, इसलिए आज की कविता बिंबबहुला हो गयी है। कच्ची अनुकृतियाँ करने वाले, पुस्तकों तथा सिद्धातों से प्रेरणा लेने वाले कवियों के अपवादों को छोड़कर श्शेष कवि इन बिंबों को जीवन के बीच से चुनते हैं। भाषा भी मुक्त भाव से ऐसे श्शब्दों को लेती है, जो अभिजात नहीं हैं, लेकिन सशक्त है। अपने बीच मिट्टी की गंध छिपाये हुए हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि नयी कविता जीवन के नये संदर्भों में उभरने वाली अनुभूतियों, सौंदर्य–प्रतीतियों और चिंतन–आयामों से संपृक्त बिंब ग्रहण करती है। श्शहरी कवि के बिंब विशेषता नागरिक जीवन के और ग्रामीण जीवन संस्कारों से युक्त कवि के बिंब विशेषतया गांव के होते हैं। व्यक्तिगत दोनों प्रकार के बिंब नयी कविता में हैं। नयी कविता ने अपने बिंब और प्रतीक पुराण और इतिहास से भी चुने हैं, लेकिन उन्हें नये अर्थ और संदर्भ से सम्पन्न किया है। अनेकानेक फुटकल कविताओं के अतिरिक्त 'अंधा युग', 'कनुप्रिया' और 'आत्मजयी' इस दृष्टि से महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

लोक–संपृक्ति के संदर्भ में लोकजीवन से लिए गए श्शब्दों की ओर भी एक दृष्टि डाल लें। छायावाद की श्शब्दावली विशेषतः संस्कृत की तत्सम श्शब्दावली थी और उसके आभिजात्य, माधुर्य और सुकुमारता की रक्षा का विशेष ध्यान रखा गया था। प्रगतिवाद में लोकश्शब्दों के प्रयोग की ओर विशेष ध्यान दिया गया। किन्तु प्रयोगवाद ने फिर लोकजीवन से संबंध काटकर रोमानी या बोझिल पदावली का प्रयोग किया। नयी कविता ने प्रगतिवाद

की राह को पकड़ा। प्रगतिवाद ने विशेष क्षेत्रों से विशेष–विशेष संदर्भ में ही लोकशब्द लिये थे। परन्तु नयी कविता ने सभी प्रकार के संदर्भों के लिए लोकशब्द चुने। अज्ञेय प्रयोगवादी भी रहे हैं और नये कवि भी। एक ओर इनकी प्रयोगवादी शब्दावली देखिए:–

वंचना है चाँदनी सित
झूठ वह आकाश का निरवधि
गहन विस्तार
शिशिर की राका निशा की
शान्ति है निस्सार।

दूसरी ओर इनकी नयी कविता की शब्दावली द्रष्टव्य है:

पहाड़ियों से घिरी हुई
इस छोटी–सी घाटी में
ये मुँहझौंसी चिमनियाँ बराबर
धुआँ उगलती जाती हैं।

टोये, भभके–खिंचा, सीटी, ठिठुरन, चिड़चिड़ी, ठसकना, पूलें, ठूंठ, विरस, सिराया, ठार हुई, डाकती, फुनगियाना–जैसे अनेक श्शब्द नयी धारा की कविताओं और गीतों में धड़ल्लो से प्रयुक्त हो रहे हैं। इसलिए नयी कविता की भाषा में एक खुलापन और ताजगी दिखायी देती है।

यहाँ नयी हिन्दी कविता की सामान्य प्रवृत्तियों और उपलब्धियों की ओर संकेत करने का प्रयास किया गया है, किन्तु काव्यात्मक स्तर पर हर कवि की अपनी–अपनी सीमा और उपलब्धि होती है। अलग–अलग कवियों के स्तर अलग–अलग हैं। किसी का संवेदन बहुत ही गत्यात्मक, व्यापक और गहरा है, तो किसी का अपेक्षाकृत संकीर्ण और उथला। किसी का सौंदर्यबोध अधिक सामाजिक है, तो किसी का अपेक्षाकृत व्यक्तिगत। किसी में जीवन का व्यथा–पक्ष प्रधान है, किसी में आनंद–पक्ष। किसी के शिल्प में अधिक सघनता है, तो किसी में अपेक्षाकृत कथन–प्रणाली की सुगति। कोई खंडित बिंबों और मुक्त साहचर्य का प्रयोग कर कविता को जटिल बनाता है, कोई बिंबों की सघनता के बावजूद उसमें तारतम्य बनाये रखने के कारण अधिक संवेद्य प्रतीत होता है। अनुभूतिहीन, अस्वायत्त सत्य को कह चलने वाले ऐसे बहुतेरे कवि मिलेंगे, जो नयी कविता को एक फैशन समझ बैठे हैं। अनुभूतिशून्यता को अभिव्यक्ति की अस्पष्टता, अटपटेपर, दुरूहता में छिपाने का फैशन यहाँ तक बढ़ गया है कि ढेर सी नयी कविताओं के बीच में बहुत–से कवियों के व्यक्तित्व को पहचानना मुश्किल हो गया है। दूसरी ओर, कुछ ऐसे भी लोग उभर रहे हैं जिनके पास कुछ बातें कहने को तो है, किन्तु उन्हें कह ही डालते हैं राई रत्ती–बिंब या प्रतीक से नहीं, सीधे–सीधे। बज कभी

बिंब या प्रतीक उनके मन में उभरता भी है तो वे उसे रूपक के रूप में प्रयुक्त कर देते हैं और फिर बात तथ्यकथन प्रणाली पर ही आकर रुक जाती है। ऐसा इसलिए होता है कि कोई ऐसा कथ्य उनकी अनुभूतियों को चीरता हुआ नहीं उभरता, जो अपनी तीव्रता में अपने सं संबद्ध बिंब के माध्यम से ध्वनित हो उठे, बल्कि वे सतह पर फेले हुए तथ्यों को बटोरते हैं।

अज्ञेय (1911–1987) :– इनका जन्म कसया (देवरिया) में हुआ था। बी.एस–सी. तक शिक्षा पाने के बाद इन्होंने अँग्रेजी तथा हिन्दी–साहित्य का स्वाध्याय किया। इसके अतिरिक्त इन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया। अज्ञेय का जीवन यायावरी और क्रांतिकारी रहा है। इसीलिए ये किसी व्यवस्था से बंध कर नहीं रह सके। 1943 से 1946 तक इन्होंने सेना में नौकरी की। कई बार ये सांस्कृतिक कार्यों के लिए अमेरिका गये। कुछ दिनों तक ये जोधपुर विश्वविद्यालय में भी कार्यरत रहे। कवि के साथ–साथ ये प्रख्यात कथाकार, समीक्षक और चिंतक–विचारक भी हैं। पत्रकारिता के क्षेत्र में इन्हें 'दिनमान' और 'प्रतीक' के संपादक–रूप में ख्याति प्राप्त हुई है। 'तार सप्तक', 'दूसरा सप्तक', 'तीसरा सप्तक', 'चौथा सप्तक' और 'रूपांबरा' इनके द्वारा संपादित काव्य–संकलन हैं। 'भग्नादूत' और 'चिंता' की छायावादी कविताओं से अपनी काव्ययात्रा आरंभ करने वाले अज्ञेय प्रयोगवाद और नयी कविता के विशिष्ट कवि हैं। इस धारा के कवियों में उनका स्वर सबसे अधिक वैविध्यपूर्ण है। उनका स्वर अहं से लेकर समाज तक, प्रेम से लेकर दर्शन तक, आदिम गंध से लेकर विज्ञान की चेतना तक, यंत्र–सभ्यता से लेकर लोक–परिवेश तक, यातना–बोध से लेकर विद्रोह की तलवार तक, प्रकृति–सौदर्य से लेकर मानव–सौंदर्य तक फेला हुआ है। यह बात और है कि इस व्याप्ति में सर्वत्र संवेदनशीलता या अनुभूति साथ नहीं देती, कहीं–कहीं कोरी बौद्धिकता या शुष्क बोध उभर आता है।

'तार सप्तक' की कविताओं के साथ अज्ञेय की नयी काव्य–यात्रा प्रारंभ होती है, जो बाद में 'इत्यलम्' में संगृहित दिखायी पड़ती है। अज्ञेय में संवेदना के साथ एक सजग बौद्धिकता है। यह बौद्धिकता उनकी संवेदना को नियंत्रित तो करती ही है, साथ ही कभी नवीन सूक्तियों के रूप में (जैसे 'दुःख सबको मांजता है' या 'अच्छा खंडित सत्य सुघर नीरंध्र मृषा से' आदि कविताओं में), कभी व्यंग्य के रूप में (जैसे 'सांप'), कभी युग–चिंतन और बोध के बिंब–विधान के रूप में व्यक्त होती है जो संवेदना या अनुभूति से अंतरंग भाव से जुड़ी न होने के कारण बिंब–रचना के बावजूद बहुत दूर तक प्रभावहीन हो जाती है। अज्ञेय की कविताओं में जो स्वर–वैविध्य दिखायी पड़ता है, उसका कारण बहुत–कुछ उनकी बौद्धिकता है। संवेदना और बौद्धिकता की यह सहयात्रा जहाँ रूमानी परंपरा को तोड़कर नये सौंदर्यबोध से संपन्न स्वस्थ्य काव्य की सृष्टि करती है, वहीं बौद्धिकता का अतिरेक शुष्क, दुरूह और नब–रहस्यवादी कविता को जन्म देता है। अज्ञेय की छोटी–छोटी कविताएँ सौंदर्य और

प्रभाव की सृष्टि की दृष्टि से विशिष्ट और सक्षम हैं, वे चाहे व्यंग्य करती हों, चाहे कोई सौंदर्य या अनुभव जगाती हों, चाहे रूप की अभिव्यक्ति करती हों। दो कविताएँ देखें:–

(अ) **उड़ गयी चिड़िया**
कांपी फिर
थिर
हो गयी पत्ती।

(ब) **बह चुकीं बहकी हवाएँ चैत की**
कट गयीं पूलें हमारे खेत की
कोठरी में लौ बढ़ा कर दीप की
गिन रहा होगा महाजन सेंत की।

गिरिजाकुमार माथुर (1919–1994) :– इनका जन्म अशोकनगर (मध्यप्रदेश) में हुआ। एम.ए. (अँग्रेजी), एल.एल.बी. तक शिक्षा पाने के बाद इन्होंने प्रारंभ में वकालत और फिर दिल्ली सेक्रेटेरिएट में नौकरी की। उसके बाद ये आकाशवाणी तथा दूरदर्शन में उपमहानिदेशक रहे। आप 'गगनांचल' के संपादक भी रहे। माथुर में प्रयोग और संवेदन का बहुत सुन्दर सामंजस्य है, अर्थात् प्रयोग कहीं भी बौद्धिक भंगिमा या फैशन के वशीभूत होकर नहीं आया है, वह उनकी अनुभूतियों और संवेदनाओं के सूक्ष्म कोणों, रंगों और प्रभावों को व्यक्त करने की आकुलता से जुड़ा हुआ है। कवि ने छंद, भाषा और बिंब–विधान सभी में प्रयोग किये हैं। छंद तो प्रायः सर्वत्र लययुक्त हैं, नवीनता इसमें है कि कवि ने कहीं–कहीं सवैया को तोड़कर नया छंदरूप दिया है। उनके काव्य के दो स्वरूप हैं– 'मंजीर' और 'तार सप्तक' में उनकी व्यक्तिगत अनुभूतियाँ हैं, किन्तु 'नाश और निर्माण', 'धूप के धान' तथा 'शिलापंख चमकीले' में सामाजिक जीवन की अनुभूतियाँ ओर यथार्थ उभरते गये हैं। 'तार सप्तक' में जीवन–यथार्थ के नये आयाम उद्घाटित नहीं किये गये हैं। वे अपने परिवेश के जीवन–सत्यों से भी जुड़े नहीं प्रतीत होते, उनकी संवेदना अत्यंत रूमानी प्रतीत होती है। प्रकृति की रंगमयता, उसकी उदासी, सौंदर्य–प्यास, प्रेम–प्रसंगों की स्मृतियों का दंश, सुन्दर वातावरण में साथीविहीन अकेलेपन का बोध आदि इनके अनुभव और संवेदना के अंग हैं। इनके रचना–लोक में विभिन्न रूप–रंगों में , ध्वनियों, गंधों और स्पर्शों में इन्हीं के दर्शन होते हैं।

सेमल की गरमीली हल्की रुई समान
जाड़ों की धूप खिली नीले आसमान में
झाड़ी झुरमुटों से उठे लम्बे मैदान में

रूखे पतझर भरे जंगल के टीलों पर
काँप कर चलती समीर हेमन्त की
लम्बी लहर–सी।
(तार सप्तक)

इन सीमित जीवन–अनुभवों को लेकर भी माथुर एक विशिष्ट कवि हैं, क्योंकि वे इन अनुभवों की बहुत गहरी और सूक्ष्म छायाओं को पहचानते हैं।

'नाश और निर्माण' में 'तार सप्तक' वाली कविताएँ तो संगृहीत हैं ही, साथ ही ऐसी कविताएँ भी हैं, जो सामाजिक चेतना से अनुप्राणित हैं। इन तथा अन्य परवर्ती कविताओं में शक्ति, उल्लास और सामाजिक जीवन का स्पंदन है, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के रूप और विषम परिणामों का तीव्र अहसास तथा उनके विरुद्ध समाजवादी चेतना का प्रसार है।

गजानन माधव मुक्तिबोध (1917–1964) :– मुक्तिबोध का जन्म ग्वालियर के एक कस्बे में हुआ था। इन्होंने एम.ए. तक शिक्षा प्राप्त की और ये अध्यापक, पत्रकार, विशिष्ट विचारक कवि, कथाकार और समीक्षक के रूप में समादृत रहे। अपनी पूरी पीढ़ी में मुक्तिबोध का व्यक्तित्व विशिष्ट है। इस पीढ़ी और इसी से लगी हुई.परवर्ती पीढ़ी के लगभग सारे कवि (अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, शमशेर, भारती आदि) रूमानी कविता से अलग हटकर नया प्रयोग करने का प्रयत्न करते हुए भी रूमानी संवेदना और भाषा से मुक्त नहीं हो कसे, किन्तु मुक्तिबोध एक ऐसे कवि हैं, जिनका अनुभव–जगत बहुत व्यापक है, जो अपनें परिवेश के जीवन से बहुत गहन भाव से जुड़े हुए हैं। उनकी प्रगतिवादी दृष्टि परिवेशबोध, सामाजिक चिंतन और अनुभव–वैविध्य को और बल देती है। अतः कहा जा सकता है कि बाद में जीवन की बहुविध छवि को लेकर विकसित होने वाली नयी कविता के अग्रज कवि सच्चे अर्थों में मुक्तिबोध ही हैं। उनकी सबसे बड़ी श्शक्ति है – लोकपरिवेश से गहरी संपृक्ति तथा जनजीवन में विश्वासः–

मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक पत्थर में
चमकता हीरा है
हर एक छाती में आत्मा अधीरा है
प्रत्येक सुस्मित में विमल सदानीरा है
मुझे भ्रम होता हैं कि प्रत्येक वाणी में
महाकाव्य–पीड़ा है
पल भर में सबसे गुजरना चाहता हूँ
इस तरह खुद ही को दिये फिरता हूँ

अजीब है जिन्दगी।

(चाँद का मुँह टेढ़ा है)

किन्तु शिल्प के प्रति असावधानता उनके अनुभव–खंड़ों को एक में बांध नहीं पाती और समग्रतः बिंबों की रचना में संश्लिष्टता तथा सघनता नहीं भर पाती। मुक्तिबोध में फेंटेसी है, अर्थात एक जादुई कथा में आधुनिक जीवन अनुभवों की अभिव्यक्ति है। 'अँधेरे में', 'ब्रह्मराक्षस' कविताएँ इस दृष्टि से अत्यधिक उल्लेखनीय हैं। उनकी अनुभूति केवल व्यक्तिगत संवेदन के स्तर की नहीं हैं, वह अपने परिवेश से गहरे जुड़ी है और अनेक आवर्तों से लिपटी है तथा कवि की आलोचक दृष्टि रचनात्मक संदर्भ में लक्षित होने वाली इनकी सार्थकता और निरर्थकता की जाँच करती चलती है।

भवानी प्रसाद मिश्र (1914–1985) :– बी.ए. तक शिक्षा पाने के बाद ये पहले 'कल्पना' में संपादक थे, फिर ऑल इंडिया रेडियों में नौकरी की और अवकाश प्राप्त करने तक सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय के संपादक–मंडल में रहे। ये सहज संवेदना के कवि हैं। कवि की संवेदना कहीं तो बहुत सुक्ष्म और आत्मगत है, जैसे 'कमल के फूल', 'वाणी की दीनता', 'टूटने का सुख' आदि में और कहीं बहुत प्रत्यक्ष और परिवेश–संपृक्त हैं, जैसे 'सतपुड़ा के जंगल', 'सन्नाटा', 'गीतफरोश' आदि कविताओं में। कवि की सहजता सघन अनुभूति तथा संयत अभिव्यक्ति के क्षणों में जहाँ अत्यंत सुन्दर काव्य की सृष्टि करती है, वहीं फार्मूलाबद्ध आदर्शवादिता अनुभूति के सतहीपन तथा अभिव्यक्ति के तुकांतवादी विस्तार की अवस्था में सामान्य काव्य की 'असाधारण' और 'स्नेह शपथ' जैसी उनकी कविताएँ हैं, जो सामान्य हैं। उनकी भाषा और अभिव्यक्ति में भी लोक–जीवन का प्रभव है।

शमशेर बहादुर सिंह (1911–1993) :– इनका जन्म देहरादून में हुआ था। बी.ए. करने के बाद ये 'कहानी' और 'नया साहित्य' के संपादक–मंडल में रहे। बाद में दिल्ली विश्वविद्यालय के उर्दू–विभाग में कोश से संबंधित कार्य करते रहे। विचारों से मार्क्सवादी श्शमशेर संस्कारों से व्यक्तिवादी और अनुभवों से रूमानी हैं। उनकी अधिकांश कविताओं का स्वर कुंठित प्रेम का है। संवेदना और अभिव्यक्ति–दोनों में ये प्रयोगवाद की अतिशय व्यक्तिवादिता के प्रतीक हैं। इनकी अतिशय व्यक्तिवादिता केवल अपने प्रतिबद्ध होने के कारण पाठकों की समझ की उपेक्ष कर जाती है और ऐसे–ऐसे महीन जाल बुनती है तथा खंडित बिंबों की योजना करती है कि पूरी कविता अपने अभिप्रेत प्रभाव के साथ उभर नहीं पाती। श्शमशेर बहुत सूक्ष्म सौंदर्यबोध के कवि माने जाते हैं, किन्तु कठिनाई यह है कि सौंदर्य यहाँ–वहाँ की कुछ पंक्तियों में अलग–अलग ढंग से उभर कर रह जाता है। मुक्त–आसंग, चेतना–प्रवाह, अर्मूत चित्रात्मकता, श्शब्द–संगीत आदि श्शमशेर के शिल्प को एक नया रूप अवश्य देते हैं, किन्तु वे अनुभव–लोक को मूर्त करने के सीन पर उलझा देते हैं।

धर्मवीर भारती (1926–1997) :– भारती का जन्म इलाहाबाद में हुआ। वे हिन्दी में एम.ए., पी–एच.डी. थे। प्रारम्भ में ये इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक रहे, 1987 तक 'धर्मयुग' के संपादक रहे। कवि के साथ–साथ ये विशिष्ट कथाकार, नाटककार और समीक्षक भी थे। भारती की काव्योपलब्धियाँ वास्तव में उनकी परवर्ती कृतियों– 'अंधा युग', 'कनुप्रिया' और 'सात गीत–वर्ष' में दिखायी पड़ती हैं। आरम्भ की कविताएँ बहुत–कुछ कैशोर भावुकता से युक्त हैं। भारती में आदिम गंध की तड़प और लोकजीवन की रूमानी छवि की पकड़ है। इसलिए उनकी कविताएँ मूलतः गीतात्मक हैं। इन कविताओं में लोक–परिवेश की मस्ती और उल्लास के सीन पर उदासी और सूनापर ही अधिक उभरता है:–

घास के रस्ते उस बंसवट से
इक पीली–सी चिड़िया
उसका कुछ अच्छा–सा नाम है
मुझे पुकारे ताना मारे
भर आये आँखड़ियाँ
उन्मन यह फागुन की शाम है।
(ठंडा लोहा)

भारती के काव्य की एक बहुत बड़ी विशेषता है– उसकी मूर्तता और पारदर्शिता, जो उनके परवर्ती गंभीर और चिंतन–संवलित काव्यों में भी लक्षित होती है। 'सात गीत–वर्ष' की कविताओं में कवि की रूमानी भावुकता ने यथार्थ की गहराई पा ली है, बहुत–सी कविताएँ यहाँ भी प्रेममूलक हैं, किन्तु यहाँ प्रेम के बहुत सूक्ष्म संक्रांत अनुभवों को उभारा गया है। इसमें कुछ व्यंग्यात्मक कविताएँ भी हैं, जो किसी सांस्कृतिक, सामाजिक या राजनीतिक विसंगति पर हलका–हलका आघात करती हैं। मूल्यों–संबंधी प्रश्न भी उभारे गये हैं, किन्तु मानव–संवेदना की आँच में।

4.8 नवगीत और रचनाकार

नवगीतः गीत एक विधा है, और समसामयिक परिवर्तनों के साथ चिरंतन विधा है। युगीन संदर्भों में मानव–मन के संवेगों को नया–नया रूप प्राप्त होता है, लेकिन संवेगों को गाने के लिए मानव–मन में बेचैनी रहा करती है। यह सत्य है कि आज के व्यक्ति के सुख–दुःख, राग–विराग की संवेदना आदिम काल के मानव की संवेदना की तरह प्रत्यक्ष, सीधी और आवेगात्मक नहीं है– उसमें बौद्धिक युग की बहुत–सी जटिलताएँ बा गई हैं। इसलिए आज की संवेदना आदिकालीन, मध्ययुगीन और आधुनिक काल के रूमानी गीतों की संवेदना की तरह एक लय में वेग से फूट नहीं चलती, बल्कि वह एक विशिष्ट मानसिक स्थिति में अपने

अनुकूल बिखरे हुए संवेगों से जुड़ती है अर्थात् एक संवेग दूसरे से संक्रांत होता है। ये संक्रांत संवेग एक आंतरिक एकता से अनुशासित होते हैं। देखने में ये संवेग अलग–अलग मालूम पड़ते हैं, परन्तु मूलतः आंतरिक संगीत से जुड़े होते हैं। आज का यह भाव–सत्य नयी कविता और नवगीत दोनों में व्यक्त हो रहा है। इन संक्रांत संवेगों को रूपायित करने के लिए कवि को अनिवार्य रूप से बिंबों और प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है। उनके बिना संवेगों की संश्लिष्टता और सुक्ष्मता व्यंजित नहीं हो पाती।

जहाँ मानव–मन किसी सौंदर्य, राग, सत्य के किसी कोण से गहरे छू जाता है, वहाँ गीत की भूमि होती है। यह काव्य अपेक्षाकृत आत्मप्रधान होता है, यह विश्लेषणात्मक, बुद्धि–बोझिल, लंबा और जटिल नहीं होता। हिन्दी में प्रायः हुआ यह है कि गीतों को मात्र एक आकार मन लिया गया है। उस आकार में जितनी सामग्री ठूंसी जा सकती है, ठूंसी गई है। इसीलिए नया कवि गीतों से घृणा करने लगा है, आज के लिए अपर्याप्त और अनावश्यक मानने लगा है। किन्तु गीत की इन व्यावहारिक सीमाओं के कारण उसकी मौलिक श्शक्तियों को अस्वीकार नहीं किया जा सकता और श्शायद इन्हीं श्शक्तियों के कारण बहुत–से अच्छे नये कवि गीतकार भी हैं। उनके गीतों की सरलता, अनुभूति–सघनता और प्रभावान्विति का प्रभाव उनकी नयी कविताओं पर भी पड़ता रहा है। प्रचलित रंगमंचीय फूहड़ गीतों से अलग करने के लिए इन गीतों को 'नवगीत' कह सकते हैं।

समसामयिक नवगीत प्रमुखतः अज्ञेय के 'इत्यलम्', 'हरी घास पर क्षण भर', 'बावरा अहेरी', 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' आदि संग्रहों में, गिरिजाकुमार माथुर के 'नाश और निर्माण', 'धूप के धान' और 'शिलापंख चमकीले' में, धर्मवीर भारती के 'ठंडा लोहा' तथा 'सात गीत–वर्ष' में नरेश मेहता के 'वनपांखी सुनो' में, शंभुनाथ सिंह की 'समय की शिला पर' में, जगदीश गुप्त के 'नाव के पांव' तथा 'हिमदंश' में, ठकुरप्रसाद सिंह के 'वंशी और मादल' में, रामदरश मिश्र के 'बैरंग बेनाम चिट्ठियाँ' तथा 'पक गयी है धूप' काव्य–संग्रहों में, केदारनाथ सिंह के 'अभी, बिलकुल अभी' में, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के 'काठ की घंटियाँ' में, 'रवीन्द्र भ्रमर के गीत' में वीरेन्द्र मिश्र के 'गीतम' में तथा राजेन्द्र प्रसाद सिंह की 'आओ खुली बयार' में प्रकाशित हैं। इनके अतिरिक्त भवानीप्रसाद मिश्र, शमशेर और भारतभूषण अग्रवाल के नयी कविता वाले संग्रहों में भी कुछ बहुत अच्छे नवगीत मिलते हैं। चंद्रदेव सिंह द्वारा संपादित 'पाँच जोड़ बांसुरी' नवगीतों का एक विशिष्ट सुन्दर संकलन है। इसी गीतधारा में चंद्रकिशोर, महेन्द्र शंकर, रामनरेश पाठक, श्यामसुन्दर घोष, उमाकांत मालवीय आदि के गीत भी आते हैं।

उपर्युक्त सभी गीतकारों के अपने–अपने व्यक्तित्व हैं, किन्तु इनके गीतों की एक सामान्य भूमि भी है। अनुभूति की सच्चाई, अतएव, अनुभूति की अपनी–अपनी विशिष्टता, नवीन सौंदर्य–बोध, आकार–लघुता, नवीन बिंब–प्रतीक–उपामान–योजना इनकी सामान्य

विशिष्टता है। अतएव, ये गीत प्रभाव की अन्विति से अंतर्दीप्त मालूम पड़ते हैं। इन सभी गीतों में लोकजीवन का रस है, इस अर्थ में नहीं कि इन्होंने प्रचलित गीतों की तरह लोकभाषा से दूध–बताशा, पनघट, बंसवट चुनरिया, ओढ़नियाँ आदि अनेक श्शब्द लिए हैं, बल्कि इस अर्थ में है कि इन्होंने लोकजीवन की वस्तुचेतना को पकड़ा है, उसकी संवेदना को ग्रहण किया है। ये गीत जहाँ से उठे हैं, वहाँ की जमीन के रस को लिए हुए हैं। अतः इन गीतों में शहरी, गंवई व्यक्तित्व, सामाजिक, प्रेमपरक, प्रेमेतर प्रकार की संवेदनाओं के विभिन्न स्वरूप कवियों के व्यक्तित्वों और मानस– संस्कारों के अनुसार लक्षित होते हैं। दूसरी बात यह है कि नवगीत में बासी रस– पिच्छलता नहीं है, अंतर की दमक है। इन गीतों की उपलब्धि इनके तरल–सरल रसमय उच्छल प्रवाह और आवेगों में नहीं है, बल्कि इनकी बुद्धिसंयत हार्दिकता, संवेदना के अनुभूतिसूक्ष्म स्तरों के नियोजन, एक विशेष प्रभाव–भूमि के अंतर्गत आने वाले बिखरे किन्तु एक–दूसरे से सवंमित बोधों के संश्लेषण और अनुकूल बिंबों, प्रतीकों और लाक्षणिक प्रतीकों की खोज में है। कवि अपने–अपने संस्कार के अनुसार इस सामान्य भूमि पर नूतन बिंब–प्रतीको का विधान करते चले हैं।

इधर गीत ने फिर एक नया मोड़ लिया है। इसे कुछ गीतकारों ने नवगीत नाम दिया है। इन गीतों में घरेलू जीवन का परिवेश है, प्रकृति के बहुत टटके, अछूते बिंब हैं और आसपास के जीवन का रंग है। फिर भी लगता है कि अधिकांश गीतकारों ने नवीन बिंबों की खोज की झोंक में संवेदनात्मक गहराई की उपेक्षा कर दी है। इन गीतकारों में विशिष्ट हैं– ओम प्रभाकर, नईम, श्शलभ, श्रीराम सिंह, चंद्रमौलि उपाध्याय, देवेन्द्रकुमार, मणि मधुकर, माहेश्वर तिवारी, रमेश रंजक आदि। नये गीतकारों में बालस्वरूप 'राही' का अपन अलग सीन है राही गीतों के माध्यम से आज के जीवन के विसंगतिमय यथार्थ और व्यक्ति के आहत अनुभवों के वैसे ही चित्र उभारते हैं, जैसे नयी कविता में उभरे हैं। इस प्रकार वे गीत के वर्ण्य क्षेत्र का विस्तार करने वाले तथा गीत की संवेदना में विचार भरने वाले गीतकार हैं।

4.9 समकालीन कविता और रचनाकार

समकालीन कविताःनामों का शोर– अकविता, अतिकविता, अस्वीकृत, विद्रोही पीढ़ी, कबीर पीढ़ी, क्रुद्ध पीढी, भूखी पीढ़ी– यहाँ से वहाँ तक नये–नये साइनबोर्ड है। साइनबोर्डों से अलग हटकर विचार किया जाये तो इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि सन् साठ के आसपास नयी कविता की धारा अपने से कुछ अलग होती दीखती है। साठ के बाद जो नया मोड़ लक्षित होता है, वह एकाएक दीखने वाली कोई नवीन वस्तु नहीं, वरन् नयी कविता से ही फूटा हुआ है। अकविता वालों ने भले ही कविता से अलगाने के लिए अकविता नाम दे दिया, किन्तु किसी मौलिक आधार पर वे अकविता को कविता से अलग नहीं कर सके। सत्य यह है कि सन् साठ के बाद कविता में जो स्वर उगे हैं, ये नयी कविता में बीज–रूप में वर्तमान रहे हैं और गौण भाव से प्रस्फुटित होते रहे हैं। ये स्वर नयी कविता के मूलाधार

नहीं रहे हैं, किन्तु नयी कविता से सर्वथा विच्छिन्न या विरोधी स्वर के रूप में इनकी व्याख्या नहीं हो सकती, जैसा कि अकविता वाले करते हैं।

साठ के बाद की कविता में असंतोष, अस्वीकृति और विद्रोह का स्वर बहुत साफ तौर पर उभरा है। नयी कविता में भी असंतोष और स्वीकृति का स्वर विद्यमान है। मुक्तिबोध में तो यह है ही, अन्य कवियों में भी है। यह स्वर कहीं तो व्यंग्य–रूप में है, कहीं खुले रूप में। किन्तु साठ के बाद इस स्वर ने और तीखे व्यंग्य तथा विद्रोह का रूप धारण कर लिया है। जीवन की टूटती मूर्तियों के बहुत करीब जा कर उनकी टूटने की तल्खी, तथा व्यथा और उसमें से फूटती अस्वीकृति की उग्रता को पहचाना है। नयी कविता की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उसने समग्र जीवन की प्रामाणिक अनुभूतियों को उनके जीवंत परिवेश में व्यक्त किया। विषय या अनुभूति के आभिजात्य और भिन्न–भिन्न दृष्टियों या वादों से बने हुए उनके घेरों को तोड़ कर व्यक्ति द्वारा भोगे जाते हुए जीवन के हर छेटे–बड़े सत्य को प्रतीकों और बिंबों के माध्यम से उभारने में ही उसने कविता की साथकता समझी। किन्तु कुल मिलाकर कहना पड़ेगा कि नयी कवता संक्रातिजन्य संत्रास, यातना, टूटन, दुविधा की अनुभूति की कविता है, जिसमें रह–रह कर सुन्दर अनागत के आने की आशा, स्वयं को अंधेरे में प्रकाश की तरह जला कर, फूल की तरह खिला कर, अपने को सार्थक तथा अपने द्वारा युग को मूल्यवान बनाने की आस्था कौंध की तरह लिपट–लिपट जाती है।

कहा जा सकता है कि नयी कविता जिस युग की उपज है, वह युग पीड़ाबोध अधिक दे सकता था, विद्रोह कम। स्वराज्य–प्राप्ति की आरंभिक बेला में जो यातना या दर्द उग आया था वह अपने साथ भविष्य के प्रति विश्वास और आशा का स्वर भी अवश्य ही लिपटाये था। एक दुविधा थी पीड़ा और आशा की, टूटने की वास्तविकता और बनने के सपने की, जिसमें पीड़ा या टूटन अधिक थी, बनने की आशा और सपना कम। मोहभंग या डिसल्यूजनमेंट पूरे रूप में नहीं हुआ था, इसलिए नयी कविता में यातनाबोध है, अस्वीकृति का स्वर भी है, किन्तु विद्रोह का उभार नहीं है। धीरे–धीरे 'इल्यूजन' एकदम टूट गये, मोहभंग हो गया। व्यक्ति का सामाजिक परिवेश और भी कुरूप होता गया, भविष्य के सपने टूटते गये। साहित्य के सामने दो ही रास्ते थे या तो वह नयी कविता के प्रधान स्वर में स्वर मिलाकर पीड़ा की मुक्त अनुभूति को और गहनता से व्यक्त करता अथवा ये सारी परिस्थितियाँ उसके संवेदनशील मन को झकझोरतीं और यातना के बीच से उभार कर उसे विद्रोही बनातीं, सब कुछ अस्वीकार करने को प्रेरित करतीं। दोनों प्रतिक्रियाएँ साहित्य में दिखायी पड़ीं। अकविता वाल कवि संवेग और संचेतना को, नव विकसित सत्य को, सहज तरीके से व्यक्त करने की घोषणा करते हैं। वे अव्यवस्था, विसंगति, मूल्यहीनता, विरोधाभास और आदर्शों के अकाल से आंदोलित नहीं होते। दूसरी प्रतिक्रिया विद्रोह की हुई विद्रोह की दो प्रवृत्तियाँ होती हैं– अस्वीकृति या ध्वंस तथा रचना। आज की कविता में 'विद्रोह' नाम

से जो कविताएँ आ रही हैं, उनमें अधिकांश निर्लक्ष्य या यौन–विकृतिलक्षी हैं। निर्लक्ष्य होने से ये कविताएँ सुविधा का विद्रोह करती हैं यानी जहाँ विद्रोह करने में खतरा अनुभव हो, वहाँ नहीं, बल्कि जहाँ सुविधा हो, वहाँ विद्रोह करती हैं। इन्हें इससे बड़ी विसंगति 'सेक्स' में दिखती है या श्शरीर की बीभत्सता में।

आज की कविता (आंदोलन नहीं) नयी कविता की इसी जीवनोन्मुख धारा का अगला विकास है, जिसमें सायास आंदोलन की योजनाबद्ध लकीरें नहीं, बल्कि आज के जीवन की अनुभवजन्य विषम संवेदनाएँ और बोध हैं। ये अनुभव और बोध आंदोलन से नहीं, सत्य से प्रेरित होकर आज की विषम स्थितियों की प्रतीति, अस्वीकृति और विद्रोह सबको आवश्यकतानुसार समेटते हैं। साठ के बाद की धारा में वे कवि भी हैं, जो 'नयी कविता' के विशिष्ट कवि रहे हैं, और जिनमें जीवनधारा की उर्जस्वलता ही प्रधान रही है या जो नयी कविता की बनती हुई सीमाओं को पहचान कर उन्हें तोड़ने के लिए पुनः आकुल हैं, और वे कवि भी हैं, जो साठ के बाद की उपज हैं। इन कवियों ने एक ओर जीवन की विकसित चेतना और जटिलता का अनुभव किया, दूसरी ओर यह देखा कि नयी कवित के भी फार्मूले बनने लगे हैं, उसके प्रतीक और बिंब रूढ़ बनते जा रहे हैं, प्रतीकों की अंधी गुफा में बंद होकर कविता सर्वथा अंतर्मुखी और निस्पंद होती जा रही है। इस ठहराव को तोड़ना था, कविता को पुनः जीवन के करीब लाना था या नयी कविता की जीवनधारा को पहचान कर उसके साथ आगे चलना था।

मामूलियत की ओर झूकाव आज की मुख्य विशेषता है। चीन औ पाकिस्तान के अतिक्रमणों के असवर पर मामूली सिपाहियों का बलिदान, छोटे–छोटे दीखने वाले लोगों का त्याग, किसानों, मजदूरों के श्रम की महत्ता का अहसास बहुत स्पष्टता से उभरा। आज की कविता नयी कविता के उस स्वर कर विकास है, जो आज की रोजमर्रा जिंदगी की अनुभूतियों को बड़ी सहजता से अभिव्यक्ति देता है, उन अनुभूतियों को वाणी देता है, जो पल–पल के अंतर्विरोध की उपज हैं। आज की कविता में एक ओर व्यक्तिगत पीड़ा को या स्थिति की विषमता को व्यक्त करने वाले कवि हैं, तो दूसरी ओर स्थिति की विषमता के विरुद्ध विद्रोह का आक्रोश व्यक्त करने वाले कवि भी हैं। क्रुद्ध और विद्रोह पीढ़ी की कविताएँ इस संदर्भ में देखी जा सकती हैं। विद्रोही पीढ़ी की कविताएँ अधिक तेज, धक्कामार और आज के जीवन की सड़ांध को अधिक प्रत्यक्षता से उभारने वाली हैं। आज की कविता में वे कवयित्रियाँ भी आती हैं, जिनमें आज की व्यथा अनुभूति के बहुत महीन, सूक्ष्म और संयत स्तर पर उभरी है। नारी होने की अपनी कुछ विवशषताएँ होती हैं। यह विवशता कवियों की तरह कवयित्रियों को उच्छृंखल, यौन–संबंधों की अभिव्यक्ति में अधिक प्रत्यक्ष या सामाजिक विद्रोह के प्रति अधिक संवेदनशील एवं सक्रिय नहीं होने देती। वे अपने परिवेश के दबाव से महसूस होती हुई पीड़ा के बोध को या सौंदर्यबोध को अधिक तीव्रता और गहराई से व्यक्त कर सकती हैं।

आज की कविता के क्षेत्र में नयी कविता के कवि भी हैं और साठ के बाद उभरने वाले कवि भी। युवा कवियों में धुमिल, ऋतुराज, चंद्रकांत देवताले, लीलाधर जगुड़ी, विष्णुचंद्र शर्मा, प्रणवकुमार वन्द्योपाध्याय, विजेंद्र, डॉ. विनय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन कवियों में धुमिल सर्वाधिक चर्चित कवि रहे हैं। धूमिल (संसद से सड़क तक) ने कविता को एक नया मुहावरा दिया है और राजनीतिक चेतना को अपने काव्य में बड़ी कुशलता से अंतर्व्याप्त किया है।

सारांश रूप में इकाई का मूल्यांकन–

प्रस्तुत कालावधि की प्रवृत्तियों और तत्संबद्ध कृतियों को जब हम एक साथ देखते हैं तो पाते हैं कि वे विभिन्न स्तरों पर अपने को एक–दूसरे से जोड़ती–तोड़ती चलती हैं। यदि रचना समकालीन जीवन–चेतना से जुड़ी होगी तो निश्चत है कि वह अनुभूति, दृष्टि और शिल्प के स्तर पर अपने को पूर्ववर्ती धारा से अलग कर देगी और यह सर्जन की एक अनिवार्य श्शर्त भी है। किंतु यह भी निश्चित है कि सामाजिक परिवेश में निर्मित व्यक्ति–मन की गहराइयों में यात्रा करने वाली रचनाएँ किसी काल में निर्मित होकर भी कालातीत बन जाती हैं। उनके कालातीत बनने के दो कारण होते हैं, एक तो मानवीय अनुभव अपनी अंतरंगता में अविच्छिन्न अनुभव– परंपरा के अंग बन जाते हैं। बाहरी आवर्तनों, नये कोणों और आयामों के साथ विकसित होने के बावजूद वे अपनी गहराई में कहीं पूर्ववर्ती अनुभवों से जुड़े होते हैं। दूसरे, इन कृतियों को पढ़त समय साहित्य के पाठक का इतिहासबोध भी जाग्रत रहता है, अर्थात् किसी रचना को पढ़ते समय हम मनसा अपने को उसके काल में रख लेते हैं और यह देखते हैं कि कृति विशेष अपने काल तक के विकसित मानवीय अनुभवों और अपने काल में उनमें जुड़े हुए नये आयामों की पहचान में कितने गहरे उतर सकी है। इसलिए कई कालों या प्रवृत्तियों की कृतियों का सापेक्षिक आकलन करते समय हमें यह बात देखनी होती है कि कृति विशेष या धारा विशेष समकालीन जीवन–चेतना को सर्जनात्मक रूप देने की बेचैनी अनुभव कर, सर्जन की सार्थकता अनुभव कर सकी है या पूर्व–कृतियों में बार–बार अभिव्यक्त जीवन–सत्यों को दुहरा कर या अधिक–से–अधिक उन्हें एक नयी कथन–भंगिमा के साथ सजीला बनाकर रह गयी है। दूसरी बात यह है कि समकालीन जीवन–चेतना से जुड़कर भी वह कृति चेतना के उन स्तरों को भी उद्घाटित कर सकी है कि नहीं जो अपनी आत्यंतिक अंरंगता में कालातीत बन जाने की क्षमता रखती है। इस प्रकार अच्छी कृति में एक ही काल–चेतना और कालेतर चेतना बन जाने की संभावना निहित रहती है।

छायावाद 1938 के पश्चात न तो समकालीन जीवन– अनुभवों के प्रति सचेत दीखता है और न उन अनुभवों को कहीं और गहराता ही है, जिनसे वह पहले गुजर चुका था। छायावाद के दो श्रेष्ठ कवि निराला और पंत प्रगतिवादी बन कर सामाजिक जीवन–यथार्थ की ओर मुड़ते हैं और अपनी छायावादी धारा की कविताओं में भी कुछ लोकोन्मुख होते हुए

दिखते हैं। महादेवी की 'दीपशिखा' उनकी पूर्ववर्ती चेतना का ही अगला सोपान है। वह कोई नयी जमीन न दे कर भी, पूर्व की जमीन पर यात्रा करती हुई भी, एक उपलब्धि प्रदान करती हैं। कुल मिलाकर इस अवधि का छायावादी काव्य–सौंदर्य की दृष्टि से कोई वैशिष्ट्य स्थापित नहीं कर पाता।

वैयक्तिक गीति–कविता वास्तव में अनुभव के क्षेत्र में कोई नयी बात लेकर नहीं आई। उसकी भावभूमि, उसकी दृष्टि, छायावाद से भिन्न नहीं है। वह केवल छायावाद के ऊपर लहराते हुए रहस्यवाद के आवरण को हटा देती हैं, जिससे प्रेम, सौंदर्य और तज्जन्य निराशा, विषाद, टूटन तथा उन्माद हर्ष के अनुभवों की लौकिकता अपने असली रूप में उजागर हो जाती है। निश्चय ही यह साहसपूर्ण क्रिया तत्कालीन नये संदर्भों में बदलते हुए युवा–मानस की पहचान कराती है और इन निर्व्याज लौकिक प्रेमानुभूतियों को सर्जना की एक नयी अकुलाहट से जोड़ती है। यह अकुलाहट युवा–मन की रूमानी अनुभूतियों को, अर्थात् रूप के प्रति उत्कष्ट प्यास और उसकी अतृप्ति से उत्पन्न विषाद और उदासी को, तीव्र, उद्दाम और सीधे गीतों की रचना में नियोजित कर देती है, किन्तु और सीधे रूमानी प्रभाव वाले ये गीत मानव–अनुभवों की न तो गहराई में उतर सके, न जटिलता में। इसलिए वे किसी बहुत समृद्ध काव्य की भूमिका निभान में समर्थ नहीं हो सके। किन्तु यह भी निश्चित है कि ये इस अवधि के छायावाद की रहस्यात्मकता से ऊबे हुए पाठकों के मन को बड़ी ताजगी और खुलेपन से स्पर्श करा सके और सौंदर्य की हलकी–हलकी दीप्ति से उसे जगमगाने में सफल हो सके।

प्रगतिवाद ने सामाजिक यथार्थ को सौंदर्य की बुनियाव माना। उसने छायावाद और व्यक्तिवादी गीतिकविता की व्यक्तिगत, रूमानी भाव–चेतना से आगे बढ़कर सामाजिक जीवन के यथार्थ को मार्क्सवादी दृष्टि से पहचानने और रूपायित करने का प्रयत्न किया। इस धारा की कविता निश्चय ही दो दृष्टियों से बड़े महत्त्व की है– एक तो उसने एक ठोस जीवन–दृष्टि को स्वीकार किया, दूसरे समकालीन सामाजिक जीवन–चेतना की पहचान और उसकी अभिव्यक्ति की आकुलता से संपन्न होकर नये सर्जन की सार्थकता को रेखांकित किया। इसलिए जहाँ तक साहित्य को सामाजिक जीन की ऊर्जा से जोड़ने का प्रश्न है, जहाँ तक साहित्य को सामाजिक जीवन की विविध समस्याओं, प्रश्नों, संगतियों से जोड़कर उसे रसात्मकता के साथ–साथ मूर्त जीवन की पहचान से जोड़ने का प्रश्न है, प्रगतिवाद हमारी समूची काव्य–यात्रा में एक बहुत बड़ी भूमिका अदा करता है। किन्तु अनुभव और दृष्टि के अलगाव और उससे उत्पन्न खतरा यहाँ मौजूद है। प्रगतिवाद के पास एक मूर्त दृष्टि तो हैं, लेकिन वह अनुभव से उपजी हुई नहीं है, बल्कि किताब से ली गई है। अनुभव के ऊपर दृष्टि के इस दबाव ने प्रगतिशील कविता को प्रायः प्रभावहीन प्रगति–नारा बनाकर छोड़ दिया है। इस प्रकार साहित्य में इतनी बड़ी सामाजिक भूमिका निभाने के बावजूद

प्रगतिवाद काव्य के स्तर पर अभिप्रेत उपलब्धि नहीं प्राप्त कर सका है। हाँ, उसने साहित्य को वह परिवेशमूलक शक्ति अवश्य प्रदान की है, जो आगे चलकर काव्यात्मक उपलब्धि भी बन सकी है।

राष्ट्रीय–सांस्कृतिक धारा एक क्रमागत धारा है, जो भारतेंदु–काल से शुरू होकर द्विवेदी–काल, छायावाद–काल से हाती हुई यहाँ तक पहुँची है, किन्तु इसे अपने समय से कटी हुई या पिष्टपेषित धारा नहीं कह सकते, क्योंकि हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ निरंतर नये संदर्भों में जटिल और गहरी होती जा रही थीं। हमारी सांस्कृतिक चेतना क्रमशः बौद्धिक हो रही थी, वह अतीत की गरिमा से अभिभूत मात्र होने के स्थान पर उसके परीक्षण में भी लीन हो रही थी और अंतरराष्ट्रीय संदर्भों में भी अपना विकास कर रही थी। मार्क्सवादी प्रच्छन्न रूप से उसे भावात्मक स्तर से उबार कर जनजीवन से संपृक्त बौद्धिक धरातल प्रदान कर रहा था, इस नयेपन को व्यक्त करता था। इसलिए राष्ट्रीय–सांस्कृतिक धारा एक परंपरा से जुड़ कर भी समकालीन परिवेश में अपना वैशिष्ट्य प्रकट करती है। किन्तु काव्य के स्तर पर यह उपलब्धि कुछ ही कविताओं को प्राप्त हो सकी। अनेक फुटकल कविताएँ राष्ट्रीय जीवन की जटिल गहराइयों में न उतर सकीं, वे ऊपर–ऊपर की घटनाओं को लेकर आवेश के साथ पहले की ही भांति चीखती रहीं। मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त और दिनकर जैसे समर्थ कवि कुछ प्रबधकाव्यों के रूप में अवश्य ही सशक्त काव्य दे सके। दिनकर की उपलब्धियों को विशेष रूप से रेखांकित किया जा सकता है। जहाँ धारा के रूप में राष्ट्रीय –सांस्कृतिक कविता ने सामूहिक रूप से बहुत सतही उत्तेजनात्मक अनुभूति की कविताएँ दीं, वहीं उसी ने विशेष उपलब्धि के रूप में 'कुरुक्षेत्र' और उन्मुक्त जैसी रचनाएँ भी दीं।

प्रयोगवाद को यदि नयी कविता से अलग करके देखें तो उसका जीवनकाल बहुत अल्प होगा, उसे 1943 से 1950 तक मानना होगा। नयी कविता से जुड़कर प्रयोगवाद कृतियों और काव्यात्मक उपलब्धि–दोनों दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण दिखायी पड़ेगा। यद्यपि प्रयोगवाद की बहुत–सी मूलभूत बातें नयी कविता में हैं, किन्तु दोनों को पर्याय नहीं माना जा सकता। रूमानी व्यक्तिमूलक कविता की भावाकुलता, रूमानी दृष्टि, आरोपित आदर्शवादिता, भावुक अभिव्यक्ति तथा प्रगतिवाद की यांत्रिक सामूहिकता, सपाट भावबोध तथा असंयत प्रचारात्मक अभिव्यक्ति के परिप्रेक्ष्य में प्रयोगवाद की अनुभूतिमूलक व्यक्तिवादिता अंतरस्थ अनुभवजन्य जटिल संवेदना, बौद्धिकता आदि को शक्ति के रूप में ही स्वीकार करना होगा। नयी कविता ने प्रयोगवाद की इन शक्तियों का विकास किया, किन्तु प्रयोगवाद अपने इन शक्तियों के बावजूद एक बहुत बडी सीमा लिये हुए आया था।

नयी कविता ने स्वाधीनता–प्राप्ति के बाद के भारतीय समाज के यथार्थ को सही अर्थ में अनुभव के स्तर पर भोगा और अभिव्यक्त किया है। उसने सत्य का अनुभव ही नहीं

किया, वरन् अपनी बौद्धित दृष्टि से अनुभवों का मूल्यांकन भी किया है। उपर्युक्त विविध धाराओं का एक साथ विवेचन करें और उनकी उपलब्धियों का आकलन करें, तो प्रतीत होगा कि साहित्य में केवल समय की गतिविधियों या उसकी आकांक्षाओं, समस्याओं से संपृक्त होना ही पर्याप्त नहीं होता, वरन् उन्हें अनुभव में आत्मसात करना होता है। वास्तव में कविता की मूल चेतना सौंदर्य–चेतना है। यह चेतना अपने परिवेश से बनती और विकसित होती है, किन्तु जब परिवेश प्रधान हो जाता है, तब कवि प्रगतिवाद की सतही रचनाओं की सृष्टि करता है और जब सौंदर्य–चेतना परिवेश से कट जाती है, तब वह व्यक्तिवादी अहम् की सृष्टि करता है। यह व्यक्तिवादी अहम् छायावाद और प्रयोगवाद दोनों में अलग–अलग रूपों में देखा जा सकता है। जो रचनाएँ परिवेश और कवि की सौंदर्य–चेतना के समन्वित रूप को लेकर फूटती हैं, वे अधिक स्वस्थ और सुन्द होती हैं। इस दृष्टिकोण से 'साकेत', 'कामायनी', 'तुलसीदास', 'राम की शक्तिपूजा', 'कुरुक्षेत्र', ' उर्वशी', 'उन्मुक्त', 'अंधा युग', 'आत्मजयी' आदि कृतियों को समय की छोटी–छोटी सीमाओं से मुक्त कर एक समय के फलक पर रखा जा सकता है। दूसरी ओर, निराला, पंत, नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी, बच्चन, नरेंद्र, अंचल, अज्ञेय, केदारनाथ अग्रवाल, भवानीप्रसाद मिश्र, गिरिजाकुमार माथुर, शमशेर बहादुर आदि के व्यक्ति–चेतना–स्पंदित गीतों या छोटी–छोटी सुन्दर कविताओं को भी एक ही रचनालोक में देखा जा सकता है। फालतू कविताएँ हर धारा में हुई हैं। जो कविताएँ अनुभूति की आंच से ऊष्म रही होंगी, जिनमें गहरे जीवन–अनुभवों और सौंदर्य–दृष्टि के स्थान पर उत्तेजना होगी या नकली बौद्धिकता होगी, वे कविता की दृष्टि से असफल और निरर्थक होंगी, वे चाहे छायावाद की हों, चाहे प्रगतिवाद की और चाहे नयी कविता की। नयी कविता चूंकि सबसे निकट की धारा है, इसलिए उसकी उपलब्धियों के साथ–साथ उसकी रचनात्मक व्यर्थताओं का भी अनुभव सरलता से किया जा सकता है।

इसलिए जब हम काव्य–प्रवृत्तियों की सापेक्षिक शक्तियों का आकलन करते हैं, तब हमें यह देखना होता है कि वास्तव में कौन–सी धारा जीवन को अधिक समीप से ग्रहण करती है तथा किसकी प्रकृति अधिक साहित्यिक है। उस धारा जीवन को अधिक समीप से ग्रहण करती है तथा किसकी प्रकृति अधिक साहित्यिक है। उस धारा के अधिक जीवंत और साहित्यिक होने के बावजूद हो सकता है कि उसमें महान कृतियाँ न सर्जित हो सकती हों। इसलिए महान प्रतिभाओं का प्रश्न भी इसके साथ जुड़ा होता है। महान प्रतिभाएँ सदा उत्पन्न नहीं होतीं, किन्तु धाराएँ बदलती रहती हैं और महान व्यक्तियों के अभाव में भी उनका सामूहिक व्यक्तित्व महान कवियों वाली धाराओं के सामूहिक व्यक्तित्व से अधिक साहित्यिक, जीवन–संपृक्त और सुन्दर हो सकता है। प्रस्तुत अवधि की हिन्दी–काव्यधाराओं में नयी कविता का सामूहिक व्यक्तित्व निश्चय ही सामर्थ्यवान और जीवंत है। वैसे छायावाद को छोड़ दिया जाये तो अन्य धाराओं में कोई बड़ा व्यक्तित्व नहीं दिखायी पड़ता। 'दिनकर' ही

एक ऐसे कवि हैं, जो एक बड़े काव्य–व्यक्तित्व से संपन्न कहे जा सकते हैं, किन्तु इधर नयी कविता में भी अज्ञेय और मुक्तिबोध का काव्य–व्यक्तित्व हमें आकृष्ट करता है। जो भी हो, 'नयी कविता' एक धारा के रूप में, एक सामूहिक व्यक्तित्व के रूप में छायावाद के बाद की अत्यंत सशक्त और जीवंत काव्यधारा है। वह हिन्दी–काव्यधारा की उपलब्धि है– भावबोध, चिंतन और शिल्प सभी दृष्टियों से उसने जीवन को उसके गहरे और विविध रूप में रूपायित किया है।

4.10. इकाई सारांश/याद रखने की बातें

1. 'हम दीवानों की क्या हस्ती,हैं आज यहां कल वहां चले'' –रामकुमारवर्मा
2. ''कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे उन्याकारों को देश के वर्तमान जीवन के भीतर अपनी दृष्टि गाड़कर आप देखना चाहिए,केवल राजनीतिक दलों की बातों को लेकर ही न चलना चाहिए। साहित्य को राजनीति से ऊपर रहना चाहिए,सदा उसके इशारों पर ही न नाचना चाहिए।'' –रामचंद्रशुक्ल
3. ''यहां एक दल ऐसा है जो उच्च शिक्षित है,शायद सोशलिस्ट भी है..ये उच्च शिक्षित जन कुछ लिखते भी हैं,इसमें मुझे संशय है। शायद इसीलिए लिखने का एक नया आविष्कार इन्होंने किया है।'' – रामचंद्रशुक्ल
4. ''कला के क्षेत्र में यथार्थवाद ऐसी एक मानसिक प्रवृति है,जो निरंतर अवस्था के अनुकूल परिवर्तित और रूपायित होती रहती है।''–हजारी प्रसाद द्विवेदी
5. ''महान साहित्य और कला सदा निर्विकल्प रूप से जीवन की वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करती है,अतः उसकी एकमात्र कसौटी भी उसका यथार्थवाद है।''–नंददुलारे वाजपेयी
6. ''प्रकृतवाद'(नेचुरलिज्म) यथार्थ में स्वच्छंदतावाद का विकृत रूप था,वह विकृत अतिरंजना से उत्पन्न हुई थी। प्रकृतिवाद के अन्दर हमें सूक्ष्म विस्तारों ,स्थानीय परिपाश्वों के अतिरिक्त उन सभी स्वछंन्दतावादी प्रवृतियाओं का अतिरंजित स्वरूप प्राप्त होता है जिन्हें हम पहले देख चुके हैं।''– हजारी प्रसाद द्विवेदी
7. 'मुख्यतः प्रकृतवाद साहित्य जड़विज्ञान की देन है।प्रकृतवाद के अन्दर मनुष्य की आदिम वासनाओं तथा उनकी श्शारीरित चेष्टाओं के प्रति विशेष आग्रह पाया जाता है।यह मनुष्य को उसकी मानवता के वास्तविक स्वरूप को न हीं देखना चाहता,बल्कि उसके कुत्सित एवं जघन्रू प्रदेशों में ही इसका मन विशेष रमता है।' हजारी प्रसाद द्विवेदी
8. 'अतियथार्थवाद' (सररियलिज्म या डाडाइज्म) का जन्म प्रथम महायुद्ध में ही हो चुका था। इसके अन्दर अन्तर्मन की विद्रूपताओं एवं असंगत कल्पनाओं को विशिष्ट

अभिव्यक्ति मिल सकी है–''इनका प्रमुख उद्देश्य भौतिक एवं अभौतिक अथवा चेतन एवं अचेतन तथा वाह्य एवं आंतरिक विभिन्नताओं की परिसमाप्ति एवं विलयन के आधार पर एक ऐसी अतियथार्थवादी सृष्टि की रचना करना है जिसमें यथार्थ ,अयथार्थ ,चिंतन एवं क्रिया समाप्त संपूर्ण जीवन के निर्धायक तत्व बन जाये।''–त्रिभुवन सिंह

9. यथार्थ और रोमांस–''साहित्य में वह सभी यथार्थ है जिसके पीछे साहित्यकार की अपनी अनुभूति है और जिसे वह दूसरों को अनुभूत करा सकता है। मानव अनुभूति के विषय असीम और असंख्य हैं। उनकी सीमा निर्धारण का प्रयत्न करना कोरी विडंबना होगी। साहित्यकार के लिए एक नियत्रंण स्वीकार किया जा सकता है। उसे कदापि ऐसे यथार्थ चित्रण नहीं करना चाहिए जिसमें कुरुचिपूर्ण, कुत्सित पशुप्रवृतियों को सहलाहट मिले। परंतु स्वस्थ रोमांस मानव जीवन में ताजगी लाने तथा उसे गतिशील बनाये रखने के लिए अति आवश्यक है। साहित्य के क्षेत्र में रोमांस भी उतना ही यथार्थ है जितना रोटी–कपड़ा।–कल्पना संपादकीय–अक्टूबर 1951,पृ.743

10. यथार्थ और सत्यः ''साहित्य का सत्य कल्पना को बिलकुल नहीं छोड़ देता,वह यथार्थ के आधार पर जितना ही दृढ़ होता है,उतना ही गहराइयों तक पहुंचता है।''–देवराज उपाध्यायःरोमांटिक साहित्यकार

11. प्रगतिवाद छायावाद की भस्म से नहीं पैदा हुआ,वह उसके यौवन का गला घोटकर ही उठ खड़ा हुआ है।'कामायनी','तुलसीदास'और 'अनामिका' उधर 'युग–वाणी' के रचना–काल में कोई विशेष अंतर नहीं है। आज के अधिकांश प्रगतिवादी कल के छायावादी हैं–अतएव स्वाभाविकत है किइनकी आरे से पूरी पूरी कोशिश होने पर भी वह क्षयी रोमांस(?)बार–बार उभर आता है।अब भी ये प्रायः वहीं उस मधु–माधव के उपवन में पलायन कर जाते हैं। दिनकर की 'रसवंती',अंचल की 'मधूलिका' और 'अपराजिता',नरेनद्र और स्वयं पंत की अनेक कविताएं मेरे कथन को पुष्टि करेगीं।''–रामविलासशर्मा

12. ''प्रयोगवाद शिल्प को शिल्पी के व्यक्तित्त्व का अंग मानता है क्योंकि प्रयोगवादी कविता का आग्रह है कि वह अपने दृष्टिकोण को अधिक से अधिक वस्तुगत बनाये,वस्तु पर अपने मन का रंग न चढ़ाकर वस्तु की आंतरिक अर्थ व्यंजना को प्रतिच्छादित करे।''–देवेन्द उपध्याय

13. ''प्रगतिवाद में राजनैतिक सिद्धांत की कैद थी,छायावाद में बंधनहीनता की कामना ही बंधन बनने लगी थी।इसलिए काव्य रूप के नये विस्तार प्रकट हुए।जिनके आधार के लिये प्रयोगात्मक पद्धति अपनाई गई और छायावाद की आध्यात्मिक छाया के स्थान पर प्रयोगवाद ने अन्तर्मन की सृजनशील कल्पनाओं को कविता का आधार बनाया

क्योंकि प्रयोवादी कवि के व्यक्तित्व में मनोविश्लेषणात्मक जैविक विकास की प्रक्रिया थी।"—आकार,मार्च 1961—रामखेलावन पाण्डेय

14. "कविता कविता है और नयी कविता भी कविता है। ज्योमिति की शब्दावली में 'कविता' शब्द उभयनिष्ठ है। अर्थ यह है कि काव्य—तत्व क अभाव में न कविता कविता है और न नयी कविता कंविता है।"—बच्चन सिंह

15. समकालीन कविता (आंदोलन नहीं) नयी कविता की इसी जीवनोन्मुख धारा का अगला विकास है, जिसमें सायास आंदोलन की योजनाबद्ध लकीरें नहीं, बल्कि आज के जीवन की अनुभवजन्य विषम संवेदनाएँ और बोध हैं।

16. समकालीन कविताःनामों का शोर—अकविता, अतिकविता, अस्वीकृत, विद्रोही पीढ़ी, कबीर पीढ़ी, क्रुद्ध पीढी, भूखी पीढ़ी— यहाँ से वहाँ तक नये—नये साइनबोर्ड है।

17. इधर गीत ने फिर एक नया मोड़ लिया है। इसे कुछ गीतकारों ने नवगीत नाम दिया है। इन गीतों में घरेलू जीवन का परिवेश है, प्रकृति के बहुत टोटके, अछूते बिंब हैं और आसपास के जीवन का रंग है। फिर भी लगता है कि अधिकांश गीतकारों ने नवीन बिंबों की खोज की झोंक में संवेदनात्मक गहराई की उपेक्षा कर दी है।

4.11 अपनी प्रगति की जांच

निम्न प्रश्नों के उत्तर दें—

1. हिंदी स्वछंन्दतावादी चेतना के विकास पर विचार व्यक्त करें।
2. उत्तरछायावादी काव्य की प्रवृतियों को बताइये।
3. प्रगतिवाद की विशेषताएं निरूपित कीजिए
4. प्रगतिवाद के किन्ही दो कवियों का उनकी रचनओं के आधार पर विश्लेषण कीजिए।
5. प्रयोगवाद की विशेषताएं बतलाइये।
6. किन्ही दो प्रयोगवादी कवियों का उनकी रचना के आधार पर काव्यगत विशेषताएं बतलाइये।
7. नयी कविता की विशेषता बतलाइयें।
8. नवगीत की प्रासंगिता सिद्ध कीजिए।
9. समकालीन कविता की सार्थकता बताइये।
10. किन्ही दो नवगीतकारों की उनके गीतों के आधार पर समीक्षा कीजिए।

11. वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए—

निम्नलिखित रचनाओं की विधा का नाम बताइयें—

1. दिनकर की 'कुरुक्षेत्र'

(क) काव्य (ख) उपन्यास (ग) नाटक

2. माखनलालचतुर्वेदी कृत 'युगचरण'

(क) काव्य (ख) उपन्यास (ग) नाटक

3. रेणु कृत 'मैला आंचल'

(क) काव्य (ख) उपन्यास (ग) नाटक

4. मुक्तिबोध कृत 'अंधेरे में '

(क) लम्बी कविता (ख) उपन्यास (ग) नाटक

5. दिनकर कृत 'संस्कृति के चार अध्याय'

(क) आलोचना (ख) उपन्यास (ग) नाटक

6. श्रीलाल कृत 'रागदरवारी'

(क) काव्य (ख) उपन्यास (ग) नाटक

7. चंदधरशर्मा' गुलेरी' कृत 'विक्रमोर्वशी'

(क) निबंध (ख) उपन्यास (ग) नाटक

8. सुमित्रानंदन पंत कृत 'साठवर्षःएक रेखांकन'

(क) काव्य (ख) उपन्यास (ग) आत्मकथा

9. निराला कृत 'रवीन्द्र कविता कानन'

(क) समीक्षा (ख) उपन्यास (ग) नाटक

10. धर्मवीर भारती कृत 'अंधायुग'

(क) अकविता (ख) उपन्यास (ग) नाटक

12. किस दशक की कविताओं को 'नयी कविता' की संज्ञा दी गई?

(क) तीस के (ख) साठ के (ग) पचास के

13. 'हम दीवानों की क्या हस्ती,हैं आज यहां कल वहां चले'' किसकी पंक्ति है ?

(क) रामकुमारवर्मा (ख) भगवती चरण वर्मा (ग) वच्चन

14. ''कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे उन्याकारों को देश के वर्तमान जीवन के भीतर अपनी दृष्टि गाड़कर आप देखना चाहिए,केवल राजनीतिक दलों की बातों को लेकर ही न चलना चाहिए। साहित्य को राजनीति से ऊपर रहना चाहिए,सदा उसके इशारों पर ही न नाचना चाहिए।''किसकी पंक्तियां है ?

(क) रामकुमारवर्मा (ख) रामचंद्रशुक्ल (ग) वच्चन

15. "यहां एक दल ऐसा है जो उच्च शिक्षित है,शायद सोशलिस्ट भी है..ये उच्च शिक्षित जन कुछ लिखते भी हैं,इसमें मुझे संशय है। शायद इसीलिए लिखने का एक नया आविष्कार इन्होंने किया है।" किसकी पंक्तियां है ?

(क) रामकुमारवर्मा (ख) रामचंद्रशुक्ल (ग) वच्चन

16. 'बच्चन और दिनकर दोनों प्रतिद्वंदी कवि हैं,बच्चन की भाषा दिनकर से जोरदार है,दिनकर के भाव बच्चन से अधिक उन्मादक, सारवार और सामयिक हैं। दोनों में जो एक–दूसरे को ग्रहण कर लेगा,वहीं हिंदी कविता के वर्तमान और अगले युग का नेता होगा।" किसकी पंक्तियां है ?

(क) रामकुमारवर्मा (ख) रामचंद्रशुक्ल (ग) रामनरेश त्रिपाठी

17. "जो गहन भाव,सीधी भाषा,सीधे छंद चाहता है,वह धोखेबाज है।" किसकी पंक्तियां है ?

(क) अज्ञेय (ख) रामचंद्रशुक्ल (ग) रामनरेश त्रिपाठी

18. नई कविता का प्रकाशन वर्ष है ?

(क) 1954 (ख) 1956 (ग) 1959

19. 'नई कविता' पत्रिका का प्रकाशन कहां से हुआ ?

(क) इलाहाबाद (ख) कानपुर (ग) पटना

20. 'नई कविता' पत्रिका के संपादक हैं ?

(क) जगदीशगुप्त (ख) रामचंद्रशुक्ल (ग) रामनरेश त्रिपाठी

21. 'कविता के नए प्रतिमान' किसकी रचना है?

(क) नामवर सिंह (ख) रामचंद्रशुक्ल (ग) रामनरेश त्रिपाठी

22. 'नई कविता के प्रतिमान' किसकी रचना है?

(क) नामवर सिंह (ख) लक्ष्मीकांत वर्मा (ग) रामनरेश त्रिपाठी

23. 'नया साहित्य:नये प्रश्न' किसकी रचना है?

(क) नंददुलारे वाजपेयी (ख) रामचंद्रशुक्ल (ग) रामनरेश त्रिपाठी

24. 'समय की शिला पर' किसकी रचना है?

(क) नामवर सिंह (ख) शंभूनाथ सिंह (ग) रामनरेश त्रिपाठी

25. 'काठ की घंटियां' किसकी रचना है?

(क) सर्वेश्वर (ख) रामचंद्रशुक्ल (ग) रामनरेश त्रिपाठी

26. 'वनपाखी सुनों' किसकी रचना है?

(क) नरेश मेहता (ख) नरेन्द्रशर्मा (ग) सर्वेश्वर

27. 'उत्तर जय' किसकी रचना है?
(क) नरेश मेहता (ख) नरेन्द्रशर्मा (ग) सर्वेश्वर

28. 'संशय की एक रात'–किसकी रचना है ?
(क) नरेश मेहता (ख) नरेन्द्रशर्मा (ग) सर्वेश्वर

29. 'संसद से सड़क तक'–किसकी रचना है ?
(क) धूमिल (ख) नरेन्द्रशर्मा (ग) सर्वेश्वर

30. 'नाश और निर्माण''–किसकी रचना है ?
(क) गिरिजाकुमार माथुर (ख) नरेन्द्रशर्मा (ग) सर्वेश्वर

31. 'अमन का राग''–किसकी रचना है ?
(क) नरेश मेहता (ख) नरेन्द्रशर्मा (ग) समशेरबहादुर

32. 'धरती' शोकगीत के रचयिता हैं ?
(क) नरेश मेहता (ख) नरेन्द्रशर्मा (ग) त्रिलोचन

34. प्रयोगवाद को बैठे–ठाले का धंधा किसने कहा ?
(क) नंददुलारे वाजपेयी (ख) रामचंद्रशुक्ल (ग) रामनरेश त्रिपाठी

35. किस कवि को हिंदी का 'बायरन' माना जाता है ?
(क) नरेश मेहता (ख) नरेन्द्रशर्मा (ग) बच्चन

(अ) वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर –

निम्नलिखित रचनाओं की विधा का नाम बताइये–

1. दिनकर की 'कुरुक्षेत्र'
(क) काव्य

2. माखनलालचतुर्वेदी कृत 'युगचरण'
(क) काव्य

3. रेणु कृत 'मैला आंचल'
(ख) उपन्यास

4. मुक्तिबोध कृत 'अंधेरे में '
(क) लम्बी कविता

5. दिनकर कृत 'संस्कृति के चार अध्याय'

(क) आलोचना

6. श्रीलाल कृत 'रागदरबारी'

(ख) उपन्यास

7. चंदधरशर्मा 'गुलेरी' कृत 'विक्रमोर्वशी'

(क) निबंध

8. सुमित्रानंदन पंत कृत 'साठवर्षःएक रेखांकन'

(ग) आत्मकथा

9. निराला कृत 'रवीन्द्र कविता कानन'

(क) समीक्षा

10. धर्मवीर भारती कृत 'अंधायुग'

(क) अकविता

12. किस दशक की कविताओं को 'नयी कविता' की संज्ञा दी गई?

(क) तीस के

13. 'हम दीवानों की क्या हस्ती,हैं आज यहां कल वहां चले'' किसकी पंक्ति है ?

(क) रामकुमारवर्मा

14. ''कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे उन्याकारों को देश के वर्तमान जीवन के भीतर अपनी दृष्टि गाड़कर आप् देखना चाहिए,केवल राजनीतिक दलों की बातों को लेकर ही न चलना चाहिए। साहित्य को राजनीति से ऊपर रहना चाहिए,सदा उसके इशारों पर ही न नाचना चाहिए।''किसकी पंक्तियां है ?

(ख) रामचंद्रशुक्ल

15. ''यहां एक दल ऐसा है जो उच्च शिक्षित है,शायद सोशलिस्ट भी है..ये उच्च शिक्षित जन कुछ लिखते भी हैं,इसमें मुझे संशय है। शायद इसीलिए लिखने का एक नया आविष्कार इन्होंने किया है।'' किसकी पंक्तियां है ?

(ख) रामचंद्रशुक्ल

16. 'बच्चन और दिनकर दोनों प्रतिद्वंदी कवि हैं,बच्चन की भाषा दिनकर से जोरदार है,दिनकर के भाव बच्चन से अधिक उन्मादक, सारवार और सामयिक हैं। दोनों में जो एक–दूसरे को ग्रहण कर लेगा,वहीं हिंदी कविता के वर्तमान और अगले युग का नेता होगा।'' किसकी पंक्तियां है ?

(ग) रामनरेश त्रिपाठी

17. "जो गहन भाव,सीधी भाषा,सीधे छंद चाहता है,वह धोखेबाज है।" किसकी पंक्तियां है ?

(क) अज्ञेय

18. नई कविता का प्रकाशन वर्ष है ?

(क) 1954

19. 'नई कविता' पत्रिका का प्रकाशन कहां से हुआ ?

(क) इलाहाबाद

20. 'नई कविता' पत्रिका के संपादक हैं ?

(क) जगदीशगुप्त

21. 'कविता के नए प्रतिमान' किसकी रचना है?

(क) नामवर सिंह

22. 'नई कविता के प्रतिमान' किसकी रचना है?

(ख) लक्ष्मीकांत वर्मा

23. 'नया साहित्यःनये प्रश्न' किसकी रचना है?

(क) नंददुलारे वाजपेयी

24. 'समय की शिला पर' किसकी रचना है?

(ख) शंभूनाथ सिंह

25. 'काठ की घंटियां' किसकी रचना है?

(क) सर्वेश्वर

26. 'वनपाखी सुनों' किसकी रचना है?

(क) नरेश मेहता

27. 'उत्तर जय' किसकी रचना है?

(ख) नरेन्द्रशर्मा

28. 'संशय की एक रात'–किसकी रचना है ?

(क) नरेश मेहता

29. 'संसद से सड़क तक'–किसकी रचना है ?

(क) धूमिल

30. 'नाश और निर्माण''–किसकी रचना है ?

(क) गिरिजाकुमार माथुर

31. 'अमन का राग''–किसकी रचना है ?

(ग) समशेरबहादुर

32. 'धरती' शोकगीत के रचयिता हैं ?

(ग) त्रिलोचन

34. प्रयोगवाद को बैठे–ठाले का धंधा किसने कहा ?

(क) नंददुलारे वाजपेयी

35. किस कवि को हिंदी का 'बायरन' माना जाता है ?

(ग) बच्चन

4.12 चर्चा और स्पष्टीकरण के बिन्दु–छात्र स्वयं बनाएं

चर्चा के बिन्दु

.....

.....

.....

.....

टीकरण के बिन्दु

.....

.....

.....

.....

4.13 आगे की पढाई

1. हिंदी साहित्य का इतिहास–रामचंद्रशुक्ल
2. हिंदी साहित्य का इतिहास–संपादकः डा नगेन्द्र
3. हिंदी साहित्य की भूमिका– हजारी प्रसाद द्विवेदी
4. हिंदी का गद्य साहित्य–डा.रामचंद्र तिवारी
5. हिंदी साहित्य का इतिहास --संपादकःकमलापति त्रिपाठी
6. हिंदी साहित्यः उद्भव और विकास–हजारी प्रसाद द्विवेदी
7 .हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहासःराधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली

8. उच्चसाहित्यिक निबंध–रामरतन भटनागर
9. नई कविता की सीमाएं और संभावनाएं–गिरिजाकुमार माथुर
10. नई कविता स्वरूप और समस्याएं–डा. जगदीश गुप्त
11. प्रसाद,निराला–अज्ञेय–डा.रामस्वरूप चतुर्वेदी
12. आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धांत: रामविलासशर्मा
13. आधुनिक साहित्य की प्रवृतियां–नामवर सिंह
14. कविता के नए प्रतिमान–नामवर सिंह

इकाई –एक
हिंदी गद्य की प्रमुखविधाओं – कहानी,उपन्यास,नाटक

इकाई संरचना

1.1 परिचय
1.2 उद्देश्य
1.3 हिंदी गद्य की प्रमुख विधाएं एक परिचय
1.4 उपन्यास
1.5 कहानी
1.6 नाटक
1.7 इकाई सारांश/याद रखने की बातें
1.8 अपनी प्रगति की जांच
1.9 चर्चा और स्पष्टीकरण के बिन्दु
1.10 आगे की पढाई

1.1 परिचय

सामान्यतः साहित्य के विद्याथी अभी तक की पूर्व इकाइयों में हिंदी साहित्य के इतिहास के पूर्वयुगों की परिस्थितियां परिवेश ,रचनाकारों के बारे में अध्ययन किया गया है।अब हम आधुनिक काल में प्रवेश कर रहे हैं। इसमें मूलतः गद्यविधाओं का परिचय करना है।गद्य की तीन विधाओं के बारे में हम जब विचार करते है तो सबसे पहले उपन्यास को लेते हैं। उपन्यास का विकास आज वैविध्यपूर्ण हैं। स्वतंत्रता के बाद से आज तक के उपन्यासों में समाजकेन्द्रित बाह्योंन्मुखी दृष्टि तथा व्यक्तिकेन्द्रित अंतर्मुखी दृष्टि ने उपन्यास के विषय और शिल्प को कितना प्रभावित किया है। बहिर्मुखी दृष्टि ने उपन्यास को विशालता दी है तो अन्तर्मुखी दृष्टि ने मनोजगत के सीमित क्षेत्रों का अवगाह करके तथा जटिल मानसिकत ग्रंथियों का विश्लेषण कर मनुष्य को अधिक निकट से ,अधिक आत्मीयता से ,समझने का अवसर दिया है। सामजिक जीवन के अध्ययन की दृष्टि से छोटे– बड़े सैकड़ों उपन्यास लिखे गये।जिनमें जीवन के विशाल अंश का और अनेक समस्याओं को एक साथ प्रस्तुत किया गया।इसी तरह व्यापक परिवेश के उपन्यास,सामाजिक समस्या–प्रधान उपन्यास,ऐतिहासिक उपन्यास,आंचलिक उपन्यास ,अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर आधारित उपन्यास,मनोवैज्ञानिक उपन्यास तथा शिल्प–संबंधी प्रयोग के उपन्यास हमारे सामने आये हैं जिनका यहां अध्ययन किया जावेगा।

आज की नई कहानी साहित्य की समस्त रचनात्मक विधाओं का पुंजीकृत अभिव्यंजन है। काव्य,उपनयास,रिपोर्ताज आदि समस्त विधाओं के भावनात्मक और चिन्तनात्मक बोध का वह आकलित रूप होता है। कहानी की अपनी पुरानी यात्रा है। किंतु नई कहानी की भाषा अनुभूति,बोध और वैचारिक चिंतन को अपने में समेट कर चलती है। नई कहानी का नव अभिव्यंजन काल सापेक्ष है।आज की कहानी सन् साठ की कहानी से काफी आगे है। नई कहानी का स्वर और संन्दर्भ बड़ी तीव्रता से बदला है। समकालीन कहानी का संदर्भ आज बदला है। कहानीकार की प्रतिबद्धता बदल गयी है।नई कहानी के संदर्भगत चेतना का स्वरूप–निर्णय सौन्दर्य–बोध,रचना–प्रक्रिया और रचनाष्ठि रूप से संयुक्त है। साथ ही कहानीकार के कथ्य की प्रमाणिकता है। आज कहानी में सौन्दयबोध और जीवनदर्शन आवश्यक तत्व माने गये हैं। आज की कहानी में विभिन्नशारीरिक, मांसल, और चारित्रिक विकृतियों तथा कुंठाओं का प्रकाशन कर दिया गया है। किंतु यह विचारणीय है कि क्या कोई कहानी विकृति,कुंठा,संवेगाव्यापार प्रक्रिया का कवले वर्णन कर कला के स्तर तक पहुंच जाती है। अतः यह कहना गलत नहीं होगा कि कहानी तभी वास्तविक कला होगी जब प्रतिश्रृति और निःसंयता के प्रति अपनी अभिव्यक्ति की सच्चाई दे सके। अन्यथा नई कहानी का रचनाकार अपनी सार्थकता खो देगा और कला के उत्कृष्ट रूप–निर्माण में असमर्थ रह जावेगा।

नाटक जनसाधारण की अनुभूतियों को अभिव्यक्ति देता है।वह जीवन के मूल तत्वों को ढूढ़ता है। जिसे जीवन की कल्पना करनी है,जीवन का निर्माण करना है,जीवन की अभिव्यक्ति करनी है,वह इतिहास के गड़े मुर्दे नहीं उखड़ता । वह तो वर्तमान जीवन की विभीषिका के चित्रों का अतीत में समाधान खोजता है।नाटक अपने को यथार्थवाद से जोड़ता है। इसीलिये नाटक में वस्तु और कुछ नहीं विशिष्ट युग की एक विशिष्ट शैली है जिसके मोह में उस युग का साहित्य और कलाएं डूब जातीं हैं। भारतेंदु ने पौराणिक,सामयिक तथा राजनीतिक विषयों पर नाटक लिखे तथा सामाजिक बुराईयों को उजागर किया। भारतेंदु मंडल ने भी इन्हीं विषयों पर अपनी कलम चलाई । फिर आगे इसे जयशकर प्रसाद ने आगे बढ़ाया। जीवन को प्रतिबिंबित करने वाला प्रसाद का नाट्य साहित्य जहां एक ओर देश और संस्कृति प्रेम पर बल देता है वहीं ऐतिहासकि पृष्ठभूमि की आड़ में तत्कालील समस्याओं को उजागर करते हैं। आज नाटकों की दिशा और दृष्टि कमोवेश इसी आधार भूमि को लेकर चल रही है। हां देश विदेश के नाटकों ने ,विचारधारओं ने भी इनकों कही न कहीं प्रभावित किया है। इन्ही सभी विषयों पर इकाई का अध्ययन आधारित है।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई में हिंदी साहित्य की तीन विधाओं को लिया गया है। जिसमें उपन्यास नाटक और कहानी हैं। इन तीनों का सामान्य परिचय कराना ही इस इकाई का उद्देश्य है। साहित्य के विद्यार्थियों के लिये जहां इन विधाओं में हुए अब तक के कार्य से परिचित होना

है वहीं इन के संक्षिप्त विश्लेषण से इसकी उपयोगिता के बारे में भी जानना है। उपन्यास क्या है,इसका विकास क्रम क्या है। उपन्यास कितने प्राकार के है। उपन्यास के तत्व कौन से हैं ,उनके अन्तर्गत निहित कथाओं ,घटनाओं का संयोजन किस प्राकर है। वह जीवन को कैसे प्रभावित करती हैं। साथ ही आज की कहानी की यात्रा किस किस मार्ग का अनुसरण करती यहां तक पहुची है। इसका रचनाबोध काल के अनुसार किस प्राकर अपने को बदलता रहा है। बदलते सामाजिक संबंधो,सरोकारों को कहानी किस प्राकार उजागर करती है। व्यक्ति से लेकर समाज और आज की दुनियां की सोच ,उसका मनोविज्ञान यथार्थ के धरातल से कहा तक आगे गया है आदि कहानी के अध्ययन में अपेक्षित हैं। शिल्प और कथ्य ने कहानी को कितना छोटा आकार दिया है। प्रेमचंद से लेकर आज तक की कहानी की स्वानुभूति और संवेदना के दंशजन्य संवेग और छटपटाहट कैसी रही। कथ्य की प्रामाणिकाता और विचार कितनी बार विवादस्तद रहे। कहानीकार का समकालीन जीवनदर्शन या जीवनबोध से कितना सरोकार है आदि देखना समझाना यहां अपेक्षित है। समकालीन कहानी का लेखक रचनाशिल्प और अभिव्यक्ति के माध्याम से मध्यवर्गी पाठक की कितनी अनुभूति को अभिव्यक्ति दे सका है। नई कहानी की संदर्भ जनित चेतना कैसी है।

इसी तरह नाटकों के विषय वस्तु क्या है। किस युग में किस प्रकार के नाटक लिखे गये हैं । नाटक कितने प्रकार के होते हैं। कथ्य,शिल्प,वस्तु क्या हैं । यह भी देखा अपेक्षि है कि क्या आज का नाटक अपनी समस्याओं को अत्यन्त प्रबल तथा आवेग पूर्ण रूप में एक प्रतीक के माध्यम से उपस्थि करके बिना समाधान के छोड़ देता है या उसके पास समाधान भी है। समस्या को अपने ढ़ग से सुलझाने का प्रया भी है अथवा नहीं। अथवा समस्या प्रस्तुत कर एक संकेत देकर छोड़ देना की प्रेक्षक स्वयं परिणाम का अनुभव करें आदि विषयों से छात्रों को परिचय कराना ।

1.3 हिंदी गद्य की प्रमुख विधाएं एक परिचय

गद्य के स्वरूप का निर्माण भारतेंदु हरिश्चंद्र के काल से हुआ।उसके अधिकांश लेखक संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे।गद्य के क्षेत्र में संस्कृतिनिष्ठ श्शैली की अव्यवहारकिता का निर्घोष एवं निर्देश 'भारतेंदु' द्वारा किये जाने पर भी पं.बदरीनारायण चौधरी ने आनंद कादम्बिनी में अनेक पृष्ठ इसी शैली में लिखा। पं. गोविन्द नारायण मिश्र के गद्य में कृत्रिमता दिखाई पड़ती है। गद्य की दूसरी मौलिक आलंकारिक शैली का प्रयोग ठाकुर जगन्मोहन सिंह के श्यामा स्वप्न तथा माधव प्रसाद मिश्र के निबंधों में देखी जा सकती है। आध्यान्तरित श्शाखा के प्रवर्तक थे रायकृष्णदास, वियोगी हरि,चतुरसेनशास्त्री आदि तथा वस्तुवादी शाखा के अंतर्गत 'प्रसाद', 'हृदयेश', 'विनोद शंकर व्यास' आदि का नाम लिया जा सकता है।गद्य के दोनो रमणीय स्वरूपों को प्रारंभ में गद्य काव्य की संज्ञा दी गई । प्रथम प्रकार की रचनाओं में रूप विधान की लक्षण उसे काव्य के अधिक समीप ले जा सका तथा दूसरी प्रकार की रचनायें शब्द विधान का ही

पल्ला पकडें रही,अतः उनमें लोकोत्तर आह्लादकत्व नहीं आ पाया। इनमें काव्यत्व साध्य न हो सका। इसलिए आज गद्य काव्य आध्यानतरित श्शाखा के उस विद्या का पर्याय हो गया है जो मूर्तिमान भावचित्र के साथ प्रकरण रहित संपूर्ण अर्थ प्रकाशित करता है। गद्य काव्यों में भाषा गद्य की होती है किंतु भाव प्रतीक काव्यों का होता है। भाषा का प्रवाह भी साधारण गद्य की अपेक्षा कुछ अधिक सरल और संगीतमय होता है तथा रूपकों और अन्योक्तियों की प्रधानता रहती है। इसमें कहानी की भांति एक संवेदना होती है,किंतु जहां वह प्रलापशैली का अनुकरण करता है,वहां अन्विति का अभाव भावातिरेक का द्योतन करता है । गद्यबद्ध विचारप्रधान निबंधो के ठीक विपरीत आधुनिक युग के गद्यगीत हैंजिनमें भावना घनीभूत होकर गद्य में ही अपने स्वतंत्र लय और संगीत के साथ एक कलातमक सृष्टि करती है। नाटकों के स्वगत भाषण के समान लेखक की घनीभूत भावनाएं गद्य में गीतिकाव्य की तीव्रता और भावावेश व्यक्ति करती हैं ।

जितना साहित्य हिंदी–पद्य में प्राचीन, साहित्यकारों ने निर्मित किया,उतना गद्य में उपलब्ध नहीं है। हिंदी –साहित्य के आधुनिक युग से पूर्व के साहित्य में यदि थोड़ा बहुत गद्य–साहित्य था,तो ब्रजभाषा में ही उसका स्वरूप देखने को मिलता था। कुछ गद्य–ग्रंथ गोरख–पंथियों क साहित्य से प्राप्त हुए हैं। कितु अधिकाश ब्रजभाषा का गद्य भक्तिकाल की कृष्ण भक्तिशाखा के रचयिताओं द्वारा निर्मित होता रहा। श्री वल्लभाचार्य के पुत्र गोसाई विट्ठलनाथ कृत 'श्रृंगार रस मंडन' और श्री गोसाईनाथ कृत'चौरसीवैष्णव की वार्ता' नामक ग्रंथ में विदेशी श्शब्दों का मिश्रण भी मिलता है।इन वार्ताओं के एक गद्यांश का नमूना देखिए– "..से एक दिन श्री महाप्रभुजीके सेवक वैष्णवन की मंडली में आयों।सो खंडन करन लाग्यो। वैष्णवन ने कही 'जो तेरो शास्त्रार्थ करनो होवै तो पंडितन के पास जा,हमारी मंडली में तेरे आयबे कौ काम नहीं ।इहां खंडन मंडन नहीं हैं ।....." भारतेंदु बाबू के युग की समाप्ति के प्श्चात हिंदी गद्यसाहित्य का दूसरा उत्थान हुआ। इस काल में नाटकों की परंपरा चलती रही। नाटकों की भांति उपन्यासों की रचनाएं भी इसी काल में हुईं।उपन्यास रचयिताओं में किशोरीलाल गोस्वामी ने इस काल में भारी श्रम किया। पडित आयोध्यासिंह उपाध्याय ,लज्जाराम मेहता आदि ने भी उपन्यास लिखे किंतु अभी आदर्श कृति का अभाव था। निबंध और छोटी कहानियों की रचना भी इसी काल में होती रही। किंतु कोई महत्वपूर्ण उपलब्धि नहीं आई।

हिंदी गद्यशैली और साहित्य के निर्माता महावीर प्रसाद द्विवेदी माने जाते हैं। 'सरस्वती' की आदर्श संपादन कला ने अनेक गद्य लेखको और विधाओं को सामने लाई।आधुनिक मौलिक रचनाओं में विशाल कथा साहित्य के जनक प्रेमचंद माने जाते हैं।इसी तरह हिंदी साहित्य के गद्योत्थान के जनक प्रसाद को कहा जा सकता है,जहां पद्य–साहित्य की प्रशंसनीय सेवा कर उन्होंने अपनी प्रतिभा का अद्भुत प्रदर्शन किया वहीं उपन्यास,गल्प और नाटाकों में भी उनका काव्यकौशल चकित कर देता है। माखनलाल चतुर्वेदी ने जहां पत्रकारिता को नयास्वरूप प्रदान किया वहीं बनारसीदास आदि ने पत्रकारिता और संपादन को पुष्ट किया। बनारसीदास जी ने

आंचलिकता की प्रवृत्ति भी मिलती है।

हम कह सकते हैं कि ऐतिहासिक घटनाओं की तरह ही पौराणिक घटनाओं की औपन्यासिक पुनर्व्याख्या भी वर्तमान से जुड़कर ही सार्थकता प्राप्त करती है। रामायण और महाभारत की कथाओं ने इस काल के उपन्यासकारों को विशेष रूप से आकर्षित किया है। इस काल के इन कथाओं ने इस काल के उपन्यासकारों को विशेष रूप से आकर्षित किया है। इस काल के इन कथाओं के उपन्यासकरों में शीर्षस्थ स्थान नरेन्द्र कोहली का है। यों युगेश्वर, मनु शर्मा, भगवान सिंह आदि के भी उपन्यास उपेक्षणीय नहीं हैं। पहले उन्होंने रामकथा को एक उपन्यास–श्रृंखला 'दीक्षा' (1975), 'अवसर' (1976), 'संघर्ष की ओर' (1978) और 'युद्ध' (1979), जो बाद में 'अभ्युदय (दो खंड) के नाम से प्रकाशित हुई– के रूप में प्रस्तुत किया और इस श्रृंखला में राम को आधुनिक काल के सामंती व पूँजीवादी शोषण, अत्याचार, दमन आदि से त्रस्त मानवता के उद्धारकर्त्ता के रूप में प्रस्तुत किया। उनकी यह उपन्यास श्रृंखला बहुत लोकप्रिय हुई। इसी से प्रेरित होकर उन्होंने महाभारत की कथा को लेकर एक और उपन्यास–श्रृंखला प्रस्तुत की– 'बंधन' (1988), 'अधिकार' (1990), 'कर्म' (1991), 'धर्म' (1993), 'अंतराल' (1995), 'प्रच्छन्न' (1997), 'प्रत्यक्ष' (1998), और 'निर्बंध' (2000)। उनकी यह श्रृंखला भी उतनी ही पठनीय है, जितनी रामकथा से संबद्ध श्रृंखला थी, यद्यपि यह उसकी तरह वर्तमान संदर्भ से सटीक ढंग से जुड़ नहीं सकी है। इसका कारण संभवतः यह है कि इसमें उनका जोर उसे मानव–जीवन के श्शाश्वत् सत्य से जोड़ने पर है। इसके बाद उन्होंने सुदामा और विवेकानंद के जीवन को आधार बनाकर भी उपन्यास–श्रृंखलाएँ लिखी हैं।

वर्षों के हिन्दी उपन्यास में वस्तु और शिल्प, दोनों के स्तर पर अत्यधिक प्रयोगशीलता आई है। इसीलिए कथा कहने के लिए ऐसे–ऐसे चमत्कापूर्ण शिल्पगत प्रयोग इस कालावधि ा में उपन्यासकारों ने किए हैं, जिनकी पहले का उपन्यासकार स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकता था। नई पीढ़ी के उपन्यासकारों के लिए मौलिकता बीजमंत्र हो गई है।

1.5 कहानी

कविता और कहानी छायावादोत्तर काल की केन्द्रीय विधाएँ रही हैं। जिनको लेकर बहुत–से साहित्यिक आंदोलन हुए, गोष्ठियाँ हुईं और पत्र–पत्रिकाओं के विशेषांक निकले। इसका मुख्य कारण यह है कि इन दोनों ने समकालीनता को गहरे अर्थ में रेखांकित करने का प्रयास किया और जीवन की जटिलताओं को उनकी समग्रता में आंकने की कोशिश की। नई कविता के एवज पर कहानी को भी 'नई कहानी' कहा जाने लगा और फिर, सचेतन कहानी तथा ' अ–कहानी' आंदोलन भी चलाए गए। छायावाद–युग के अनंतर हिन्दी–कहानी में आरंभ में प्रगतिवादी और व्यक्तिवादी प्रवृत्तियाँ दिखाई दीं। इसी समय आध ुनिकता बोध की प्रवृत्ति भी उभरी, जिसके प्रमाणस्वरूप भुवनेश्वर की 'सूर्यपूजा' और 'भेड़िए'

श्शीर्षक कहानियों को जैनेन्द्र, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी ने पल्लवित किया। छठे दशक में जो तनाव या अलगाव आया, वह मूल्यों से पूर्णतः विच्छिन्न नहीं हुआ था, किन्तु सन् 1962 में चीन–भारत युद्ध के समय रोमैंटिक सरकार ने हमें अंतिम रूप से मोहमुक्त कर दिया। इसीलिए मार्क्स और फ्रायड के प्रभावों से आगे बढ़कर अस्तित्ववादी दर्शन ने जीवन के बुनियादी सवालों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया, जिससे सातवें दशक में संत्रास, अलगाव, बेगानेपर और ऊब से संबद्ध कहानियाँ लिखी गईं।

प्रारंभ में प्रगतिवादी विचारधारा प्रमुख होकर आई। इस धारा के प्रतिनिधि कहानीकार यशपाल हैं। उन्होंने जहाँ मार्क्सवाद के अनुरूप धन की विषमता पर प्रहार करते हुए भौतिकवादी नैतिक मूल्यों का समर्थन किया, वहीं उन पर फ्रायड का भी गहरा प्रभाव पड़ा। फलतः यौन–चेतना के खुले चित्र भी उनकी कहानियों में मिलते हैं। यशपाल के कहानी–संग्रहों में उल्लेखनीय हैं– 'पिंजड़े की उड़ान,' 'वो दुनिया ज्ञानदान,' 'अभिशप्त', 'तर्क का तूफान', 'भस्मावृत चिनगारी', 'फूलों का कुर्ता', 'उत्तमी की माँ', 'सच बोलने की भूल', 'तुमने क्यों कहा कि मैं सुन्दर हूँ' आदि।

अज्ञेय ने मुख्यतः व्यक्ति के आत्मसंघर्ष तथा व्यक्ति और परिवेश के संघर्ष का चित्रण किया है। यशपाल जहाँ समाज की विकृतियों के लिए अधिक असमंजस्य तथा वर्गीय दिखावे (हिपोक्रेसी) को उत्तरदायी मानते हैं, वहाँ अज्ञेय ने व्यक्ति के अपने नैतिक संघर्ष और दायित्व को उसकी मुख्य समस्या माना है। उनकी प्रारंभिक कहानियों में स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति उभरी हुई प्रतीत होती हैं, किन्तु 'गैंग्रीन', 'पठार का धीरज' आदि कहानियाँ रोमांस से मुक्त नए यथार्थ पर आधारित हैं। अज्ञेय की भाषा में परिवेश–निर्माण की अद्भुत क्षमता है। बिंबों, प्रतीकों और नाटकीय स्थितियों के चित्रण द्वारा उन्होंने अपनी कहानियों को अर्थ के विभिन्न स्तर दिए हैं। 'विपथगा', 'परंपरा', 'कोठरी की बात', 'शरणार्थी', 'जयदोल', 'अमर वल्लरी' और 'ये तेरे प्रतिरूप' उनके प्रसिद्ध कहानी–संग्रह हैं।

इलाचंद्र जोशी ने अपनी कहानियों में मनोवैज्ञानिक केस–हिस्ट्री पिरोयी है। जोशी जी के विपरीत अश्क की कहानियों में विविधता के दर्शन होते हैं।

विष्णु प्रभाकर, कमल जोशी, निर्गुण, भैरवप्रसाद गुप्त, अमृतराय आदि अपेक्षाकृत नई पीढ़ी के कहानीकार हैं। विष्णु प्रभाकर नए बनने के प्रयास में भी पुराने संस्कारों को छोड़ नहीं पाते, फिर भी 'धरती अब भी घूम रही है' संग्रह की इसी शीर्षक की कहानी नए बोध के निकट है।

सन् 1950 के बाद की हिन्दी कहानियों में दो विरोधी स्वर सुनाई पड़ते हैं, मूल्यवादी स्वर और विघटित मूल्यों के परिवेश में चीख, त्रास या बदले हुए रिश्तों का स्वर।

छठे दशक में ग्रामांचल की कहानियों ने ही पहले ध्यान आकृष्ट किया। ग्रामांचल के कहानीकारों में शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय और फणीश्वरनाथ रेणु के नाम मुख्य हैं।

रोमैंटिक यथार्थ का सर्वाधिक चटकीला, समग्र और आत्मीयतापूर्ण रंग रेणु की कहानियों में मिलता है। वे आदिम रस--गंधों के कथाकार हैं। गांव की धूल--माटी, आंगन की धूप, बैलों की घंटियाँ, धान की झुकी हुई बालियाँ, गमकता चावल, मेला--ठेला, हंसी--ठिठोली आदि के वर्णन में गांव ही नहीं, पूरा अंचल उभर आता है। इस दृष्टि से 'लाल पान की बेगम' और 'तीसरी कसम' विशेष रूप से दृष्टव्य हैं।

ग्रामांचल से हटकर भी परंपरा के इसी मोड़ पर रांगेय राघव, भीष्म साहनी, शेखर जोशी, अमरकांत, श्रीमती विजय चौहान, ओंकारनाथ श्रीवास्तव,शैलेश मटियानी, मधुकर गंगाधर, शानी आदि आते हैं।

आलोच्य अवधि के कहानीकारों ने एक ओर पुराने मूल्यों के प्रति रोमानी दृष्टि की अभिव्यक्ति की, तो दूसरी ओर युगीन संक्रमण के अधिकाधिक दबाव का अनुभव भी किया।

मोहन राकेश की कहानियों में 'मलबे का मालिक' को विशेष ख्याति मिली। विद्यालंकार की कहानी 'एक और हिन्दुस्तानी का जन्म हुआ' दर्द को उभारने में असफल रही, अश्क की 'टेबुल लैंप' रोमैंटिक भावुकता से पूर्ण आदर्शवादी कहानी बन कर रह गई हैं।

राजेन्द यादव 'ह्वील विदिन ह्वील' के कहानीकार हैं, फलस्वरूप उनकी कहानियों में उलझाव आ जाता है, जिसका एक कारण यह भी है कि वे मूलतः औपन्यासिक चेतना के कथाकार हैं। --'जहाँ लक्ष्मी कैद है',अभिमन्यु की आत्मकथा', 'छोटे--छोटे ताजमहल', 'किनारे के किनारे तक', प्रतीक्षा', 'टूटना और अन्य कहानियाँ', 'अपने पार' आदि कमलेश्वर की कहानियों में युगीन संक्रमण का मूल्यान्वेषी स्वर मिलता है।

आलोच्य --काल में नरेश मेहता, रघुवीर सहाय (रास्ता इधर से भी है), सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, धर्मवीर भारती, कुंवर नारायण, रामदरश मिश्र (खाली घर, एक वह) आदि ने अपने--अपने ढंग की कहानियाँ लिखी हैं।

नरेश मेहता की 'तथापि', 'शिवाजी' आदि पर काव्यगत रोमानियत की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। भारती ही ऐसे कवि--कथाकार हैं, जिन्होंने कविता से कहानी को अलग करने की चेष्टा की है। यह चेष्टा 'गुलकी बन्नो', 'सावित्री नं. 2 और' 'बंद गली का आखिरी मकान' में स्पष्टतः दिखाई पड़ती है।

मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, शिवानी, उषा प्रियंवदा, रजनी पन्निकर,विजय चौहान आदि कहानी--लेखिकाओं का अपना संसार है, जो किसी सीमा तक पुरुषों के संसार से अलग है।

निर्मल वर्मा ने इसके लिए हिन्दी--कहानी की परंपरा को छोड़कर अपने को पाश्चात्य परंपरा से जोड़ा है। फलस्वरूप उनकी कहानियाँ अपनी भूमि, अपने देश की परंपरा यहाँ की गरीबी और जहालत से कटकर रोमानी रुचि से ओत--प्रोत हैं। 'परिंदे' कहानी--संग्रह की

इसी शीर्षक की रचना ...र 'लवर्स' ऐसी ही कहानियाँ हैं।

आधुनिकता–बोध को लेकर कहानी लिखने वालों में रामकुमार, विजय चौहान और राजकमल चौधरी का उल्लेख भी आवश्यक है।

श्रीकांत वर्मा की कहानियों को ब्रेन ट्यूमर की कहानियाँ कहा जा सकता है, इनका कथ्य प्रायः प्रेम के चारों ओर चक्कर लगाता है।

सतवें दशक को मोहभंग का दशक कहना उचित होगा। इस दशक के कहानीकारों ने रोमांस–मुक्त होकर नए यथार्थ का साक्षात्कार किया। ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, गंगाप्रसाद विमल, गिरिराज किशोर, रवीन्द्र कालिया, महेन्द्र भल्ला, ज्ञानप्रकाश, काशीनाथ सिंह आदि इस दशक के अन्य उल्लेखनीय कहानीकार हैं।

इधर के कहानीकारों में सिद्धेश, प्रकाश बाथम, हृषिकेश, सुदर्शन नारंग, महीप सिंह, पानू खेलिया, सुरेश सिन्हा, रमेश उपाध्याय, जितेन्द्र भाटिया, राजकुमार भ्रमर, नरेन्द्र कोहली, गोविन्द मिश्र, हर्षनाथ, वेद राही, श्रवणकुमार आदि अनेक नाम आते हैं। महिलाओं में ममता कालिया, सुधा अरोड़ा, निरुपमा सेवती, अनिता औलक, वर्तिका अग्रवाल, दीप्ति खंडेलवाल आदि ने भी आधुनिकता बोध की कहानियाँ लिखी हैं। इनकी कहानियों में सामान्यतः स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व के चित्र आंके गए हैं। यहाँ तक कि सेक्स के संबंध में भी इन्हें कोई झिझक और रोमानी संकोच नहीं है। इसके विपरीत पिछले दो दशकों में रूपबंध संबंधी पुरानी ध...ाराणाएँ अपने आप टूट गईं, कहानी में निबंध, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, संस्मरण, डायरी आदि विधाएँ भी सम्मिलित हो गईं जिसका फल यह हुआ कि उसका रूपबंध अब अधिक अभिव्यजना पूर्ण हो गया है।

(क) अद्यतन हिन्दी–कहानी–(1975 से 1980 तक)

सन् 70 तक पहुँचते–पहुँचते हिन्दी–कहानी ने साहित्य के अन्य रूपों की तुलना में केन्द्रीय स्थान बना लिया है। परिणामतः इन कहानीकारों में कई तरह की स्थितियों के प्रति आक्रोश हैं, खीझ है, चीख है, प्रश्नाकुलता है, आत्ममंथन है, आत्मालोचना हैं, आत्मसाक्षात्कार का निर्भय भाव है और जीवन को विद्रूपताओं, विसंगतियों, संत्रासों, यंत्रणाओं में भी डटकर जी पाने की साहसिकता का भाव है। पिछली पीढ़ी की तरह यह तकलीफों से भागते नहीं हैं, उन्हें काबू में लाकर भोगते हैं। अब इस कहानी का स्वर अस्तित्ववादी न रहकर मानवतावादी हो गया है।

रचनात्मक तनावों का यह दौर 'समानांतर कहानी', 'जन–कहानी', 'जनवादी कहानी', चोटधर्मी कहानी', में परस्पर टकराव से भरा रहा। इस दौर का नया कहानीकार 'देश' और 'काल' में फेलने के साथ 'गहराई' में उतर पड़ा।

भाषा पर सृजनात्मकता की दुहरी–तिहरी पर्त चढ़ गई। अपने युग और अहम् के विसर्जन का, व्यक्तित्वबोध का जो रचनात्मक दंभ जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी, मोहन

राकेश, कमलेश्वर आदि को कुंडली मारे सांप की तरह तोड़ रहा था, वह यहाँ श्शेखर जोशी, ज्ञानरंजन, भीष्म साहनी, विष्णु प्रभाकर, यादवेन्द्र शर्मा, 'चंद्र' राकेश वत्स, सुरेश सेठ, उदयप्रकाश, प्रयाग शुक्ल, राजी सेठ, मंजुल भगत, राजेश जोशी, दिनेश पालीवाल, मिथिलेश्वर, ब्रजेश्वर मदान, योगेश गुप्त आदि की कहानियों में एकदम गायब हो गया।

आठवें दशक की कहानियों का ढांचा पश्चिमी कहानियों की अनुकृति और प्रतिकृति नहीं है। इस काल–धारा में कहानी ने फैलाव में नहीं, जमीन में धंसकर गहराई पैदा की है। नया कहानीकार भारतीय अस्मिता को तलाशने और रचने में संकल्पबद्ध होकर निकल पड़ा है।

'नई कहानी' से आगे के समसामयिक कहानीकार जीवन के नए संदर्भों–संबंधों के बदलाव को वर्णनात्मकता के झाड़ू से बटोर कर नहीं दिखलाता, बल्कि संबंधों को प्रतीकों–बिंबों में सतर्कता से परिभाषित करता है। गोविन्द मिश्र 'गिद्ध' कहानी में दतरों के भ्रष्ट अधिकारियों की देहगाथा एक बिंब में कह देते हैं।

ऐसे ही वेद राही की कहानी 'हर रोज' महानगर के अभिशाप का नमूना है। असगर वजाहत 'केक', अमितेश्वर 'हुक्कापानी', उदयप्रकाश 'टेपचू' बलराम 'पालनहारे', धीरेन्द्र अस्थाना 'अपनी दुनिया', राजकुमार गौतम 'रिश्ते', नरेन्द्र मौर्य 'बिखरते–बिखरते संदर्भ', रमा उपाध्याय 'आत्मसमर्पण', श्रीकांत वर्मा 'टुकड़ों में बंटी जिंदगी' व 'ठंड', दिनेश पालीवाल 'तोता चश्म', 'स्वीकारोक्ति', अमितेश्वर 'तीलियाँ' आदि कहानियों में समकालीन यथार्थ के विभिन्न रूपों को उघाड़ते हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि यथार्थ यहाँ रचना का फार्मूला नहीं है बल्कि वह एक जटिल और संश्लिष्ट प्रक्रिया का अंग है। ये कहानियाँ यथार्थ का अतिक्रमण करती हैं और विसंगति–विद्रूपता को फेलाकर रचती हैं।

आठवें दशक की कहानियों ने संवाद–तत्व में नाटकीयता, प्रतीकात्मकता और रूप की स्वच्छता उत्पन्न की, जिसमें इनका 'कथ्य' काफी दिलचस्प हो उठा।

रोज–रोज बढ़ती महंगाई और आर्थिक तंगी ने आदमी को इस तरह पीस डाला है कि वह अनिश्चितता से हांफ उठा है। एक भीतरी संदर्भ में इधर के दो दशकों को कहानियाँ मामूली आदमी की लड़ाई और व्यथा का इतिहास उजागर करती हैं। श्रवणकुमार की 'भीतर का आदमी', अजित पुश्कल की 'प्रतिरोध', कृष्ण अग्निहोत्री की 'एक और अश्वत्थामा', ओम गोस्वामी की 'दर्द की मछली', सुधा अरोड़ा की 'दमनचक्र', सुनील कौशिक की 'अस्पताल' आदि ऐसी ही महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं। इन कहानियों में सेठ, साहूकार, ठेकेदार, पुलिस, डॉक्टर, मास्टर, वकील, प्रकाशक आदि का यथार्थ चित्रण है जो हमारी सामाजिक समझ को गहराता है। घिसता–टूटता आदमी यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' की 'स्वयं को निगलते हुए' विनोद भारद्वाज की 'मेरी उम्र बीस साल है', मधुकर सिंह की 'कीर्तन', मधुसूदन आनंद की 'ककरौंदे का पेड़', सुभाष पंत की 'तपती हुई जमीन', धर्मेन्द्र गुप्त की 'अपंग संज्ञा', ज्ञानरंजन की

'संबंध', पिता', 'शेष होते हुए', दिनेश पालीवाल की 'गिरता जटायू', मन्नू भंडारी की 'अलगाव' आदि कहानियों में देखते ही मन निचुड़ने लगता है।

नई कहानी का व्यक्तिवादी–पीड़वादी रुझान सामाजिक–राजनीतिक संघर्ष के आड़े आता था; और मजेदार बात यह है कि बदलते परिवेश में यह संघर्ष और तेज हो रहा था।

आज का कहानीकार कहानी में अपने 'परिवेश' को ही रच कर खुश है। वह उन मिथकों को छूता तक नहीं है, जिनसे जिंदगी के बृहत्तर अर्थ–संदर्भों को उजागर किया जा सकता है। श्रम का परायापन, अवमानवीकरण, आत्मनिर्वासन उसे अभी–भी कसे हैं। इसलिए इन कहानियों का प्रमुख कमजोर पहलू यह है कि ये सतह पर बड़बड़ाते आदमी की नियति–भर है।

अक्सर ध्यान इस बात पर भी जाता है कि इस पूरे दौर में एक भी ऐसा कहानीकार क्यों नहीं उभरा, जो परिवर्तनशील सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक, धार्मिक शक्तियों की समझ का गहरा प्रमाण देता ? कहानियों में व्यवस्था–विरोध का गुस्सा–भर है। पर गुस्से का सृजनात्मक उपयोग किसी बड़ी तैयारी का प्रमाण नहीं देता। किस तरह और किस बेशरमी से मानवतावादी मूल्यों और भारतीय संस्कारों का सिलसिलेवार ढंग से संहार कर रही है, इसकी चिंता बहुत कम कहानीकारों को है। सामाजिक, सांस्कृतिक, वेदनातंत्र के साथ घनिष्ठ संबंध की जो अवधारणा प्रेमचन्द, यशपाल और विष्णु प्रभाकर ने विकसित की है, उसकी डोर ही हमारे हाथ से खिसकती जा रही है। इन सब कमियों के बावजूद अच्छी बात यह है कि प्रेमचन्द से अज्ञेय और अज्ञेय से ब्रजेश्वर मदान तक की कहानियों में सामाजिक सजगता, शिल्पगत परिष्कार और रूपान्वेष में अन्विति और अंतर्योजना स्थापित करने वाली जो प्रक्रिया शुरू हुई थी वह निरंतर है।

(ख) अद्यतन हिन्दी कहानी–(1981 से 2005 तक)

'नई कहानी' आंदोलन के दौरान एक वर्ग उन कहानीकारों का सामने आया, जो पूरी तरह से शहरी थे और शायद इसीलिए आत्मकेन्द्रित व्यक्तिवादी इन कहानीकारों के शिरोमणि निर्मल वर्मा हैं। इस कालावधि में उनके 'कव्वे और काला पानी' (1983) 'सूखा तथा अन्य कहानियाँ' (1995) तथा 'ग्यारह लंबी कहानियाँ' (2000) संग्रह प्रकाशित हुए हैं।

'नई कहानी' के दौर में ही तीन कहानी लेखिकाएँ उभरकर सामने आई। कृष्णा सोबती मन्नू भंडारी और उषा प्रियंवदा। कृष्णा सोबती ने दूसरे महायुद्ध के दौरान कहानियाँ लिखना प्रारंभ किया, लेकिन उनका कहानी–संग्रह 'बादलों के घेरे' (1980) बहुत बाद में आया इसमें उनकी चौबीस कहानियाँ संग्रहीत हैं, जिनमें से 'नफीस' और 'लामा' (1944) की रचनाएँ हैं। इसके बाद उनकी दो कहानियों का संग्रह आया, जिसमें 'यारों के यार' और 'तिन पहाड़' संग्रहीत थीं। इसके बाद उनकी दो कहानियाँ और प्रकाशित हुई हैं 'ए लड़की' (1991) और 'नामपट्टिका' (1996)।

बीसवीं शताब्दी के सातवें दशक (1964) में डॉ. महीप सिंह के नेतृत्व में 'सचेतन कहानी' का आंदोलन प्रवर्तित हुआ। इस आंदोलन में जो कहानीकार सम्मिलित हुए, उनमें वे कहानीकार थे जिन्होंने छठे दशक के आंदोलनों में सम्मिलित कहानीकारों से अलग अपनी पहचान बनाई। इस आंदोलन में सम्मिलित कुछ कहानीकार वर्तमान कालावधि में भी सक्रिय रहे हैं– महीप सिंह, गिरिराज किशोर, दूधनाथ सिंह, से.रा. यात्री, धर्मेन्द्र गुप्त, हिमांशु जोशी, कामतानाथ, जगदीश चतुर्वेदी, गंगाप्रसाद विमल, मधुकर सिंह, योगेश गुप्त आदि। इनमें कुछ कहानीकार इसके बाद चलने वाले आंदोलनों में भी सम्मिलित रहे हैं। जिनका सीधा–सा अर्थ यह है कि इन कहानीकारों में जीवनदृष्टि या विशेष विचारधारा के प्रति कोई सामूहिक कट्टर प्रतिबद्धता नहीं थी।

सचेतन कहानी –आंदोलन के साथ जुड़ने वाले कुछ कहानीकार वस्तुतः 'अकहानी' की प्रवृत्ति के कहानीकार हैं और वे अकहानी–आंदोलन में बाकायदा सम्मिलित भी हुए। जगदीश चतुर्वेदी अ–कहानी–आंदोलन में सम्मिलित ही नहीं हुए, बल्कि उसके एक पुरोधा भी रहे हैं। उनकी कहानियों की मूल वस्तु स्त्री–पुरुष की संसर्गजनित लालसा, संभोग और प्रतारणा है। उनकी 'अंधेरे का आदमी' (1978), 'विवर्त' (1981), 'आदिम गंध' (1995), 'डेलिया के फूल' (1995) आदि संग्रहों की अधिकांश कहानियाँ इसका प्रमाण हैं।

'अकहानी' आंदोलन के शिथिल पड़ते–पड़ते कमलेश्वर 'समनांतर कहानी' (1972) का आंदोलन लेकर सामने आ गए।

पहले संग्रह के बाद उनके संग्रह हैं–

1. 'अंधेरी गली का रास्ता' (1977),
2. 'इतिहास' (1981),
3. 'उत्तराधिकार' (1981),
4. 'अमरकथा' (1984),
5. 'प्रतिनिधि कहानियाँ' (1988),
6. 'नागरिक' (1992),
7. 'रामलीला तथा अन्य कहानियाँ' (1993),
8. 'सम्मान' (1996),
9. 'जीवनराग' (1999),
10. 'उन्नीस सौ बीस' (1999),
11. 'उसी जंगल में' (2004)
12. 'मेरी प्रिय कहानियाँ' (2005)।

हृदयेश की कहानियाँ छोटे शहर के छोटे लोगों के दैनंदिन जीवन की कहानियाँ हैं, जिनमें वे समकालीन भारतीय जीवन में व्याप्त सामाजिक व राजनीतिक विद्रूपताओं और विडंबनाओं को बड़ी सहजता से व्यंजित कर देते हैं।

कहानीकारों की इन पीढ़ियों के बाद इस कालावधि में कहानीकारों की एक नई पीढ़ी उभर कर सामने आती है, जो ठेठ इसी काल की पीढ़ी है। इस पीढ़ी के जिन कहानीकारों ने अपने को समर्थ कहानीकार के रूप में स्थापित कर लिया है या जिनमें महती संभावनाएँ दिखाई दे रही हैं, उनमें से कुछ प्रमुख कहानीकार ये हैं--

1. मिथिलेश्वरः 'गांव के लोग' (1981), 'विग्रह बाबू' (1982), 'तिरिया जन्म' (1982), 'हरिहर काका तथा अन्य कहानियाँ' (1983), 'माटी की महक धरती गांव की' (1987), 'एक में अनेक' (1987), 'एक थे प्रो. वी.लाल' (1993), 'भोर होने से पहले' (1994), 'चल खुसरो घर आपने' (2000), 'जमुनी' (2001) आदि;
2. संजीवः 'तीस साल का सफरनामा' (1981), 'भूमिका तथा अन्य कहानियाँ' (1987), 'प्रेत–मुक्ति' (1991), 'दुनिया की सबसे हसीन औरत' (1993), 'प्रेरणास्त्रो तथा अन्य कहानियाँ' (1995), 'ब्लैकहोल' (1997), 'खोज' (1999) आदि
3. धीरेन्द्र अस्थाना : 'लोग हाशिये पर' (1980), 'आदमीखोर' (1982), 'मुहिम' (1984), 'खुल जा सिमसिम', 'विचित्र देश की प्रमकथा' (1988) आदि;
4. अब्दुल बिस्मिल्लाहः 'कितने–कितने सवाल' (1984), 'रैन बसेरा' (1989), 'अतिथि देवो भव' (1990), 'रफ–रफ मेल' (2000) आदि;
5. विवेकानंदः 'शिवलिंगम् तथा अन्य कहानियाँ' (1987); बलरामः 'कलम हुए हाथ' (1980), 'मालिक के मित्र' (1984), 'अनचाहे सफर' (1988);
6. योगेश कुमारः 'परामर्श' (1986), 'मिथ्थसचक्र' (1987); स्वयं प्रकाशः 'मात्रा और भार' (1974), 'सूरज कब निकलेगा' (1980);
7. शिवमूर्तिः 'केसर कस्तूरी' (1991);
8. नवीनत मिश्रः 'मणियाँ और जख्म' (1987), 'मैंने कुछ नहीं देखा' (1992), 'किया जाता है बाइज्जत बरी' (2002);
9. रामधारी सिंह दिवाकरः 'अलग–अलग परिचय' (1981), 'धरातल' (1997), 'माटी पानी' (1999), आदि;
10. मंजूर एहतेशाम : 'रमजान में एक मौत' (1982), 'तसबीह' (1988), 'तमाशा तथा अन्य कहानियाँ' (2001)
11. बटरोही : 'सड़क का भूगोल' (1985), 'थोकदार किसी की नहीं सुनता' (1988),

'आगे–पीछे' (1989), 'अनाथ मुहल्ले के ठुल दा' (1990), 'हिडिंबा के गांव में' (2000);

12. प्रियवंदा : 'एक अपवित्र पेड़' (1995), 'खरगोश' (1999), 'फलगुन की एक उपकथा' (2003);
13. अखिलेश : 'मुक्ति' (1989), 'शापग्रस्त' (1997); सृंजयः 'कामरेड का कोट' (1993), 'गंगा' (2001);
14. रूपसिंह चंदेल : 'मेरी तेरह कहानियाँ' (2004); पुन्नी सिंह : 'नागफांस' (2002), 'जुगलबंदी' (2004);
15. सुरेन्द्र तिवारी : 'इसी शहर में' (1982), 'अनवर तथा अन्य कहानियाँ' (2001);
16. पंकज विष्ट : 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते' (1986); स्वदेश दीपक : 'बाल भगवान' (1986);
17. वीरेन्द्र सक्सेना : 'दिल्ली में पहला दिन' (1987), 'ट्रेजिडी से पहले' (1988), 'घिसे हुए पुर्जे' (1993), 'दिखने के दांत' (1994), 'कौन किसका गुरु' (1994), 'सत्य के प्रेमिल प्रयोग' (1998), 'इक्कीस कहानियाँ' (1999), 'आधी सदी की त्रासदी' (2000), 'इक दूजे के लिए नहीं' (2004);
18. द्रोणवीर कोहली : 'बारह बरस बीते' (1981), 'जमापूँजी' (2002); क्षितिज शर्मा : 'ताला बंद है' (1988), 'समय कम है' (1994), 'उत्तरांचल की कहानियाँ' (1998); अमर गोस्वामी : 'कल का भरोसा' (2004); ओमप्रकाश वाल्मीकि : 'सलाम' (2000), 'घुसपैठिये' (2003);
19. मनोज सोनकर : 'हलफनामा' (2002), 'पोस्टर्स' (2004); अरुण प्रकाश : 'विषम राग' (2003) इत्यादि।

इन कहानीकारों के अतिरिक्त भी और अनेक कहानीकार हैं, जो इस कालावधि में रचनागत रहे हैं।

नई पीढ़ी के इन समकालीन कहानीकारों से संबसे पहली बात यह उभर कर सामने आती है कि ये किसी विशेष आंदोलन से जुड़े हुए नहीं हैं।

'नई कहानी' आंदोलन के दौरान जो कहानी–लेखिकाएँ उभर कर सामने आईं, वे गिनी–चुनी हैं। किन्तु उसके बाद की पीढ़ी की लेखिकाओं की संख्या अच्छी–साखी है, जो इस कालावधि में सक्रिय लेखिकाओं की सूची से प्रमाणित हो जाती है। इस कालावधि में सक्रिय रही मुख्य कहानी–लेखिकाएँ हैं–

1. ममता कालियाः 'उसका यौवन' (1985), 'बोलने वाली औरत' (1988), 'प्रतिदिन' (1989), 'चर्चित कहानियाँ' (1991), 'जांच अभी जारी है' (1997), 'मुखौटा' (2003),

'निर्मोही' (2004), 'ममता कालिया की कहानियाँ' (2005), 'दस प्रतिनिधि कहानियाँ' (2005); हैं,

2. मृणाल पांडे : 'एक नीच ट्रैजिडी' (1981), 'एक स्त्री का विदागीत' आदि;
3. मृदुला गर्ग: 'उर्फ सैम' (1986), 'शहर के नाम' (1990), 'समागम' (1996), 'मेरे देश की मिट्टी, अहा' (2001), 'संगीत–विसंगति' (दो खंडों में सम्पूर्ण कहानियाँ): (2004);
4. मंजुल भगत : 'सफेद कौआ' (1986), 'दूत' (1992), 'बूँद' (1998), 'अंतिम बयान' (2001);
5. चित्र मुद्गल : 'लाक्षागृह' (1982), 'अपनी वापसी' (1983), 'इस हमाम में' एवं 'ग्यारह लंबी कहानियाँ' (1987), 'जगदंबा बाबू गांव आ रहे हैं' (1992), 'जिनावर' (1996), 'भूख' (2001), 'लपटें' (2002), 'बयान (2004);
6. राजी सेठ :'तीसरी हथेली' (1981), 'यात्रामुक्त' (1987), 'दूसरे देशकाल में' (1992), 'यह कहानी नहीं' (1998), 'ढाई आखर प्रेम का' (1993), 'अन्वेषी' (1986);
7. प्रतिमा वर्मा : 'बंधे पांवों का सफर' (1984); सुधा अरोड़ा : 'महानगर की मैथिली' (1987), 'काला शुक्रवार' (2004), 'कांसे का गिलास' (2004), 'मेरी तेरह कहानियाँ' (2004);
8. सूर्यबाला : 'प्याली–भर चांद' (1988), 'मुंडेर पर' (1990), 'यामिनी कथा' (1991), 'सांझ बाती' (1995), 'कत्यायनी संवाद' (1996), 'इक्कीस कहानियाँ' (2001), 'मानुष गंध' (2003);
9. मेहरुन्निसा परवेज: 'अंतिम चढ़सई' (1982), 'अम्मा' (1997), 'समर' (1999) आदि;
10. सुनीता जैन : 'पालना' (2000), 'पांच दिन' (2003); इंदु बानी: 'टूटती–जुड़ती' (1981), 'बिना छत का मकान' (1983), 'अंधेरे की लहर' (1985), 'बिखरती आकृतियाँ' (1985), 'दूसरी औरत होने का सुख' 'कौन दिला दिया जाने' (1986), 'मेरी तीन मौतें' (1991), 'धरातल' (1992), 'चुभन' (1993), 'मैं खरगोश होना चाहती हूँ' (1995), 'पांचवां युग' (1997) आदि;
11. मालती जोशी : 'एक घर सपनों का' (1985), 'शापित शैशव तथा अन्या कहानियाँ' (1996), 'पिया पीर न जानी' (1999), 'औरत एक रात है' (2001) आदि;
12. कुसुम अंसल : 'पते बदलते हैं' (1983), 'इकतीस कहानियाँ' (1993), 'धुएँ की ईमानदारी' (1999);
13. सिम्मी हर्षिता : 'तैंतीस कहानियाँ' (1996) 'बनजारन हवा' (2000);
14. उर्मिला शिरीष : केंचुली' (1990), 'रंगमंच' (2001), 'निर्वासन' (2003), 'पुनरागमन'

(2005) ;

15. कृष्णा अग्निहोत्री : 'विरासत' (1982), 'यही बनारसी रंग ब्रा' (1983), 'जिंदा आदमी' (1986) आदि;
16. ऋता शुक्लः 'क्रौंचवध तथा अन्य कहानियाँ' (1996), 'दंश' (1985), 'शेषगाथा', 'श्रेष्ठ आंचलिक कहानियाँ' (1993), 'मानुष तन' (1999), 'कासों कहों मैं दरदिया' (2000), 'कायांतरण' (2003);
17. कमल कुमार : 'पहचान' (1984), 'क्रमशः' (1996), 'वैलेंटइन डे' (2002) आदि;
18. अरुण सीतेशः 'लक्ष्मणरेखा' (1981) आदि;
19. चन्द्रकांता : 'गलत लोगों के बीच' (1984), 'पोशनूल की वापसी और अन्य कहानियाँ' (1988), 'दहलीत पर न्याय' (1989), 'ओ सोन किनरी' (1991), 'कोठे पर कागा' (1993), 'सूरज उगने तक' (1994), 'काली बर्फ' (1996) आदि;
20. मुक्ता : 'पलाश के घुंघरू तथा अन्य कहानियाँ' (1991), 'आधा कोस' (1994), 'इस घर उस घर' (1999);
21. नासिमा शर्मा : 'पत्थर गली' (1986), 'संगसार' (1993), 'इब्ने मरियम' (1994), 'सबीना के चालीस चोर' (1997), 'खुदा की वापसी' (1989), 'इनसानी नस्ल' (2001), 'दूसरा ताजमहल' (2002);
23. कुसुम चतुर्वेदी : 'तीसरी यात्रा' (1997), 'आंगन में उगी पौध' (2000);
24. मैत्रेयी पुष्पा : 'चिन्हार' (1991), 'ललमनियाँ' (1996), 'गोमा हंसती है' (1998);
25. नमिता सिंहः 'राजा का चौक' (1982), 'नीलगाय की आंखें' (1990), 'जंगलगाथा' (1992), 'निकम्मा लड़का' आदि;
26. उषा किरण खान : 'गीली पांक' (1995), 'कासवन' (1998), 'जलधार' (2002); सारा रायः 'अबाबील की उड़ान' (1997);
27. गीतांजली श्री : 'अनुगूंज' (1995), 'वैराग्य' (1999);
28. लवलीन : 'सलिल सागर' 'कमीशन आया बनाम समाजसेवा जारी है' (1997), 'चक्रवात' (1999:);
29. अलका सरावगीः 'कहानी की तलाश में' (1995), 'दूसरी कहानी' (2002) आदि।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक कहानी–लेखिकाएँ इस समय सक्रिय हैं।सभी लेखिकाओं की कहानियों में से कुछ सामान्य बातें उभर कर सामने आती हैं। प्रायः सभी लेखिकाओं ने अपनी कहानियों में भारतीय परिवेश में अपनी मुक्ति के लिए छटपटाती नारी का चित्रण किया है। इस चित्रण में कुछ लेखिकाएँ तो सचेत भाव से स्त्रीवादी हैं, जिसके

कारण उनकी स्त्री पात्र अकसर विद्रोह करने हैं। उनके स्त्री पात्र 'बोल्ड' हैं।

इन लेखिकाओं के विपरीत दूसरा वर्ग उन लेखिकाओं का है, जो सिद्धांततः स्त्रीवादी नहीं है, लेकिन उनकी कहानियों में भी पुरुष–वर्चस्व को झेलते स्त्री पात्रों का चित्रण है। इसके बावजूद उनकी दृष्टि व्यापक है।

विगत पच्चीस वर्षों में हिन्दी–कहानी बहुत समृद्ध हुई है। उसमें वस्तु और शिल्प दोनों के स्तर पर बड़ी विविधता आई है। इस काल की कहानियों के पात्र, चाहे वे स्त्री हों या पुरुष, अपनी अस्मिता, स्वायत्तता और विशिष्टता के लिए अत्यधिक बेचैन दिखाई देते हैं– स्त्री पात्रा, विशेष रूप से। इस काल के कहानीकारों के सरोकार भी क्रमशः छोटे होते जा रहे हैं।

1.6 नाटक

हिन्दी–नाटक रंगमंच और जीवन के यथार्थ से जुड़कर नई दिशा की ओर उन्मुख हुआ। उपेन्द्रनाथ अश्क पहले ऐसे नाटककार हैं, जिन्होंने हिन्दी–नाटक को रोमांस के कठघरे से निकाल कर किसी सीमा तक आधुनिक भावबोध के साथ जोड़ा। उनका 'जय–पराजय' (1937) प्रसाद की प्रभाव–छाया से बर्हिगत नहीं होता, फिर भी 'छठा बेटा' (1940) उस प्रभाव से मुक्त है। उनके दो अन्य नाटक– 'कैद' (1945) और 'उड़ान' (1946)– एक दूसरे के पूरक हैं। 'अंजो दीदी' (1945) कदाचित् अश्क की सर्वाधिक प्रौढ़ नाटकीय कृति है। 'अंधी गली' (1954) और 'पैंतरे' (1952) अश्क के अन्य नाटक हैं।

विष्णु प्रभाकर– कृत 'डॉक्टर' भी इस अवधि का बहुचर्चित नाटक है, मंचीय सार्थकता और नई जटिल जीवनानुभूतियों की नाटकीय रचनात्मकता जगदीशचन्द्र माथुर के 'कोणार्क' (1951) में लक्षित होती है। 'शारदीया' (1959) उनका दूसरा ऐतिहासिक नाटक है, जिसका नायक नरसिंह राव अर्ध–ऐतिहासिक पात्र है। आधुनिक भावबोध को रूपायित करने वाले नाटकों में धर्मवीर भारती का गीति नाट्य 'अंधायुग' (1955) विशेषतः उल्लेखनीय है। इसमें महाभारत के अठारहवें दिन की संध्या से प्रभास–तीर्थ में कृष्ण के देहावसान के क्षणों तक की कथा ली गई है। इस कथा को चुनने का मूल प्रयोजन युद्धजन्य वर्तमान कालीनता को प्रासंगिकता देना है। 'अंधायुग' में बहिर्द्वंद्व के समाप्त होने पर अंतर्द्वंद्व की विकराल ज्वाला जगकर सभी को भस्मीभूत कर लेने के लिए उतावली हो जाती है। भारती का उद्देश्य केवल युद्ध की फलश्रुति प्रस्तुत करना नहीं, उनका कहना है, " यह कथा ज्योति की है अंधों के माध्यम से।"

डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने कई नाटकों की रचना की है– अंधा कुआं (1955), मादा कैक्टस (1959), तीन आंखों वाली मछली (1960), सुन्दर रस (1959), सुखा सरोवर (1960), रक्तकमल (1962), रातरानी (1962), दर्पन (1963), सूर्यमुख (1968), कलंकी (1969), मिस्टर अभिमन्यु (1971), करयू (1972) आदि।

मोहन राकेश– कृत 'आषाढ़ का एक दिन' (1958), 'लहरों के राजहंस' (1963), और 'आधे–अधूरे' (1969) गहन मानवीय ट्रेजेडी को नाटकीय स्थितियों में रचनात्मक झंग से आंकने वाले नाटक हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' महाकवि कालिदास के परिवेश, रचना–प्रक्रिया, प्रेरणा–स्त्रोत और उनके चुक जाने से संबद्ध है। यह दो प्रकार के संघर्षों पर आधारित है– परिवेशमूलक संघर्ष और आंतरिक संघर्ष।

स्वयं कालिदास के अपने परिवेश में, जिससे वह जुड़ा हुआ है, अंतर्मंथन का अवकाश कम नहीं है। बिलोम और मल्लिका की माँ ने कालिदास और मल्लिका के अंतर्द्वंद्वों को धार दी है। फलस्वरूप नाटक में गहन प्रवेगमयता और तीव्रता आ गई है। खेद है कि इस प्रवेग और तीव्रता को एक रोमानी दुःखात्मकता (एगोनी) तक पहुँचा कर समाप्त कर दिया गया है।

'लहरों के राजहंस' (1963) राकेश का दूसरा नाटक है इसमें राग–विराग और श्रेय–प्रेय के द्वंद्व को उभार कर चिरंतन आध्यात्मिक प्रश्न को नए संदर्भ में उठाया गया है।

'आधे–अधूरे' राकेश का तीसरा नाटक है, जो उनकी विकास–यात्रा की अगली मंजिल का सूचक है। इसमें इतिहास के आधार को छोड़ कर समाज की विसंगतियों से सीधे जूझने का प्रयास है। वैवाहिक जीवन के मध्यवर्गीय विडंबनाओं के कारण परिवार का प्रत्येक व्यक्ति आध–अधूरा रह कर अपने–अपने ढंग का संत्रास भोगता है।

अन्य नाटककारः छायावादोत्तर काल के अन्य नाटककारों में सेठ गोविन्ददास, लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण 'प्रेमी', गोविन्दवल्लभ पंत, उदयशंकर भट्ट, जगन्नथ प्रसाद 'मिलिंद' प्रभृति पुरानी खेवे के नाटककारों का उल्लेख अपेक्षित है। सेठ गोविन्ददास ने 'कर्ण' (1942), 'शशिगुप्त' (1942) आदि पौराणिक–ऐतिहासिक नाटकों और 'हिंसा और अहिंसा' (1940), 'संतोष कहाँ' (1941) आदि सामाजिक नाटकों की रचना की है, जिनमें यथार्थ का तीखापन उतना नहीं है, जितना कि आदर्श का स्वारस्य है। लक्ष्मीनारायण मिश्र द्वारा रचित 'अपराजित' और 'चक्रव्यूह' पौराणिक नाटकों की परंपरा में महत्वपूर्ण हैं, जिनमें मनोविज्ञान के साथ ही भारतीय जीवनदृष्टि के प्रति अविचल श्रद्ध भी मिलती है। हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने मुख्यतः मध्यकालीन ऐतिहासिक घटनाओं को लेकर नाट्यरचना की है, जिनमें 'आहुति' (1940), 'स्वप्नभंग' (1940), 'विषपान' (1945), 'सांपों की सृष्टि', 'उद्धार' आदि उल्लेखनीय हैं। 'अमृत पुत्री' (1972) उनका ऐतिहासिक नाटक है जिसमें राष्ट्रीय एकता पर बल देने के निमित्त सिकंदर के आक्रमण–काल के भारत का चित्रण हुआ है। 'बंधन' (1940) और 'छाया' (1941) प्रेमी जी के प्रमुख समस्यामूलक सामाजिक नाटक हैं, जिनमें जीवन की कटुता का चित्रण होने पर भी परंपरावादी ढंग से समाधान खोजने पर अधिक बल रहा है।

गोविन्दवल्लभ पंत ने आलोच्य युग में दो उल्लेखनीय नाटकों की रचना की, 'सुहाग–बिंदी' (1940) उनका प्रसिद्ध सामाजिक नाटक हैं और 'ययाति' (1947) की रचना

पौराणिक कथा–संदर्भ में हुई है।

उदयशंकर भट्ट के नाटकों में 'शक–विजय' (1953), 'क्रांतिकारी' (1954), 'नया समाज' (1955) और 'पार्वती' (1960) मुख्य हैं।

जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिंद' के नाटकों में भी लगभग इन्हीं प्रवृत्तियों का समावेश मिलता है, 'समर्पण' (1950) बुद्धिवाद से प्रेरित समस्यामूलक सामाजिक नाटक है, तो 'गौतम नंद' (1952) में ऐतिहासिक घटना–संदर्भ को रोमानी कल्पना से अलंकृत करके प्रस्तुत किया गया है, जिसके फलस्वरूप नाटकीय द्वंद्व की तीव्रता अपने रूप में नहीं उभर पाई है। चन्द्रगुप्त, विद्यालंकार, विनोद रस्तोगी,

दूसरे वर्ग के नाटकों में नरेश मेहता के 'सुबह के घंटे' और 'खंडित यात्राएँ' शीर्षक नाटकों तथा मन्नू भंडारी के 'बिना दीवार का घर' का उल्लेख किया जा सकता है।

तीसरे वर्ग की रचनाओं में शिवप्रसाद सिंह ने 'घटियाँ गूंजती हैं' में चीन–भारत युद्ध का व्यापक फलक लिया है।

हिन्दी–साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटक का विकास मंद गति से हुआ है, इसमें संदेह नहीं है। इसके दो कारण प्रतीत होते हैं, एक तो मंच का अभाव और दूसरा, स्वयं इस विधा का अपना स्वरूप। दूसरे, तथ्य को अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है। नाटक का सीधा संबंध समूह, जाति और देश से होता है।

1975 से 1981 तक के हिन्दी–नाटक– सृजनात्मक संभावनाओं के समर्थ नाटककार मोहन, राकेश की मृत्यु ने अचानक हिन्दी–नाटक में एक रिक्तता उत्पन्न कर दी। किन्तु, इनके साथ और उनके बाद ऐसे अनेक नाटककार नाट्यक्षेत्र में आए, जिन्होंने नई टेकनीक, नई रंगसृष्टि और प्रयोगधर्मी साहसिकता से नाट्यसृजन की प्रासंगिक संभावनाओं को जीवंतता से उजागर किया। अधिकांश नए नाटकों ने सामाजिक,राजनीतिक संदर्भों को कथ्यानुभव के नए मुहावरे में ढाल कर सृजित किया। जीवन की असंगतियों, अंतर्विरोधों, तनावों, जटिल परिवेशगत स्थितियों को नए रूपतंत्र के कौशल से नाट्य रचनाप्रक्रिया में अभिव्यक्ति दी। इस सृष्टि से भीष्म साहनी के 'हानुश', 'कबिरा खड़ा बाजार में', सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के 'बकरी', 'लड़ाई', 'कल भात आएगा', ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'शुतुरमुर्ग, मणि मधुकर के 'रसगंधर्व', लक्ष्मीनारायण लाल के 'मि. अभिमन्यु', 'अब्दुल्ला दीवाना', मुद्राराक्षस के 'मरजीव', 'तेंदुआ', सुशील कुमार सिंह के 'सिंहासन खाली है', शंकर शेष के 'एक और द्रोणाचार्य', हमीदुल्ला के 'एक और युद्ध', 'समय संदर्भ', दयाप्रकाश सिन्हा के 'कथा एक कंस की', सुरेन्द्र वर्मा के 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक', 'सेतुबंध', 'आठवां सर्ग', मृदुल गर्ग के 'एक और अजनबी', बृजमोहन शाह के 'त्रिशंकु', बलराज पंडित के 'पाँचवां सवार' आदि उल्लेखनीय नाटक हैं।

सन् साठ के बाद उपजे मोहभंग और संबंधों की अर्थहीनता ने जीवन के पुराने गणित को गलत ठहराया है। इस दृष्टि को कथ्य के सृजनात्मक तनाव से जगदीशचन्द माथुर ने 'शारदीया' लक्ष्मीनारायणलाल ने 'करयू', 'व्यक्तिगत', 'सगुन पंछी', सुरेन्द्र वर्मा ने 'द्रोपदी', गिरिराज किशोर ने 'नरमेध', मणिमधुकर ने 'दुलारी बाई', सुशील कुमार ने 'चार यारों की यार', मद्राराक्षस ने 'तिलचट्टा', 'योर्स फेथफुली', 'गुफाएँ', 'संतोला', विष्णु प्रभाकर ने 'अब और नहीं', रामकुमार भ्रमर ने 'तमाशा', पृथ्वीनाथ शास्त्री ने 'क्रीड़नक', शोभना भूटानी ने 'शायद हाँ' में नई व्यंग्य'वक्रोक्ति और अर्थापत्ति दी है। कमलेश्वर ने 'अधूरी आवाज', विष्णु प्रभाकर ने 'युगे–युगे क्रांति', 'टूटते परिवेश', मन्नू भंडारी ने 'बिना दीवारों के घर', अमृत राय ने 'चिदियों की एक झालर', शंकर शेष ने 'घरौंदा', रमेश बक्षी ने 'वामाचार', गोविन्द चातक ने 'काला मुँह' में काम–संबंधों की घिनौनी हरकतों और पारिवारिक कलह की मूल रेखाओं को बिंबित किया है। इन सभी नाटकों में रहस्यमूलक कुहेलिका के स्थान पर मूर्त और इंद्रियगोचर संसार को स्थान मिला है। इस ओर रमेश मेहता ने 'रोटी और बेटी', विनोद रस्तोगी ने 'बर्फ की मीनार' लक्ष्मीनारायण लाल ने 'रातरानी', नरेश मेहता ने–'खंडित यात्राएँ', उपेन्द्रनाथ अश्क ने 'बड़े खिलाड़ी' आदि में प्रश्नाकुलताओं से भरे संकेत किए हैं।

इस दौर में इस दृष्टि से शंकर शेष का 'खजुराहो का शिल्पी' दयाप्रकाश सिन्हा का 'इतिहासचक्र', लक्ष्मीनारायण भारद्वाज का 'अश्वत्थामा', जयशंकर त्रिपाठी का 'कुरुक्षेत्र का सवेरा', लक्ष्मीनारायण का 'राम की लड़ाई', 'नरसिंह कथा', 'एक सत्य हरिशचन्द्र', गिरिराज किशोर का 'प्रजा ही रहने दो', नरेन्द्र कोहली का 'शंबूक की हत्या', मणिमधुकर का 'इकतारे की आंख', ललित सहगल का ' हत्या एक आकार की', रेवतीशरण शर्मा का 'राजा बलि की नई कथा', सुरेन्द्र वर्मा का 'छोटे सैयद बड़े सैयद', 'आठवां सर्ग', बृजमोहन शाह का 'त्रिशंकु', डॉ. विनय का 'एक प्रश्न और', आदि का नाम स्मरणीय हैं।

सातवें–आठवें दशक में देश की विशिष्ट राजनीतिक स्थितियों का संघर्ष काफी तीव्र हो गया। परिणमतः नाटककार परिवेश और अनुभव को नाट्यसृजन में परिभाषित और निर्धारित करने के लिए बाध्य होता गया। राजनीति की सिद्धांतहीनता, अवसरवादिता, सरलीकरण और बौद्धिक दिवालियेपन ने आदमी के भीतर के आदमी को हड़बड़ा दिया।

अंततः यथास्थिति बाकी राजनीतिक संस्थाओं मठों पर नजर उठाते हुए डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने 'रक्तकमल', 'चतुर्भुज राक्षस', 'पंचपुरुष', 'गंगा माटी', संतोष कुमार नौटियाल ने 'चाय–पार्टियाँ', कणाद ऋषि भटनागर ने 'जहर', 'जनता का सेवक', ज्ञानदेव अग्निहोत्री ने 'शुतुरमुर्ग', सुशील कुमार ने 'नागपाश', श्शरद जोशी ने 'एक था गधा उर्फ अलादाद खाँ', 'अंधों का हाथी', शंकर शेष ने 'फंदी', 'बंधन अपने–अपने', बृजमोहन शाह ने 'शह ये मात', सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने 'बकरी', 'अब गरीबी हटाओ', हमीदुल्ला ने 'दरिंदे', 'उत्तर उर्वशी', मणि मधुकर ने 'बुलबुल सराय', 'खेला पोलमपुर', सुदर्शन चोपड़ा ने 'काला

पहाड़', कुसुम कुमार ने 'रावण', 'ओम क्रांति–क्रांति', 'दिल्ली ऊँचा सुनती है', भीष्म साहनी ने 'कबिरा खड़ा बाजार में', रमेश उपाध्याय ने 'पेपरवेट' आदि नाटक लिखे हैं।

अच्छे साहित्य को जनता तक पहुँचाने के लिए कल्पनाशील नाट्यकर्मियों और नाट्यमंडलियों ने कविता, कहानी, उपन्यास आदि के नाट्य रूपांतरों का सहारा लिया है। प्रेमचन्द्र, यशपाल, श्रीकांत वर्मा की कहानियों, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर, भवानीप्रसाद मिश्र आदि ख्यातिलब्ध कवियों की कविताओं के नाटयरूपांतर और पाठ बड़ी सफलता से किए गए हैं। मन्नु भंडारी के 'महाभोज' का नाट्यरूपांतर बेहद जनप्रिय हुआ।

हिन्दी–नाटक का सातवां–आठवां दशक प्रयोगधर्मी नाट्यपरंपरा की दृष्टि से पूरे हिन्दी–नाटक के विकास में एक नया अध्याय जोड़ता है। नए–पुराने हिन्दी–नाटकों को जो महत्व मिला है, उसके मूल में हिन्दी–रंगमंच का सही दिशा में विकास है।

1981 से अब तक समकालीन हिन्दी–नाटक की स्थिति बहुत उत्साहजनक नहीं है। नाटयरचना हो, चाहे रंगमंच, सब तरफ निराशा का वातावरण है। डॉ. गिरीश रस्तोगी के इस निष्कर्ष में यह उत्साह हीनता और निराशा स्पष्ट झलक रही है: "चारों ओर रंगमंचीय गतिविधियाँ, खासकर शौकिया रंगमंच गतिहीन है। नाट्यलेखन और रंगमंच में लगातार जो संवाद टकराहट, उत्साह, प्रक्रियाएँ अपेक्षित हैं, वह नितांत प्रसुप्त हैं।" (बीसवीं सदी का हिन्दी–साहित्य– सं. डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, प्रथम संस्करण; पृष्ठ 160) यह सम्मानजनक दृष्टि से नहीं देखा जाता, दूसरे स्वाधीनता से पूर्व कुछ नाट्य संघों की स्थापना हुई–

1. जननाट्य संघ (स्थापना 1943),
2. पृथ्वी थियेटर्स (1944–1960)

स्वाधीनता के बाद केंन्द्रीय–

1 संगीत–नाटक अकादमी (स्थापना–1953),
2. राष्ट्रीय नाट्यविद्यालय (स्थापना–1954),
3. भारतीय नाट्य–संघ (बीसवीं सदी का छठा दशक),
4. थियेटर यूनिट (1954– मुंबई),
5. अनामिका (1955–कलकत्ता),
6. नया थियेटर (1959–दिल्ली)

इसी प्रकार की अन्य सरकारी, गैर–सरकारी नाट्य–संस्थाओं की स्थपना और सक्रियता। समकालीन हिन्दी–नाटक में नाटककारों की तीन पीढ़ियाँ सक्रिय रही हैं। एक पीढ़ी उन नाटककारों की है, जिन्होंने स्वाधीनता के पूर्व नाटक लिखने प्रारंभ किए थे। इस पीढ़ी के नाटककारों में से एकाध का कोई एकाध नाटक इस कालावधि में भी प्रकाशित हुआ है; जैसे– गोविन्द वल्लभ पंत का 'काशी का जुलाहा' (1958), रामवृक्ष बेनीपुर का '

अम्बपाली' (1985), यद्यपि इसकी रचना 1940 के आसपास हुई थी। स्पष्ट है कि इस कालावधि में इस पीढ़ी की सक्रियता का कोई विशेष अर्थ नहीं है और न ही यह पीढ़ी बहुत सक्रिय है।

बीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में ही शंकर शेष एक महत्वपूर्ण नाटककार के रूप में उभर कर सामने आए। उन्हें 'एक और द्रोणाचार्य' (1977) से विशेष ख्यांति मिली। संख्या की दृष्टि से उन्होंने जितने नाटक लिखे हैं, उतने बहुत कम नाटककारों ने लिखे हैं वर्तमान कालावधि में उनके 'रक्तबीज' (1982), 'खजुराहो का शिल्पी' (1982), 'बाढ़ का पानी' (1983), 'आधी रात के बाद' (1983), 'पोस्टर' (1983), 'चेहरे' (1983) आदि नाटक प्रकाशित हुए।

लगभग नरेन्द्र मोहन के साथ ही नाट्यरचना में स्वदेश दीपक प्रवृत्त हुए हैं। उनके 'बाल भगवान' (1989), 'कोर्ट मार्शल' (1991), 'जलता हुआ रथ' (1998), 'सबसे उदास कविता' (1998), 'काल कोठरी' (1999) आदि नाटक इसी कालावधि में प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने अपने नाटकों में अंधविश्वास, स्वार्थी राजनीति, धर्म के नाम पर की जाने वाली ठगाई, क्रूर अमानवीय और भयावह तंत्र में पिसते छटपटाते आम आदमी की यातना, शोषण, वर्ग–संघर्ष, गुटबाजी, स्त्रियों की दुर्दशा, मजदूरों की गरीबी आदि को नाट्यवस्तु बनाया है। स्पष्ट है कि वे प्रगतिशील चेतना के नाटककार हैं।

इस पीढ़ी के तथा इसके बाद वाली नई पीढ़ी के अनेक नाटककारों के अनेक नाटक इस बीच प्रकाशित हुए हैं, जिनमें से कुछ उल्लेखनीय नाटककार और उनके प्रमुख नाटक इस प्रकार हैं–

1 दूधनाथ सिंहः 'यमगाथा' (1990),

2. सुदर्शन मजीठियाः 'चौराहा' (1986),

3. इंन्द्रजीतभाटियाः 'अग्निकांड' (1981), 'कहाँ हो ?फकीरचन्द' (1986), स्वर्ग से ऊँचा क्यों' (1980),

4. विलास गुप्तेः आदमी का गोश्त' (1983), आपके कर कमलों से' (1987),

5. विभू कुमारः 'ताले में बंद प्रजातंत्र' (1981), 'अपरिभाषित' (1982), 'कहे ईसा सुने मूसा' (1984), 'हवाओं का विद्रोह' (1986),

6. सुरेन्द्र तिवारीः 'शेष नहीं' (1984),

7. जितेन्द्र कपूरः 'आखिरी मुगल' (1985),

8. शिवमूरत सिंहः 'पूर्वार्द्ध' (1986),

9. भानु भारतीः 'चंन्द्रमा सिंह उर्फ चमकू' (1985),

10. राजेन्द्र मोहन भटनागरः 'महाप्रयाण' (1982), 'सारथिपुत्र' (1983),
11. देवेन्द्र दीपकः 'भूगोल का राजा खगोल का राजा' (1987),
13. श्रवण कुमार गोस्वामी, 'सोमा' (1989), 'कल बिल्ली की बारी' (1989), 'समय' (1989),
14. सुभाष पंतः 'चिड़िया की आंख' (1982), अज्ञात, 'धनुषयज्ञ' (1981), 'मैं नारी तुम पुरुष' (1983), 'इक्कीसवीं सदी' (1984),
15. किरनचन्द्र शर्माः 'सावधान पुरुरवा' (1982),
16. राजेश जैनः 'वायरस' (1994), विषवंश (1999)
17. विश्वेश्वरः 'बहिष्कार' (1981)
18. राजेश जोशीः 'जादू का जंगल' (1982),
19. असगर वजाहतः 'वीरगति' (1983), 'इन्ना की आवाज' (1984),
20. सुरेशचन्द शुक्लः 'समवेत' (1981), 'अक्षयवट' (1983)
21. राजेन्द्र कुमार शर्माः 'एक राग दो स्वर' (1982), नाग बोडस, 'खूबसूरत बहू' (1998), 'वसीयत' (1998), 'दलित' (1998), 'तोता झूठ नहीं बोलता' (1998), 'पढ़ो फारसी बेचो तेल' (2002)
22. अब्दुल बिस्मिल्लाह 'दो पैसे की जन्नत' (1994)
23. जि.जि.हरिजितः 'उत्तर मृच्छकटिकम्' (1982), 'महाराज नंदकुमार' (1983), 'एक नाटकः मूक नाटक' (1985), 'एक और विक्रमोर्वशीय' (1987), 'विद्रोह' (2002)
24. अस्तानंद सदासिंहः 'थूक दिया भविष्य पर' (1981),
25. प्रताप सहगलः 'अन्वेषक' (1992), 'और नहीं कोई अंत' (1999) आदि।

इसी कालावधि में नाटककार के रूप में मृणाल पांडे भी उभर कर सामने आई हैं। उनके प्रकाशित नाटक "मौजूदा हालात देखते हुए' (1979), जो राम रचि राखा' (1981), 'आदमी जो मछुआरा नहीं था' (1985), 'काजर की कोठरी' (1985), 'चोर निकल कर भागा', 'मुक्तिकथा' इनमें 'काजर की कोठरी' देवकीनंदन खत्री के इसी नाम के उपन्यास का नाट्यरूपांतर है।

विगत पच्चीस वर्षों के हिन्दी–नाटकों के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि हिन्दी में नाटक बराबर लिखे जा रहे हैं और उनमें से कुछ मंचित भी होते हैं, लेकिन कभी–कभी समकालीन हिन्दी–नाटककार न नाट्यवस्तु की विविधता और सार्थकता के प्रति उदासीन है और न ही शिल्पगत विविधता और प्रयोगशीलता के प्रति।

(ग) एकांकी नाटक

हिंदी एकांकी के उद्भव और विकास को प्रमुख रूप से तीन भागों में बांट सकते

हैं–

1. भारतेंदु युग 2.द्विवेदी युग 3.आधुनिक युग। भारतेंदु युग सचमुच मे हिंदी एकांकी का युग था। इस युग में ही प्रहसन एंकाकी का उदय हुआ। भारतेंदु का 'भारत–दुर्दशा' तथा 'भारत जननी','राधाचरण गोस्वमी का 'भारतमाता'और राधाकृष्णदास का 'महारनी पद्मिनी' देशप्रेम से संबधित रूपक हैं।श्री शरण का 'बाल–विवाह', प्रतापनारायण मिश्र का कलिकौतुक रूपक और किशोरीलाल गोस्वामी का 'चौपट चपेट' सामाजिक रूपक हैं।देवकीनंदन त्रिपाठी और बालकृष्ण भट्ट आदि लेखकों ने हास्य–व्यंग्य से भरपूर एकांकियों की रचनाएं कीं
2. द्विवेदी युग–भारतेंदु युग के बाद द्विवेदी युग का भी हिंदी एकांकी की देन की दृष्टि से महत्व है। इस युग में हरिशंकर शर्मा का 'बुढ़ऊ व्याह','जे.पी.श्रीवास्तव का 'गड़बड़झाला','चंडीप्रसाद'हृदयेश' का 'विनाशलीला' मुंशी प्रेमचंद का 'प्रेम की वेदी',बद्रीनाथ भट्ट का 'विवाह विज्ञापन' आदि सामाजिक एकांकी हैं। इसी युग में जयशंकर प्रसाद ने 'एकघूंट' एकांकी लिखा। डा. नगेन्द्र के अनुसार यह हिंदी साहित्य की पहली एकांकी है।
3. आधुनिक काल–आधुनिक काल में एकांकी की बाढ़ सी दिखाई देती है। इस युग के एकांकीकारों का विवरण नीचे दिया जावेगा।

वर्तमान कालावधि में एकांकीकार के रूप में उन्हीं के नाम गूंजते रहे हैं, जो पहले ही एकांकीकार रूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं, चाहे वे सक्रिय हों या न हों। घूम फिर कर उन्हीं के नए–पुराने एकांकियों व रेडियो नाटकों आदि के संग्रह प्रकाशित होते रहते हैं और उन्हीं के एकांकी पाठ्यक्रमों में निर्धारित होते रहते हैं। इसीलिए वर्तमान कालावधि में एकांकी, रेडियो नाटकों के ज्यादा संकलन प्रकाशित नहीं हुए हैं। इस कालावधि में इनके कुछ प्रमुख प्रकाशित संग्रह इस प्रकार हैं–

1. विष्णु प्रभाकर–कृति 'मैं तुम्हें क्षमा नहीं करूँगा' (1986), 'समकालीन लघु नाटक'(संपादित–1986)
2. कमलेश्वर –कृति 'लहर लौट गई' (1985)
3. राधाकृष्ण सहाय–कृति 'हे मातृभूमि' (1988)
4. वीरेन्द्र मिश्र–कृति 'आवाज आ रही है' (1984)
5. चिरंजीत–कृति 'सात युवमंच नाटक' (1986)
6. भारतभूषण अग्रवाल–कृति 'पलायन' (1982), 'युग–युग या पाँच मिनट' (1983),
7. सिद्धनाथ कुमार–कृति 'रोशनी शेष है' (1998),

8. गिरीश बख्शी–कृति 'खिडकी बंद कर दो' (1986), शंकर 9.पुणतांबेकर–कृति 'भूख हड़ताल' (1986),
10. तेजपाल चौधरी–कृति 'वेटिंग रूम' (1985), आनंदम, 'आखिरी पन्ने' (1981)
11. अमरनाथ चौधरी–कृति 'अब्ज': 'इंन्द्रधनुष' (1984)
12. वसंतकुमार परिहार–कृति 'इंडिया गेट का मुकदमा' (2001) आदि ।

इस सूची से ही स्पष्ट है कि एकांकी अब 'अभावे शालिचूर्ण' का ही संतोष देते हैं। इस कालावधि के एकांकियों में वस्तुगत वैविध्य तो हैं, किन्तु शिल्पगत वैविध्य नगण्य है; और विष्णु प्रभाकर एक सफल एकांकीकार के रूप में स्थापित हुए। 'कहानी के रंगमंच' ने कहानियों की नाटकीयता को पहचान कर उन्हें मंच पर प्रस्तुत किया, लेकिन वे नाटक नहीं बनी; रहीं कहानियाँ ही हो सकती।

एकांकी नाटक और नाटककारः–

किन्तु इसके बाद उसे स्वतंत्र साहित्यिक विधा के रूप में स्वीकार कर लिया गया। यह उल्लेखनीय है कि भुवनेश्वर, रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, अश्क, सेठ गोविन्ददास, जगदीशचन्द्र माथुर आदि एकांकी–लेखन का समारंभ प्रायः 1935–36 के लगभग कर चुके थे, पर इनमें से अधिकांश के मुख्य एकांकी–संकलन 1940 के बाद ही प्रकाशित हुए।

रामकुमार वर्मा के अधिकांश एकांकी–संग्रह–'रेशमी टाई,' 'चारुमित्रा', 'विभूति,' 'सप्तकिरण', 'रूपरंग', 'रजतरश्मि', 'दीपदान', 'ऋतुराज', 'रिमझिम', 'इंन्द्रधनुष', 'पांचजन्य', 'कौमुदी–महोत्सव,' 'मयूरपंख,' 'जुही के फूल' आदि 1940 के बाद के प्रकाशन हैं।

उदयशंकर भट्ट ने 1938 के लगभग एकांकी–लेखन आरंभ किया था, यों उनका प्रथम एकांकी–संग्रह 'अभिनव एकांकी' 1940 में प्रकाशित हुआ था। हिन्दी–एकांकीकारों में उपेन्द्रनाथ अश्क का विशिष्ट स्थान है।

सेठ गोविन्ददास कर्मठ राजनीतिक कार्यकर्त्ता और सरस्वती के आराधक थे। 'सप्तरश्मि', 'एकादशी', 'पंचभूत', 'चतुष्पथ' आदि उनके एकांकी–संग्रह हैं। हरिकृष्ण 'प्रेमी'

जगदीशचन्द्र माथुर के दो एकांकी–संग्रहों– 'भोर का तारा' और 'ओ मेरे सपने' में जीवन की नवीन समस्याओं को रूपायित किया गया है। पुराने खेमे के एकांकीकारों में लक्ष्मीनारायण मिश्र प्रभावशाली एकांकियों की रचना की है।

विष्णु प्रभाकर ने आदर्शवाद, सांस्कृतिक चेतना, नैतिक मूल्यों आधारित और लक्ष्मीनारायण लाल, धर्मवीर भारती (नदी प्यासी थी), मोहन राकेश (अंडे के छिलके), भारतभूषण अग्रवाल, विनोद रस्तोगी, विमला लूथरा, रेवतीसरन शर्मा, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर (उमर कैद), चिरंजीत, सिद्धनाथ कुमार आदि ने एकांकियों और रेडियो एकांकियों की रचना की है।

(क) अद्यतन हिन्दी एकांकी नाटक

1981 से अब तक एकांकी नाटक के परंपरागत रूप का ह्रास हुआ है और उसके अर्थ का विस्तार हुआ है। स्वाधीनता के बाद जो सांस्कृतिक व साहित्यिक उत्साह और ऊर्जा का विस्फोट हुआ था, जिसके तहत प्रायः प्रत्येक महाविद्यालय और विश्वविद्यालय में वार्षिक सांस्कृतिक व साहित्यिक आयोजन होते थे, उनमें एकांकी नाटकों का मंचन भी अनिवार्य जैसा था। इसके लिए एकांकी नाटक लिखे भी जाते थे और मंचित भी होते थे। धीरे–धीरे इस प्रकार के आयोजन कम होते गए और एकांकी नाटक मंचन के बजाय पढ़ने–पढ़ाने की चीज बन गए।

बर्तमान कालावधि में एकांकीकार के रूप में उन्हीं के नाम गूंजते रहे हैं, जो पहले ही एकांकीकार के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं, इस कालावधि में इनके कुछ प्रमुख प्रकाशित संग्रह इस प्रकार हैं–

1. विष्णु प्रभाकर–कृति 'मैं तुम्हें क्षमा नहीं करूँगा' (1986), 'समकालीन लघु नाटक' (संपादित–1986)
2. कमलेश्वर–कृति 'लहर लौट गई' (1985)
3. राधाकृष्ण सहाय –कृति 'मैं मातृभूमि' (1988)
4. वीरेन्द्र मिश्र –कृति 'आवाज आ रही है' (1984)
5. चिरंजीत –कृति 'सात युवमंच नाटक' (1986)
6. भारतभूषण अग्रवाल –कृति 'पलायन' (1982), 'युग–युग या पांच मिनट' (1983)
7. सिद्धनाथ कुमार,–कृति 'रोशनी शेष है' (1986)
8. तेजपाल चौधरी–कृति 'वेटिंग रूम' (1985), आनंदम, 'आखिरी पन्ने' (1981)
9. अमरनाथ चौधरी–कृति 'अब्ज', 'इन्द्रधनुष' (1984),
10. बसंतकुमार परिहार–कृति 'इंडिया गेट का मुकदमा' (2001) आदि।

इस सूची से ही स्पष्ट है कि एकांकी अब 'अभावे शालिचूर्ण' का ही संतोष देते हैं। इस कालावधि के एकांकियों में वस्तुगत वैविध्य तो है, किन्तु शिल्पगत वैविध्य नहीं है। एकांकी मे तत्वों का भी यहां विचार कर लिया जाय। सामान्यतः एकांकी के नौ तत्व माने गये हैं। (1)कथावस्तु (2)पात्र (3)संवाद (4)वातावरण (5)भाषाशैली (6)उद्देश्य (7) अन्तर्द्वन्द (8)संकलनत्रय (9) अभिनेयता का परिगणन

1.7 इकाई सारांश / याद रखने की बातें

1. उपान्यास विधा को स्थूल रूप से तीन दशकों में बाँटा जा सकता है– 1950 तक के उपन्यास, 1950 से 1960 तक के उपन्यास और साठोत्तरी उपन्यास। पहला दशक

मुख्यतः फ्रायड और मार्क्स की विचारधारा से प्रभावित है, दूसरा, प्रयोगात्मक विशेषताओं से और तीसरा, आधुनिकतावादी विचारधारा से।

2. अज्ञेय–कृत 'शेखर, एक जीवनी' (1941–1944) के प्रकाशन के साथ हिन्दी–उपन्यास की दिशा में एक नया मोड़ आया है।

3. जैनेन्द्र और अज्ञेय फ्रायड के मनोविज्ञान से प्रभावित हैं, तो इलाचन्द्र जोशी उसके मनोविश्लेषण से।

4. संन्यासी के अतिरिक्त उनके 'पर्दे की रानी' (1941), 'प्रेत और छाया', 'निर्वासित' (1946), 'मुक्तिपथ' (1950), 'जिप्सी', 'जहाज की पंछी' (1955), 'ऋतुचक्र', 'भूत का भविष्य' (1973) आदि उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। जोशी जी के उपन्यासों की विकास–यात्रा में 'मुक्तिपथ' एक मोड़ की सूचना देता है।

5. यशपाल की परंपरा के उपन्यासकारों में रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' का नाम उल्लेखनीय है। 'चढ़ती धूप' (1945), 'नई इमारत' (1946), 'उल्का' (1947) और 'मरुप्रदीप' (1951) उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं।

6. भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों को प्रेमचन्द की परंपरा, जो 1950 तक चलती रही, के अंतर्गत रखा जा सकता है। आलोच्य अवधि में प्रकाशित उनके उपन्यासों में 'टेढ़े–मेढ़े रास्ते', 'आखिरी दांव', 'भूलें–बिसरे चित्र', 'सामर्थ्य और सीमा', 'रेखा' और 'सबहिं नचावत राम गुसाईं' मुख्य हैं।

7. छायावादोत्तर काल में रचित उपेन्द्रनाथ अश्क के उपन्यासों में 'गिरती दीवारें' (1947) सर्वोत्तम है। 'गिरती दीवारें' की भांति 'गर्म राख' (1952) भी अश्क का सफल यथार्थवादी उपन्यास है। 'बड़ी–बड़ी आंखें' (1954) देखने में रोमानी लगता है 'पत्थर–अल–पत्थर' (1957) में यदि लेखक टेवलॉग के चक्कर में न पड़ता, तो मानवीय आंतरिकता को उभार पाने की संभावनाएँ उसमें थीं।

8. अमृतलाल नागर के 'नवाबी मसनद', 'सेठ बांकेमल', 'महाकाल', 'बूंद और समुद्र', 'अमृत और विष', 'शतरंज के मोहरे', 'सुहाग के नूपुर', 'एकदा नैमिषारण्ये' और 'मानस का हंस' प्रकाशित उपन्यास हैं।

9. वृंदावनलाल वर्मा के प्रारंभिक उपन्यास 'विराटा की पद्मिनी', 'झांसी की रानी', 'कचनार', 'मृगनयनी', 'अहिल्याबाई', 'माधोजी', 'मृगनयनी' मुख्य हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारुचन्द्रलेख' और 'पुनर्नवा' के अतिरिक्त उनका एक अन्य उपन्यास 'अनामदास का पोथा' प्रकाशित हुआ है।

10. 'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' राहुल जी के प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यास हैं।

11. 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', 'नई पौध', 'बाबा बटेसरनाथ', दुखमोचन', 'वरुण के

बेटे' आदि उनके प्रकाशित उपन्यास हैं।

12. उदयशंकर भट्ट का 'सागर, लहरें और मनुष्य' (1956) भी इस धारा की प्रसिद्ध कृति है।

13. रामदरश मिश्र–कृत 'पानी की प्राचीर', 'जल टूटता हुआ' तथा सूखता हुआ तालाब' और हिमांशु श्रीवास्तव का 'रथ के पहिए' भी अपने–अपने ढंग से प्रभावशाली ग्रामांचलीय उपन्यास हैं।

14. मनोविज्ञान को प्रमुखता देने वाले इधर के उपन्यासकारों में धर्मवीर भारती और देवराज मुख्य हैं। धर्मवीर भारती 'पथ की खोज', 'बाहर–भीतर', रोड़े और पत्थर', 'अजय की डायरी' और 'मैं, वे और आप' देवराज के उपन्यास हैं।

15. प्रयोगशील उपन्यासों में प्रभाकर माचवे, धर्मवीर भारती, शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', गिरिधर गोपाल, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना आदि के उपन्यास हैं।

16. हिन्दी के समकलीन–उपन्यास साहित्य ने पिछले दिनों अपरिचित और अमूर्त व्यापक से बच कर भोगे हुए जीवन–यथार्थ की निजी दुनिया के मुहावरे में सृजित किया है।

17. 'स्व' के संबंधों की प्रासंगिकता–अप्रसंगिकता दिखाने के लिए इन स्व–केन्द्रित उपन्यासों में नर–नारी संबंधों की दैहिक–भौतिक संबंधों की छानबीन बहुत बारीकी से की जाती है।

18. इस कालावधि में सक्रिय अगली पीढ़ी उन उपन्यासकारों की है, जो बीसवीं शताब्दी के छठे दशक में 'नई कहानी', 'आंचलिक कहानी', 'ग्रामकथा', नगरकथा' आदि कथांदोलनों से जुड़कर या उनसे बिना जुड़े उपन्यास–लेखन के क्षेत्र में अवतरित हुए हैं।

19. इस पीढ़ी के उपन्यासकारों में कुछ ऐसे हैं, जिन्हें आत्मकेन्द्रित कहा जा सकता है। ये प्रायः अंतर्मुखी प्रवृत्ति के उपन्यासकार हैं इस पीढ़ी के उपन्यासकारों में कुछ महत्वपूर्ण ऐसे हैं, जो आत्मकेन्द्रित नहीं हैं। ये प्रायः बहिर्मुखी प्रवृत्ति के उपन्यासकार हैं।

20. इस दौर के उपन्यासकारों में तीसरा वर्ग उन उपन्यासकारों का है, जिनका शिल्प–कौशल हमारा ध्यान सबसे पहले आकर्षित करता है।

21. हम कह सकते हैं कि ऐतिहासिक घटनाओं की तरह ही पौराणिक घटनाओं की औपन्यासिक पुनर्व्याख्या भी वर्तमान से जुड़कर ही सार्थकता प्राप्त करती है।

22. कविता और कहानी छायावादोत्तर काल की केन्द्रीय विधाएँ रही हैं। जिनको लेकर बहुत–से साहित्यिक आंदोलन हुए, गोष्ठियाँ हुईं और पत्र–पत्रिकाओं के विशेषांक

निकले।

23. आलोच्य अवधि के कहानीकारों ने एक ओर पुराने मूल्यों के प्रति रोमानी दृष्टि की अभिव्यक्ति की, तो दूसरी ओर युगीन संक्रमण के अधिकाधिक दबाव का अनुभव भी किया।

24. मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, शिवानी, उषा प्रियंवदा, रजनी पन्निकर,विजय चौहान आदि कहानी–लेखिकाओं का अपना संसार है, जो किसी सीमा तक पुरुषों के संसार से अलग है।

25. निर्मल वर्मा ने हिन्दी–कहानी की परंपरा को छोड़कर अपने को पाश्चात्य परंपरा से जोड़ा है।

26. श्रीकांत वर्मा की कहानियों को ब्रेन ट्यूमर की कहानियाँ कहा जा सकता है, उनका कथ्य प्रायः प्रेम के चारों ओर चक्कर लगाता है।

27. रचनात्मक तनावों का यह दौर 'समानांतर कहानी', 'जन–कहानी', 'जनवादी कहानी', चोटधर्मी कहानी', में परस्पर टकराव से भरा रहा। इस दौर का नया कहानीकार 'देश' और 'काल' में फेलने के साथ 'गहराई' में उतर पड़ा।

28. आठवें दशक की कहानियों ने संवाद–तत्व में नाटकीयता, प्रतीकात्मकता और रूप की स्वच्छता उत्पन्न की, जिसमें इनका 'कथ्य' काफी दिलचस्प हो उठा।

29. नई कहानी' के दौर में ही तीन कहानी लेखिकाएँ उभरकर सामने आई। कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी और उषा प्रियंवदा।

30. बीसवीं शताब्दी के सातवें दशक (1964) में डॉ. महीप सिंह के नेतृत्व में 'सचेतन कहानी' का आंदोलन प्रवर्तित हुआ।

31. सचेतन कहानी–आंदोलन के साथ जुड़ने वाले कुछ कहानीकार वस्तुतः 'अकहानी' की प्रवृत्ति के कहानीकार हैं

32. उपेन्द्रनाथ अश्क पहले ऐसे नाटककार हैं, जिन्होंने हिन्दी–नाटक को रोमांस के कठघरे से निकाल कर किसी सीमा तक आधुनिक भावबोध के साथ जोड़ा।

33. मेहन राकेश–कृत 'आषाढ़ का एक दिन' (1958), 'लहरों के राजहंस' (1963), और 'आधे–अधूरे' (1969) गहन मानवीय ट्रेजेडी को नाटकीय स्थितियों में रचनात्मक ढंग से आंकने वाले नाटक हैं।

34. आधे–अधूरे' राकेश का तीसरा नाटक है, जो उनकी विकास–यात्रा की अगली मंजिल का सूचक है।

35. हिन्दी–साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटक का विकास मंद गति से हुआ है,

इसमें संदेह नहीं है।

36. प्रेमचन्द्र, यशपाल, श्रीकांत वर्मा की कहानियों, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर, भवानीप्रसाद मिश्र आदि ख्यातिलब्ध कवियों की कविताओं के नाटयरूपांतर और पाठ बड़ी सफलता से किए गए हैं। मन्नु भंडारी के 'महाभोज' का नाट्यरूपांतर बेहद जनप्रिय हुआ।

37. हिन्दी–नाटक का सातवां–आठवां दशक प्रयोगधर्मी नाट्यपरंपरा की दृष्टि से पूरे हिन्दी–नाटक के विकास में एक नया अध्याय जोड़ता है।

38. विगत पच्चीस वर्षों के हिन्दी–नाटकों के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि हिन्दी में नाटक बराबर लिखे जा रहे हैं और उनमें से कुछ मंचित भी होते हैं,

39. विष्णु प्रभाकर ने आदर्शवाद, सांस्कृतिक चेतना, नैतिक मूल्यों और लक्ष्मीनारायण लाल, धर्मवीर भारती (नदी प्यासी थी), मोहन राकेश (अंडे के छिलके), भारतभूषण अग्रवाल, विनोद रस्तोगी, विमला लूथरा, रेवतीसरन शर्मा, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर (उमर कैद), चिरंजीत, सिद्धनाथ कुमार आदि ने एकांकियों और रेडियो एकांकियों की रचना की है।

40. 1981 से अबतक के कालावधि के एकांकियों में वस्तुगत वैविध्य तो है, किन्तु शिल्पगत वैविध्य नहीं है।

1.8 अपनी प्रगति की जांच

निम्न प्रश्नों के उत्तर दें–

1. हिंदी गद्य का विकास बताइये
2. हिंदी कहानी के उद्‌भव और विकास पर एक निबंध लिखे।
3. आधुनिक कहानीकारों में किन दृष्टियों के विकास को पाते हैं,विंदुवार बताएं।
4. कहानी के किन–किन तत्वों आंधार पर कहानी का विश्लेषण एवं मूल्यांकन कर सकते हैं।
5. प्रेमचंद के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए उनकी कथावस्तु पर अपने विचार व्यक्त करें।
6. कथा साहित्य में पात्रों के चरित्र–चित्रण एवं संवाद हमें कितना प्रभावित करते है,मूल्यांकर करें।
7. आधुनि काल के नाटको पर एक आलेख लिखें
8. नाटक केउद्‌भव और विकास यात्रा को समझाइये
9. सामजिक नाटको का परिचय दे

10. सांस्कृतिक और साहित्यिक नाटकों की विशेषताए बताये।
11. राष्ट्रवादी नाटककारों की विशषता बताते हुए आधुनिककाल के किसी एक ऐसे नाटककार का परिचय दें।
12. नाटक में संवादों की उपादेयता बताइये।
13. एकांकी नाटाकों का परिचय दीजिए।
14. नाटक और एंकाकी में अन्तर बताइये।
15. उपन्यास विधा का आधुनिक काल में किन–किन रूपों मे विकास हुआ,समझाये।
16. आधुनिक काल में, महिला उपन्यास कारों की भूमिका सिद्ध कीजिए।
16. साठोत्तरी उपन्यासों पर रोमानियत और व्यक्तिगत संवेदनाओं ने अपना कहां तक स्थान बनाया है संक्षिप्त विचार दें
17. एतिहासिक उपन्यासों के बारे में आप क्या समझते हैं?

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर दीजिए–

1. 'दामुल का कैदी' कहानी किस लेखक ही है ?
   (क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) प्रेमचंद
2. 'पिंजरे की उड़ान' कहानी किस लेखक ही है ?
   (क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) यशपाल
3. 'सतमी के बच्चे' कहानी किस लेखक ही है ?
   (क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) राहुल सांकृत्यायन
4. 'जुदाई के शाम का गीत' कहानी किस लेखक ही है ?
   (क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) अश्क
5. 'मैकू' कहानी किस लेखक ही है ?
   (क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) प्रेमचंद
6. भक्रील' कहानी किस लेखक ही है ?
   (क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) राहुल सांकृत्यायन
7. 'सेवासदन' किसका उपन्यास है
   (क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) प्रेमचंद
8. 'निर्मला' किसका उपन्यास है
   (क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) प्रेमचंद

9. 'अप्सरा' किसका उपन्यास है
(क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) निराला

10. 'परख' किसका उपन्यास है
(क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) प्रेमचंद

11. 'तीनवर्ष' किसका उपन्यास है
(क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) भगवतीचरणवर्मा

12. 'छूठासच' किसका उपन्यास है
(क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) भगवतीचरणवर्मा

13. 'शेखर एक जीवनी' किसका उपन्यास है
(क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) अज्ञेय

14. 'जहाज का पंक्षी' किसका उपन्यास है
(क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) इलाचंद जोशी

15. 'सबहि नचावत राम गुसाई' किसका उपन्यास है
(क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) भगवतीचरणवर्मा

16. 'मैला आंचल' किसका उपन्यास है
(क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) फणीश्वरनाथ 'रेणु'

17. 'वनपाखी सुनो' किसका उपन्यास है
(क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) नरेश मेहता

18. 'इत्यलम्' किसका उपन्यास है
(क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) अज्ञेय

19. 'एकदा नैमिषारण्ये' किसका उपन्यास है
(क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) अमृतलाल नागर

20. 'मृगनयनी' किसका उपन्यास है
(क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) वृंदावनलाल वर्मा

21. 'वाणभट्ट की आत्मकथा' किसका उपन्यास है
(क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) हजारी प्रसाद द्विवेदी

22. 'परती परिकथा' किसका उपन्यास है
(क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) रेणु

23. 'नदी के द्वीप' किसका उपन्यास है
(क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) अज्ञेय

24. 'सागर,लहरे और मनुष्य' किसका उपन्यास है
(क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) उदयशंकर भट्ट

25 'बलचनमा' किसका उपन्यास है
(क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) नागार्जुन

26. 'शतरंज के मोहने' किसका उपन्यास है
(क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) अमृतलाल नागर

27. 'वैशली की नगर वधू' किसका उपन्यास है
(क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) चतुरसेनशास्त्री

28. 'शेखर एक जीवनी' का प्रकाशन किस वर्ष हुआ ?
(क) 1941 ई. (ख) 1950 ई. (ग) 1946 ई.

29. 'नदी के द्वीप' का प्रकाशन किस वर्ष हुआ ?
(क) 1941 ई. (ख) 1952 ई. (ग) 1946 ई.

30. 'मैला आंचल' का प्रकाशन किस वर्ष हुआ ?
(क) 1941 ई. (ख) 1954 ई. (ग) 1946 ई.

31. ''राग दरवारी' किसका उपन्यास है
(क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) श्रीलालशुक्ल

32. धर्मवीर भारती का उपन्यास'गुनाहों का देवता' किस प्रकार का उपन्यास है?
(क) सामाजिक (ख) आंचलिक (ग) मनोवैज्ञानिक

33. 'सूरज का सातवां घोड़ा' किस प्रकार का उपन्यास है?
(क) सामाजिक (ख) आंचलिक (ग)प्रयोगशील

34. 'आरपार की माला' किसका कहानी संग्रह है?
(क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) शिवप्रसाद सिंह

36. 'ठुमरी' किसका कहानी संग्रह है?
(क) जैनेन्द्र (ख) यशपाल (ग) रेणु

37. निम्नलिखित नाटकों के रचयिताओं के नाम बताइये–

1. 'कोणार्क'

(क) धर्मवीर भारती (ख) मोहन राकेश (ग) जगदीशचंद्र माथुर

2. 'लहरों के राजहंस'

(क) धर्मवीर भारती (ख) मोहन राकेश (ग) मोहन राकेश

3. 'प्रतिशोध'

(क) धर्मवीर भारती (ख) मोहन राकेश (ग) हरिकृष्ण प्रेमी

4. 'शकविजय'

(क) धर्मवीर भारती (ख) मोहन राकेश (ग) उदयशंकर भट्ट

5. 'राखी की लाज'

(क) धर्मवीर भारती (ख) मोहन राकेश (ग) वृंदावन लाल वर्मा

6. 'शंकुक की हत्या'

(क) धर्मवीर भारती (ख) मोहन राकेश (ग) नरेन्द्र कोहली

निम्नलिखत गीत नाट्यों के रचनाकार हैं–

7. 'अंधायुग'

(क) धर्मवीर भारती (ख) मोहन राकेश (ग) जगदीशचंद्र माथुर

8. 'एक कंठ विषपायी'

(क) धर्मवीर भारती (ख) मोहन राकेश (ग) दुष्यंत कुमार त्यागी

9. 'आधे–अधूरे'

(क) धर्मवीर भारती (ख) मोहन राकेश (ग) मोहन राकेश

10. 'शिल्पी'

(क) धर्मवीर भारती (ख) मोहन राकेश (ग) पंत

निम्नलिखित एकांकियों के रचनाकार हैं ?

1. 'बादल की मृत्यु'

(क) धर्मवीर भारती (ख) मोहन राकेश (ग) रामकुमार वर्मा

2. 'सबसे बड़ा आदमी'

(क) धर्मवीर भास्ती (ख) मोहन राकेश (ग) भगवती चरण वर्मा

3. 'आदमी का जहर'

(क) धर्मवीर भारती (ख) मोहन राकेश (ग) लक्ष्मीकांत वर्मा

1. 'जोक' 'बादल की मृत्यु'

(क) धर्मवीर भारती (ख) मोहन राकेश (ग) अश्क

1.8 वस्तुनि ठ प्रश्नोत्तर–

1. 'दामुल का कैदी' कहानी किस लेखक ही है ?
   (ग) प्रेमचंद
2. 'पिंजरे की उड़ान' कहानी किस लेखक ही है ?
   (ग) यशपाल
3. 'सतमी के बच्चे' कहानी किस लेखक ही है ?
   (ग) राहुल सांकृत्यायन
4. 'जुदाई के शाम का गीत' कहानी किस लेखक ही है ?
   (ग) अश्क
5. 'मैकू' कहानी किस लेखक ही है ?
   (ग) प्रेमचंद
6. 'मक्रील' कहानी किस लेखक ही है ?
   (ख) यशपाल
7. 'सेवासदन' किसका उपन्यास है
   (ग) प्रेमचंद
8. 'निर्मला' किसका उपन्यास है
   (ग) प्रेमचंद
9. 'अप्सरा' किसका उपन्यास है
   (ग) निराला
10. परख' किसका उपन्यास है
    (क) जैनेन्द्र
11. 'तीनवर्ष' किसका उपन्यास है
    (ग) भगवतीचरणवर्मा
12. 'छूठासच' किसका उपन्यास है
    (ख) यशपाल
13. 'शेखर एक जीवनी' किसका उपन्यास है
    (ग) अज्ञेय

14. 'जहाज का पंक्षी' किसका उपन्यास है
(ग) इलाचंद जोशी
15. 'सबहि नचावत राम गुसाई' किसका उपन्यास है
(ग) भगवतीचरणवर्मा
16. 'मैला आंचल' किसका उपन्यास है
(ग) फणीश्वरनाथ 'रेणु'
17. 'वनपाखी सुनो' किसका उपन्यास है
(ग) नरेश मेहता
18. 'इत्यलम्' किसका उपन्यास है
(ग) अज्ञेय
19. 'एकदा नैमिषारण्ये' किसका उपन्यास है
(ग) अमृतलाल नागर
20. 'मृगनयनी' किसका उपन्यास है
(ग) वृंदावनलाल वर्मा
21. 'वाणभट्ट की आत्मकथा' किसका उपन्यास है
(ग) हजारी प्रसाद द्विवेदी
22. 'परती परिकथा' किसका उपन्यास है
(ग) रेणु
23. 'नदी के द्वीप' किसका उपन्यास है
(ग) अज्ञेय
24. 'सागर,लहरे और मनुष्य' किसका उपन्यास है
(ग) उदयशंकर भट्ट
25 'बलचनमा' किसका उपन्यास है
(ग) नागार्जुन
26. 'शतरंज के मोहने' किसका उपन्यास है
(ग) अमृतलाल नागर
27. 'वैशली की नगर वधू' किसका उपन्यास है
(ग) चतुरसेनशास्त्री

28. 'शेखर एक जीवनी' का प्रकाशन किस वर्ष हुआ ?

(क) 1941 ई.

29. 'नदी के द्वीप' का प्रकाशन किस वर्ष हुआ ?

(ख) 1952 ई.

30. 'मैला आंचल' का प्रकाशन किस वर्ष हुआ ?

(ख) 1954 ई.

31. ''राग दरबारी' किसका उपन्यास है

(ग) श्रीलालशुक्ल

32. धर्मवीर भारती का उपन्यास'गुनाहों का देवता' किस प्रकार का उपन्यास है?

(ग)मनोवैज्ञानिक

33. 'सूरज का सातवां घोड़ा' किस प्रकार का उपन्यास है?

(ग)प्रयोगशील

34. 'आरपार की माला' किसका कहानी संग्रह है?

(ग) शिवप्रसाद सिंह

36. 'ठुमरी' किसका कहानी संग्रह है?

(ग) रेणु

37. निम्नलिखित नाटकों के रचयिताओं के नाम बताइये–

1 'कोणार्क'

(ग) जगदीशचंद्र माथुर

2. 'लहरों के राजहंस'

(ग) मोहन राकेश

3. 'प्रतिशोध'

(ग) हरिकृष्ण प्रेमी

4. 'शकविजय'

(ग) उदयशंकर भट्ट

5. 'राखी की लाज'

(ग) वृंदावन लाल वर्मा

6. 'शंकुक की हत्या'

(ग) नरेन्द्र कोहली

निम्नलिखित गीत नाट्यों के रचनाकार हैं–

7. 'अंधायुग'

(क) धर्मवीर भारती

8. 'एक कंठ विषपायी'

(ग) दुष्यंत कुमार त्यागी

9. 'आधे–अधूरे'

(ग) मोहन राकेश

10 'शिल्पी'

(ग) पंत

निम्नलिखित एकांकियों के रचनाकार हैं ?

1. 'बादल की मृत्यु'

(ग) रामकुमार वर्मा

2. 'सबसे बड़ा आदमी'

(ग) भगवती चरण वर्मा

4. 'आदमी का जहर'

(ग) लक्ष्मीकांत वर्मा

5. 'जोक' 'बादल की मृत्यु'

(ग) अश्क

1.9 चर्चा तथा स्पष्टीकरण के बिन्द

छात्र अध्ययन के आधार पर स्वयं तय कर यह सुनिश्चित करें कि उनके अध्ययन में कहा तक विकास हुआ ?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

1.10 आगे की पढाई

1. नाटक की परख–एस.पी.खत्री
2. एकांकी कला –रामकुमारवर्मा
3. हिंदी नाटक का उद्भव और विकास –डा दशरथ ओझा
4 .हिंदी नाट्यसाहित्य का इतिहास–सोमनाथ गुप्त
5. हिंदी साहित्य का इतिहास –रामचंद्रशुक्ल
6. हिदी साहित्य:एक आधुनिक परिद श्य:सच्चिदानंद वात्स्यायन

इकाई –दो

हिंदी गद्य की प्रमुखविधाओं – हिंदी गद्य की प्रमुखविधाओं' नाटक,निबंध संस्मरण, रेखाचित्र, जीवनी, आत्मकथा, रिर्पोतार्ज आदि

इकाई संरचना

2.1 परिचय
2.2 उद्देश्य
2.3 गद्य साहित्य एक दृष्टिः अद्यतन गद्य साहित्य
2.4 निबंध परिचय
2.5 जीवनी साहित्य
2.6 आत्मकथा
2.7 स्मरण और रेखाचित्र
2.8 रिपोतार्ज
2.9 इकाई सारांश / याद रखने की बातें
2.10 अपनी प्रगति की जांच
2.11 चर्चा और स्पष्टीकरण के बिन्दु
2.12 आगे की पढाई

2.1 परिचय

छायावादोत्तर काल का साहित्य हमारे सामने अपने विविध रूपों में आता है। जहां एक ओर काव्य के विविध रूप अपने नए कलेवर,रूप,शिल्प ,विषय वस्तु के साथ सामने आते हैं उसी तरह गद्य ने भी अपनी परंपरा से थोडा सा अपना रूप परिवर्तन कर नया कलेवर ले कर युग के साथ आता है। कथा साहित्य हो या नाटक अपने को बदलती पीढ़ी के साथ जोड़ते हैं और उसके कलेवर में लघुता आती है तो कहीं-वह अपने कथ्य के आधार पर पाठक को प्रभावित करती है। जहां प्रेमचंद जैसे रचनाकारों ने अपने प्रभाव से हर युग को प्रभावित किया है वही आज का रचनाकर पुरानी वस्तु को युगानुकूल बनाकर पाठकों कों दे रहा है। इसी तरह विगत वर्षो में हिंदी नाटक की प्रवृतियां इस बात की प्रमाण है कि हिंदी नाटक में बड़ी सक्रियता रही है।वस्तु और शिल्प के स्तर पर बड़ी विविधता आई है। इस

विविधता का कारण कइ पीढ़ियों की युगपत सक्रियता है। जब पीढ़ी बदलती हैतो उसकी संवेदना,उसकी जीवनदृष्टि में भी मौलिक और सूक्ष्म परिवर्तन होता है,क्योंकि संवेदना और दृष्टि के निर्माण में जहां व्यक्ति की अपनी निजी जैविक संरचना ,परंपरिक संस्कार अपनी भूमिका निभाते हैं,वहां उसका परिवेश भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। हिंदी के उक्त साहित्य के साथ ही निबंध ने भी अपने कलेवर को बदला है । आचार्य रामचंद्रशुक्ल ने निबंध को चरम ऊंचाई दी थी ।इनकी एक परंपरा चली।द्विवेदी युग में इसने अपना विषय वस्तु इतिहास,पुराण आदि को बनाय तो आगे समीक्षा युग में प्रवेश कर निबंध ने अपना स्वरूप समीक्षात्मक बनाया।रामधारी सिंह दिनकर ,नगेन्द के साथ निबंध अंतरंगता के उद्घाटक बनें।मानवीय आस्थाएं प्रतिफलित हुई। डा.नगेन्द्र के निबंध व्यैयक्तिकता का स्पर्शपाकर भाषा में भी रागात्मकता पा गये।अज्ञेय तक आते आते निबंधों में पुनः वैचारिकता और अनुभूति मिलने लगी। वासुदेवशरण अग्रवाल आदि के निबंध जहां संस्कृति और कला को छूते हैं वहीं विद्यानिवास,कुवेननाथ राय आदि निबंध को लालित्य से भर देते हैं। वहीं हरिशंकर आदि ने इन्हे व्यंग्य के साथ जोड़ा। कहने का अर्थ यह कि अवधि में निबंध के विविध रूप हमारे सामने आते हैं। इसी तरह इस युग में संस्मरण,रेखाचित्र आदि नये कलेवर के साथ अपनी अभिव्यक्ति पाठकों के सामने रखते हैं। जीवनी और आत्मकथाएं जहां व्यक्तिगत अभिव्यक्त को मुखर करती हैं,वही वें अपने अन्दर पूरे परिवेश को उसके राजनीतिक,सामाज़िक,सांस्कृतिक गतिविधियों को भी अपने अन्दर समेट कर चलती हैं। इतना ही नहीं राष्ट्रीय और अंतरर्राष्ट्र गतिविधियां भी इनके साथ जीवंत मिलती हैं।यात्रा–वितांत आदि नई विधाएं भी इसी काल में आती हैं और अपनी एक छाप छोड़ती हैं,कारण इसमें दो प्रकार मिलते हैं एक सयास यात्रा तो दूसरी निर्हेतुक अनायास यात्रा। दोनों साहित्य को नये विषय वस्तु से परिचित कराते हैं। हिंदी जगत की वे आत्मकथाएं जो आत्ममुग्धता से बाहर रह कर लिखी गई है उनका प्रभाव निश्चित रूप से तुलनात्मक अधिक विस्तार पाता है जिन्होंने आत्मप्रशंसा और मुग्ध से अपने को बाहर रचाा है। आज गद्य साहित्य में विधाओं की संख्या बढ़ी है। जीवनी,आत्मकथा,यात्रावृत ,संस्मरण, रेचाचित्र, साक्षात्कार,पत्र,दैनंदिनी,गद्यकाव्य और रिपोतार्ज को सम्मिलित किया गया है। इस काल की एक विशेषता गद्य काव्य भी है। इस युग में माखनलाल चतुर्वेदी ने अपनी राष्ट्रीय स्वर में पगी कृति 'साहित्य देवता' हमारे सामने प्रतिनिधित्व करती है।यद्यपि आज साहित्य जगत में अभिनंदनग्रंथ,स्मतिग्रंथों और पत्र–पत्रिकाओं को साहित्यिक गद्य में प्रवेश कराया जा रहा है किंतु इन्हें साहित्य की मुख्य धारा में रखना उचित नहीं है। इन्हें 'अन्य और गौण सहित्य में भले ही स्थान दिया जाय।

2.2 उद्देश्य

- इस युग में रचनाकारों ने साहित्य की विविध विधाओं को किस प्रकार रखा है और

उसकी सामाजिक,सांस्कृति उपादेयता कितनी है कि जानकारी प्राप्त करना।

- निबंध साहित्य की अति प्राचीन परंपरा है,इसमें विषय–वस्तु,शैली आदि के कारण कई परिवर्तन आए है और सशक्त अभिव्यक्ति के साधन बने है,इनका अध्ययन करना।
- निबंध ने जहां अपने लालित्य के साथ प्रकृति से लेकर इतिहास और प्रकृति को अपने से जोड़ा है वहीं उसमें किस प्रकार एक मौन अभ्यांतरिक सांस्कृतिक धारा प्रवाहित हो रही है का अध्ययन करना।
- निबंधों ने सामाजिक सरोकारों से किस प्रकार अपने को जोड़ा तथा उसमें सर्वहारा ने कैसे प्रवेश किया, राजनैतिक, सामाजिक परिवर्तन में उसकी क्या भूमिका रही आदि का अध्ययन करना।
- निबंध की व्यंग्य विधा आज काफी लोकप्रिय हुई है उसके माध्यम से मनोविकारो से लेकर सामाजिक कुरीतियों,कार्यपालिक तंत्रों को किस प्रकार झकझोरा गया है को अध्ययन करना।
- हिंदी साहित्य के आधुनिक युग में अनेक नई विधाओं ने प्रवेश किया है,उनमें कई तो अपने पुराने रूप में परिवर्तन के साथ आई है तो कई शैलीभेद से साहित्य जगत में स्थान बनाने में सफल हुई हैं,इन सभी विधाओं का अध्ययन इस इकाई में अपेक्षित है।
- इस इकाई के अध्ययन के दौरान इस बात की पड़ताल भी करने का प्रयत्न किय जावेगा की साहित्य में स्थापित मूल्यों का निर्वहन उक्त विधाओं ने कहा तक किया है। जीवनमूल्यों का, सामाजिक सरोकारों का राष्ट्री परिदृश्य पर क्या भूमिका है।
- इस अध्ययन का परिणाम यह हो कि छात्र विभिन्न विधाओं का अध्ययन कर अपने साहित्यिक ज्ञान को पुष्ट करने ,बढ़ाने के साथ ही साहित्य रचना में अपनी भूमिका का निर्वहन कर सकें।

2.3 गद्य साहित्य एक दृष्टिः अद्यतन गद्य साहित्य

कोई देश जब स्वाधीन होता है तो उसका जन मानस ही स्वतंत्र नहीं होता उसकी कला,उसकी शिक्षा,उसका साहित्य सभी कुछ स्वतंत्र होते हैं।अभिव्यक्ति का जो दौर संघर्ष का होता है वहीं समन्वय के साथ नव निर्माण,और सामाजिक सरोकरों से जुड़ता है। वह अपनी प्राचीन सांस्कृति परंपरा को स्थापित करना चाहता है तो आधुनिकता के व्यवहार में क्या क्या हो सकता है को समझने ,संयोजिक करने और उसे साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्ति देने का प्रयास करता है। इस युग की गद्य विधा ने इसमे अपनी महती भूमिका निभाई है। इस युग के लेखकों ने कहानी, उपन्यास, आलोचना,आदि के क्षेत्र को नए ढंग

से परिभाषित किया है।साथ ही रिपोर्ताज और इंटरव्यू–सदृश सर्वथा नवीन साहित्यरूपों को स्थापित किया।इसके साथ ही स्वाधीनता प्राप्त करने के पूर्व जहां साहित्यकारों ने राष्ट्रीय चेतना पर बल दिया,वहीं स्वातत्रता के बाद के साहित्य में नवनिर्माण को अभिव्यक्ति दी। परिणाम यह हुआ कि साहित्य ने सीमातीत विस्तार पाया । कथ्य की कलात्मक अभ्सिव्यक्ति के लिए सर्वथा नये प्रतीक,उपमान अथवा बिंब ही प्रयुक्त नहीं हुए,अतु चेतना–प्रवाह आदि शैलियों का भी प्रयोग हुआ। कथानक को गौण मानने तथा पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण करने की प्रवृतियां बढ़ी परिणाम यह हुआ कि रचनाकार मानव –मन के सूक्ष्म से सूक्ष्म संवेदनों को अभिव्यक्त करने में सफल हो सके हैं। हिंदी के अद्यतन गद्य–साहित्य में जटिल से जटिलतर होते जीवन को अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया गया।आज का रचनाकार अपने परिवेश से पूरी तरह दबा हुआ है। वह अपने आसपास के प्रश्नाकुलताओं,समस्याओं ,स्थिति–परिस्थिति के घात–प्रतिघातों से उत्पन्न चुनौतियों ,वैचारिक दिग्भ्रमों और मूल्यों के संकट के इस दौर में यथार्थ की जमीन पर ही यर्था को देखने ,अभिव्यक्त करने को विवश है। साहित्य की अभिरुचि भी काल के प्रवाह के साथ बदली है। उसी के अनुरूप नई शैलियों ने स्थान बनाया है। इसका कारण है कि नया युग अपने साथ नया जीवनबोध तो लाता ही है सर्जनात्मक गतिविधि के नये रूप और प्रतिमान भी लाता है। अद्यतन निबंध,कहानी,उपनयास,नाटक ,आलोचना मे आया यह परिवर्तन पूर्ववर्ती साहित्य को आमने–समने रख कर दृष्टिगत किया जा सकता है। एक कालावधि थी जब हजारी प्रसाद द्विवेदी और देवराज आदि के निबंध पाठकों को प्रिय थे तो आज विद्यानिवास मिश्र,कुवेरनाथ राय ने वह स्थान लिया है। इसका अर्थ यहां यह कतई नहीं है आज रामचंद्रशुक्ल, हजारीप्रसाद या पूर्णसिंह कालवाह्य हो गये हैं। पाठकों को पुरातन व्याख्याओं को नवीनता के साथ पढ़ने की रुचि बढ़ी है। इसी तरह कथा साहित्य में भी रुचि में परिवर्तन आया है। किंतु यहां एक बात स्पष्ट करना आवश्यक है कि मनोवैज्ञानिकता,मनोविकारों और आत्माभिव्यक्ति के नाम पर जिस तरह कथा सहित्य आज के दौर में आया है उसे श्शतप्रतिशत पाठाकों ने नहीं स्वीकार किया है। क्योंकि कई–कई कथाकारों के उपन्यासों को पढ़कर जब जुगुप्सा और वीभत्स का बोध होता है तो मन में अरुचि पैदा होती है। साथ ही समाज में संस्कार का भी ह्रास होता है।नया रचनाकर जब अनास्थावादी रूप को लेकर संत्रास, सड़ांध, आत्मनिर्वासन,विसंगति,विडंबना आदि की बाते करता है तो उसे पाठक अमान्य करता है।कथा और शिल्प की नवीन चिंताएं ,विचार–बिंब की अर्थच्छायाएं,नयी समस्याएं,नयी परिकल्पनाएं–रचनाकार की अंतर्मानसिकता को घेर कर घुमड़ रहीं हैं।आज का गद्य और पद्य उदात्त,महान,आदर्श उच्च भवनाओं तक ही परिसीमित नहीं रहा। वह अपनी परिधि में जनसाधारण की भाव–दशाओं ,आकांक्षाओं ,प्रेरणाओं और प्रश्नाकुल समस्याओं का चित्रण भी अनिवार्य मान कर करता है।

2.4 निबंध परिचय

(अ) अद्यतन हिंदी निबंध (1975–1981)

(ब) अद्यतन हिंदी निबंध (1981–अबतक)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मनोविकारों संबंधी निबंधों के साथ ही वैचारिक निबधों को उत्कर्ष की चरम ऊँचाई पर पहुँचा दिया था। इसलिए छायावादोत्तर काल तक आते आते निबध ने अपनी दिशा बदली। मुख्यतः शुक्ल जी के समीक्षात्मक निबंधों की परंपरा की अगली कड़ी के रूप में नंददुलारे वाजपेयी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'जयशंकर प्रसाद', 'आधुनिक साहित्य', 'नया प्रश्न' आदि में संकलित निबंधों में उनकी सूक्ष्म पकड़, संतुलित दृष्टि, गत्यात्मकता और रचनात्मकता का परिचय मिलता है।समसामियिक साहित्यिक आंदोलनों और विचार–सरणियें के बीच धंस का भी वे ऐ प्रशनो की खेज में रहते सि,जो वादमुक्त मानवीय गत्यत्मकता से संबद्ध हो।वैयक्तिकता ,व्यंग्य–विनोद आदिकी झांकी भी उनकेनिबंधों मे विद्यमान है। रत्नाकर ,अज्ञेय आदि से संबंद्ध निबंधों में व्यंग्य एक जगह अपना अर्थ दे कर ही खत्म नहीं हो पाता अपितु वह पूरे निबंध केसंबंध में लेखकीय दृष्टिकोण और अभिगम की सूचना देता है,अर्थात इससे संबंद्ध निबंध की अर्थवत्ता को नयी सांकेतिकता मिलती है।

इस काल के सबसे महत्वपूर्ण निबंधकार हजारी प्रसाद द्विवेदी हैं। उनके ललित निबंधों में सांस्कृतिक विरासत के वर्चस्व के साथ नवीन जीवनबोध, उत्कष्ट जिजीविषा और नई सामाजिक समस्याओं के बीच राह पाने की ललक सर्वत्र दिखाई पड़ती है। 'अशोक के फूल' (1948), 'विचार और वितर्क' (1949), 'कल्पलता' (1951), 'विचार–प्रवाह' (1959), 'कुटज' (1964), और 'आलोकपर्व' (1972) उनके निबंध–संग्रह हैं, जिनमें प्रायः समीक्षात्मक निबंधों के साथ ललित निबंध भी संगृहीत हैं।द्विवेदी जी के ललित निबंधों में जीवनोन्मुखता अधिक निखरती है।'कुटज' का एक उदाहरण–

"कुटज क्या केवल जी रहा है? वह दूसरों के द्वार पर भीख मांगने न हीं जाता–अपनी उन्नति के लिए अफसरों का जूता नहीं चाटता–आत्मोन्नति के हेतु नीलम नहीं धारण कर ता–दांत नहीं निपोरता–जीपा है और श्शान से जीता है। कहां से मिली है अकुतोभयावृति,अपराजिम स्वभाव,अविचल जीवनदृष्टि!"

द्विवेदी जी ने अपने अर्जित पाण्डित्य को मनुष्यता के साथ जोड़कर उसे स्वाभाति बनाया।इतिहास पुराण ,साहित्य से गंभीर विषय उठाकर उन्हें समसामयिकता से जोड़ा। ललित निबंधों के अतिरिकत उन्होंने विचारपरक शोधपरक ओर समीक्षात्मक निबंध भी लिखें हैं। शोधपरक निबंधों से विद्वता की गहरी तह में बैठ कर गहरी छानबीन की उनकी क्षतमा का पिरचय मिलता है। यह निर्विवाद है कि द्विवेदी जी संपूर्ण आधुनिक काल के सर्वश्रेष्ठ निबंधकार हैं।

इस काल में जैनेंद्र का स्थान भी निबंध में मिलता है कारण उनके उपन्यासों की दार्शनिकता उनके निबंधों में मुखरित हो उठता है।उन्होंने अपने निबंध में धर्म,राजनीति ,संस्कृति ,साहित्य सेक्स,काम ,प्रेम विवाह आदि विषयों पर व्यक्त किये ।'जड़ का श्रेय' 'साहित्य क श्रेय और प्रेय,'सोच–विचार,' मंथन,''ये और वे,'इस्तत:'आदि उनके निबंध–संग्रह हैं।

हिन्दी में प्रभाववादी समीक्षा के अग्रदूत शांतिप्रिय द्विवेदी ने समीक्षात्मक निबंधों के अतिरिक्त साहित्येतर विषयों पर निर्बंध निबंध भी लिखे हैं।उनके समीक्षात्मक निबंधों में भी निर्बंध निबंधों का स्वाद मिलता है। वे प्रकृति से तरल,आत्मनिष्ठ और भावुक साहित्यकार थे। उनकी यह तरलता और सरलता उनके निबंधों में मिलती है। उनके निबंध हैं– संचारणि –1939,युग और साहितय 1941, सामयिकी–1944,धरातल–1948 ,प्रतिष्ठान–1953, साकल्य –1955, आधान–1957 और वृंत और विकास 1959 आदि।ये जीवन मे अभावग्रस्त ओर उपेक्षित रहे,फिर भी निरंतर साहित्य–साधना में जुटे रहना उनका अपना जीवन वैशिष्टय है।वे सौंदर्य–संस्कारिकता के उपासक थे।

रामधारी सिंह 'दिनकर' भी समय–समय पर महत्वपूर्ण निबंध लिखते रहे हैं। 'अर्धनारीश्वर', 'मिट्टी की ओर', 'रेती के फूल', 'हमारी सांस्कृतिक एकता', 'प्रसाद', पंत और मैथिलीशरण', 'राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय साहित्य' आदि उनके अनेक निबंध–संग्रह हैं।उनके निबंधो में मानवीय आस्था का प्रतिफलन हुआ है। इसका आधार या तो मनोवैज्ञानिक है या सांस्कृतिक। इन दोनों आधार के कारण वे अपनी बात को पूर्ण विश्वसनीयता के साथ रखते हैं।

समीक्षात्मक निबंधकारों में वैयक्तिकता का सर्वाधिक संस्पर्श डां.नगेंद्र के निबंधों में मिलता है। कवि–कल्पना और मनोवैज्ञानिक दृष्टि उनके व्यक्तित्व के अपरिहार्य अंग हैं। इसीलिए 'यौवन के द्वार पर' प्रभृति निबंधों में व्यक्तिव्यंजक निबंधों निबंधों की निर्बंधता और आत्मीयता आ गयी है। 'चेतना के बिंब 'के निबंधों में भी यह विशेषता प्राप्त होती है।विषय–प्रतिपादन में उनमें नि:संग आग्रह मिलता है,अथवा यों कहें कि वे अपने ही आग्रह के प्रति नि:संगता बरतते हैं।'आस्था के चरण' उनके निबंधों का संग्रह है।

अज्ञेय अपने निबंधों में अपना अनुभूत लिखते हैं: 'त्रिशंकु', और 'हिन्दी–साहित्य: एक आधुनिक परिदृश्य' में संग्रहीत निबंधों में अनुभूत का वैचारिक विश्लेषण मिलता है। निजीपन उनकी विशेषत है तो यहीं उनकी खामी भी।'हिंदी–साहित्य:एक आधुनिक परिदृश्य' के अधिकांश निबंधों को उनके चिंतन के अगले चरण के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

यहां उनकी भाषा में संश्लिष्टता आ गयीहै,इसलिए विचार भी संश्लिष्ट है। अज्ञेय ने कुछ निबंध 'कुट्टिचतन' के नाम से भी लिखे है। कुट्टिचातन के नाम से उनके लिलित लिबंधों का एक संग्रह 'सब रंग'शीर्षक से भी मिलता है।अज्ञेय के नवीनतम प्रकाशित निबंध–संग्रह हैं–'आलवाल'–1971,'भवंति' तथा'लिखि कागद कोरे'–1972।

रामवृक्ष बेनीपुर के निबंध 'गेहूँ और गुलाब' (1950) तथा 'वंदे वाणी विनायकौ' (1957)

में संग्रहीत हैं। 'गेहूँ' भूख का प्रतीक है, तो गुलाब कला और संस्कृति का।मानव जीवन में भूख और कला दोनों का महत्व है।

बेनीपुरी की भाषा में या तो आवेगमयता है या प्रशांति,उसमें जटिलता कहीं भी नहीं है। श्रीरामशर्मा ने शिकार–संबंधी रोचक निबंधो की रचना की है,जिनमें साहिसिक वृतांतों को ग्रामीण पृष्ठभूमि ,प्रकृति के ब्योरेवार दृश्यचित्रण और अछूते मानवीय जीवन को मर्मस्पर्शी आयामों में चित्रित किया गया है।देवेन्द सत्यार्थी के निबंधों में धरती की सोंधी गंध और लोकजीवन की ताजगी मिलती है। गाधीवादी दृष्किोण एवं प्रगतिशील चेतन इनकी विशेषताएं हैं।

वासुदेवशरण अग्रवाल ने जहाँ 'पृथिवीपुत्र' तथा 'कला और संस्कृति' के निबंधों में भारतीय संस्कृति के विविध आयामों को विद्वत्तापूर्ण ढंग से उद्घाटित किया है।वहीं यशपाल ने अपने कथासाहित्य की भांति निबंधों में भी मार्क्सवादी दृष्टिकोण को ग्रहण किया है।

गुलाबराय के निबंध 'मन की बात' (1954) और 'मेरे निबंध' (1955) में संग्रहीत हैं, किन्तु उनमें निबंध भावुकता के स्थान पर विचारात्मकता अधिक है। बनारसीदास चतुर्वेदी के निबंध– 'साहित्य और जीवन', 'हमारे आराध्य', मे भी यही प्रवृत्ति लक्षित होती है। किन्तु माखनलाल चतुर्वेदी कृत– 'अमीर इरादे: गरीब इरादे' (1960) में भावुकता का प्राधान्य है। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर के निबंधों– 'जिंदगी मुस्कराई', 'बाजे पायलिया के घुँघरू', 'महके आंगन चहके द्वार' आदि में संकलित – में भी करुणा, व्यंग्य और भावुकता का लगभग ऐसा ही सन्निवेश मिलता है, किन्तु चतुर्वेदी जी की तुलना में उनकी शैली में अधिक स्पष्टता है। भगवतशरण उपाध्याय ने 'ठूंठा आम' और 'सांस्कृतिक निबंध' में इतिहास और संस्कृति की पृष्ठभूमि में निबंध लिखे हैं और अश्क के 'मंटो: मेरा दुश्मन' में आत्मीयता और खरापन दोनों दिखाई पड़ते हैं।

इधर के लेखकों में प्रभाकर माचवे,विद्यानिवास मिश्र,धर्मवीर भारती,शिवप्रसाद सिंह कुबेरनाथ राय,ठाकुर प्रसाद सिहं आदि के ललित निबंधों कें संग्रह प्रकाशित हुए हैं। माचवें के निबंधों में व्यंग्य की जगह विनोद अधिक है। विद्यानिवास मिश्र ने ललित निबंधों को गंभीरतापूर्वक लिया है। 'छितवन की छांह (1953), 'तुम चंदन हम पानी' (1957), 'आंगन का पंछी और बनजारा मन,' 'मैने सिल पहुँचाई', 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' विगत पच्चीस वर्षों में प्रकाशित उनके निबंध–संग्रह हैं– 'अस्मिता के लिए' (1981), 'निज मुख मुकुर' (1981), 'भ्रमरानंद के पत्र' (1981), 'तमाल के झरोखे से' (1981), 'संचारिणी' (1982), 'अंगद की नियति' (1984), 'लागो रंग हरी' (1985), 'गांव का मन' (1985), 'नैरंतर्य और चुनौती' (1988), 'भावपुरुष श्रीकृष्ण' (1990), 'सोऽहम्' (1991), 'जीवन अलभ्य है जीवन सौभाग्य है (1991), 'देश धर्म और साहित्य' (1992), 'नदी, नारी और संस्कृति' (1993), 'फागुन दुई रे दिना' (1994), 'बूंद मिले सागर में' (1994), 'पीपल के बहाने' (1994), 'शिरीष की याद आई'

(1995), 'गिर रहा है आज पानी' (2001), 'स्वरूप–विमर्श' (2001), 'गांधी का करुण रस' (2002) इत्यादि। विद्यानिवास मिश्र के निबंधों का वस्तु और शिल्प दोनों की दृष्टि से अपना वैशिष्ट्य है।

उक्त निबंधों में भारतीय साहित्य और संस्कृति को लोकजीवन के साथ जोड़ने का उन्मुक्त प्रयास किया गया है। इसी तरह धर्मवीरभारती के निबंधों पर पांडित्य का लदाव नहीं है। वे आडंबर हीन भाषा में प्रकृतिसे गहन सान्निध्य स्थापित कर सकते हैं,दार्शनिक चिंतन कर सकते हैंऔर हलके–फुलके व्यंग्य –विनोद द्वारा हिपोक्रेसी का पर्दाफाश करते हुए भी लिख सकते हैं। 'ठेले पर हिमालय','कहनी–अनकही','पश्यती' आदि उनके निबंध संग्रह हैं। इसी तरह शिवप्रसाद सिंह का 'शिखरों पर सेतु'भावनात्मक निबंध है।

विद्यानिवास मिश्र की तरह कुबेरनाथ राय भी हजारीप्रसाद द्विवेदी संस्थान के निबंधकार हैं, फर्क यह है कि मिश्र जी द्विवेदी जी के प्रभाव से मुक्त नहीं हैं, जबकि कुबेरनाथ राय उनसे मुक्त होकर नई भंगिमा अपनाने के लिए निरंतर प्रयत्नशील हैं।

उनके निबंध–संग्रहों– 'प्रिया नीलकंठी', 'रस आखेटक', 'गंधमादन' और 'विषाद योग' में सांस्कृतिक संदर्भों से फूटते हुए जीवन के आधुनिक आयामों तथा उनमें से झांकते जीवन को देखा जा सकता है।

कुबेरनाथ राय स्वयं अपने बारे में रामायण महातीर्थम में लिखते है–

"तब मैं आधुनिक अंग्रेजी –साहित्य ,शेक्सपीयर, लैंब, हैजलिट तथा रवींद्रनाथ के प्रभाव से परिपूर्ण था और असम–बंगाल का साहित्यिक वायुमंडल सुनील गांगुली के 'क्षुधितपीढ़ी' आंदोलन से आविष्ट था। मेरी गद्य–भंगिमा शैक्सपीयर के मनमौजी और उच्छृखल गद्य का तथा रवीन्द्रनाथ के मनमौजी,परंतु शालीन गद्य का संयुक्त प्रभाव पड़ा। संभवतः उन्मुक्त और शालीन दोनों का यह संयुक्त प्रभाव ही मेरी गद्य–भंगिमा को समकालीन ललित निबंधकारों से अलग करता है।मैंने अपने विशुद्ध देशी संस्कारों की भूमि पर खड़े होकर दोनों के बीच'रचनात्मक सामंजस्य' अर्जित करने की चेष्टा की है।"

इसी कड़ी में ठाकुरप्रसाद सिंह के निबंधों में व्यंग्य की बड़ी मारक शक्ति है। वे अपने कड़वे तीखे भोगों को शब्दबद्ध करते हैं।

हास्य–व्यंग्य लेखको में बेढव बनारसी पहले व्यक्ति है जिन्होंने अपने निबंधों के माध्यम से इस दिशा में सार्थक प्रयास किया। वर्तमान व्यंग्यकारों में हरिशंकर परसाई,केशवचंद वर्मा,लक्ष्मीकांत वर्मा,भीमसेन त्यागी, रवीन्द्रनाथ त्यागी , शरदजोशी,नरेन्द्रकोहली आदि प्रमुख नाम हैं जिन्होंने काफी संख्या में व्यंग्य लिखें हैं।इनमें हरिशंकार परसाई का नाम प्रमुख है।इनके निबंध सामन्यतःमूल्यगत विसंगतियों से संबद्ध हैं। 'भूत के पांव','सदाचार का ताबीज',और 'निठल्ले की डायरी' में उनके व्यंग्य –लेख संगृहीत हैं। सामाजिक और राजनीतिक विसंगतियों पर वे प्रहार करते हैं।

निबंधों की अद्यतन स्थिति का समझने के लिये हिन्दी– निबंध को दो भागों में बांट सकते हैं।यथा–(1975 से 1981) तथा (1981 से 2005) तक। 1975 से 1981 तक के निबंधों को देखते है तो पता चलता है कि समसामयिक हिंदी –निबंध में वैचारिक खुलापन आने के साथ–साथ युग की समस्याओं,जटिलताओं व चुनौतियों पर तार्किक बहस–केंन्द्रित विवेक–वयस्कता आई है।आज निबंध अधिक एकाग्र आत्मदानप्रेरित विधा के रूप में गतिशील है और निबंधकारों की वृतियां गहरी एकाग्रता से केंद्रित जान पड़ती हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की निबंध–परंपरा का विकास यहाँ अवरुद्ध न होकर, नई चिंतन–पद्धतियों और अभिव्यक्ति की भंगिमाओं में प्रस्फुटित होता है। अज्ञेय, विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय, निर्मल वर्मा, रमेशचन्द्र शाह, श्शरद जोशी, जानकीवल्लभ शस्त्री, रामेश्वर शुक्ल अंचल, नेमिचन्द्र जैन, विष्णु प्रभाकर, जगदीश चतुर्वेदी, डॉ. देवराज, डॉ. नामवर सिंह, विवेकीराय आदि ने हिन्दी–गद्य की निबंध–परंपरा को न केवल आगे बढ़ाया है, बल्कि उसमें कुछ ऐसे विशिष्ट प्रयोग किए हैं, जो हिन्दी–निबंध की शक्ति एवं संभावनाओं के प्रति आश्वस्त करते हैं।निबंध की रचनावृति रोमैंटिक भावावेग के बोध से बाहर निकालकरगैर–रोमांटिक बौद्धिक रुझाानों की ओर बढ़ती प्रतीत होती है। ललित–निबंधों ने सर्जनातम्कता केलुभावने स्पर्श सेनया आलोक पाया है। निबंधकार अपने युग और अपने निजीी व्यक्तित्व का यहां प्रत्यक्ष रूप में सामना करता है। और व्यक्तित्व की यह समृद्धि और श्शक्ति निबंधों की रचनात्मकता में उपयुक्त तत्व सिद्ध हुई है। रेखाचित्र,संस्मरण ,आत्मकथा आदि सभी निबंध की नयी शैली मे मथ कर नये रूपों में आ रहे हैं। स्थिति यहां तक आ गयी है कि अब निबंधों को भावनात्मक व वैचारिक निबंधों में वर्गीकृति करने वाला पुराना सांचा अपर्याप्त हो गया है।आज जटिल राजनीतिक परिस्थित पर भी व्यंग्यशैली में वैचारिक गहनता से निबंध लिखा जा रहा है और सांस्कृतिक विषयों पर निहायत अगंभी ढंग से ललित निबंध भी । आज ऐसा कोई विषय नहीं है ,जो निबंध की व्यापक परिधि में नही आ पाता हो। अतः निबंधों को साहित्यिक –गैर–साहित्यिक की दो कोटियों में विभक्त करने से बात नहीं बनती। कारण,ज्ञान के सभी अनुशासन आज के निबंधों में समन्वित समंजित दृष्टि से निखर कर आ रहे हैं।

इस कालखंड में अज्ञेय के निबंधों ने पाठकों का ध्यान सर्वाधिक खीचा है। अज्ञेय जी के समीक्षात्मक निबंध साहित्य के सवालों को साहित्य में उगा कर ही नहीं काट देते। उनके लए ये सवाल मानव–संसकृति से जुड़े महत्वपूर्ण सवाल हैं,और इन सवालों के लिए रचनाकार अज्ञेय की साहित्य दृष्टिबहुत गहरे तक जाती है। उनका साहितय चिंतन इतिहास,संस्कृतिऔर परंपरा का एक भरा वायंत्र है। इसमें सर्फि कला या सहित्य की एकल तान नहीं है,अपितुसाहित्य–विवके,संस्कृति–मंथन इसकी एक गहन जटिल,किंतु अनिवार्य प्रक्रिया है। इस चिंतन में आत्मान्वेषण और आत्मालोचन का आत्मसंघर्ष अपनी प्रबलता से झकझोरता हैं अज्ञेय की चिंता जीवन के कुंठित और भ्रष्ट हो गय अर्थ को,खोये हुए अर्थ को

फिर से रचने और परोसने की चिंता हैं। सामूहिक चेतना की मूलभूत वास्तविकातओं के साथ साझेदारी,युग–यथार्थ के साथ बौद्धिक टकराहट ,प्रयोग,परंपरा और प्रेषणता के रिश्तों को फिर से कायम रखने की बेचैनी ,इन निबंधों में निरंतर कौधती रहती है।'आत्मपरक–1983',के निबंध 'आत्मनेपद ' और 'लिखि कागद कोरे' निबंध–संगहों के निबंधों को एक साथ लाते हैं। इनमें उक्त सभी बाते आती हैं।

संस्माराणात्मक निबंधो की पुरस्कृत 'स्मृति लेखा' –1982, हिंदी में निबंध विधा को एक नया सर्जनात्मक आयाम देती है। 'स्मृतिलेखा' एक प्रकार से हिंदी के विशिष्ट आधुनिक रचनाकारों का स्मृति परक इतिहास हैं जिसमें भविष्य के हिंदी –साहित्य के इतिहास लेखकों के लिए बहुत सामाग्री है। भावों व विचार की गरिमा को सुरक्षित रखते हुए भी ललिति निबंध कितना रम्य हो सकता है–यह उदाहरण 'कहांहै द्वारका' के निबंध प्रस्तुत करते हैं । यहां वैचारिक चिंतनपरक निबंधों वाली कठिनाई नहीं है,बौद्धिकता से उत्पन्न ऊब नहीं है,ज्ञान की सीढियों पर चढने –उतरने की 'वत्सर' के निबंधों वाली कसरत नहीं है। यहां अज्ञेय अपने को सदा याद रखते हैं कि वे विशिष्ठ रचनाकार हैं,अद्वितीय अनुभव के कवि हैं। इस बौद्धिक आंतर्मानसिकता ने अज्ञेय के निबंधो को विचार गरिष्ठ बना दिया।

इधर हजारी प्रसाद के ऐतिहासिक ,संस्कृतिक बोधपरक सृजनात्मक ललित विचार चेतना को पं विद्यानिवास मिश्र के निबंधों ने आधुनिक विस्तार दिया है। इनके निबंधों में लोकसंवेदना और लोकहृदय की पकड़ बड़ी मर्मस्पर्शी है। इन ललितनिबंधों के संवेगों की गंध प्राणों को जातीय स्मृति,देशाभिमान ,सस्कृति का उज्ज्वल राग–रंग और एतिहासिक विवके से तादात्म्य कराती हुई चेतना में रच–पच जाती है । पश्चिमी संस्कृति का नकली अनुकरण और आज के मानव का खोखलापन मिश्र जी के निबंधों में दर्द बन कर उभरता है ,शिक्षा,संस्कृति और साहित्य इन ललित निबंधों के तीन नेत्र हैं,इन्हीं से होते हुए वे 'नया अथ' पाते हैं। मिश्र जी ने साफ कहा हैं,''वैदिकसूत्रों के गरिमाय उद्गम से ले कर लोकगीतों के महासागर तक जिस अविच्छिन्न प्रवाह की उपलब्धि होती है उस भारतीय परंपरा का मैं स्नातक हूं'' । हिदू धर्म:जीवन में सनातन की खेज–भूमिका में यह बात उन्होंने उल्लेख की है। इसी चिंतनधारा के प्रवाह से 'परंपरा बंधन नहीं ','मेरे राम का मुकुट भींग रहा है','वसंत आ गया पर कोई उत्कंठा नहीं;,'कटीले तारों के आर–पार','संचारिणी','कौन तू फुलवा बीनन हारी','अस्मिात के लिए','भ्रमरानंद के पत्र,'अंगद की नियति,'चितवन की छांव,'कदम की फूली डाल,'तुम चंदन हम पानी,'आंगन का पंछी और बंजारा मन, 'मैने सिल पहुचाई ','साहित्य की चेतना,'हमारे भारत का काव्यार्थ,'लागौ रंग हरी, तथा 'अग्निरथ'जैसे निबंध –संग्रहों की एक लंबी परंपरा है।ये निबंध आत्मा की गहरी काली रात की छटपटाहट हैं।वे केवल 'ललित निबंधों में ललित की बात कह कर नहीं रह जाते;बल्मि चोट करते हैं। सोचने समझने को विवश करने वाली ,गहरी तीखी और चुनौती –भरी बात भी डट कर कहते हैं। मिश्र जी के निबंधों का संसार इतन बहुआयामी है कि प्रकृति, लोकतत्व, बौद्धिकता, सर्जनात्मकता,

कल्पनाशीलता, काव्यात्मकता, रम्यरचनात्मकता, भाषा की उर्वर सृजनातमकता, संप्रेषणीयता आदि सभी इन निबंधों में एक साथ अंतग्रथित मिलती हैं।

समीक्षात्मक बिंबों में अपनी प्रखर बौद्धिकता और विवेकात्मक वयस्क वैचारिकता के क्षेत्र के सबसे प्रबल निबंधकार हैं–गजानन माधव मुक्तिबोध। मुक्तिबोध ने 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध','नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र','समीक्षा की समस्याए',तथा एक साहित्यिक की डायरी' नामक निबंध–संग्रहों से आधुनिक सृजन–समीक्षा को नयी दृष्टि से प्रतिमान दिये हैं।

नये साहित्य के सद्धिांतकारो–चिंतको मे विजयदेवनारायण सही की भूमिका उल्लेखनीय है। 'नयी कविता' के सन्1960–61 के संयुक्तांक पांच–छः में प्रकाशित उनका प्रथम बिंध लघुमानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस' ने सभी प्रबुद्ध रचनाकारों–पाठाकों–आलोचकों का ध्यान खीचा। साही जी ने परंपरा की नयी व्याख्या करते हुए अज्ञेय का संबंध सूत्र प्रसाद से स्थापित किया। उनका कहना है ''यदिपरंपरा हमेशा परिवर्तन और वैपरीत्य की दिशाओं में फूटती हुई चलती है तो अज्ञेय आगे के इतिहासकार को प्रसाद की परंपरा में ही दिखाई पडेगें।'' उनका चर्चा में रहनेवाला दूसरा निबंध है''शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट''। इनके ओर कई महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं।

इधर के वर्षो में कथाकार निर्मल वर्मा ने हिंदी–निबंध को नया रूपरंग दिया है। इन निबंधों में उनकी सृजनातमक बौद्धिक यात्राओं का एक दिलचस्प संसार है। इस संसार से निर्मल वर्मा समकालीन कला,संस्कृति ,साहित्य भाषा ,दर्शन आदि के प्रश्न उठाकर पूरी शक्ति से जूझाते हैं। चीजों को आर–पार झाांकने वाली पारदर्शिता निर्मल के निबंधकार का सबसे बड़ा गुण हैं उनके दो निबंध–संग्रह हैं–शब्द और स्मति',तथा 'कला का जोखिम',। सभी निबंधों में निर्मल वर्मा की बुनियादी चिंता यही है कि ''एक संपूर्ण समाज में सृजनात्मक कल्पना की भूमिका का पुनाविष्कार कैसे किया जाये। '' ऐसे ही वचिार अज्ञेय जी अपने निबंधों में उठाते हैं निर्मल के मन मे जहां तक 'स्मृति' का प्रश्न है,वहां 'जिसकी सामूहिकता के घेरे में हर कलाकार दूसरों से जुड़ा है।'' निर्मल वर्मा मानते हैं कि भारतीय चरित्र का निर्माण दो पाटों के मध्य हुआ –व्यावहारिक स्तर पर इतिहास को स्वीकारा और चिंतन–स्तर पर उसके दबाव की उपेक्षा की । ''संस्कृति,समय और भारतीय उपन्यास'निबंध में एक नई बहस उठी है,''उपन्यास की अर्थवत्ता यथार्थ में नहीं,उसे समेटने की प्रक्रिया में ,उसके संघटन की अंदरूनी चालक शक्ति में निहित है।'' वे मानते है कि ''हमारे युग का विशिष्ट अभिशाप यह है कि जहां कला एक तरफ मनुष्य के कार्यकलाप से विगलित हो गयी है ,वहीं दूसरी तरफ वह स्वायत सत्ता भी नहीं बन सकी है,जो स्वयं मनुष्य की खंडित अवस्था को अपनी स्वतंत्र गरिमा से अनुप्राणित कर सके।

डां.रामविलासशर्मा की निबंध–शैली हिंदी–गद्य में स्वच्छता ,प्रखरता अरैर वैचारिक

संपन्नता के लिए वरदान सिद्ध हुई है। उनके सभी महत्वपूर्ण निबंधो को एक साथ सामने लाने वाले 'विराम चिन्ह,मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य ,परंपरा का मूल्यांकन, मानव–सभ्यता का विकास,भाषा, युगबोध और कबिता, कथा–विवेचना और गद्यशिल्प',भारत में अंग्रजी राज्य',मार्क्सवाद भाग एक–दो ,मार्क्स और पिछड़े हुए समाज' जैसे संग्रह प्रकाशित हैं। विरामचिंह की भूमिका में वे लिखते हैं ''आपसदारी में कह दूं कि मेरे निबंधो का यह सबसे अच्छा संग्रह है। यह बात दूसरी है कि मेरा कोई भी निबंध–संग्रह अच्छा न बन पडा हो ,किंतु उनमें अंधो में काने राजा के समान ही सहीं, यह 'विरामचिंह' सर्वोपरि है।''

भवानी प्रसाद मिश्र ने 'जिन्होने मुझे रचा'188,तथा 'कुछ नीति कुछ राजनीति–1984 मे सहज गद्य लिखा है। इन निबधों में आत्मीयता का रस भरा पडा हैं लेकिन उन विचारों की ऊर्जा का तनाव भी है। जो किसी सोचने समझने वाले को बेचैन कर देता है। ऐसे ही रधुवीर सहाय ने निबंधों को नए ढर्रे में ढाला। उनके निबंध संग्रह हैं–'लिखने के कारण–1978','दिल्ली मेरा परदेश–1978', 'वे और होंगे जो मारे जायेगें–1983','ऊबे हुए सुखी–1982',आदि । यह सारे निबंध अपने समय और समाज के यथार्थ को दर्शाते हैं।इसी काल में श्रीकांत वर्मा अपने निबंध संग्रह 'जिरह' में साहित्यिक बहसों को तानते हैं।जगदीश चतुर्वेदी 'दस्तावेज' में अकविता–आंदोलन की पूरी स्थिति स्पष्ट करा चाहते हैं। आशोक वाजपेयी 'फिलहाल' में नये रचनाकारों पर निबंध लिखते हैं,किंतु भाषा की रचावट न होने से यह काफी भुरभुरा गद्य मालुम होता है।

नए निबंधकारों में रमेशचंद्रशाह का नाम आता है।शाह के निबंध संग्रह हैं– 'समानांतर,' 'वागार्थ','शैतान के बहाने' आदि। अज्ञेय जी की भांति शाह को भी इतिहास,परंपरा तथा संस्कृति की चिंता मथती रहती है।'साहित्य में आज का गतिरोध 'में लिखते हैं–

''गांधी जी को इस देश की नैतिक सामर्थ्य का सही अनुमान नहीं था और उन्होंने चाहे अनचाहे उस पर बहुत अधिक दबाव डाला।सशस्त्र क्रांति की चेष्ट से जुडी हुई युवा ऊर्जा अप्रासंगिक कर दी गयी। कालांतर में धीरे–धीरे वह राष्ट्रजीवन में अपनी असली हिस्सेदारी से वंचित होती गयी। क्रातिकारी अकेला पड़गया और राजनीति तथा अर्थनीति पर वहीं शक्तियां हावी होती गयीं,जो मूलतःक्रांतिविरोधी चरित्र की है।''

हिन्दी–साहित्य के प्रतिष्ठित निबंधकारों में डॉ. नगेन्द्र, डॉ. देवराज, महादेवी वर्मा, विजयेन्द्र स्नातक, केशव वर्मा, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वर, रामेश्वर शुक्ल, 'अंचल' बराबर सक्रिय रहे हैं। इन निबंधकारों की चिंतनात्मक प्रौढ़ता ने हिन्दी–निबंध की दिशा को भटकने से बचाया है। प्रसिद्ध कथाकार और आत्मकथा लेखक विष्णु प्रभाकर ने 'हम जिनके ऋणी हैं' नामक निबंध–संग्रह में हमारे राष्ट्रीय नेताओं पर ललित निबंध लिखे हैं। जानकीवल्लभ श्शास्त्री ने:'मन की बात' तथा 'जो न बिकसकी' निबंध–संग्रहों में क्लासिकल संवेदना का उदात्त रूप सामने रखा है।

इधर माखनलालचतुर्वेदी–रचनावली, रांगेय राघव –रचनावली, राहुल सांकृत्यायन के श्रेष्ठ निबंध ' तथा गुलेरी और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के श्रेष्ठ निबंधों ने भी हिंदी–निबंध की समृति; में योगदान किया है।

निबंध के दूसरे चरण को हम कुछ इस प्रकार देखें कि इनका स्वरूप सीमा और लक्षण क्या है तो ध्यान में आत है कि इनका स्वरूप,लक्षण,और सीमांए इतनी अनिश्यित हैं कि उसको ले कर रचनाकारों और अध्येताओं के बीच अनेक भ्रातिंया हैं। डॉ. रमेश कुंतलमेघ ने ठीक ही लिखा है कि "यह बड़ी विचित्र बात है कि साहित्य में 'निबंध' बहुत कम लिखे गए हैं और उसके सिद्धांतों का प्रकाशन तो उससे भी कम हुआ है। इसके विपरीत 'लेख' असंख्य लिखे गए हैं, पर उनका भी सौंदर्यशास्त्रीय निरूपण कम ही हुआ है।" इसका कारण 'निबंध' का अपना वैशिष्ट्य है।

प्रारंभ में निबंध के दो आर्दश रूप सामने आये। एक आदर्श रूप फ्रांसीसी रचनाकार मोन्तेन (1533–1592) ने प्रस्तुत किया। उसी को 'निबंध' का जन्मदाता माना जाता है।'निबंध' के लिए उसी ने सर्वप्रथम मेंल शब्द का प्रयोग किया जिसका अर्थ होता है –प्रयास। उन्होंने अपने निबंध संग्रह का नाम भी यही रखा।उसने अपने निबंध संग्रह के संबंध में कहा है कि "स्वयं ही अपनी पुस्तक का विषय हूं।" जिन्हें हम व्यक्तिप्रधान ,व्यक्तिव्यंजक, आत्मव्यंजक, विषयी प्रधान आदि नामों से पुकारते हैं। हमारे यहां को दो निबंधकार आचार्यशुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी उक्त पश्चिमी निबंधकार के समानांतर रखे जा सकते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद की शैली को आलोचक मोन्तेन की शैली मानते हैं।साहित्य सहचर में वे लिखते हैं–

"नये युग में जिन नवीन ढंग के निबंधों का प्रचलन हुआ है,वे 'तर्कमूलक'की अपेक्षा'व्यक्तिगत' अधिक होते हैं। साधारणतः जिन निबंधों में निस्संग विचार का प्राधनय होता है,वे साहित्यिक आलोचना के प्रसंग में आलोचित नहीं होते"।

डां. नगेन्द्र लिखते हैं'–आचार्य द्विवेदी के समानांतर बेकन की निबंध–शैली आचार्य रामचंद्रशुक्ल के निबंधों में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुची है। वे इस दूसरी निबंध–परंपरा के चरम उत्कर्ष हैं।इसीलिए उन्होंने 'चिंतामणि' भाग–1 के 'निवेदन' में लिखा था,'इस पुस्तक में मेरी आंतर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती र ही है बुद्धि ,पर हृदय को भी साथ ले कर । अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहां कहीं मार्मिक स्थलों पर पहुंचती है,वहां हृदय थोडा बहुत रमता हुआ,अपनी प्रवृति के अनुसार कुछ कहता गया है।"

निबंध–सार– (1)'निबंध शब्द निः+बंध से बना है, जिसका अर्थ अच्छी तरह बंधी हुई परिमार्जित प्रौढ़ रचना।विभिन्न विद्वानों ने निबंध को कुछ इस प्रकार समझाया है–

1. हड्सन– "निबंध लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यंजना का निर्ब्याज निखरा हुआ स्वरूप है जो आकार में छोटा तथा विवेचन में संक्षिप्त होता है।

2. बाबू गुलाबराय–''निबंध उस गद्य रचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन,स्वच्छन्दता,सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और संबद्धता के साथ किया गया हो।
3. प्रो. नलिन –''निबंध स्वधीन,चिंतन और निश्च्छल अनुभूतियों का सरस,सजीव और मर्यादित गद्यात्मक प्रकाशन है।''
4. आचार्य रामचंद्रशुक्ल–''यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है ,तो निबंध गद्य की कसौटी है।''
5. डा.लक्ष्मीनारायण वाष्णेय–'' निबंध से तात्पर्य सच्चे साहित्यिक निबंधो से है। जिनमें लेखक अपने आपको प्रकट करता है विषय को नहीं। विषय तो केवल बहाना मात्र होता है।''

(2) 'निबंध के तत्व–

1. विषय वस्तु
2. भाषा–शैली

'प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति ही शैली का अर्थ और इति है।शैली विचारों की आकृति है।शैली ही व्यक्ति है।'–जार्ज बर्नार्ड शा

(3) 'शैली के प्रकार–

1. व्यास शैली 2. समास शैली 3. विवेचन शैली 4. व्यग्य शैली
5 .आवेग शैली 6. संलाप–प्रलाप शैली 7. निगमन–आगमन शैली

(4) 'निबंध के प्रकार–

1.वर्णनात्मक निबंध 2.भावात्मक निबंध 3.विवरणात्मक निबंध 4.विचारात्मक निबंध

(5) निबंध के विकास का क्रम– 1.भारतेंदु युग 2. द्विवेदी युग 3. शुक्ल युग 4. शुक्लोत्तर युग

(6) युग की विशेषताएं–

1. भारतेंदु युग की विशेषताएं–

(क) इस युग के निबंधकारों ने विविध विषयों पर अपनल लेखनी चलायी है।

(ख) इस युग के निबंधों मे समाज–सुधार की भावना,राजनीतिक चेतना रोचकता आदि गुण मिलते हैं।

(ग) इस युग क लेखक जर्जर रूढ़ियों का विरोध करते थे,परंतु नवीनता का अंधानुकरण नहीं।

(घ) हास्यव्यंग्य इनका प्रधान हथियार था

(ड़.) लेखकों ने पाठकों की रुचि और आवश्यकता का सदैव ध्यान रखा है।

(च) प्रायः सभी निबंधकार,पत्रकार या संपादक थे,अतः निबंधों की सामग्री के प्रस्तुतीकरण में पत्रकारिता का गुण भी मिलता है।

(छ) व्यक्तित्व के मनमौजीपर की स्पष्ट झलक निबंधों में मिलती है।

(ञ) भाषा में शिथिलता का अभाव नही है किंतु विषय की रोचकता में असहजं मालूम नही होती।

2. द्विवेदी युग की विशेषताएं–

(अ)निबंधों की भाषा व्याकरण सम्मत है तथा उसमें कसावट है।

(ब)गम्भर निबंधो के लेखन के कारण कहीं–कहीं पर निबंधों में दुरूहता एवं नीरसता भी है।

(स)शिल्पगत शैली का विकास

(द) ज्ञान विज्ञान से संबधित विषय वस्तु

(इ)विवेचन,विश्लेषण गौर गंभीरता का आग्रह

(ई) आलोचन अथवा समीक्षात्मक निबंधों में पाश्चात्य सिद्धांतों का प्रवेश।

3. शुक्ल युग की विशेषताएं–

(1) गंभीर विचार,उदात्त भाव,हास्य व्यंग्य से पूर्ण निबंध।

(2) मुहावरेदार सजीव व्यवहारिक शैली

(3) गांधी वाद का प्रभाव

(4) समसामयिक प्रश्नों और समस्याओं का चयन

(5) प्रौढ़ और प्रभावशाली शैली

(6) नैतिक और समाज के प्रति उत्तरदायी बोध

(7) जनवादी चेतना का प्रारंभ

(8) राष्ट्रीयस्वाभिमान की स्पष्टता

(9) छायावादी युग का प्रभाव

(10) मनोवैज्ञानिकता का प्रभाव

4. शुक्लोत्तर युग की विशेषताएं–

1. साहित्यिक विषयों के प्रति प्रतिबद्धता
2. व्यंग्य निबंधो में पैनापन और निखार
3. ललित निबंधों में भावों और विचारों की पुष्टता

4. संस्मरणात्मक निबंधो,रेखाचित्र,रिपोतार्ज आदि नयी विधाओं का पुष्ट प्रवेश

5. लोक साहित्य की प्रचुरता

2.5 जीवनी साहित्य

छायावादोत्तर युग में जीवनी–साहित्य का बहुमुखी विकास हुआ लोकप्रिय नेताओं ,संत–महात्माओं ,साहितयकारों,विदेशी महापुरुषों ,वैज्ञानिकों ,खिलाड़ियों,उद्योगपतियों आदि से संबंधित जीवनियां प्रचुर परिमाण में लिखी गी।महात्मा गांधी इस युग के सर्वधिक लोकप्रिय नेता थे,फलतः उनसे संबंधित जीवनियां सर्वाधिक संख्या में उपलब्ध होती हैं। घश्यामदास बिड़ला,काका कालेलकर,सुमंगल प्रकाश,सुशीलानायर, डां. राजेन्दप्रसाद तथा जैनेंद्र कुमार द्वारा क्रमशः लिखित बापू–1940,वापू की झांकियां–1948,बापू के कदमों में –1950, और अकाल पुरुष गांधी–1968 इस दिशा में उल्लेखनीय कृतियां हैं। महात्मा गांधी विषयक जीवनियों में सर्वाधिक महतंवपमर्ण कृति रोमां रोलां की है। हिंदी में उसका अनुवाद तीन भागों में 'महात्मा गांधी:विश्वके अद्वितीय पुरुष'–1947 हुआ है।

इस कृति में भगतसिंहके बलिदान का मूल्यांकन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में किया गया है। भगतसिंह पर लिखे गये इन जीवनी–ग्रंथों में वीरेंन्द्र सिंधु की श्शेधपूर्ण कृति 'युगद्रष्टा भगतसिंह और उनके मृत्युजय पुरखे–1968' तथा मन्मथनाथ गुप्त–विरचित 'क्रांतिदूत भगतसिंह और उनका युग'–1972' अलग–अलग दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। वीरेद्र सिंधु नें भगतसिंह के बहुआयामी व्यक्तित्व का आकलन ऐतिहासिक तथ्यों के आलोक में किया है। इस कृति से भगतसिंह के क्रांतिकारी रूप के अतिरिक्त उनके विनोद ी,उदार ,सहृदय व्यक्तित्व तथा लेखक एवं पत्रकार का रूप भी उभर कर आता है। मन्मथनाथ गुप्त ने भगतसिंह के महत्व का मूल्यांकन समाजवाद,धर्मनिरपेक्षता तथा निरीश्वरवाद के परिप्रेक्ष्य में किया है। उनकी इस कृति से भारतीय क्रांतिकारी –आंदोलन का इतिहास भी मुखर हो उठा है। सुभाषचंद्र बोस पर लिखे गए जीवनी–ग्रंथों में हरिकृष्ण त्रिवेदी,छविनाथ पांडेय ,गिरीशचंद जोशी द्वारा क्रमशः रचित :सुभाषचंद्र बोस'1941,'नेता जी सुभाष 1946,नेता जी सुभाषचंद्र बोंस–1946, उल्लेखनीय है।

भारतीय जनजीवन में संत–महात्मा सदा से पूज्य रहे हैं। उनका उज्ज्वल चरित्र तथा अमूल्य उपदेश इस देश के लोगों में नए जीवन का संचार करता रहा है। अतएव, यह स्वाभाविक ही है कि विभिन्न लेखकों ने महात्मा बुद्ध, हजरत मुहम्मद, शंकराचार्य आदि के जीवन को आधार बनाकर अपनी कृतियों की रचना की। इस दृष्टि से भदंत आनंद कौशल्यायन, सुंदरलाल, भवानीदयाल संन्यासी, दीनदयाल उपाध्याय, बलदेव उपाध्याय, पंडित ललिता प्रसाद ब्रह्मचारी शिवानंद आंजनेय तथा अमृतलाल नागर का नाम उल्लेखनीय हैं, क्रमशः 'भगवान बुद्ध (1940), 'हजरत मुहम्मद' (1940), 'स्वामी शंकरानंद' (1942), 'जगद्गुरु शंकराचार्य' (1947), 'श्रीशंकराचार्य' (1950), 'श्री हरिबाबा' (1957), 'हमारे श्री

महाराज जी' (1970) तथा 'चैतन्य महाप्रभु' नाम्नी कृतियों की रचना की। इनमें बलदेव उपाध्याय चिरचित जीवन में जहाँ शंकराचार्य के जीवनचरित, विचारधारा तथा व्यक्तित्व का प्रामाणिक एवं प्रभावी निरूपण है, वहीं दीनदयाल उपाध्याय ने श्शंकराचार्य में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के लिए उपयुक्त प्रेरक व्यक्तित्व के दर्शन किए हैं। 'श्री हरिबाब' को आधुनिक युग का चैतन्यदेव माना जाता है। पंडित ललित प्रसाद कई शताब्दियों तक उनके साथ रहे थे। अतएव, लेखक को रचितनायक के आंतरिक व्यक्तित्व की प्रामाणिक झांकी प्रस्तुत करने में अनायास सफलता मिल गई है। वह उनके रूप, शील, विद्या, तप तथा भगवत् प्रेम का प्रभावी प्रत्यंकन करने में समर्थ हो सका है। 'हमारे श्री महाराज' में आधुनिक भारत के आध्यात्मिक जगत के जाज्वल्यमान नक्षत्र उड़िया बाबा के अहंकारशून्य जीवन का चित्रण है। यह कृति पाठक को चरित–नायक की उस अंतर्भूमि से परिचित कसती है, जो देशसेवा, तप तथा अखंड ब्रह्मरस में निमज्जित थी। अमृतलाल नागर विरचित 'चैतन्य महाप्रभु' एक अत्यंत साधारण कृति बनकर रह गई है। इस कृति के अध्ययन से पाठक के मन पर न तो चैतन्य महाप्रभु के व्यक्तित्व का ही कोई प्रभावी चित्र निर्मित होता है और न तद्युगीन सांस्कृतिक परिवेश ही उजागर हो पाया है। इस वर्ग की रचनाओं का अनुशीलन समाप्त करने से पूर्व रंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर–कृत 'महायोगी' (1955) तथा शिवप्रसाद सिंह–विरचित 'उत्तरयोगी' (1972) पर विचार कर लेना भी आवश्यक प्रतीत होता है। दोनों ही रचनाओं में श्री अरविंद के जीवन को आधार बनाकर उनके बहुआयामी व्यक्तित्व का समग्र विश्लेषण किया गया है। दिवाकर का लक्ष्य जहाँ श्री अरविंद के व्यक्तित्व, कृतित्व तथा उपदेशों का रोचक श्शैली में निरूपण करना रहा है, वहीं शिवप्रसाद सिंह ने श्री अरविंद के कवि, पत्रकार, शिक्षाशास्त्री व क्रांतिकारी आदि उन विविध रूपों को भी उकेरा है, जो चरित–नायक के अध्यात्म–द्रष्टा रूप को पूर्णता प्रदान करते हैं।

वर्तमान युग में भारतीय इतिहास से संबद्ध महापुरुषों की जीवनियाँ लिखने की भी प्रवृत्ति लक्षित होती है।राजनीति से जुड़ी अन्य अनेक विभूतियों के जीवनचरित इस युग में प्रकाशित हुए।उनमें रामनाथ सुमन चद्रगुप्त वेदालंकार ,जगदीश विकल,रामवृक्ष बेनीपुरी,वाल्मीकि चौधरी ,बलराज मधोक, ओंकार शरद,शंभुप्रसाद शाह,वियोगी हरि, वीर सावरकर ,मौलान अबुल कलाम आजाद,श्यामाप्रसाद मुखर्जी,जवहारलाल नेंहरु,डा केशवबलीराम हेडगेवार,माधवसदाशिव गोलवरकर,गोविंद वल्लभपंत, विवेकानंद,जयप्रकाश नारायण आदि की एक लंबी कतार है।

इस संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि शिवाजी के जीवन को आधार बनकर सर्वाधिक जीवनियाँ लिखी गईं। इनमें भी लाला लाजपतराय–विरचित 'छत्रपति शिवाजी' (1939) तथा भीमसेन विद्यालंकार–विरचित 'शिवाजी' (1951) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। लाला लाजपतराय ने जहाँ शिवाजी का मूल्यांकन राष्ट्रीयता के संदर्भ में किया है, वहीं भीमसेन विद्यालंकार ने

इतिहास की सीमारेखाओं में रहते हुए शिवाजी के जीवन का लेखा–जोखा प्रस्तुत किया है। शिवाजी के जीवन पर दो महत्वपूर्ण कृतियाँ यदुनाथ सरकार तथा डेविड किन्केड की हैं। दोनों ही कृतियाँ हिन्दी में अनूदित हैं।यदुनाथ सरकार की रचना ऐतिहासिक जीवनी का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण मानी जाती है। उसमें तथ्यों की प्रामाणिकता केसाथ–साथ कलात्मकता भी देखने के मिलती है। 'विद्रोह का महावीर'1962,शीर्षक से अनूदित डेविड किन्केड–विरचित जीवनी में तथ्यात्मकता तथा औपन्यासिकता का कलातमक सम्मिश्रण है । यह कृति यूरोपीय पाठकों के लिए लिखी गई है। इय युग में जो अन्य जीवन–ग्रंथ लिखे गये ,उनमें श्रीनिवास लाला जी हर्डीकर–विचित 'नानाफ़ड़नवीस–1970 ,नाना साहब पेशवा, रानीलक्ष्मीबाई तथा तात्याटोपे उल्लेखनीय है। वस्तुतः इन कृतियों की संरचनात्मक बुनावट तथा ओजस्वी श्शैली पाठकों को साहित्यिक कृतियों के अध्ययन का आनंद देती है। सीतारमा कोहलरी–विरचित 'रंजीत सिंह'1931, द्वारकाप्रसादशर्मा–कृति 'भीष्मपितामह 1940, जीवनलाल प्रेम–प्रणीत' गुरु गोविंद सिंह 1945,चंद्रबली त्रिपाठी –कृत'धर्मराज युधिष्ठिर 1951, इस वर्ग की अन्य रचनाएं हैं।

इस कालखंण्ड में विदेशी महापुरुषों की जीवनगाथा को आधार बनाकर भी अनेक कृतियां लिखी गयीं। इस दृष्टि से राहुल सांकृत्यायन तथा रमवृक्ष बेनीपुरी के नाम उल्लोखनीय हैं राहुलसांकृत्यायन ने 'स्तालिन'–1913, कार्लमार्क्स–1954, लेनिन–1954, तथा माओ चे तुंग–1956 नामक ग्रंथों की रचना की। इतिहासकार की तरह तटस्थ शैली में लिखी गयीं इन जीवनियों में चरितनायाक के चिंतन–पक्ष को उजागर करने की विशेष प्रवृति परिलक्षित होती है। रामवृक्ष बेनीपुरी–विरचित प्रमुख जीवनियां है :: रोजा लुक्जेम्बुर्ग–1946, तथा कार्लमार्क्स–1951,आदि। बेनपुरी की विशेषता ऐतिहासिक तथ्यों को जीवंत श्शैली में प्रस्तुत करना है। परिणामतः वे सहज रूप से सरस और प्रेरक बन गयीं। बनारसीदास चुतर्वेदी –विरचित 'अराजकतावादी लुई माइकेल –1939, रामइकबाल सिहं –कृति 'स्टालि'1939,लक्ष्मण प्रसाद भरद्वाज कृत–इटली का तानाशाह मुसोलिनी–1940' आदि हैं।

जीवनी लेखन के क्षेत्र में इस युग की सबसे महत्वपूर्ण देन साहित्यकारों के जीवनचरित हैं। कथासम्राट मुंशी प्रेमचंद के जीवन को आधार बना कर सबसे अधिक जीवनियां लिखी गयीं। प्रेमचंद के बचपन से लेकर तमाम उनके जीवन पर जीवनियां तैयार की गईं। प्रेमचंद की पत्नी शिवरानी प्रेमचंद ने 'प्रेमचंद घर में'–1956,में अठ्ठासी उपशीर्षक के अंतर्गत प्रेमचंद के बचपन से ले कर आंतिम दिन तक के संधर्षमय जीवन को पूरी ईमानदारी एवं सच्चाई के साथ प्रस्तुत किया है। ध्यातब्य है कि लेखिका ने कुछ भी नहीं छिपसया है। पति के मतभेदों और विवाद के विन्दुओं को भी नहीं छिपाया है। मदनगोपाल कृत:कलम का मजदूर'तथा कमल किशोर गोयनका का प्रेमचचंद विश्वकोश का प्रमुख ग्रंथ हैं।

विभिन्न क्षेत्रों के प्रमुख व्यक्तियों के जीवन पर स्वतंत्र ग्रंथ लिखने के साथ–साथ

एक ही कृति में अनेक महान आत्माओं के जीवनवृति संकलित कर देने की प्रवृति भी इस काल में पर्याप्त बलबती रही।उदाहरण स्वरूप श्यामजी पाराशर, रामनाथ'सुमन', श्यामनारायण कपूर, राहुलसांकृत्यायन हरिभाऊ उपाध्याय,ब्रह्मवती नारंग,शकुंतला देवी वर्मा,हरिमोहनशर्मा,योगराज थानी ,डां सुरेशचंद्र गुप्त ,ओमप्रकाश सिंहल आदि ने अनेक जीवनियां लिखीं।

इस युग में अन्य भाषाओं के जीवनियों का अनुवाद भी किया गया। इस तरह कहा जा सकता है कि जीवनी समाज के हर प्रमुख व्यक्तित्वों पर लिखी गई चाहे वे राजनेता हो,महापुरुष हो ,वैज्ञानिक हो या संगीतकार, कलाकर, साहित्यकार।

2.6 आत्मकथा

जीवनी–साहित्य के समान इस युग में आत्मकथा लेखन की प्रवृत्ति भी पर्याप्त बलवती रही। साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि विभिन्न क्षेत्रों के व्यक्तियों ने अपने आत्मकथाएँ लिखकर इस विधा को समृद्ध किया। आधुनिक काल के पहले तीन कालखंडों की तुलना में इस कालखंड में साहित्यकारों की आत्मकथाएँ अधिक संख्या में प्रकाशित हुईं। कवियों, कथाकारों, आलोचकों आदि सभी ने अपनी–अपनी आत्मकथाएँ लिखीं। श्यामसुन्दर दास, हरिभाऊ उपाध्याय, राहुल सांस्कृत्यायन, वियोगी हरि, यशपाल, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, श्शांतिप्रिय द्विवेदी, देवेन्द्र सत्यार्थी, चतुरसेन शास्त्री, देवराज उपाध्याय,प्रदुमलाल–पुन्नाला बख्शी, सेठ गोविंददास पांडेय, बेचन शर्मा 'उग्र', संतराम बी.ए. भुवनेश्वर प्रसाद शर्मा, हंशराज रहबर, रामदरश मिश्र आदि कुछ ऐसे महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं, जिनकी आत्मकथाओं का प्रकाशन इसी युग में हुआ। श्यामसुन्दर दास ने 'मेरी आत्मकहानी' (1941)मे अपने जन्म से लेकर सन् 1940 तक की घटानाओं का लेखाजोखा प्रस्तुत किया है। इस आत्मकथा का अधिकांश भागनागरी प्रचारिणी सभा के वर्णनों से आपूर्ण है। यह स्वाभाविक भी था,क्योंकि लेखक के अपने जीवन काल मेंसभा का तथाउसका अपना जीवन अविच्छिन हो गया था। हरिभाऊउपाध्याय की आत्मकथा 'साधना के पथ पर–1945,में लेखक ने सन् 1892 से 1945 तक के जीवनोभवों को लिपिबद्ध किया है। राहुल सांकृत्यायन की कथा पांच खण्डों में 'मेरी जीवन यात्रा' श्शीर्षक से प्रकाशित हुई इनमें से पहले दो खंड उनके जीवन काल में क्र 1946 तथा 47 में प्रकाशित हुए तथा शेष तीन खण्डों का प्रकाशन उनकी मृत्यु के बाद सन् 1967 में हुआ। विभिन्न खंण्डों में राहुल जी के जीवन के साठ वर्ष का पूरा व्योरा है। मुहावरे दार भाषा में लिखी गयी इस कृति में उनकी यायावरी, विद्याव्यसनी एवं विद्रोही वृति साकार हो उठी है।

वियोगीहरि न केवल लोकप्रिय साहित्यकार हैं अपितु महात्मागांधी के सिद्धांतों के अनुयायी और प्रचारक भी हैं। परिणामतः उनकी आत्मकथा 'मेरा जीवन–प्रवाह'–1948 में उनका समाजसेवी रूप अधिक प्रमुख हो उठा है। समाजवादी विचारधारा में आस्था रखने

वाले प्रसिद्ध कथाकार यशपाल की आत्मकथा 'सिंहावलोकन'तीन खण्डों में प्रकाशित हुई।ये खंड क्रमशः 1951,52 तथा 55 में प्रकाशित हुए।स्वामी सत्यदेव परिव्राजक की आत्मकथा 'स्वतंत्रता की खोज में '–1951,एक ऐसे निर्धन तथा नेत्रहीन व्यक्ति की कथा है,जिसने साधहीन होने पर भी मानवीय स्वतंत्रता के प्रचार –प्रसार के निमित्त नाना प्रकार के कष्ट झेलते हुए देश –विदेश में यात्राएं की तथा विचार–स्वातंत्र्य की बात की।लोककथा के श्यशस्वी संग्रहकार देवेन्द्र सत्यार्थी की आतम्कथा के दो भाग 'चांद सूरज के वीरन'–1952, तथा 'नीलयक्षिणी'–1985 प्रकाशित हुए। शिल्प की दृष्टि से यह आत्मकथा अभिनव प्रयोग हैं।चतुरसेन शास्त्री की दो आत्मकथाएं'यादों की परछाइयां–1956' तथा 'मेरी आत्मकहानी'–1963 प्राप्त होती है। हिन्दी के प्रबल पक्षधर तथा समर्थ नाटककार सेठ गोविंददास ने अपनी जीवनकथा 'आत्मनिरीक्षण' (1957) श्शीर्षक से लिखी है। इस आत्मकथा की खूबी यह है कि लेखक ने महात्मा गांधी तथा जवाहरलाल नेहरू तक के विचारों तक की आलोचना करने में झिझक नहीं दिखाई है।इस आत्मकथा से भारतीय स्वाधीता आंन्दोलन का इतिहास भी संबंध हो गया है।देवराज उपाध्याय की आत्मकथा दो भागों में है–'बचपन के दो दिन'–1958,तथा यौवन के द्वार पर–1970, प्रकाशित हुई।इनमें मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्राप्त होता है। हिंदी के प्रसिद्ध निबंधकार पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने 'मेरी अपनी कथा'–1958 में अपने जीवन पर कम तथा अपने समय के साहित्यकारों एवं साहित्यिक परिवेश पर अधिक प्रकाश डाला है।पांडेय बचनेशशर्मा उग्र ने 'अपनीखबर'–1960 में अपने जीवन के प्रारंभिक इक्कीस वर्षो की घटनाओं को वाणी दी।

डॉ. भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र माधव ने अपने जीवन के प्रमुख मोड़ों को 'जीवन के चार अध्याय' (1967) में निबद्ध किया है। यह कृति लेखक के अपने सम्पर्क में आए व्यक्तियों के जीवंत संस्मरण भी पिरोए हुए हैं। हरिवंशराय बच्चन की आत्मकथा 'क्या भूलूँ क्या करूँ' (1969), 'नीड़ का निर्माण फिर' (1970), 'बसेरे से दूर' (1977) तथा 'दशद्वार से सोपान तक' (1985) श्शीर्षकों से चार खंड़ों में प्रकाशित हुई है। इन चारों खंड़ों के अध्ययन से पाठक को लेखक की रचनाप्रक्रिया, भौतिक तथा वृंदावनलाल वर्मा की 'अपनी कहानी' (1972) उनके जीवन–संघर्ष, साहसी स्वभाव, शिकारी प्रवृत्ति, साहित्य–जगत में प्रवेश, लेखन–प्रेरणा आदि को रूपायित करती हैं, तो रामावतार अरुण की 'अरुणायन' (1974) में उनके जीवन तथा लेखन का विवरणात्मक इतिहास है। कृष्णचंद्र की आत्मकथा 'आधे सफर की पूरी कहानी' (1979) न तो तिथिक्रम से लिखी गई है और न उसे आत्मपरिचय का साधन बनाया गया है।इसमें तो लेखक ने अपने जीवन को देश जीवन के साथ गूंथ कर प्रस्तुत किया है। कविकथाकार रामदरश मिश्र की तीन भागों में प्रकाशित आत्मकथा का केवल एक खंड 'जहां में खड़ा हूं'–1984 ही प्रकाशित हुआ।

इस कालखंड में राजनीतिक व सामाजिक क्षेत्र में काम करने वाले अनेक व्यक्तियों की आत्मकथाएँ भी प्रकाशित हुईं। इनमें राजेन्द्र प्रसाद, भवानीदयाल संन्यासी, गणेशप्रसाद वर्णी,

अजितप्रसाद जैन, अलगूराय शास्त्री, जनकी देवी बजाज, नरदेव शास्त्री, बलदेवराज धवन, पृथ्वीसिंह आजाद, आबिदअली, चतुर्भुज शर्मा, सुखदेवराज, मोरारजी देसाई तथा बलराज मधोक के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।इनमें सर्वश्रेष्ठ कृति डां. राजेन्द्र प्रसाद 'कृत'आत्मकथा'–1947 है। इस आतमकथा के प्रारंभिक भाग में लेखक का पारिवारिक जीवन है तो उत्तरार्द्ध में राजनीतिक जीवन को वाणी मिली है।उत्तरी भारत के सामाजिक रीति–रिवाज,धार्मिक व्रत,मांगलिक उत्सव,स्वच्छंद ग्रामीण जीवन आदि की मनोरम झांकी मिलती है। भगवानदीन संन्यासी की आत्मकथा'प्रवासी की आत्मकथा'1947,में दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों की आत्मकथा है। जानकी देवी बजाज–कृत'मेरी जीवनयात्रा'–1956 इस अर्थ में महत्वपूर्ण हैकि वे पहली महिला हैं,जिनकी आत्मकथा हिंदी में प्रकाशित हुई है। इसमें लेखिका ने अपने बचपन से लेकर पति की मृत्यु तक के जीन की घटनाओं को निबद्ध किया है। यह आत्मकथा अपने हांथ से न लिखकर रिषभदास रांका को बोल कर लिखया है । फिर यह आत्मकथा उनके पति तथा महात्मा गांधी एवं अन्य अनेक शीर्षस्थ नेताओं के संपर्क में ओ का अवसर प्राप्त हुआ था। फलतः यह कृति भारतीय स्वाधीनता –आंन्दोलन के अनेक अछूते पहलुओं को संजोए हुए है।नरदेव शास्त्री दक्षिण भारतीय होते हुए भी हिंदी में आत्मकथा लिखी।भारतीय राजनीति के चर्चित व्यक्तित्व बलराज मधोक की चार खंडों में प्रकाशित आत्मकथा का पहला खंड 'जिंदगी का सफर–1986' में उनके जन्मसे ले कर तीस वर्षो तक की कथा है।एक निश्चित धार्मिक ,राजनतिक प्रतिबद्धता के बावजूद यह कृति भारतीय राजनीति को नागपाश की तरह बांधे सांप्रदायितकता के संदर्भ को एक व्यापक परिपेक्ष्य में प्रस्तु करती है।इस युग में हिंदी के आत्मकथा –साहित्य को अपनाकर पत्रकारों आध्यापकों,वकीलों,फिल्मी कलाकारों ,पुलिसकर्मियों ने अपनी आत्मकथाएं लिखीं। पत्रकारों में मूलचंद अग्रवाल तथा इंन्द्र विद्यावाचस्पति ने अपनी आत्मकथाएँ लिखीं।

आलोच्य युग में देश–विदेश के अनेक व्यक्तियों की आत्मकथाओं के भारत तथा विश्व की विभिन्न भाषाओं से अनुवाद भी प्रकाशित हुए। भारतीय लेखकों में के. एम. मुंशी, काका कालेलकर, विनायक दामोदर सावरकर, डॉ. राधाकृष्णन, अबुल कलाम आजाद, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, वेद मेहता जोश मलीहाबादी, अमृता प्रीतमा, कमला दास, मिलखा सिंह, मुहम्मद यूनुस, बलवंत गार्गी तथा करतासिंह दुग्गल, कर्ण सिंह आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, तो विदेशी लेखकों में हिटलर, ठॉल्सटाय, एंक्रमा, हैलेन केलर, खान अब्दुल गफार खाँ की आत्मकथाएँ उल्लेखनीय हैं।

2.7 स्मरण और रेखाचित्र

आधुनिक युग में संस्मरण तथा रेखाचित्र–साहित्य के विकास एवं उन्नयन की दिशा में 'हंस' का रेखाचित्र–विशेषांक (मार्च, 1939, संपादकः श्रीपतराय) सर्वश्रेष्ठ उल्लेखनीय हैं। इसमें हिन्दी ही नहीं, उर्दू, बंगाला, मराठी, गुजराती, तमिल, कन्नड़ आदि भाषाओं के लेखकों

के भी रेखाचित्र प्रकाशित किए गए। वैसे, इन विधाओं के हिन्दी लेखकों में बनारसीदास चतुर्वेदी (1982) का अन्यतम स्थान 'मधुकर' के रेखाचित्र–विशेषांक (1946) का संपादन करने के अनंतर उन्होंने 'हमारे आराध्य' (1952) और 'संस्मरण' (1953) शीर्षक संस्मरणात्मक रचनाओं तथा 'रेखाचित्र' (1952) एवं 'सेतुबंध' (1952) शीर्षक रेखाचित्र संग्रहों को प्रस्तुत किया।

संस्मरणों मे उन्होंने अपने संपर्क में आने वाले व्यक्तियों की कटु–मधुर स्मृतियों का प्रत्यांकन करते हुए उनकी विशेषताओं को उभारा है तथा रेखाचित्रों में देशप्रेम एवं राष्ट्रीयता को प्रमुखता प्राप्त हुई है। रामवृक्ष बेनीपुरी अपने अद्‌भुत शब्द–शिल्प के लिये प्रख्यात हैं।'लाल तारा','माटी की मूरते,' 'गेहूं और गुलाब' तथा 'मील के पत्थर' इनकी प्रसिद्ध कृतियां हैं। यर्थाथ के साथ कल्पना और भावुकता का समन्वय,विषय–वैविध्य तथा शब्दों एवं वाक्यांशों का संयत प्रयोग बेनीपुरी के लेखन की कतिपय ऐसी विशेषताएं हैं,जो पाठक की स्मृतियों में सदा–सदा के लिए अपना स्थान बना लेती हैं।

हिन्दी के संस्मरणात्मक रेखाचित्र–साहित्य की श्रीवृद्धि में महादेवी वर्मा ने अत्याधिक महत्वपूर्ण योगदान किया है। 'अतीत के चलचित्र' (1941), 'स्मृति की रेखाएँ' (1947), 'पथ के साथी' (1956), 'स्मारिका' (1971) और 'मेरा परिवार' (1972) उनके उल्लेखनीय रेखाचित्र–संग्रह हैं। यद्यपि महादेवी की रचनाओं की विधा के संबंध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद रहा है।इन्हे निबंध,संस्मरण,और कहानी मेंसे कोई एक संज्ञा भी दी जाती रही है।किंतु अधिकांश विद्वान उन्हें संस्मरणात्मक रेखाचित्र ही मानते हैं। अपने संपर्क में आने वाले शोषित व्यक्तियों ,दीन–हीन नारियों ,साहित्यकारों ,जीव–जंतुओं आदि का संवेदनात्मक चित्रण उन्होंने अत्यंत मार्मिक रूप से किया है।

रेखाचित्र तथा संस्मरण के तत्वगत लेखकों में प्रकाशचन्द्र गुप्त (1908–1970) का स्थान 'काफी स्मृतिएँ (1947)' में इनके स्मृतिचित्र संकलित हैं, तो 'रेखाचित्र' (1940) में निर्जीव वस्तुओं, सीनों आदि पर लिखे गए रेखाचित्र हैं। अन्य संस्मरण लेखकों में राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह (1890–1971) का नाम भी उल्लेखनीय है। संस्मरणमूलक कहानियाँ लिखने में वे अप्रतिम हैं। ऐसे ही एक कहानी–संग्रह 'टूटा तारा' (1940) में संकलित 'मौलवी साहब' तथा 'देवी बाबा' शीर्षक संस्मरण विशेषतः पठनीय हैं। सार्थक विशेषणों, विशिष्ट उपमाओं एवं ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग उनकी शैलीगत विशेषताएँ हैं। विनयमोहन शर्मा (1905–1993) कहैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' कृत "जिंदगी मुसकराई' (1953) में संकलित संस्मरण तथा 'माटी हो गई सोना' एवं 'दीप जले शंख बजे' (1959)' में संगृहीत रेखाचित्र भी उल्लेखनीय हैं।

शिवपूजन सहाय (1993–1962) के संस्मरण तथा रेखाचित्र 'वे दिन लोग' (1965) में संकलित हैं। व्यंग्य विनोद से पुष्टि मुहावरेदार भाषा में लिखित उनके संस्मरणात्मक

रेखाचित्र में चित्रोपमता का गुण कूट–कूट कर भरा है। सत्यवती मल्लिक के संस्मरण और रेखचित्र 'अमिट रेखाएं'' में संकलित हैं। देवेंद्र सत्यार्थी (1908–2003) भावात्मक संस्मरण तथा रेखाचित्र लिखने के लिए प्रख्यात हैं। 'रेखाएँ बोल उठीं। 'रेखाएँ और चित्र' (1955), 'मंटो मेरा दुश्मन' (1956)' और 'ज्यादा अपनी कम परायी' (1959) में हिन्दी के प्रतिष्ठित कथाकार तथा नाटककार उपेन्द्रनाथ अश्क के संस्मरण और रेखाचित्र संकलित हैं। राहुल सांकृत्यान (1993–1963) का संस्मरण साहित्य 'बचपन की स्मृतियाँ' (1955), 'जिनका मैं कृतज्ञ' (1957) तथा मेरे असहयोग के साथी' में संकलित हैं।बोलचाल की प्रवाहपूर्ण शैली में अपने हृदय की भावुकता को व्यक्त करते हुए तथा अपने संपर्क में आने वाले छोटे–बड़े तथा मामूली,महान,सभी व्यक्तियों को समा रूप से महत्व देते हुए मर्मस्पर्शी रचनाओं का प्रणयन किया है।

डॉ. नगेन्द्र ने भी कुछ भावभीने स्मृतिचित्र लिखे हैं। 'चेतना के बिंब' (1967) में संकलित ऐसी रचनाओं में विश्लेषण की गंभीरता तथा तटस्थता पर अधिक बल रहा है। जगदीशचन्द्र माथुर की कृतियों–'दस तस्वीरें'तथा 'जिन्होंने जीना जाना' (1971) में मानव–मन के भीतरी भावों को प्रांजल भाषा–शैली में अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। सेठ गोविन्ददास (1996) में भी 'स्मृति–कण' (1959) में संस्मरण–शैली तथा 'चेहरे जाने–पहचाने' (1966) में रेखाचित्र–शैली को अपनाया है। युग की विषताओं का सशक्त चित्रण उनकी प्रमुख विशेषता है।

माखनलाल चतुर्वेदी, रामधीरसिंह 'दिनकर' तथा 'हरिवंशराय बच्चन' भी इस विधा के उल्लेखनीय हस्ताक्षर हैं। चतुर्वेदी ने 'समय के पांव' (1962) में अनेक भावपूर्ण रेखाचित्र अंकित किए हैं। उनकी रचनओं में 'लोकवेद नेहरू' (1965) तथा संस्मरण और श्रद्धांजलियाँ' (1969) उल्लेखनीय हैं, हरिवंशराय 'बच्चन' की उल्लेखनीय कृति है 'नए पुराने झरोखे' (1962), जिसमें प्रेमनारायण टंडन की 'रेखाचित्र' (1959), इंन्द्र विद्यावाचस्पति की 'मैं इनका ऋणी हूँ' (1959), 'कुछ स्मृतियाँ और स्फुट विचार' (1962), हरिभाऊ उपाध्याय की 'मेरे हृदय–देव' (1965), अमृतलाल नागर की ' जिनके साथ जिया' (1973), परिपूर्णानंद की 'बीती बात के' (1976), प्रसिद्ध क्रांतिकारी भगतसिंह की 'मेरे क्रांतिकारी साथी' (1977), कृष्णा सोबती की 'हम हशमत' (1977), भारतभूषण अगवाल की 'लीक–अलीक' (1980), डॉ. रामकुमार वर्मा की 'संस्मरणों के सुमन' (1982), विष्णु प्रभाकर की 'मेरे अग्रज: मेरे मीत' (1983), फणीश्वरनाथ रेणु की 'वनतुलसी की गंध' (1984) तथा भगवतीशरण सिंह की 'रस गगन गुफा में' (1986) इन विधाओं की अन्य उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

हिन्दी–संस्मरण–साहित्य को बंगाली, गुजराती, पंजाबी, उर्दू, अँग्रेजी आदि से अनूदित अनेक रचनाओं ने भी समृद्ध किया है। बंगला अनूदित साहित्य मे हजारीप्रसाद द्विवेदी–अनूदित रवींद्रनाथ ठाकुर की रचना 'मेराबचपन' ,गुजराती से अनूदित मनु बहन गांधी की रचनाएं'बा–मेरी मों, तथा 'बा और बापू की शीतल छाया मैं'पंजाब से अनूदित साहित्य में अमृता प्रीतम की रचना

'अतीत की परिछाइयां तथा नयनतारा सहगल द्वारा अंग्रेजी में लिखित पुस्तक' प्रिजन एंड़ चाकलेट केक',मुकुंदीलाल श्रीवास्तव का अनूदित 'मेरा बचपन'आदि उल्लेखीय कृतियां हैं। नयनतारा सहगल की कृति में नेहरु परिवार की आंतरिक झांकी और भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की जानकारी प्राप्त होती है।

संस्मरण–साहित्य की सबसे अनमोल निधि वे पत्र–पत्रिकाएँ हैं, जिनमें ये नियमित रूप से प्रकाशित होते रहे हैं। सरस्वती में 'मनोरंजक संस्मरण',नई धारणा में 'मुझे याद है',धर्मयुग में 'एक दिन की बात', 'अविस्मरणीय', जब मैं सोलह साल की थी' आदि शीर्षकों के अंतर्गत संस्मरण प्रकाशित हुए हैं। सारिका ने तो पूरे के पूरे अंक निकाले हैं।संस्मरणों का यह भंडार परिमाण और गुणवत्ता दोनों दृष्टियों से श्रेष्ठ है।इन संस्मरणों की विशेषता यह है कि इसमें जीवन के सभी क्षेत्रों को लिया गया है,कलाकार ,वैज्ञानिक, खिलाड़ी,राजनेता,दार्शनिक सभी के संस्मरण मिलते हैं। पत्र–पत्रिकाओं के अतिरिक्त अभिनंदन तथा स्मृतिग्रंथों में भी संस्मरण मिलते हैं। संस्मरणों की मौलिक विशेषता यह है कि इसमें सूझबूझ,प्रशासन–क्षमता,अदम्य धैर्य एवं साहस तथा अनान्य सहज मानव–गुणों को उद्घाटित किया गया है।

2.8 रिपोतार्ज

'रिपोर्ताज' फ्रांसीसी भाषा का शब्द है तथा इसकी गणना नव्यतम साहित्यरूपों के अंतर्गत की जाती है। जिस रचना में वर्ण्य विषय का आंखों देखा तथा कानों सुना ऐसा विवरण प्रस्तुत किया जाए कि पाठक की हृत्तंत्री के तार झंकत हो उठें और वह उसे भूल न सके, उसे 'रिपोर्ताज' कहते हैं। 'रिपोर्ट' से यह इस अर्थ में भिन्न है कि उसमें जहाँ कलात्मक अभिव्यक्ति का अभाव होता है। तथा तथ्यों का लेखा जोखा मात्र रहता है।वहीं रिपोतार्ज में तथ्यों को कलात्मक और प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त किया जाता है। इस रचनाविधा का प्रादुर्भाव सन् 1939 के आसपास द्वितीय विश्वयुद्ध के समय हुआ था। रूसी साहित्यकारों ने इसका विशेष प्रचार प्रसार किया।तथा इलिया एहरेनबुर्ग ने रिपोतार्ज की लेखन परंपरा के रूप में काफी प्रतिष्ठा प्राप्त की।हिन्दी में रिपोर्ताज–लेखन की परंपरा शिवदान सिंह चौहान की रचना 'लक्ष्मीपुरा' (रूपाभ, दिसंबर–1983) से आरंभ हुई। 'समाचार और विचार' तथा 'अपना देश' स्तंभों के अंतर्गत भी उनकी इस शैली की अनेक रचनाएँ प्रकाशित हुईं, जिनमें 'मौत के खिलाड़ी जिंदगी की लड़ाई' विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं।

बंगाल दुर्भिक्ष तथा महामारी के संदर्भ में रांगेय राघव द्वारा 'विशाल भारत' के लिए लिखित रिपोर्ताज भी अपनी मार्मिकता के लिए प्रसिद्ध हैं। अकालग्रस्त क्षेत्र में पहुँचकर उन्होंने पूँजीपतियों, व्यापारियों तथा मुनाफाखोरों के अमानवीय कृत्यों और भूख से बिलबिलाते नर–कंकालों पर जो मर्मस्पर्शी रिपोर्ताज लिखे, वे आगे चलकर 'तूफानों के बीच' (1946) में संकलित व प्रकाशित हुए।

प्रकाशचन्द्र गुप्त, उपेन्द्रनाथ अश्क तथा रामनारायण उपाध्याय ने अपने रिपोर्ताजों

के स्वंतत्र संग्रह प्रकाशित करने के स्थान पर उन्हें अपनी अन्य विषयक कृतियों में संकलित कर डाला है। प्रकाशचन्द्र गुप्त ने घटनाप्रधान रिपोर्ताज लिखे हैं जो उनके रेखाचित्र–संग्रह 'रेखाचित्र' में संगृहीत हैं। 'स्वराज्य भवन', 'अल्मोड़े का बाजार' और 'बंगाल का अकाल' उनके उल्लेखनीय रिपोर्ताज हैं। उपेन्द्रनाथ अश्क के रिपोर्ताज 'रेखाएँ और चित्र' (1955) में संकलित हैं। 'पहाड़ों में प्रेममय संगीत उनका उल्लेखनीय कथात्मक रिपोर्ताज है। रामनारायण उपाध्याय के रिपोर्ताज उनके व्यंग्यात्मक निबंधों के संग्रह 'गरीब और अमीर पुस्तकें' (1958) में संग्रहीत हैं। 'नववर्षांक समारोह में' उनका एक अत्यंत उत्कृष्ट रिपोर्ताज है, जिसमें ज़न्मदिन–समारोह, अभिनंदन–समारोह, ग्रंथ–विमोचन–समारोह आदि के पैटर्न पर आयोजित पत्रिकाओं के नववर्षांक–समारोह की अच्छी खबर ली गई है।

रिपोर्ताज–लेखन की दिशा में कतिपय अन्य उल्लेखनीय हस्ताक्षर हैं– डॉ. धर्मवीर भारती, कहैन्यालाल मिश्र, प्रभाकर, शमशेरबहादुर सिंह, श्रीकांत वर्मा, तथा फणीश्वरनाथ रेणु, जिन्होंने क्रमशः 'देश की मिट्टी बुलाती है,', 'वे लड़ेंगे हजार साल' (1966), 'युद्ध–यात्रा' (1972), 'क्षण बोले कण मुस्काएँ', 'प्लाट का मोर्चा', अपोलो का रथ' तथा ऋणजल धनजल' (1975) सदृश सशक्त रचनाओं के माध्यम से रिपोर्ताज –लेखन को नए पथ, ज्ञानोदय, कल्पना, माध्यम, साप्ताहिक हिंदुस्तान, धर्मयुग, दिनमान आदि पत्रिकाओं में समय–समय पर अनेक महत्वपूर्ण रिपोर्ताज प्रकाशित हुए हैं, जिनमें डॉ. भगवतशरण उपाध्याय, फणीश्वरनाथ रेणु, रामकुमार, विवेकीराय, कैलाश नारद, जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी, निर्मल वर्मा, सतीकुमार, श्रीकांत वर्मा, कमलेश्वर आदि लिखित 'खून के छींटे', 'एकलव्य के नोट्स', 'पेरिस के नाट्स', 'बाढ़! बढ़!! बढ़!!!', 'चीनियों द्वारा निर्मित काटमांडू–ल्हासा सड़क,', प्रायः एक स्वप्न', क्या हमने कोई षड्यंत्र रचा था', 'मुक्ति फौज' और 'क्रांति करते हुए आदमी को देखना' विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं।'

2.9 इकाई सारांश/याद रखने की बातें

1. छायाबादोत्तर काल का साहित्य हमारे सामने अपने विविध रूपों में आता है। जहां एक ओर काव्य के विविध रूप अपने नए कलेवर,रूप,शिल्प ,विषय वस्तु के साथ सामने आते हैं उसी तरह गद्य ने भी अपनी परंपरा से थोडा सा अपना रूप परिवर्तन कर नया कलेवर ले कर युग के साथ आता है।
2. आज गद्य साहित्य में विधाओं की संख्या बढ़ी है। जीवनी, आत्मकथा,यात्रावृत ,संस्मरण, रेचाचित्र, साक्षात्कार, पत्र, दैनंदिनी, गद्यकाव्य और रिपोतार्ज को सम्मिलित किया गया है।
3. कोई देश जब स्वाधीन होता है तो उसका जन मानस हीं स्वतंत्र नहीं होता उसकी कला,उसकी शिक्षा,उसका साहित्य सभी कुछ स्वतंत्र होते हैं।अभिव्यक्ति का जो दौर संघर्ष का होता है वहीं समन्वय के साथ नव निर्माण,और सामाजिक सरोकरों से

जुड़ता है।

4. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मनोविकारों संबंधी निबंधों के साथ ही वैचारिक निबधों को उत्कर्ष की चरम ऊँचाई पर पहुँचा दिया था।

5. इस काल के सबसे महत्वपूर्ण निबंधकार हजारी प्रसाद द्विवेदी हैं। उनके ललित निबंधों में सांस्कृतिक विरासत के वर्चस्व के साथ नवीन जीवनबोध, उत्कष्ट जिजीविषा और नई सामाजिक समस्याओं के बीच राह पाने की ललक सर्वत्र दिखाई पड़ती है।

6. इस काल में जैनेंद्र का स्थान भी निबंध में मिलता है कारण उनके उपन्यासों की दार्शनिकता उनके निबंधों में मुखरित हो उठता है।उन्होंने अपने निबंध में धर्म,राजनीति,संस्कृति,साहित्य सेक्स,काम ,प्रेम विवाह आदि विषयों पर व्यक्त किये ।'जड़ का श्रेंय''साहित्य क श्रेय और प्रेय,'सोच–विचार,''मंथन,'ये और वे,'इस्तत:'आदि उनके निबंध–संग्रह है।

7. रामधारी सिंह 'दिनकर' भी समय–समय पर महत्वपूर्ण निबंध लिखते रहे हैं। 'अर्धनारीश्वर', 'मिट्टी की ओर', 'रेती के फूल', 'हमारी सांस्कृतिक एकता', 'प्रसाद', पंत और मैथिलीशरण', 'राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय साहित्य' आदि उनके अनेक निबंध–संग्रह हैं।उनके निबंधो में मानवीय आस्था का प्रतिफलन हुआ है। इसका आधार या तो मनोवैज्ञानिक है या सांस्कृतिक। इन दोनों आधार के कारण वे अपनी बात को पूर्ण विश्वसनीयता के साथ रखते हैं।

8. समीक्षात्मक निबंधकारों में वैयक्तिकता का सर्वाधिक संस्पर्श डां.नगेंद्र के निबंधों में मिलता है। कवि–कल्पना और मनोवैज्ञानिक दृष्टि उनके व्यक्तित्व के अपरिहार्य अंग हैं। इसीलिए 'यौवन के द्वार पर' प्रभृति निबंधों में व्यक्तिव्यंजक निबंधों निबंधों की निर्बंधता और आत्मीयता आ गयी है।

9. अज्ञेय अपने निबंधों में अपना अनुभूत लिखते हैं: 'त्रिशंकु', और 'हिन्दी–साहित्य: एक आधुनिक परिदृश्य' में संग्रहीत निबंधों में अनुभूत का वैचारिक विश्लेषण मिलता है। निजीपन उनकी विशेषत है तो यहीं उनकी खामी भी।'हिंदी–साहित्य:एक आधुनिक परिदृश्य' के अधिकांश निबंधों को उनके चिंतन के अगले चरण के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

10. रामवृक्ष बेनीपुर के निबंध 'गेहूँ और गुलाब' (1950) तथा 'वंदे वाणी विनायकौ' (1957) में संग्रहीत हैं। 'गेहूँ' भूख का प्रतीक है, तो गुलाब कला और संस्कृति का।मानव जीवन में भूख और कला दोनों का महत्व है।

11. वासुदेवशरण अग्रवाल ने जहाँ 'पृथिवीपुत्र' तथा 'कला और संस्कृति' के निबंधों में भारतीय संस्कृति के विविध आयामों को विद्वत्तापूर्ण ढंग से उद्घाटित किया है।वहीं यशपाल ने अपने कथासाहित्य की भांति निबंधों में भी मार्क्सवादी दृष्टिकोण को ग्रहण

किया है।

12. इसकाल के लेखकों में प्रभाकर माचवे,विद्यानिवास मिश्र,धर्मवीर भारती,शिवप्रसाद सिंह कुबेरनाथ राय,ठाकुर प्रसाद सिंह आदि के ललित निबंधों कें संग्रह प्रकाशित हुए हैं।

13. विद्यानिवास मिश्र की तरह कुबेरनाथ राय भी हजारीप्रसाद द्विवेदी संस्थान के निबंधकार हैं, फर्क यह है कि मिश्र जी द्विवेदी जी के प्रभाव से मुक्त नहीं हैं, जबकि कुबेरनाथ राय उनसे मुक्त होकर नई भंगिमा अपनाने के लिए निरंतर प्रयत्नशील हैं।

14. कुबेरनाथ राय के निबंध–संग्रह हैं– 'प्रिया नीलकंठी', 'रस आखेटक', 'गंधमादन' और 'विषाद योग' में सांस्कृतिक संदर्भों से फूटते हुए जीवन के आधुनिक आयामों तथा उनमें से झांकते जीवन को देखा जा सकता है।

15. कुबेरनाथ राय स्वयं अपने बारे में रामायण महातीर्थम में लिखते है–" तब मैं आधुनिक अंग्रेजी –साहित्य ,शेक्सपीयर, लैंब, हैजलिट तथा रवींद्रनाथ के प्रभाव से परिपूर्ण था और असम–बंगाल का साहित्यिक वायुमंडल सुनील गांगुली के 'क्षुधितपीढ़ी' आंदोलन से आविष्ट था। मेरी गद्य–भंगिमा शैक्सपीयर के मनमौजी और उच्छृखल गद्य का तथा रवीन्द्रनाथ के मनमौजी,परंतु शालीन गद्य का संयुक्त प्रभाव पड़ा। संभवतः उन्मुक्त और शालीन दोनों का यह संयुक्त प्रभाव ही मेरी गद्य–भंगिमा को समकालीन ललित निबंधकारों से अलग करता है।मैंने अपने विशुद्ध देशी संस्कारों की भूमि पर खड़े होकर दोनों के बीच'रचनात्मक सामंजस्य' अर्जित करने की चेष्टा की है।"

16. निबंधों की अद्यतन स्थिति का समझने के लिये हिन्दी– निबंध को दो भागों में बांट सकते हैं।यथा–(1975 से 1981) तथा (1981 से 2005) तक।

17. संस्माराणात्मक निबंधो की पुरस्कृति कृति 'स्मृति लेखा' –1982, हिंदी में निबंध विधा को एक नया सर्जनात्मक आयाम देती है। 'स्मृतिलखा' एक प्रकार से हिंदी के विशिष्ट आधुनिक रचनाकारों का स्मृति परक इतिहास हैं जिसमें भविष्य के हिंदी –साहित्य के इतिहास लेखकों के लिए बहुत सामाग्री है।

18. इधर हजारी प्रसाद के ऐतिहासिक ,सांस्कृतिक बोधपरक सृजनात्मक ललित विचार चेतना को पं विद्यानिवास मिश्र के निबंधों ने आधुनिक विस्तार दिया है।

19. इनकै निबंधों में लोकसंवेदना और लोकहृदय की पकड़ बड़ी मर्मस्पर्शी है। इन ललित निबंधों के संवेगों की गंध प्राणों को जातीय स्मृति,देशाभिमान ,सस्कृति का उज्ज्वल राग–रंग और एतिहासिक विवके से तादात्म्य कराती हुई चेतना में रच–पच जाती है ।

20. पश्चिमी संस्कृति का नकली अनुकरण और आज के मानव का खोखलापन मिश्र जी

के निबंधों में दर्द बन कर उभरता है, ,शिक्षा,संस्कृति और साहित्य इन ललित निबंधों के तीन नेत्र हैं,इन्हीं से होते हुए वे 'नया अर्थ' पाते हैं।

21. मिश्र जी ने साफ कहा हैं,"वैदिकसूत्रों के गरिमाय उद्गम से ले कर लोकगीतों के महासागर तक जिस अविच्छिन्न प्रवाह की उपलब्धि होती है उस भारतीय परंपरा का मैं स्नातक हूं"।

22. इसी चिंतनधारा के प्रवाह से मिश्र जी कृतियां हैं–'परंपरा बंधन नहीं ','मेरे राम का मुकुट भींग रहा है','वसंत आ गया पर कोई उत्कंठा नहीं; ,'कटीले तारों के आर–पार', 'संचारिणी','कौन तू फुलवा बीनन हारी', 'अस्मिात के लिए', 'भ्रमरानंद के पत्र,'अंगद की नियति,'चितवन की छांव,'कदम की फूली डाल,'तुम चंदन हम पानी,'आंगन का पंछी और बंजारा मन, 'मैने सिल पहुचाई ','साहित्य की चेतना,'हमारे भारत का काव्यार्थ,'लागौ रंग हरी, तथा 'अग्निरथ'जैसे निबंध –संग्रहों की एक लंबी परंपरा है।

23. मिश्र जी के निबंधों का संसार इतन बहुआयामी है कि प्रकृति, लोकतत्व, बौद्धिकता, सर्जनात्मकता, कल्पनाशीलता, काव्यात्मकता,रम्यरचनात्मकता,भाषा की उर्वर सृजनातमकता, संप्रेषणीयता आदि सभी इन निबंधों में एक साथ अंतग्रथित मिलती हैं।

24. समीक्षात्मक बिंबों में अपनी प्रखर बौद्धिकता और विवेकात्मक वयस्क वैचारिकता के क्षेत्र के सबसे प्रबल निबंधकार हैं–गजानन माधव मुक्तिबोध।

25. मुक्तिबोध का कहना है "यदिपरंपरा हमेशा परिवर्तन और वैपरीत्य की दिशाओं में फूटती हुई चलती है तो अज्ञेय आगे के इतिहासकार को प्रसाद की परंपरा में ही दिखाई पडेगें।"

26. सभी निबंधों में निर्मल वर्मा की बुनियादी चिंता यही है कि "एक संपूर्ण समाज में सृजनात्मक कल्पना की भूमिका का पुनाविष्कार कैसे किया जाये।"

27. निर्मल वर्मा मानते हैं कि भारतीय चरित्र का निर्माण दो पाटों के मध्य हुआ –व्यावहारिक स्तर पर इतिहास को स्वीकारा और चिंतन–स्तर पर उसके दबाव की उपेक्षा की।

28. "संस्कृति,समय और भारतीय उपन्यास'निबंध में एक नई बहस उठी है,"उपन्यास की अर्थवत्ता यथार्थ में नहीं,उसे समेटने की प्रक्रिया में ,उसके संघटन की अंदरूनी चालक शक्ति में निहित है।"

29. वे मानते है कि "हमारे युग का विशिष्ट अभिशाप यह है कि जहां कला एक तरफ मनुष्य के कार्यकलाप से विगलित हो गयी है ,वहीं दूसरी तरफ वह स्वायत सत्ता भी नहीं बन सकी है,जो स्वयं मनुष्य की खंडित अवस्था को अपनी स्वतंत्र गरिमा से अनुप्राणित कर सके।

30. डां.रामविलासशर्मा की निबंध–शैली हिंदी–गद्य में ,स्वच्छता ,प्रखरता अरैर वैचारिक संपन्नता के लिए वरदान सिद्ध हुई है।

31. विरामचिंह की भूमिका में डां.रामविलासशर्मा लिखते हैं "आपसदारी में कह दूं कि मेरे निबंधो का यह सबसे अच्छा संग्रह है। यह बात दूसरी है कि मेरा कोई भी निबंध–संग्रह अच्छा न बन पडा हो ,किंतु उंनमें अंधो में काने राजा के समान ही सहीं, यह 'विरामचिंह' सर्वोपरि है।"

32. ऐसे ही रधुवीर सहाय ने निबंधों को नए ढर्रे में ढाला। उनके निबंध संग्रह हैं–'लिखने के कारण–1978','दिल्ली मेरा परदेश–1978', 'वे और होंगे जो मारे जायेगें–1983','ऊबे हुए सुखी–1982',आदि ।

33. नए निबंधकारों में रमेशचंद्रशाह का नाम आता है।शाह के निबंध संग्रह हैं– 'समानांतर,' 'वागार्थ','शैतान के बहाने' आदि।

34. अज्ञेय जी की भांति शाह को भी इतिहास,परंपरा तथा संस्कृति की चिंता मथती रहती है।

35. 'साहित्य में आज का गतिरोध 'में शाह लिखते हैं–"गांधी जी को इस देश की नैतिक सामर्थ्य का सही अनुमान नहीं था और उन्होंने चाहे अनचाहे उस पर बहुत अधिक दबाव डाला।सशस्त्र क्रांति की चेष्ट से जुडी हुई युवा ऊर्जा अप्रासंगिक कर दी गयी। कालांतर में धीरे–धीरे वह राष्ट्रजीवन में अपनी असली हिस्सेदारी से वंचित होती गयी। क्रातिकारी अकेला पड़गया और राजनीति तथा अर्थनीति पर वहीं शक्तियां हावी होती गयीं,जो मूलतःक्रांतिविरोधी चरित्र की है।"

36. हिन्दी–साहित्य के प्रतिष्ठित निबंधकारों में डॉ. नगेन्द्र, डॉ. देवराज, महादेवी वर्मा, विजयेन्द्र स्नातक, केशव वर्मा, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वर, रामेश्वर शुक्ल, 'अंचल' बराबर सक्रिय रहे हैं।

37. जानकीवल्लभ श्शास्त्री ने मन की बात' तथा 'जो न बिकसकी' निबंध–संग्रहों में क्लासिकल संवेदना का उदात्त रूप सामने रखा है।

38. इधर माखनलालचतुर्वेदी–रचनावली, रांगेय राघव –रचनावली, राहुल सांकृत्यायन के श्रेष्ठ निबंध ' तथा गुलेरी और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के श्रेष्ठ निबंधों ने भी हिंदी–निबंध की समृति; में योगदान कियां है।

39. डॉ. रमेश कुंतलमेघ ने ठीक ही लिखा है कि "यह बड़ी विचित्र बात है कि साहित्य में 'निबंध' बहुत कम लिखे गए हैं और उसके सिद्धांतों का प्रकाशन तो उससे भी कम हुआ है। इसके विपरीत 'लेख' असंख्य लिखे गए हैं, पर उनका भी सौंदर्यशास्त्रीय निरूपण कम ही हुआ है।"

40. प्रारंभ में निबंध के दो आर्दश रूप सामने आये। एक आदर्श रूप फ्रांसीसी रचनाकार मोन्तेन (1533–1592) ने प्रस्तुत किया। उसी को 'निबंध' का जन्मदाता माना जाता है।'निबंध' के लिए उसी ने सर्वप्रथम मेंल शब्द का प्रयोग किया जिसका अर्थ होता है –प्रयास।

41. आचार्य हज़ारी प्रसाद की शैली को आलोचक मोन्तेन की शैली मानते हैं।साहित्य सहचर में वे लिखते हैं–'' नये युग में जिन नवीन ढंग के निबंधों का प्रचलन हुआ है,वे 'तर्कमूलक'की अपेक्षा'व्यक्तिगत' अधिक होते हैं। साधारणतः जिन निबंधों में निरसंग विचार का प्राधनय होता है,वे साहित्यिक आलोचना के प्रसंग में आलोचित नहीं होते'।

42. डां. नगेन्द्र लिखते हैं'–आचार्य द्विवेदी के समानांतर बेकन की निबंध–शैली आचार्य रामचंद्रशुक्ल के निबंधों में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुची है।

43. छायावादोत्तर युग में जीवनी–साहित्य का बहुमुखी विकास हुआ। लोकप्रिय नेताओं ,संत–महात्माओं ,साहितयकारों,विदेशी महापुरुषों ,वैज्ञानिकों ,खिलाड़ियों,उद्योगपतियों आदि से संबंधित जीवनियां प्रचुर परिमाण में लिखी गयी।

44. महात्मा गांधी इस युग के सर्वधिक लोकप्रिय नेता थे,फलतः उनसे संबंधित जीवनियां सर्वाधिक संख्या में उपलब्ध होती हैं।

45. घश्यामदास बिड़ला,काका कालेलकर,सुमंगल प्रकाश,सुशीलानायर, डां. राजेन्दप्रसाद तथा जैनेंद्र कुमार द्वारा क्रमशः लिखित बापू–1940,वापू की झांकियां–1948,बापू के कदमों में –1950, और अकाल पुरुष गांधी–1968 इस दिशा में उल्लेखनीय कृतियां हैं।

46. वर्तमान युग में भारतीय इतिहास से संबंद्ध महापुरुषों की जीवनियाँ लिखने की भी प्रवृत्ति लक्षित होती है।राजनीति से जुड़ी अन्य अनेक विभूतियों के जीवनचरित इस युग में प्रकाशित हुए।उनमें रामनाथ सुमन चद्रगुप्त वेदालंकार ,जगदीश विकल,रामवृक्ष बेनीपुरी,वाल्मीकि चौधरी ,बलराज मधोक, ओंकार शरद,शंभुप्रसाद शाह, वियोगी हरि, वीर सावरकर ,मौलान अबुल कलाम आजाद, श्यामाप्रसाद मुखर्जी, जवहारलाल नेंहरु,डा केशवबलीराम हेडगेवार, माधवसदाशिव गोलवरकर, गोविंद वल्लभपंत, विवेकानंद, जयप्रकाश नारायण आदि की एक लंबी कतार है।

47. इस संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि शिवाजी के जीवन को आधार बनकर सर्वाधिक जीवनियाँ लिखी गईं। इनमें भी लाला लाजपतराय–विरचित 'छत्रपति शिवाजी' (1939) तथा भीमसेन विद्यालंकार–विरचित 'शिवाजी' (1951) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

48. जीवनी लेखन के क्षेत्र में इस युग की सबसे महत्वपूर्ण देन साहित्यकारों के जीवनचरित हैं। कथासम्राट मुंशी प्रेमचंद के जीवन को आधार बना कर सबसे अधिक

जीवनियां लिखी गयीं। मदनगोपाल कृत:कलम का मज़दूर'तथा कमल किशोर गोयनका का प्रेमचचंद विश्वकोश का प्रमुख ग्रंथ हैं।

49. हिन्दी के प्रबल पक्षधर तथा समर्थ नाटककार सेठ गोविंददास ने अपनी जीवनकथा 'आत्मनिरीक्षण' (1957) श्शीर्षक से लिखी है। इस आत्मकथा की खूबी यह है कि लेखक ने महात्मा गांधी तथा जवाहरलाल नेहरू तक के विचारों तक की आलोचना करने में झिझक नहीं दिखाई है।इस आत्मकथा से भारतीय स्वाधीता आंन्दोलन का इतिहास भी संबंध हो गया है।

50. इस कालखंड में राजनीतिक व सामाजिक क्षेत्र में काम करने वाले अनेक व्यक्तियों की आत्मकथाएँ भी प्रकाशित हुईं। इनमें राजेन्द्र प्रसाद, भवानीदयाल संन्यासी, गणेशप्रसाद वर्णी, अजितप्रसाद जैन, अलगूराय शास्त्री, जनकी देवी बजाज, नरदेव शास्त्री, बलदेवराज धवन, पृथ्वीसिंह आजाद, आबिदअली, चतुर्भुज शर्मा, सुखदेवराज, मोरारजी देसाई तथा बलराज मधोक के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।इनमें सर्वश्रेष्ठ कृति डा. राजेन्द्र प्रसाद 'कृत'आत्मकथा'—1947

51. भगवानदीन संन्यासी की आत्मकथा'प्रवासी की आत्मकथा'1947,में दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों की आत्मकथा है।

52. जानकी देवी बजाज—कृत'मेरी जीवनयात्रा'—1956 इस अर्थ में महत्वपूर्ण हैकि वे पहली महिला हैं,जिनकी आत्मकथा हिंदी में प्रकाशित हुई है। इसमें लेखिका ने अपने बचपन से लेकर पति की मृत्यु तक के जीन की घटनाओं को निबद्ध किया है। यह आत्मकथा अपने हांथ से न लिखकर रिषभदास रांका को बोल कर लिखया है । फिर यह आत्मकथा उनके पति तथा महात्मा गांधी एवं अन्य अनेक शीर्षस्थ नेताओं के संपर्क में ओ का अवसर प्राप्त हुआ था। फलतः यह कृति भारतीय स्वाधीनता —आंन्दोलन के अनेक अछूते पहलुओं को संजोए हुए है।

53. हिन्दी के संस्मरणात्मक रेखाचित्र—साहित्य की श्रीवृद्धि में महादेवी वर्मा ने अत्याधिक महत्वपूर्ण योगदान किया है। 'अतीत के चलचित्र' (1941), 'स्मृति की रेखाएँ' (1947), 'पथ के साथी' (1956), 'स्मारिका' (1971) और 'मेरा परिवार' (1972) उनके उल्लेखनीय रेखाचित्र—संग्रह हैं।

54. संस्मरणों की मौलिक विशेषता यह है कि इसमें सूझबूझ,प्रशासन—क्षमता,अदम्य धैर्य एवं साहस तथा अनान्य सहज मानव—गुणों को उद्घाटित किया गया है।

55. 'रिपोर्ताज' फ्रांसीसी भाषा का शब्द है तथा इसकी गणना नव्यतम साहित्यरूपों के अंतर्गत की जाती है। जिस रचना में वर्ण्य विषय का आंखों देखा तथा कानों सुना ऐसा विवरण प्रस्तुत किया जाए कि पाठक की हृत्तंत्री के तार झंकत हो उठें और वह उसे भूल न सके, उसे 'रिपोर्ताज' कहते हैं।

56. बंगाल दुर्भिक्ष तथा महामारी के संदर्भ में रांगेय राघव द्वारा 'विशाल भारत' के लिए लिखित रिपोर्ताज भी अपनी मार्मिकता के लिए प्रसिद्ध हैं।

57. रिपोर्ताज–लेखन की दिशा में कतिपय अन्य उल्लेखनीय हस्ताक्षर हैं– डॉ. धर्मवीर भारती, कन्हैन्यालाल मिश्र, प्रभाकर, शमशेरबहादुर सिंह, श्रीकांत वर्मा, तथा फणीश्वरनाथ रेणु।

2.10 अपनी प्रगति जांचिए

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए–

1. निबंध की परिभाषा दीजिए
2. निबंध के उद्‌भव और विकास पर एक आलेख तैयार करें
3. निबंध के कितने प्रकार पाये जाते हैं उनका संक्षिप्त परिचय दीजिए।
4. ललित निबंधों की विशेषताएं बतलाइये
5. भारतेंदु से लेकर आधुनिक काल तक के निबंधों में क्या क्या परिवर्तन प्राप्त होते हैं,संक्षेप में बताइये।
6. यात्रा–वृतांत का परिचय दें
7. रिपोतार्ज की विकास यात्रा पर प्रकाश डालिए।
8. आत्मकथाएं हमारे जीवन को किस प्रकार प्रभावित करती हैं ,अपने शब्दों में समझाइये।
9. संस्मरण लिखने की परंपरा कहां से प्रारंभ होती है,किसी एक संस्मरण के आधार पर इसकी विशेषाएं बताइये।
10. रेखाचित्र क्या है,साहित्य पर इसकी कितनी भूमिका है?
11. जीवनी और आत्मकथा में अन्तर बताइये।

1. निम्नलिखित वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के सही उत्तर का चुनाव कीजिए –

निम्नलिखित निबंध/निबंध–संग्रहों के निबंधकार बताइये–

1. 'चिंतामणि'
   (क) प्रभाकर माचवे (ख) रामचंद्रशुक्ल (ग) दिनकर
2. 'फिर निराश क्यों'
   (क) प्रभाकर माचवे (ख) गुलाबराय (ग) दिनकर
3. 'साहित्य देवता'
   (क) प्रभाकर माचवे (ख) गुलाबराय (ग) माखनलाल चतुर्वेदी

4. 'श्रृंखला की कड़ियां'
   (क) प्रभाकर माचवे (ख) गुलाबराय (ग)महादेवी वर्मा
5. 'अर्द्धनारीश्वर'
   (क) प्रभाकर माचवे (ख) गुलाबराय (ग)दिनकर
6. 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं'
   (क) प्रभाकर माचवे (ख) रामविलासशर्मा (ग)दिनकर
7. 'चक्कर क्लब'
   (क) यशपाल (ख) गुलाबराय (ग)दिनकर
8. 'गेहूं और गुलाब'
   (क) प्रभाकर माचवे (ख) रामवृक्षवेनीपुरी (ग)दिनकर
9. 'साहित्यकार की आस्था और अन्य निबंध'
   (क) प्रभाकर माचवे (ख) विद्यानिवास मिश्र (ग) दिनकर
10. 'उजलीआग'
    (क) महादेवी (ख) गुलाबराय (ग)दिनकर
11. 'यौवन के द्वार पर'
    (क) नगेन्द्र (ख) विष्णुप्रभाकर (ग) दिनकर
12. 'खरगोश की सींग'
    (क) प्रभाकर माचवे (ख) गुलाबराय (ग) रामविलास
13. 'अंगद की नियति'
    (क) प्रभाकर माचवे (ख) गुलाबराय (ग)विद्यानिवास मिश्र
14. 'ठेले पर हिमालय'
    (क) इलाचंद जोशी (ख) गुलाबराय (ग) धर्मवीरभारती
15. 'गंधमादन'
    (क) प्रभाकर माचवे (ख) गुलाबराय (ग) दिनकर
16. 'साहित्य देवता'
    (क) प्रभाकर माचवे (ख) गुलाबराय (ग) कुवेरनाथ राय
17. 'पश्यंती'
    (क) प्रभाकर माचवे (ख) धर्मवीरभारती (ग) दिनकर

18. 'शब्द और स्मृति'
(क) निर्मलवर्मा (ख) गुलाबराय (ग) नगेन्द्र

19. 'अशोक के फूल'
(क) प्रभाकर माचवे (ख) गुलाबराय (ग) हजारी प्रसाद द्विवेदी

20. 'एक युग:एकप्रती'
(क) प्रभाकर माचवे (ख) देवेंन्द्रसत्यार्थी (ग) दिनकर

21. 'शिखरों के सेतु'
(क) प्रभाकर माचवे (ख) गुलाबराय (ग) शिवप्रसादसिंह

22. 'विकलांग श्रद्धा के दौर'
(क) हरिशंकर परसाई (ख) गुलाबराय (ग) दिनकर

23. निम्नलिखित जीवनियों के रचनाकार हैं ?

1. 'अवारा मसीहा'
(क) प्रभाकर माचवे (ख) गुलाबराय (ग) विष्णुप्रभाकर

2. 'महाप्राण निराला'
(क) प्रभाकर माचवे (ख) गंगाप्रसाद पाण्डेय (ग) दिनकर

3. 'मुक्तिबोध की जीवनी'
(क) प्रभाकर माचवे (ख) गुलाबराय (ग) विष्णुचंदशर्मा

4. 'कुल्लीभाट'
(क) प्रभाकर माचवे (ख) निराला (ग) दिनकर

5. 'अकालपुरुष गांधी'
(क) जैनेन्द्र (ख) गुलाबराय (ग)दिनकर

6. 'शिखर से सागर तक'
(क) राजकमल (ख) गुलाबराय (ग) दिनकर

7. 'अवारा मसीहा'जीवनी में किसका जीवन–चरित्र है ?
(क) बंकिमचंद्र (ख) भगतसिंह (ग) शरतचंद्र

8. 'शिखर से जीवन तक'में किसकी जीवनी है?
(क) प्रभाकर माचवे (ख) अज्ञेय (ग) दिनकर

9. 'कलम के सिपाही'नाम से कौन प्रसिद्ध है?

(क) प्रेमचंद (ख) गुलाबराय (ग)दिनकर

24. निम्न आत्मकथाओं से संबंधित जानकारी दें–

1. 'अर्द्धकथानक के रचनाकार'

(क) प्रभाकर माचवे (ख) गुलाबराय (ग) बनारसीदास

2. आधुनिक हिंदी साहित्य में पहली आत्मकथा के लेखक कौन हैं?

(क) प्रभाकर माचवे (ख) बाबूश्यामसुंदरदास (ग) दिनकर

3. बाबूश्यामसुंदरदास की आत्मकथा का शीर्षक है?

(क) मेरी आत्मकहानी (ख) आपबीती (ग) अपनीखबर

4. अपनी खबर 'किसकी आत्मकथा है?

(क) प्रभाकर माचवे (ख) गुलाबराय (ग) पाण्डेय बचनेश

5. 'दश द्वार के सोपान तक'आत्मकथा के लेखक हैं ?

(क) प्रभाकर माचवे (ख) गुलाबराय (ग) हरिवंशराय

6. 'नीड़ का निर्माण फिर' किसकी रचना है ?

(क) प्रभाकर माचवे (ख) हरिवंश राय वच्चन (ग) दिनकर

7 'सिंहावलोकन' के रचयिता हैं?

(क) प्रभाकर माचवे (ख) यशपाल (ग) दिनकर

8 'नील यक्षिणी'किसकी आत्मकथा है ?

(क) देवेन्द्रसत्यार्थी (ख) गुलाबराय (ग) दिनकर

9. 'यादों की परछाइयां' किसकी रचना है ?

(क) चतुरसेनशास्त्री (ख) गुलाबराय (ग) दिनकर

10. 'यौवन के द्वार पर'किसकी आत्मकथा है?

(क) नगेन्द्र (ख) गुलाबराय (ग) दिनकर

11. 'साठ वर्ष' : एक रेखांकन' के रचयिता है ?

(क) पंत (ख) गुलाबराय (ग) दिनकर

25 यात्रा–संस्मरण पर प्रश्न–

1. 'अरे यायावर !रहेगा याद' –किसकी रचना है ?

(क) पंत (ख) अज्ञेय (ग) निराला

2. 'पृथ्वी–प्रदक्षिण'–किसकी रचना है ?

(क) पंत (ख) शिवप्रसाद गुप्त (ग) निराला

3. 'चीड़ों की चांदनी' किसकी रचना है ?
(क) निर्मलवर्मा (ख) शिवप्रसाद गुप्त (ग) निराला

4. 'ठेले पर हिमालय' –किसकी रचना है ?
(क) धर्मवीर भारती (ख) शिवप्रसाद गुप्त (ग) निराला

5. 'हंसते निर्झर दहकती भट्ठी'–किसकी रचना है ?
(क) धर्मवीर भारती (ख) विष्णुप्रभाकर (ग) निराला

6. 'रूस में पच्चीस वर्ष'' –किसकी रचना है ?
(क) धर्मवीर भारती (ख) विष्णुप्रभाकर (ग) अज्ञेय

7. 'पैरों में पंख बांधकर'–किसकी रचना है ?
(क) धर्मवीर भारती (ख) रामवृक्षबेनीपुरी (ग) अज्ञेय

8. ''एकबूंद सहसा उछली' '–किसकी रचना है ?
(क) धर्मवीर भारती (ख) रामवृक्षबेनीपुरी (ग) अज्ञेय

9. 'स्मृति के अंकुर' '–किसकी रचना है ?
(क) रामकुमार वर्मा (ख) प्रभाकर माचवे (ग)अज्ञेय

10. 'गौरी नजरों में हम' '–किसकी रचना है ?
(क) धर्मवीर भारती (ख) प्रभाकर माचवे (ग) अज्ञेय

11. 'स्वर्गोद्यान बिना सांप''–किसकी रचना है ?
(क) धर्मवीर भारती (ख) रामवृक्ष बेनीपुरी (ग) यशपाल

12. 'सागर की लहरों पर ''–किसकी रचना है ?
(क) धर्मवीर भारती (ख) भगवतशरण उपाध्याय (ग) अज्ञेय

13. 'किन्नर देश में''–किसकी रचना है ?
(क) धर्मवीर भारती (ख) रामवृक्षबेनीपुरी (ग) राहुल

14. 'सुबह के रंग''–किसकी रचना है ?
(क) अमृतराय (ख) रामवृक्षबेनीपुरी (ग) अज्ञेय

15. 'धूप में सोई नदी'–किसकी रचना है ?
(क) धर्मवीर भारती (ख) बेनीपुरी (ग) प्रभाकर द्विवेदी

26. संस्मरण और रेखाचित्र आधारित प्रश्न –

1. संस्मरण तथा रेखाचित्र के लिए किस पत्र का रेखचित्र विशेषांक प्रसिद्ध था?
   (क) जागरण (ख) माधुरी (ग) हंस
2. 'हमारे आरध्य' के रचयिता हैं ?
   (क) अज्ञेय (ख) पंत (ग) बनारसीदास चतुर्वेदी
3. 'प्राणों का सौद' के रचयिता हैं ?
   (क) अज्ञेय (ख) पंत (ग) श्रीरामशर्मा
4. 'मील के पत्थर' के रचयिता हैं ?
   (क) अज्ञेय (ख) पंत (ग) बेनीपुरी
5. 'स्मारिका' के रचयिता हैं ?
   (क) अज्ञेय (ख) पंत (ग) महादेवी वर्मा
6. 'पुरानी स्मृतियां' के रचयिता हैं ?
   (क) अज्ञेय (ख) प्रकाशचंद गुप्त (ग) महादेवी वर्मा
7. 'माटी की मूरते' के रचनाकार कौन हैं ?
   (क) बेनीपुरी (ख) पंत (ग) महादेवी वर्मा
8. "स्मृतिकी रेखाएं"–किसकी रचना है?
   (क) अज्ञेय (ख) प्रकाशचंद गुप्त (ग) महादेवी वर्मा
9. 'जिनके साथ जिया' किसकी रचना है ?
   (क) बेनीपुरी (ख) अमृतलाल नागर (ग) महादेवी वर्मा
10. 'स्मृतिल लेखा' किसकी रचना है ?
    (क) बेनीपुरी (ख) अमृतलाल नागर (ग) अज्ञेय
11. 'समय के पांव' किसकी रचना है ?
    (क) माखनलालचतुर्वेदी (ख) अमृतलाल न (ग) महादेवी
12. 'बन तुलसी की गंध' किसकी रचना है ?
    (क) बेनीपुरी (ख) रेणु (ग) महादेवी वर्मा
13. 'हम हशमत' किसकी रचना है ?
    (क) बेनीपुरी (ख) कृष्णा सोवती (ग) महादेवी वर्मा

14. 'चेतना के बिंब' किसकी रचना है ?
(क) बेनीपुरी (ख) नगेद्र (ग) महादेवी वर्मा

15. 'वे दिन वे लोग' किसकी रचना है ?
(क) बेनीपुरी (ख) शिवपूजनसहाय (ग) महादेवी वर्मा

27. रिपोतार्ज,आधारित वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. हिंदी में रिपोतार्ज लेखन की परंपरा की शुरुआत किससे मानी जाती है?
(क) बेनीपुरी (ख) शिवदानसिंहचौहान (ग) महादेवी

2. हिंदी साहित्य का पहला रिपोतार्ज लेखक माना गया हैं ?
(क) बेनीपुरी (ख) शिवदानसिंहचौहान (ग) लक्ष्मीपुरा

3. 'अपोलो का रथ' किसकी रचना है?
(क) बेनीपुरी (ख) श्रीकांतवर्मा (ग) महादेवी

4. 'प्राग:एक स्वप्न'किसकी रचना है ?
(क) बेनीपुरी (ख) निर्मलवर्मा (ग) महादेवी

5. 'युद्ध–यात्रा' किसकी रचना है ?
(क) धर्मवीरभारती (ख) निर्मलवर्मा (ग) महादेवी

2.11 चर्चा और स्पष्टीकरण के बिन्दु

चर्चा के बिन्दु

.....

.....

.....

.....

.....

.....

स्पष्टीकरण के बिन्दु

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2.12 आगे की पढाई

1. आलोचना :इतिहास तथा अध्ययन–डा. एस.पी.खत्री

1 समीक्षाशास्त्र– डा.दशरथ ओझा

2 समीक्षाशास्त्र– आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

इकाई–तीन
हिंदी गद्य की प्रमुखविधाओं – हिंदी आलोचना का उद्‌भव और विकास

इकाई संरचना

3.1 परिचय
3.2 उद्देश्य
3.3 समालोचना परिचय
3.4 हिंदी आलोचना का विकास
3.5 अद्यतन हिंदी समालोचना
3.6 हिंदी समालोचना की पद्धतियां
3.7 इकाई सारांश / याद रखने की बातें
3.8 अपनी प्रगति की जांच
3.9 चर्चा और स्प टीकरण के बिन्दु
3.10 आगे की पढाई

3.1 परिचय

सृजनधर्मिता का आधार रचना और रचनाकार से अधिक अगर किसी पर आधारित होती है तो उसके प्रेमी पाठकों पर है। कवि या रचनाकार से अधिक उसका पाठक और उसकी दृष्टि एक ऐसा पैमाना है जो रचना को कालजयी बनाता है। उसके मूल्य एवं अवमूल्यन के लिए जिम्मेदार होता है। आज साहित्य की आलोचना अपने आप में एक अध्ययन की वस्तु बन गई है। साहित्य के बढ़ते परिमाण के साथ उसके पाठकों की संख्या बढ़ी है। रचना का क्षेत्र अन्तर्जातीय ही नहीं अन्तर्राष्टीय हुआ हैं । रचना ने समय की ,देश की ,धर्म की ,परंपराओं की सीमा को लांघा है। संस्कृतियों की टकराहट को उसने कहीं समेटने का प्रयत्न किया है तो कहीं उसको बढ़ाय भी हैं । आज रचना ने बाह्य सौन्दर्य से अधिक आंतरिक सौन्दर्य को तलासने का प्रयत्न किया हैं। वैयक्तिकता से सार्वजनिकाता को छुआ है। जीवन मूल्यों को देखने की दृष्टि संकीर्ण से संकीर्ण है तो खुले आकाश की भांति भी है।

हिंदी आलोचना की यात्रा संस्कृत आलोचना से प्रारंभ होकर तमाम विदेशी साहित्यिक आलोचनओं का सानिध्य ,संर्सग प्राप्त कर अपने को पुष्ट किया है। हिंदी साहित्य की आलोचना आदिकालीन आलोचनात्मक दृष्टि से लेकर रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय दृष्टि को

पार करते हुए आधुनिककालीन समीक्षको,आलोचकों के दृष्टियों को उनके विवेचन विश्लेष्ण को अपने में समेंटा हैं। इतना ही नहीं हिंदी साहित्य की आलोचना ने अपने स्वरूप के विस्तार को अमरीकी,रूसी,और यूरोपीय समीक्षा,आलोचना साहित्य की पद्धतियों,दृष्टियों से अपने को पुष्ट किया है। आज हिंदी साहित्य आलोचना अपने संस्कृति साहित्य की आलोचना पद्धति से चलकर आलोचना के अन्ररर्राष्ट्रीय साहित्य–चिंतन से सवंर्द्धित और पुष्ट हो रहा है। हिंदी साहित्य के आलोचना का परंपरागत अपना ऐतिहासिक सैद्धांतिक पक्ष है तो व्यवहारिक आलोचना की दृष्टि भी। साहित्य के क्षेत्र में एक बात सर्वमान्य हो गई है कि आलोचना रचनाकारों और पाठकों के लिए साहित्य के 'लोचन' का कार्य करता है। साथ ही काल के प्रवाह में एक बात और ध्यान में आती है कि आधुनिक साहित्य बोध में मध्यकालीन साहित्य–बोध से गुणात्मक विभेद है। हिंदी का आलोचना–साहित्य संस्कृत काव्यशास्त्रीय वृत्त से निकलकर पश्चिम के साहित्य और उनकी आलोचनात्मक पद्धतियों और दृष्टियों से संवलित होकर आधुनिक मानव के भावों और विचारों को संवेदना के स्तर पर उजागर करने में प्रवृत साहित्य के विवेचन–विश्लेषण और मूल्यांकन में सक्षम बन सका है।

इन सभी बातों का यहां अध्ययन किया जा रहा है जो कालगत,परंपरागत एवं विषयगत है।

3.2 उद्देश्य

- आलोचना की हिंदी साहित्य के रसास्वादन में भूमिका ज्ञात करना
- क्या आलोचना रचना का केवल मूल्यांकन करती है अथवा उसे पाठकों से भी जोड़ती है।
- भारतीय परंपरा की अपनी कोई आलोचना पद्धति है।
- भारतीय आलोचना का सैद्धान्तिक पक्ष सामने लाना।
- हिंदी साहित्य की आलोचना की कितनी पद्धतियां अब तक विकसित हो चुकी हैं को सामने लाना।
- पाश्चात्य आलोचना पद्धतियों का हिंदी–साहित्य का आलोचना पर प्रभाव।
- संस्कृत साहित्य–आलोचना का हिंदी साहित्य आलोचना पर प्रभाव
- आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक की आलोचना का एक विहंगम अवलोकन
- आधुनिक काल के आलोचनकों और उनकी आलोचना पद्यतियों का परिचय
- आलोचना के उन सभी पक्षों को उजागर करना जिससे छात्र की स्वयं की आलोचना दृष्टि का विकास हो
- आलोचना के माध्यम से सशक्त पाठक तैयार हो सकें।

- आलोचना केवल कृति की कमियां ही नहीं निकालता उसके उन पक्षों का भी ज्ञान कराता है जिससे पाठक अपनी दृष्टि में विस्तार पाता है और रचना का सही आस्वादन प्राप्त करता है।
- आलोचना क्या साहित्य को समाजस्पर्शी बनाता है अथवा केवल कोरी साहित्यि मूल्यांकन की औपचारिकता निभाता है।
- आलोचक किस प्रकार कवि को स्थापित करता है इसका हिंदी साहित्य में व्यवहारिक उदाहरण है कि जानकरी छात्रों को देना।
- मध्यकाल के कबीर,जायसी से लेकर आधुनिक काल तक के रचनाकारों को किस प्रकार आलोचक स्थापित करता है,जैसे दृष्टांतों से छात्रों को अवगत कराना।

3.3 समालोचना परिचय

अंग्रेजी के 'क्रिटिसिजम'शब्द के समानार्थक समालोचना, आलोचना ,समीक्षा आदि शब्द हिंदी में व्यवहार में पाये जाते हैं। भारतीय परंपरा की समीक्षा पद्यति में ये शब्द प्रायः पश्चिमी आलोचना के संपर्क से आये हैं।और इन्होंने भारतीय परंपरा के शब्द'शास्त्र'का स्थान ले लिया। और आलोचना या समीक्षा शब्द ने अपने अन्दर पश्चिमी शब्द क्रिटिसिज्म के संपूर्ण अर्थ को समेट लेते हैं।आलोचना का मूल आर्थ, व्युत्पतिपरक दृष्टि से ,किसी भी वस्तु को सम्यकतया संपूर्ण रूप में विधिपूर्वक देखना हें इस देखना का अर्थ डा. भगवत्स्वरूप मिश्र ने दर्शन और 'आत्मा वा अरे द्रष्टवयः' जैसे पदों में निहित मानव की मूलभूत जिज्ञासावृति तथा आकांक्षा और जगत के प्रति मानव की रागात्मक बौद्धिक प्रतिक्रया माना है। आलोचना शशब्द में प्रयुक्त 'लोचन' अभिनगुप्त पादाचार्य के ध्वन्यालोक के 'लोचन' का स्मरण माना जाता है। जिसमें अभिनवगुप्त भावक के अनुरणन करते हुए चित कोकृति का उचित भावन करांना ही लोचन का उद्देश्य मानते हैं। कहने का तात्पर्य यह हवे कि आलोचना शब्द मानव की मूलभूत आकांक्षा एवं रागातमक बौद्धिक प्रतिक्रया से उद्भूत चिंतन को ही नहीं कलाकृति की व्याख्या केअर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा है।यद्यपि लाचनकार का अभिप्रत 'लोचन' ध्वन्यालोक की टीका का नाम मात्र है और उन्हें कदाचित 'लोचन' को आलोचना के समानार्थक मानना ग्राह्य भी न होता,तथाति पश्चिमी आलोचना के प्रभाव के फलस्वरूप आलोचना शब्द का अर्थ–विस्तार उतने ही व्यापक धरातल पर हुआ है जितने विस्तृतआथ में क्रिटिसिज्म शब्द पश्चिम में ग्राह्य है।

आलोचना का विस्तृत अर्थ,डा.उदयभानु सिंह के शब्दों में,"रचना के विषय के इतिहास, सौन्दर्य–सिद्धांत, रचनाकार की जीवनी आदि की दृष्टि से रचना के गुण–दोष और रचनाकार की अन्तर्वृतियों तथा प्रवृतियों का सूक्ष्म विवेचन" माना जा सकता है।

आलोचना पश्चिम में मुख्यतः कृति की व्यख्या,निणर्य और मूल्यांकन का कार्य करती है।इन कार्यो के निमित सैद्धान्तिक विवेचन,प्रतिमानों का निर्धारण भी आलोचना का आवश्यक

कार्य है।ये प्रतिमान जीवन के विविध क्षेत्रों एवं दृष्टियों से गृहीत होकर आलोच्य कृति की प्रकृति के अनुरूप आयाम प्राप्त करते हैं।

आलोच्य साहित्यक सौन्दयानुभूति अथवा रसानुभूति के माध्यम से पाठक की मानसिक प्रतिक्रिया को जगाने का कार्य करती है और सामान्यतया साहित्य के मर्म का विवेचन उसका लक्ष्य है। मानसिक प्रतिक्रिया और साहित्य के मर्म के ज्ञान प्राप्ति में साहित्येतर माध्यम भी सहायक होते हैं और इनके योगदान के अनुरूप आलोचना को भी भिन्न–भिन्न कलेवर धारण करने पड़ते हैं। 'मनोवैज्ञानिक समीक्षा',मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा,'समाजशास्त्रीय समीक्षा, 'मार्क्सवादी समीक्षा'आदि भेद इसी के परिणाम हैं।इसी दृष्टि से साहित्य के लालित्य बोध कराने वाले उपादानों के गुणों एवं मूल्यों का परीक्षण,साहित्य–सिद्धांतों का प्रतिपादन और कृति के आस्वादन की क्षमता का विकास–ये समीक्षा के तीन प्रमुख लक्ष्य हैं।

आलोचना के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक रूपों के वैविध्य के कारण उसकी निश्चित परिभाषा स्थिर नहीं की जा सकती है।फिर भी विद्वानों ने आलोचना को अनेक प्रकार से परिभाषित करने का प्रयास किया है।किंतु मूलतः उनकी दृष्टि में आलोचना साहित्य–निर्माण के सिद्धांतों के अध्ययन में तथा निर्मित साहित्य के मूल्यांकन व्यख्या में प्रवृत होकर व्याख्या ,निर्णय और मूल्यांकन केतीन प्रमुख कार्य संपादित करती है। साथ ही जैसा रेनी वेलेक ने लिखा है,"आलोचना अपने विशिष्ट अर्थ में केवल व्यक्तिगत लेखक या पुस्तक की आलोचना के निमित्त प्रयुक्त न होकर व्यापक अर्थ में निर्णयात्मक समीक्षा,व्यवहारिकसमीक्षा,साहित्यिक अभिरुचि,तथा अद्यावधि प्रमुखतः प्रचलित साहित्य–सिद्धांन्तों ,इनकी प्रकृति और साहित्य सृजन ,कार्य ,प्रभाव तथा मानव के अन्य कार्यो के साथ इनके संबंध,भेद,साधन,शिल्प,उद्भव, इतिहास आदि के विषय में चिंतन को बोधगम्य बनाती है।"

आलोचना का प्रथम रूप व्यापक दृष्टि से ,साहित्य की सहज प्रकृति ,गुण,कार्य आदिके विवेचन द्वारा सिद्धांत पक्ष पर अधिक केन्द्रित रहता है।आलोचना का दूसरा रूप अपेक्षाकृत व्यवहारिक है और आलोचना कला का रूप धारण करती है। कृतियों के मूल्यांकन का ही लक्ष्य व्यावहारिक समीक्षा का न होकर उनकी व्याख्या,कृतिकारों के विचारों ,संवेदनाओं ,कृति के विश्लेषण से उसके सौंदर्य का उद्घाटन आदि भी है।

आलोचना के इन त्रिविध स्वरूपों को प्रायः पश्चिमी आलोचना और साहित्य–चिंतन के आधार पर देखने का प्रयास किया जाता है।इसीलिए यह माना जाता है कि हिंदी आलोचना की आधुनिक प्रवृतियां पश्चिमी आलोचना की विभिन्न कालधर्मी प्रवृतियों से प्रभावित हैं।

छायावादयुगीन हिन्दी– समीक्षकों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का अवदान सम्पूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र में अप्रतिम स्थान का अधिकारी है। सर्वांगीण आलोचक की विचार

सरणि से हिन्दी–आलोचना का प्रभावित न होना आश्चर्यजनक होता है

नंददुलारे वाजपेयी ने न केवल शुक्ल जी की सीमाओं को उद्घाटित किया, अपितु छायावादी काव्य के संदर्भ में उनके दृष्टिकोण को भी नवीन साहित्यिक संवेदना के उपयुक्त नहीं माना। वाजपेयी जी की समीक्षादृष्टि के निर्माण में छायावादी काव्य का प्रमुख योग रहा है।

काव्य में उन्होंने मुख्यतः सौंदर्यानुसंधान किया है और उसे जीवन–चेतन से संपृक्त रखा है, किन्तु कथा–साहित्य और नाटक की आलोचना में वे मुख्य रूप से मूल जीवन–चेतना और सामाजिक प्रभाव तथा उनके परिदृश्य का आकलन करते हैं। जैनेन्द्र और अज्ञेय के कथा–साहित्य और अश्क के नाटकों का विवेचन उन्होंने इसी दृष्टिबिंदु से किया है। प्रसाद के नाटकों को स्वच्छंदतावादी और लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों को पुनरुत्थानवादी कहना उनके मौलिक चिंतन और यथार्थ की पहचान का परिचायक है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी दूसरे ऐसे आलोचक हैं, जिनकी आलोचनात्मक उपलब्धियाँ महत्वपूर्ण और संग्रहणीय हैं। 'हिन्दी–साहित्य की भूमिका' (1940) में उन्होंने आलोचना की ऐतिहासिक पद्धति की प्रतिष्ठा करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि किसी ग्रंथकार का स्थान निर्धारित करने के लिए क्रमागत सामाजिक, सांस्कृतिक एवं जातीय सातत्य को देखना आवश्यक है।

द्विवेदी जी का आधुनिक दृष्टिकोण और नवीन मानवतावाद रावीन्द्रिक मानवतावाद से बहुत दूर तक प्रभावित है, परन्तु वह उसकी प्रतिकृति नहीं है। रोमानियत से संपृक्त होते हुए भी वह एक हद तक उससे मुक्त है।

डॉ. नगेन्द्र ने हिन्दी– आलोचना को व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक दोनों दृष्टियों से सवंर्द्धित किया है। वे रसवादी आलोचक हैं। 'रस–सिद्धांत' में रस की सांगोपांग विवेचना करते हुए उन्होंने इसे पुनः प्रतिष्ठित करने का पांडित्यपूर्ण प्रयास किया है। रसवाद पर जितना एकांतिक आग्रह नगेन्द्र जी का दिखाई पड़ता है, उतना अन्य किसी आलोचक का नहीं। यदि वाजपेयी जी, द्विवेदी जी और डॉ. नगेन्द्र की आलोचनाओं के वृत्त बनाए जाएँ तो वाजपेयी जी की स्थिति मध्यवर्गीय ठहरती है।

शुक्ल–परंपरा के समीक्षकों में गुलाबराय और विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का उल्लेख आवश्यक है। गुलाबराय (1888 –1936) ने एक ओर तो श्शुक्ल जी की भांति भारतीय और पाश्चात्य काव्य–सिद्धांतों के समंजन की पद्धति अपनाई और दूसरी ओर मुख्यतः व्याख्यात्मक पद्धति का अवलंबन लेकर व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में योगदान किया। 'सिद्धांत और अध्ययन' (1946) तथा 'काव्य के रूप' (1947) उनकी प्रमुख काव्यशास्त्री रचनाएँ हैं और 'अध्ययन और आस्वाद' (1957) समीक्षात्मक निबंधों का संकलन है। उनकी समीक्षा–शैली में शुक्ल जी के समान गंभीरता और दृढ़ता नहीं मिलती, अपितु उन्होंने अधिकतर उदार एवं

समन्वयात्मक दृष्टिकोण ही अपनाया है। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के आलोचनात्मक कृतित्व में 'वाङ्मय–विमर्श', 'बिहारी की वाग्विभूति', 'हिन्दी–साहित्य का अतीत' (दो भाग) और 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। 'वाङ्मय–विमर्श' भारतीय काव्यदृष्टि के अनुसार रचित सैद्धांतिक आलोचा का ग्रंथ है। 'बिहारी की वाग्विभूति' में व्याख्यात्मक समीक्षा की प्रमुखता रही है, तो 'हिन्दी–साहित्य का अतीत' के दोनों भागों में आदिकाल से लेकर रीतिकाल तक की प्रवृत्तियों और भाषागत विशिष्टताओं का सुलझा हुआ आकलन किया गया है।

मार्क्सवादी आलोचना: मार्क्सवादी समीक्षा के पक्षधरों में सर्वप्रथम शिवप्रसाद चौहान का नाम आता है। 'प्रगतिवाद' (1946), 'साहित्य की परख' (1948), 'आलोचना के मान' (1958), 'साहित्य की समस्याएँ' (1959) और 'साहित्यानुशीलन' उनके प्रमुख समीक्षा–ग्रंथ हैं, जिनमें मार्क्सवादी आलोचना के सैद्धांतिक पक्ष को स्पष्ट करने के साथ ही हिन्दी–साहित्य को उसकी कसौटी पर यथासंभव संतुलित ढंग से परखने का यत्न किया गया है। इस संदर्भ में दूसरे उल्लेखनीय समीक्षक हैं प्रकाशचन्द्र गुप्त। 'नया हिन्दी–साहित्य' (1946), 'आधुनिक हिन्दी–साहित्य' (1950) और 'हिन्दी –साहित्य की जनवादी परंपरा' (1953) उनकी प्रमुख कृतिएँ हैं, किन्तु सरलीकरण की प्रवृत्ति के कारण उनका विवेचन सामान्य होकर ही रह गया है। वस्तुतः मार्क्सवादी आलोचकों में डॉ. रामविलास शर्मा की दृष्टि सबसे अधिक पैनी, स्वच्छ और तलस्पर्शी है। 'प्रगति और परंपरा' (1948), 'प्रतिशील साहित्य की समस्याएँ' (1954), 'आस्था और सौंदर्य' (1956) आदि उनके उल्लेखनीय निबंध–संग्रह हैं। विचारों के स्तर पर वे कहीं भी समझौतावादी नहीं बनते, अपितु अपनी बात को बहुत ही निर्भीक ढंग से कहते हैं।

दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक अनुशासन: छायावादोत्तर काल के समीक्षकों में डॉ. देवराज और देवराज उपाध्याय ने क्रमशः दर्शनशास्त्र और मनोविज्ञान के संदर्भ में आलोचनाग्रंथों की रचना की है। डॉ. देवराज (छायावाद का पतन, साहित्यचिंता, आधुनिक समीक्षा, प्रतिक्रियाएँ) दार्शनिक अनुशासन के आलोचक हैं। दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक होने के साथ ही वे स्वभव तथा अभ्यास से भी दार्शनिक हैं, जिससे उनके साहित्यिक चिंतन की धार मिल गई है।

सैद्धांतिक आलोचना : आलोच्य अवधि में सैद्धांतिक आलोचना की दिशा में भी अनेक समीक्षा–ग्रंथों का प्रकाशन हुआ है। इस दिशा में सर्वाधिक उल्लेखनीय योगदान डॉ. नगेन्द्र का है। 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' में उन्होंने संस्कृत–काव्यशास्त्र की अभिनिवेशपूर्वक विवेचना की है, तो 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' और 'काव्य में उदात्ततत्व' की रचना पाश्चात्य काव्यशास्त्र के संदर्भ में की गई है।

सैद्धांतिक आलोचना के संदर्भ में लक्ष्मीनारायण 'सुधांश'–कृत 'काव्य में अभिव्यंजनावाद'

(1983) और 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धांत' (1942), रामहिन मिश्र–कृत 'काव्यदर्पण' (1947), 'काव्य–विमर्श' (1951), डॉ. भगीरथ मिश्र कृत 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' (1947), डॉ. आनंदप्रकाश दीक्षित–कृत 'रस–सिद्धांतः स्वरूप और विश्लेषण', डॉ. रामानंद तिवारी –कृत 'सत्यं शिवं सुंदरम्', डॉ. निर्मल जैन–कृत 'रस –सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र',डॉ. सुरेशचन्द्र गुप्त–कृत 'आधुनिक हिन्दी–कवियों के काव्यसिद्धांत' (1960) आदि अन्य अनेकानेक ग्रंथों का उल्लेख किया जा सकता है। इसमें संदेह नहीं कि काव्यशास्त्र के विभिन्न अंगों और साहित्यालोचन की समस्याओं पर जितने गहन अध्ययन और विस्तार के साथ आलोच्य युग में विचार–विमर्श किया गया, उतना छायावाद युग या उसके पूर्व नहीं हुआ था।

छायावादोत्तरकालीन सैद्धांतिक आलोचना के स्वरूप–निर्माण में कवियों और अन्य साहित्यकारों के विचारों का अलग महत्व है। छायावादी कवियों ने अपने काव्य की जटिलताओं और बारीकियों को स्पष्ट करने के लिए अपने मान्यताओं को आग्रहपूर्वक प्रकट किया था।

अज्ञेय ने अपने काव्य–संबंधी विचारों को 'त्रिशंकु', 'आत्मनेपद' और 'हिन्दी–साहित्यः एक आधुनिक परिदृश्य' में व्यक्त किया है, तो मुक्तिबोध के समीक्षात्मक विचार 'एक साहित्यिक की डायरी', 'नई कविता का आत्मसंघर्ष' और 'नए साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' में अभिव्यक्त हुए हैं। उपस्थित करने के पक्षधर हैं। गिरिराज कुमार माथुर के नई कविता संबंधी प्रौढ़ विचार 'नई कविताः सीमाएँ और संभावनाएँ' में व्यक्त हैं। धर्मवीर भारती ने 'मानवमूल्य और साहित्य' में विपर्यस्त मानवीय मूल्यों की बात उठाकर साहित्य की परीक्षा की हैं।

कुछ अन्य समीक्षकः नई आलोचना में रचना की आंतरिक संगति पर विशेष ध्यान दिया जाता है अर्थात यह देखा जाता है कि कृति का एक अंग दूसरे से, दूसरा, तीसरे से और हर एक समग्र से कैसे और किन अर्थवत्ताओं को उकेरते हुए संबद्ध हैं ?

आलोचना को आगे बढ़ाने में पुस्तक–समीक्षकों (बुक रिव्यू) का भी उल्लेखीय योगदान रहा है। 'प्रतीक', 'आलोचना', 'वार्षिक', 'माध्यम', 'समीक्षा' आदि में समय–समय पर जो पुस्तक समीक्षाएँ प्रकाशित हुईं, उनसे आलोचना के प्रतिमानीकरण में काफी सहायता मिली है।

3.4 हिंदी आलोचना का विकास

रचनाकार की सृजनशीलता के साथ ही समीक्षात्मक वृति लगातार सक्रिय रहती है।ये समीक्षात्मक प्रवृतियां कवि की काव्य–संबंधी दृष्टियों एवं समकालीन जीवित साहित्यिक परंपराओंएवं सामाजिक ,राजनीतिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों से अनुप्राणित रहती हैं। साथ ही काव्य की समाज–सापेक्षता के कारण आलोचक वर्ग की दृष्ट से भी इन प्रवृतियों का संबा रहता है। यह आलोचक वर्ग आधुनिक युग के समान स्वतंत्र वर्ग हो सकता है,अथवा रसिक–वर्ग हो सकता है आथवा काव्य को अनेक दृष्टियों से मूल्यांकनकरने वाला निर्णायक

एवं नियन्ता वर्ग भी हो सकता है। इन सब वर्गो का काव्य की परीक्षा आधार अपना –अपना दृष्टिकोण होगा।

हिंदी साहित्य का आदिकाल वस्तुतः जागरुक साहित्य–सर्जकों का युग था जिसमें विविध काव्य–परंपराओं ,काव्य–शास्त्रीय मान्यताओं का परिपालन कवियों द्वारा आवश्यक एवं अपरिहार्य–सा था। तत्कालीन सृजनात्मक साहित्य में प्रत्यक्ष रूप से तत्कालीन साहित्य–शास्त्रीय मान्यताओं एवं मर्यादाओं के पालन की अनिवार्यता ने ही काव्य–शास्त्रीय लक्षणात्मक अथवा सिद्धांत निरूपणात्मक विवेचनों को यत्किंचित प्रेरणा प्रदान की। आदिकाल से लेकर आधुनिक काल के प्रारंभ तक हिंदी साहित्य का अधिकांश भाग काव्य–शास्त्रीय विवेचन के निमित लक्ष्य रूप से लिखा गया प्रतीत होता है।सृजनात्मक साहित्य के अनेक प्रसंगों में काव्य–शास्त्रीय चर्चा इस तथ्य की पुष्टि करता है 'पृथ्वीराज रासो' एवं 'रास–रसायन' के अनेक प्रसंगों में ,तुलसीदास के 'रामचरित मानस' में और सूरदास के 'साहित्य लहरी' में रहीम के 'बरवै नायिका भेद' में ,केशवदास एवं उनके परवर्ती कवियों के काव्यों में समय–समय पर कवियों ने अपने अथवा अपने युग की काव्य–दृष्टि का स्पष्ट संकेत अथवा विवेचन किया है यह विवेचन मूलतः संस्कृति काव्य–शास्त्र पर आधारित है। आधुनिक काल के सर्वतः व्याप्त पश्चिमी प्रभाव ने हिंदी काव्यशास्त्र को भी अधिक प्रभावित किया तथा नवीन गति एवं प्रेरणा दी।प्रस्तुत अध्याय में अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हिंदी आलोचना के इतिहास को इन दो प्रभाव क्षेत्रों मे विभाजित किया जा सकता है।

1. संस्कृत काव्यसास्त्र से प्रभावित
2. पश्चिमी आलोचना से प्रभावति।

संस्कृत काव्यसास्त्र से प्रभावित काल में हिंदी साहित्य–शास्त्र का अपना कोई पृथक् स्वरूप दिखलाई नहीं देता । वस्तुतः तत्कालीन समाज में और कुछ सीमा तक आधुनिक समाज में भी –संस्कृत काव्य–शास्त्र का भारत के समस्त साहित्य पर अनुशासन था। अतः हिंदी का अपना कोई स्वतंत्र काव्य–शास्त्र नहीं था। जिस पर संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रभाव का निरूपण किया जा सके। आधुनिक काल में संस्कृत काव्य–शास्त्रीय मान्यताओं की अपेक्षा जनभाषा की अपरिमित शक्ति एवं नवजागरणशील प्रवृतियों एवं विदेशी शासन तथा पश्चिमी संस्कृति एवं ऐश्वर्य के मोह ने पश्चिमी साहित्य एवं काव्य–शास्त्रा के प्रति साहित्यकारों को आकर्षित किया। इस प्रभाव ने हिंदी साहित्य को अपना काव्य–शास्त्र देने के प्रयास में सफलता दी।द्वितीय वर्ग

द्वितीय वर्ग देश की सर्वदिक् आधुनिकतम विकास के लिए पश्चिमी ज्ञान की आवश्यकता को प्रतिपादित कर अँग्रेजी शिक्षा की अनिवार्यता को स्वीकार करता है। वस्तुतः अँग्रेजी शासक वर्ग मुसलिम शासकों के समान एतद्देशीय न हो सकने पर भी अपनी नीति–कुशलता से तथा शासित भारतीयों की शासन–परक तटस्थता एवं पारस्परिक

वैमनस्य एवं का लाभ उठाकर इस देश की संस्कृति तथा आचार–विचार को अत्यधिक प्रभावित कर सके इसी शिक्षा के फलस्वरूप इस शताब्दी में पुर्नज़ागरण का आंदोलन छिड़ा भारत ने अनेक महापुरूषों को जन्म दिया साहित्य के क्षेत्र में भी जागृति आई। भारतीय साहित्य का विकास पश्चिमी साहित्य के आदर्शों एवं मूल्यों के अनुकूल होने लगा। इन काव्य विधाओं एवं साहित्य प्रयोगों की प्रौढ़ता के लिए पद्य–माध्यम के साथ––साथ गद्य को सबल बनाया गया। हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल पश्चिमी अनुकरण से बहुत प्रभावित है। हिन्दी साहित्य की आलोचना के सिद्धांत भी इससे अछूते नहीं हैं। हिन्दी साहित्य–समीक्षा के क्षेत्र में अनेक प्रवृत्तियों वादों एवं दृष्टिकोणों के विकास का क्रम इसी प्रवृत्ति में छिपा है। पश्चिमी विचारधार एवं साहित्य से प्रभावित शिक्षित वर्ग हिन्दी की परम्परागत सहित्य सम्पदा को विशेष आकार्षक नहीं समझ पाते थे। फलस्वरूप भारतेन्दु ने यह सत्य महसूस किया और हिन्दी साहित्य में सृजन व्यापार का नया युग प्रारम्भ हुआ। समिक्षको ने भी समिक्षा में विषय–वस्तु की अपेक्षा कवि की अभिव्यक्ति कौशल का विवेचन किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के साहित्यक नेतृत्व ने खाड़ी बोली के परिष्कार का कार्य सरस्वती पत्रिका के माध्यम से सुगम किया इतना सब होने पर भी आलोचना का अधिक विकास सम्भव न हो सका इसका कारण कदाचित साहित्य विद्याओं का विकास अनुवाद और अनुकरण के माध्यम से अधिक सरल को सकता है किन्तु समिक्षा के लिए अपेक्षित चिंतन की आवश्यकता है। राष्ट्रीयता एवं पुर्नगाजूरण कालीन प्रवृत्तियों ने हिन्दी साहित्य को बाह्य प्रारम्भों को आत्मसात करने की अदभुत क्षमता दी। इस प्रकार साहित्यिक परिस्थितियों ने हिन्दी साहित्य को पश्चिमी आलोचना के निकट ला दिया इसके अतिरिक्त हिन्दी को बंगला एवं मराठी भाषा की साहित्यिक आलोचना ने प्रभावित किया राष्ट्रीय जागरण एवं संस्कृति पुर्नरूथान के युग में प्राचीन गौरव की स्मृति के साथ ही आधुनिक युग प्रगति की इच्छा ने समाज के सभी क्षेत्रों ने सुधारत्मक आंदोलन की शुरूआत की साहित्य के सृजन एवं आलोचना दोनों में राष्ट्रीयता के साथ ही अंतराष्ट्रीयता का प्रभाव भी सामने आया प्रचीन काव्यादर्शों के साथ पश्चिमी काव्यादर्शों का व्यवहार सर्वत्र होने लगा इस दृष्टि से व्यावहारिक समिक्षा के अनेक रूपों का प्रचलन हुआ। जिनमें संस्कृत काव्यादर्शों का मापदण्ड व्यावहार में दिखाई देता है। तुलानात्मक, निर्णायत्मक, स्वच्छन्दतावादी, प्रभाववादी, मनवतावादी, प्रगतिवादी शमिक्षा आ बाहुल्य इस युग की विशेषता है। इस क्षेत्र में जो नाम उल्लेखनिय हैं वे हैं– आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, बाबूश्याम सुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द्र, जयशंकर प्रसाद, नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेन्द्र, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, अग्ज्ञेय, रामविलास शर्मा आदि। अतः यदि आधुनिक हिन्दी साहित्य समिक्षा के क्षेत्र में पश्चिमी आलोचना का आलोचना का प्रयप्त प्रभाव है तो वह जीवित साहित्य का आवश्यक गुण–धर्म इसे दास्ता अथवा हीनबुद्धि का लक्षण नहीं कहा जा सकता। यूरोप ज्ञान–विज्ञान के श्रेष्ठता की स्वीकृति का रहस्य आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी इन श्शब्दों के साथ कहते हैं

कि– ज्ञान, विदग्ध राष्ट्रों की उत्पत्ति होने से हमने इसे अपनाया भौतिकवादी पश्चिमी दार्शनिक चिंतन में मार्क्सवादी द्वांदात्मक भौतिकवादी की स्वीकृति भारत में साहित्यरों के एक वर्ग ने स्वीकृति दी किन्तु भारतीय मनिषयों भारत के प्राचीन धर्म शास्त्रों,दर्शन ग्रंथों से मानवसपेक्ष भगवान को प्रतिष्ठापित कर प्राचीन पौराणिक आख्यानकों एवं मिथकों में मानवता का दर्शन किया और इस मानवता का प्रभाव हिन्दी आलोचकों एवं आलोचना पर पड़ा।

दार्शनिक चिंतन के क्षेत्र यद्यपि किसी नूतन मत की स्थापना इस शतकों में भारत में नहीं हुई तथापि प्राचीन अनेक मतों की पुनः प्रतिष्ठा का प्रयास किया गया है। आनन्दवाद जिसका प्रभाव जयशंकर प्रसाद एवं अन्य छायावादी, रहस्यवादी कवियों पर दिखलाई पड़ता है। इनमें शकराचार्य का अद्वयतिवादी गीता का सम्भाववाद आदि विशेष उल्लोखनीय हैं। मानववादी भी वस्तुतः आधुनिक युग का प्रमुख दर्शन बना है। जिसका शिव पक्ष तिलक ने, सुन्दर पक्ष रविन्द्र ने तथा सत्य पक्ष गांधी ने सवंर्धित किया

संक्षेप में, आधुनिक हिन्दी साहित्य एवं आलोचना युगीन परिस्थितियों के कारण भारतीय परम्परा एवं पाश्चात्य साहित्य के बीच सेतू का काम किया। हिन्दी में अनुवाद द्वारा इस प्रभाव क्षेत्र में आलोचना को अधिक सार्थकता मिला।

आधुनिक हिन्दी साहित्य आलोचना का प्रारम्भ इतिहास लेखकों ने भारतेन्दु युग से माना है। किन्तु तत्कालीन साहित्य समिक्षा मूलतः व्यावहारिक ही रही, सिद्धांत विवेचन कीह दृष्टि से विशेष उल्लेख नहीं मिलता साहित्य आलोचन ने हिन्दी में पश्चिमी एवं भारतीय काव्यशास्त्री सिद्धांतों को प्रतिपादित करने का राजमार्ग प्रस्तुत किया बाबूश्यामसुन्दर दास ने अधिकतम पश्चिमी समीक्षकों (क्रोचे एवं हडसन) को आधार बनाया डॉ. नागेन्द्र ने एक के आधार पर दूसरे की व्याख्या का समन्वय करने का प्रयत्न किया क्योंकि वे मानते हैं कि– '' भारत तथा पश्चिम के दर्शनों की तरह ही यहाँ के काव्यशास्त्र भी एक दूसरे के पूरक हैं।'' डॉ. नागेन्द्र ने ग्रंथों की भूमिकाओं में प्राच्य और पाश्चात्य काव्य, समीक्षा के प्रमुख–प्रमुख सिद्धांतों का तुलानात्म एवं व्याख्यात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जैसे– कुन्तक के वक्रोक्तिवाद की विवेचना करते हुए ''हिन्दी वक्रोक्ति जीवित'' की भूमिका में वक्रोक्ति के नाम पर पश्चिमी काव्यशास्त्र का इतिहास प्रस्तुत किया है।

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में अनेक प्रवृत्तियाँ हैं जो प्रत्यक्षातः पश्चिमी आलोचना के सिद्धांत तथा सम्प्रदाय विशेष से प्रभावित हैं

1. पश्चिमी आलोचना के आधार पर संस्कृत, काव्य, शास्त्रीय रस, सिद्धांत की विचार, सरणि को परिवर्धित, परिमार्जित एवं संशोधित करना। इन प्रवृत्तियों का मुख्य ध्येय रस सिद्धांत का सार्वजनीन एवं व्यापक मानदण्ड बनाना है।
2. पश्चिमी आलोचनों के सिद्धांतों को तुल्यपदीय भारतीय सिद्धांत प्रतिपादित कर उनके मूल उत्स का अनुसंधान करना इस दृष्टि ने आधुनिक साहित्य में प्रचलित अनेक नव

संप्रम्दायों अथवा नूतन विचारधाराओं का मूलप्रेरणा, स्रोत वेदों में ढूँढ़ने की दृष्टि दी। भारतीय समसामयिक राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व साहित्यिक परिस्थितियों के करण अनेक साहित्य प्रवृत्तियों का मूलरूप प्राचीन काव्यों में देखा जाने लगा। इस प्रकार छायावाद, रहस्यवाद आदि वादों ने उन्हें भारतीय सिद्ध करने का प्रयास किया।

3. पश्चिमी काव्य सिद्धांतों के परीक्षित, अपरीक्षित प्रवृत्तियों का आधुनिकतम के रूप में ग्रहण करना और उनके प्रभाव में हिन्दी आलोचना में नवप्रतिमानों की स्थापना का प्रयास करना इनमें से कुछ चिंतन प्रवृतियों ने रस सिद्धांत की अनुपयुक्तता को प्रतिपादित कर उसके स्थान पर अपने नए प्रतिमानों को उपस्थिति किया है। इसका सैद्धांतिक विवेचन पूर्णतः पश्चिमी आलोचना से प्रभावित है।

इन तीनों दृष्टियों के निर्माण में समसामयिक परिस्थितियों का प्रभाव है ही, साथ ही आलोचकों के व्यक्तित्व का, उसकी शिक्षा–दीक्षा का भी प्रभाव दृष्टि–निर्माण में रहा है। इसीलिए एक ही समय में अनेक प्रवृत्तियों का अस्तित्व आधुनिक काल में मिलता है। प्रस्तुत इकाई में इन विभिन्न दृष्टियों के प्रतिनिधि रूप में आलोचकों का चयन कर भारतीय एवं पाश्चात्य आलोचना को ध्यान में रखते हुए, हिन्दी आलोचना के विकास का अध्ययन किया जा रहा है।

पहली दृष्टि की अनेक प्रवृत्तियों में प्रमुख प्रवृत्तियाँ और उनके प्रतिनिधि हैं–

1. वस्तुवादी नैतिक दृष्टि और इसका प्रतिनिधित्व करते हैं, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
2. मनोवैज्ञानिक दृष्टि और इसके प्रतिनिधि हैं– डॉ.नगेन्द्र
3. सौन्दर्य, शास्त्रीय मानवतावादी दृष्टि और उसका प्रतिनिधित्व करते हैं आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
4. ऐतिहासि– सामाजिक मानवतावादी दृष्टि और इसका प्रतिनिधित्व करते हैं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

दूसरी दृष्टि के अनेक प्रवृत्तियों के अनेक पोषक श्सृजनशील साहित्यकार के साथ ही आलोचक भी हैं किन्तु उनकी दृष्टि अपने काव्य– लक्ष्य के प्रति अधिक लगी रही है। अतएव उनका समिक्षा कार्य अधिक व्यापक नहीं बन सका है। तथापि इस क्षेत्र से प्रतिनिधि रूप में जयशंकर प्रसाद लिए गए हैं जिन्होंने अपेक्षाकृत रस– सिद्धांत पर, नाटकादि पर अपनी दृष्टि डाली है जो इस वर्ग की विशेषता है।

तीसरी दृष्टि की प्रवृत्तियों में प्रगतिवादी, प्रयोगवाद, नकेनवाद, तथा आधुनिकतम नया साहित्य नई आलोचना हैं। जिनमें प्रगतिवाद को ही इन सब का प्रतिनिधित्व देकर प्रमुख चिंतकों का अध्ययन किया जा सकता है।

इस प्रकार कुछ आलोचकों के सिद्धांतों को अत्यंत संक्षेप में यहाँ रखा जा रहा है–

1. डॉ. श्यामसुन्दर दास–

परिचयात्मक प्रवृत्ति के समीक्षक हैं इनकी समीक्षा संबंधी दो कृतिया 'रूपक–रहस्य' तथा 'साहित्यालोचन' परिचयत्माक सहित्यालोचन का ऐतिहासिक महत्व है। वे स्वयं लिखते हैं ' एम.ए. के पाठ्यक्रम में तीन विषय रखे गए जिनके लिए उपयुक्त पुस्तकें नहीं थीं। वे विषय थे– भारतवर्ष का भाषा विज्ञान, हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास और साहित्यिक आलोचना इन तीन विषयों के लिए अनेक पुस्तकों के नामों का निर्देश कर दिया गया जिनकी सहायता से इन विषयों का पठन–पाठन हो सके, परन्तु आधारस्वरूप कोई मुख्य ग्रंथ न बनाया जा सका। सबसे पहले मैंने साहित्यिक आलोचना का विषय चुना और उसके लिए ,जिन पुस्तकों का निर्देश किया गया था उन्हों देखना आरम्भ किया। मुझे शीघ्र ही अनुभव हुआ कि इस विषय का भली–भांति अध्ययन करने के लिए आवश्यक है कि विद्यार्थियों को पहले आलोचना के तथ्यों का आरम्भिक ज्ञान करा दिया जाए।''

उन्होंने हिंदी साहित्य पर विदेशी प्रभाव की चर्चा करते हुए आधुनिक युग में अंग्रेजी के श्शासन से उद्भूत परिस्थिति –जन्य प्रभावों के संबंध में लिखाः–

'' अंग्ररेजों के आगमन ,संपर्क और सत्ता का प्रभाव उससे भी बढ़कर पड़ा। हमारा गद्य–साहित्य का विकास तो उन्हीं के संसर्ग का प्रत्यक्ष प्रमाण है। हमारे बिचारों,मनोभावों ,आदर्शो और संस्थाओं पर भीउन्होंने अपने प्रभाव की स्थायी छाप लगा दी।उन्होंनें तो यहां तक हमारी सभ्यता पर छापा मारा कि जिधर देखिए उधर ही उनका प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। बात यह हुइ कि हमारी जाति कुछ समय पहले से ही सुषुप्तावथा में पड़ी थी।इस कारण से यह प्रभाव अधिक श्शीघ्रता से दूर–दूर तक व्यापक हो गया। जब जागृति केचिह्न दृष्टिगोचर होने लगे ,तब एक ओर तो इस प्रीााव का अवरोा होने लगा और दूसरी ओर उसकके पृष्ठपोषक उसे स्थायी बाये रखने के लिए उद्योगशील होन लगे। साहित्य का अध्ययन करने वाले,उसका मर्म समझने वाले तथा उसके विकास का सच्चा स्वरूप पहचानने के लिए यह परम आवश्यक है कि वह विदेशी प्रभाव की विवेचना करे और देखे कि यह प्रभाव साहित्य पर किस प्रकार पड़ा।और किस प्रकार उसने यह ं के लोगों के आदर्शो,विचारों,मनोभावों और लेखन शैली में परिवर्तन कर दिया।उसे यह भी देखना और बताना चाहिए किइस परिवर्तन के कारण हमारे काव्य पर साहित्य में कहां तक चारुता या विरुपता आई। अतएव साहित्य के अध्ययन में यह भी आवश्यक है कि हम उन जातियों के साहित्य के इतिहास से अभिज्ञान प्राप्त करें जिनसे हमारा संबंध हुआ है। ऐसा किए बिना हमारा विवेचन अपूर्ण और अल्पोपयोगी होगा।''

साहित्य के व्यापक क्षेत्र के अतिरिक्त हिंदी आलोचना पर पश्चिमी प्रभाव का स्पष्ट उल्लेख बाबू साहब ने इन श्शब्दों में किया है–

"आजकल की हिंदी पर पश्चिम का बड़ा प्रभाव पड़ रहा है,हमारी आलोचनाओं में शब्द तो संस्कृत के रहते हैं पर उनके साथ संसर्ग और भाव तीन समुद्र तेरह नदी पार पश्चिम के रहते हैं। इससे बड़ी कठिनाई यह आती है कि उन संस्कृति शब्दों में हमारे युग के और हमारी परिस्थिति के अनुरूप कुछ नये अर्थ भी आ जाते हैं।"

साहित्य–दर्शन के अन्तर्गत 'साहित्यालोचन' में 'संस्कृति के साहित्यशास्त्र ,पश्चिम के आलोचना –ग्रंथ और कुछहिंदी के चलते विचार सभी से सहायता लेकर बाबू श्यामसुन्दर दास ने एक प्रसंग में इस बात का उल्लेख किया है कि'जो सिद्धांत पश्चिम में स्पष्ट रूप से आज बने हैं वे हमारे भारत में'काव्य–प्रकाश'और'ध्वन्यालोक' के समय में ही बन युके थे।साहित्य और कला पर अपने विचार व्यक्त करते हुए दास जी कहते हैं –"किंतु तथ्य इतना ही है कि वस्तओं में कलाओं का प्रत्यक्षीकरण क रते हुए आचार आदिं के प्रश्न वास्तव में अन्तर्हित हो जाते हैं। इसका यह आशय कदापि नहीं कि कला का आचार से कोई संबंध ही नहीं।आशय यही है कि कला संबंधी शास्त्र आचार संबंधी शास्त्र से भिन्न है।"

साहित्य और जीवन में विचार करते हुए कहते हैं –'जीवन में जोपमुख इच्छाएं और कामनाएं हैं साहित्य मेंवे ही स्थायी भाव हैं।जीवन में जिस प्रकार प्रत्येक जीव अपनी इच्छाओं की पूर्ति द्वारा अपने आनंद का विस्तार करना चाहते हैं उसी प्रकार साहित्य का भी प्रत्येक पाठक अपने अनुरूप रस को प्राप्त करना चाहता है।'

रससिद्धात पर अपने विचार प्रकट करते हुए एक स्थल पर कहते हैं कि–'भ्रमवश हिंदी के आलोचकों ने रस को न जाने क्या समझ रखा है। एक विद्वानअंगरेजी मनोविज्ञान के फेर में पड़कर रस की मीमांसा करते हुए लिखते हैं:दो मनुष्य क्रोध में भरे एक दूसरे पर खंगो' से प्रहार कर रहे हों तो दोनों का भाव रौद्र अवश्य है पर उनको रौद्र का रस नहीं आ रहा है। किंतु यदि एक मनुष्य दूसरे को गहरा घाव पहुचाकर और बेकाम करके ठहर जाय और कहे–'क्यों,और लडोगे','फिर ऐसा करोगे', 'अब तो समझ गए न ? तो उसको रोद्र रस आया ऐसा जानना चाहिए। ऐसे विचार पश्चिमी मनोविज्ञान के औरस पुत्र हैं। भारतीय शास्त्रों में भाव और रस का ऐसा भेद नहीं किया गया है। वह तो फीलिंग,इमोशन तथा सेंटीमेंट की चर्चा–सी जान पड़ती है।"

2. आचार्य रामचंद्र शुक्ल–

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व ने हिंदी साहित्य एवं भाषा में क्रमशः नैतिकता एवं व्याकरण सम्मत शुद्धि से संवलित आदर्श का वातावरण उपस्थित किया। राष्ट्रीयचेतना एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना ने लोकहितकेपक्ष को पुष्ट किया। आलोचना–साहित्य के क्षेत्र में ततकालीन चिंतन की प्रौढ़ता का प्रतिनिधित्व आचार्य रामचंद्रशुक्ल के आलोचना –साहित्य ने किया। उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र से अधिक पश्चिमी काव्यशास्त्र की व्याख्या की।इसीलिए उन्होंने हिंदी –समीक्षा के क्षेत्र मे उन दृष्टियों का विरोध

किया,जिनके कारण,उनकी दृष्टि में ,साहित्य,साहित्य न होकर कला मात्र रह जाता है। चौवीसवें हिंदी साहित्य सम्मेलन,इंदोर की साहित्य–परिषद् के सभापति–पद से उन्होनें स्पष्ट घोषणा की

"मैं फिर भी जोर के साथ कहता हूं कि यदि काव्य के प्रकृति स्वरूप की रक्षा इष्ट है तो उसका पीछा इस कला शब्द से जहा तक हो सके शीघ्र छुड़ाया जाय अच्छा है।"

पश्चिमी आलोचना ने शुक्ल जी के दृष्टिकोण को व्यापक बनने में सहायता की। उनकी समीक्षा में पश्चिमी आलोचना की मान्यताएं दो रूपों मे मिलती है–

1. पश्चिमी आलोचना के मान्य सिद्धांत
2. पश्चिमी आलोचना के अमान्य सिद्धांत

शुक्ल जी ने साहित्य की परीक्षा साहित्य के आधार पर की जिसमें मनोविज्ञान सहायक मात्र था।इसीलिये उन्होंने रस,भाव आदि क मनोवैज्ञानिक विवेचन में भी साहित्य से संबद्ध पक्ष पर ही अधिक ध्यान दिया,मनोविज्ञान के प्रश्नों का समाधान नहीं खोजा।

काव्य और कला के संबंध मे विचार करते समय शुक्ल जी काव्य को रचना–दृष्टि से कला मानने को तैयार हैं,उद्देश्य या प्रयोजन की दृष्टि से नहीं।पश्चिमी समीक्षकों में भी प्लेटो,अरस्तू आदि आचार्यो ने काव्य को कला इसी दृष्टि से माना है,न कि पश्चिमी कलावादियों की दृष्टि से माना है। आचार्य शुक्ल ने प्रतिपादित किया है कि 'अनेक व्यक्तियों के रूप–गुण आदि क विवेचन के द्वारा कोई वर्ग या ज़ाति ठहराना,बहुत सी बातों को लेकर कोई सामान्य सिद्धांत प्रतिपादित कररना यह सब तर्क और विज्ञान का काम है–निश्चयात्मक बुद्धि का व्यवसाय है। काव्य का काम है कल्पना में बिंब या मूर्त भावना उपस्थित करना,बुद्धि के सामने कोई विचार लाना नहीं। काव्य और जीवन पर अपने विचार कुछ यू रखते हैं –"जो काव्य–सिद्धांत अथवा काव्य–कृति जीवन के जितने अधिक निकट एवं उपयोगी होगी ,वह काव्य–सिद्धांत अथवा कृति उतना ही अधिक ग्राह्य है। शुक्ल जी ने काव्य में जगत् या जीवन से संबंध रखनेवाली किसी न किसी वस्तु या तथ्य की अनिवार्यता स्वीकार कर काव्य के रूप–विधान के प्रस्तुत–अप्रस्तुत के भेद का निरूपण किया है।शुक्ल जी की काव्यदृष्टि मूलत' जीवन परक दृष्टि रही। इस दृष्टि से वे नैतिक अथवा लोक मंगलवादी विचारें से अधिक प्रभावित थे।शुक्लजी ने भावानुभूति को रस मानकर न केवल उसकी लौकिकता का अपितु उसको मात्र आनंद रूप का भी खंडन किया है। काव्य के प्रभाव–पक्ष को नैतिक एवं लोक–कल्याण की दृष्टि से देखने के कारण शुक्ल जी ने काव्यगत अनुभूति की कई कोटियां स्थिर कीं। भारतीय आचार्यों ने भी अपनी समकालीन नैति दृष्टि से रस और रसाभास की दो कोटिया। स्वीकार की हैं।

1. जिस भाव की व्यंजना हो उसी भाव में लीन हो जाता।[8]

2. जिस भाव की व्यंजना हो उसमें लीन न होना,पर उसकी व्यंजना की स्वाभाविकता और उत्कर्ष का हृदय से अनुमोदन करना।

पश्चिमी समीक्षा के प्रभाव को ग्राह्य एवं आवश्यक मानकर भी आचार्य जी ने उसकी कड़ी परीक्षा का जो प्रतिबंध लगाया था,उसका उन्होंने स्वयं पालन किया और पश्चिमी समीक्षा के उन तत्वों को ही मान्य बताया जो रस, अलंकार ,रीति और शब्द–शक्ति को सर्वदेशीय एवं सम्यक् बना सकें अथवा जो इन प्रमुख सिद्धांतों की परिष्कृति उन्नति एवं समृद्धि में अनिवार्यतः सहायक हों सकें। इसलिए उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि 'योरप के साहित्यिक वादों और प्रवादों के संबंध में यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि वे वरिवर्तन की झोंक में उठते है। और किसी और हद के बाहर बढ़ते चले जाते हैं। उनमें सत्य की मात्रा कुछ न कुछ रहती अवश्य है;पर किसी हद तक ही। हमें देखना चारों ओर चाहिए;पर सब देखी हुई बातों को सामंजस्य बुद्धि से मान्य करना चाहिए। आचार्य ने रहस्यवाद की रहस्यमयता जिज्ञासा आदि का अव्यक्त से संबंध होने के कारण उसे व्यावहारिक जीवन से असंबद्ध भावना माना एवं काव्य में व्यक्त जगत् का ही अस्तित्व मानकर उसका विरोध किया। इस संदर्भ में उनका कथन जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य इसी अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति। इसी प्रकर उन्होंने भावानुभूति की दृष्टि से रहस्यवाद को एकांगी सिद्ध किया। उन्होंने रहस्यवाद को साम्प्रदायिक मानकर भारतीय निर्गण सम्प्रदाय ,अद्धैतवाद,मायावाद आदि काव्रू में प्रयुक्ता वादों का विवेचन किया। रहस्यवाद की भांति ही उन्होंने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को भी इन्हीं दो दृष्टियों से देखकर उसकी एकांगिता प्रदर्शित की। हिंदी के छायावाद को विलायती चीजों का मुरब्बा समझकर उन्होंने उसकी काव्य–वस्तु और रचना–विधान को अभिव्यंजना के साथ संयुक्त होकर बंगला से हिंदी मे आया हुआ विदेशी माना है।

शुक्ल जी की कल्पना विषयक धारणा एडिसन के निबंध 'कल्पना के आनंद' में निरूपित धारणा से अत्यधिक प्रभावित हुई है। इसी तरह आधुनिक साहित्य–समीक्षा में बिंब का विशेष विचार किया जाता है पर शुक्ल जी ने इस पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया।वे मानते थे किकवि की बपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग–प्रत्यंग,वर्ण,आकृति तथा उनके आसपास की परिस्थिति का परस्पर संश्लिष्ट विवरण देना ही बिंब–ग्रहण करना माना जाना चाहिए। इस प्रकार बिंब कल्पना का सहायक है। आगे हम देखते हैं कि शुक्ल जी ने सुन्दर एवं सौन्दर्य–शास्त्र के काव्य के संबंध को स्वीकार नहीं किया। उनकी इस मान्यता का कारण सौन्दर्यशास्त्र में काव्य को भी कला,चित्रकला,मूर्तिकला,आदि की भांति माना जाना तो है ही,साथ ही 'सच बात तो यह है कि काव्य के स्वरूप–लक्षण में सुन्दर शब्द उतने काम का न हीं,जितना समणा जाने लगा है।'इसी नैतिक दृष्टि को वे स्पष्ट शशब्दों में कहते हैं कि "भीतरी और बाहरी सौन्दर्य ,रूप सौन्दर्य और कर्म सौन्दर्य के मेल की य ह आदत धीरोदात

आदि भेद–निरूपण से बहुत पुरानी है और बिलकुल छूट भी नहीं सकती।यह हृदय के इस भीतरी आनंद की दृष्टि के लिए कला की रहस्यमयी प्रेरणा है। मंगल–शक्ति के अधिष्ठान राम ओर कृष्ण जैसे पराक्रमशाली और धीर हैं। वैसी ही उनकी रूप माधुरी और शील भी लोकोत्तर है। लोक हृदय आकृति और गुण–सौन्दर्य और सुशीलता एक ही अधिष्ठान में देखना चाहता है।"

3.5 अद्यतन हिंदी समालोचना

डॉ. रामविलास शर्मा ने हिन्दी–भाषा और साहित्य की गौरवशाली परंपराओं का अनुसंधान करते हुए नवीन आलोचनादृष्टि का विकास किया। वे मार्क्सवाद की समक्ष का उपयोग अपने ढंग से करते हैं। मार्क्सवाद के प्रगतिशील तत्वों का उपयोग उन्होंने आलोचना में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचनादृष्टि के समर्थन और ग्रहण के साथ किया।

आचार्य शुक्ल के इतिहासदर्शन तथा आलोचनात्मक विवके ने पुरानी तथा नई पीढ़ी का ध्यान आकृष्ट किया। परिणामतः रामचन्द्र तिवारी ने 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल', 'डॉ. रामविलास शर्मा ने 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : लोक–जागरण और हिन्दी–साहित्य', अजित कुमार ने 'आचार्य शुक्ल : विचारकोश', कृष्णदत्त पालीवाल ने 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का चिंतन–जगत', सं. सुरेश त्यागी, 'रामचन्द्र शुक्ल', सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने 'रामचन्द्र शुक्ल' तथा भोपाल से सं. सोमदत्त ने साक्षात्कार पत्रिका का 'रामचन्द्र शुक्ल' विशेषांक निकाला। डॉ. धनंजय वर्मा, नीलकांत, डॉ. शिवकुमार मिश्र आदि आलोचकों ने भी रामचन्द्र शुक्ल पर पुस्तकें लिखी। इस प्रकार आचार्य शुक्ल के माध्यम से हिन्दी–आलोचना के मूल्य–मानों पर विचार हुआ और इस विचार–मंथन से हिन्दी–साहित्य को नवीन दिशा मिली है।

नवलेखन, नई कविता और समसामयिक कविता के विशिष्ट आलोचकों में रामस्वरूप चतुर्वेदी, लक्ष्मीकांत वर्मा, शमशेरबहादुर सिंह, जगदीश गुप्त, मलयज, धर्मवीर भारती, गिरिरज माथुर आदि के नाम उभर का सामने आए हैं। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'मध्ययुगीन हिन्दी–काव्यभाषा' पर भाषावादी आलोचना की दृष्टि से गहन गंभीर कार्य किया है। किन्तु वे 'नवलेखन' (1960) 'भाषा और संवेदना' (1964), 'अज्ञेय : आधुनिक रचना की समस्या', 'कामायनी: पुनर्मूल्यांकन' आदि आलोचनात्मक पुस्तकों से नए साहित्य में अपनी अलग पहचान बनाते हैं। उन्होंने काव्यभाषा की सृजनशीलता को अपनी आलोचना का केन्द्रीय विषय बनाते हुए लिखा।

मार्क्सवादी समीक्षा के प्रतिनिधि आलोचकों में आज दो नाम हैं– रमेश कुंतलमेघ और नेमिचन्द्र जैन। आरंभ में रमेश कुंतलमेघ की जटिल शब्दावली में उलझाव रहा; किन्तु वह अब धीरे–धीरे समाप्त हो गया है और उनमें एक नई चमक पैदा हुई है। उनकी प्रतिनिधि आलोचनात्मक कृतियां हैं– 'आधुनिकताबोध और आधुनिकीकरण', 'मध्ययुगीन रस–दर्शन',

अथातो सौंदर्य–जिज्ञासा', 'क्योंकि समय एक शब्द है' और 'साक्षी है सौंदर्यप्राश्निक'। संस्कृत–हिन्दी काव्यशास्त्र के सैद्धांतिक चिंतन को डॉ. मेघ ने मार्क्सवादी विचारधारा की ध ारा से चमकाया है। 'अथातो सौंदर्य–जिज्ञासा' पुस्तक में 'कला और सौंदर्यबोधशास्त्र', कलाकृति', 'कलाओं का वर्गीकरण', 'आशंसक या सहृदय', 'कलाकार', 'सृजप्रक्रिया और सर्जनात्मक कृत्य', 'अभिव्यंजना' (एक्सप्रेशन) 'संप्रेषणीयता' (कम्युनिकेशन), 'सौंदर्यतात्विक वृत्ति तथा सौंदर्यबोधानुभव', 'संस्कृति, मनुष्य और इतिहास' पर विचार करते हुए उन्होंने विश्वभर के काव्यशास्त्र चिंतन को निचोड़ने का यत्न किया है।

आलोचना के इस दौर में डॉ. बच्चन सिंह ने 'आधुनिक हिन्दी–आलोचना के बीज़श:ब्द' (1983), 'साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद' तथा 'आधुनिक हिन्दी–साहित्य का इतिहास' लिखकर महत्वपूर्ण कार्य किया है। डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी ने 'भारतीय काव्यशास्त्र: नवमूल्यांकन' तथा डॉ. देवेन्द्रनाथ शर्मा ने 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र' के सिद्धांतों से हिन्दी–समीक्षा को परिचित कराया है। डॉ. निर्मल जैन ने 'नई समीक्षा के प्रतिमान' में पश्चिमी नई समीक्षा के सिद्धांतकारों के विचार हिन्दी में अनुवाद कर प्रस्तुत किए हैं। इन सभी कार्यों से हिन्दी की सैद्धांतिक समीक्षा पुष्ट हुई है।

डॉ. रामविलास शर्मा का पहला आलोचनात्मक लेख 'निराला जी की कविता' (1934) में प्रकाशित हुआ और उनकी पहली आलोचना–पुस्तक 'प्रेमचन्द (1941) में प्रकाशित हुई।

डॉ. रामविलास शर्मा की आलोचना के दो रूप हैं: एक, खंडनात्मक और दूसरा, मंडनात्मक। अपनी खंडनात्मक आलोचना में वे निरंतर लड़ाई लड़ते रहे। उन्होंने अपने, अपनों के और मार्क्सवाद के विरोधियों को कभी बख्शा नहीं।

डॉ. रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त और शिवदानसिंह चौहान के बाद की प्रगतिवादी आलोचकों की अगली पीढ़ी में सर्वाधिक प्रतिभावना आलोचक के रूप में उभर कर सामने आने वाले आलोचक डॉ. नामवर सिंह हैं। 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' वस्तुत: एक शोधग्रंथ है। पहली पुस्तक तो 'छायावाद' (1954) है।

'दूसरी परंपरा की खोज' (1982), 'वाद–विवाद–संवाद' (1989) और 'आलोचक के मुख से' (2005)। इनमें से अंतिम पुस्तक (1980–84) में प्रगतिशील लेखक–संघ', पटना में दिए गए उनके भाषणों का खगेन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा किया गया संपादन है।

आलोचक के प्रति निष्ठा रखने वाले या उससे प्रेरणा लेने वाले नई–पुरानी पीढ़ी के कई अन्य आलोचक भी इस कालावधि में सक्रिय रहे हैं। ये हैं : अमृतराय, विश्वंभरनाथ उपाध्याय, रमेश कुंतलमेघ, शिवकुमार मिश्र, विश्वनाथ त्रिपाठी, धनंजय वर्मा, नित्यानंद तिवारी, नंदकिशोर नवल, कर्णसिंह चौहान, खगेन्द्रनाथ ठाकुर, मैनेजर पांडेय, शंभुनाथ इत्यादि। इस कालावधि में अमृतराय की 'विचारधारा और साहित्य' (1984) शीर्षक पुस्तक प्रकाशित हुई। उनमें मार्क्सवादी कट्टरता नहीं है। अपनी क्त पुस्तक में उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि

"आज का साहित्य मानवतावादी है।

अब हम हिन्दी–आलोचना के विकास के जिस बिंदु पर पहुँच चुके हैं, उस पर वर्तमान कालावधि में उभर कर सामने आने वाले आलोचकों की एक पूरी नई पीढ़ी अपनी पहचान बनाती है।

जिस पीढ़ी के आलोचकों की चर्चा हम यहाँ कर रहे हैं, उनमें वीरेन्द्र सिंह, रामचन्द्र तिवारी, प्रभाकर श्रोत्रिय, दूधनाथ सिंह, अशोक वाजपेयी, विष्णु खरे, रमेशचन्द्र शाह, मलयज, निर्मल जैन, रत्नलाल शर्मा, विष्णुकांत शास्त्री, कल्याणमल लोढ़ा, कृष्णदत्त पालीवाल, चन्द्रकांत बांदिवडेकर, परमानंद श्रीवास्तव, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से कोई भी वामपंथी रुझान का नहीं है, फिर भी प्रगतिशीलता उनकी आलोचना की केन्द्रीय विशेषता है।

3.6 हिंदी समालोचना की पद्धतियां

पश्चिमी आलोचना के सैद्धांतिक आदर्शो की भांति व्यावहारिक रूपों एवं पद्धतियों ने भी हिंदी आलोचना को अधिक प्रभावित किया।यह प्रभाव आरंभ से ही प्रेरणा–रूप में कार्य करता रहा। भारतेंदु युग से आज तक का हिंदी आलोचना का इतिहास पाश्चात्य प्रभाव की उत्तरोत्तर वृद्धि करता रहा। साहित्य के अर्थ की विभिन्नता के समान ही आलोचना की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप आलोचना –पद्धति के अनेक रूप व्यवहृत होते हैं। किंतु इन विभिन्न आलोचना पद्धतियों के मूल में प्रायः मूल्य–निधारण या व्याख्या की प्रवृति रहती है। ये दोनों प्रवृतियां आलोचक के साहित्य–दर्शन से अधिक पृष्ट होती हैं। साहित्य की भांति आलोचना भी अनेक दृष्टियों से अनुशाषित रहती है।कृति ही मूलतः समीक्ष्य होने से उसकी व्यख्या एवं मूल्य–निर्धारण में कृतिकार के जीवन,देश–काल,परिस्थिति एवं व्यक्तित्व का अध्ययन सहायक हो सकता है। पश्चिमी आलोचना में इन सब को व्यवहारिक रूप मिल चुका है।

मूल्याधारित आलोचना पद्धति– मूल्य के आधार पर की जाने वाली समीक्षा पद्धतियों में मूल्य से अभिप्राय कृति में निहित कथ्य् अथवा कथन अथवा दोनों से संबद्ध वैशिष्ट्य है जिसको आलोचक अपने साहित्य–दर्शन के आधार पर उद्घाटित करता है। इस दृष्टि से व्याख्यात्मक आलोचना में भी 'मूल्य' होता है। हिंदी साहित्य–समालोचकों ने इन नए पुराने काव्य विधाओं के मूल्यांकन और व्याख्या में पश्चिमी मूल्यों के साथ ही रस आदि देशानुकूल परिष्कृत प्रचीन मूल्यों का भी प्रयोग किया है।साहित्य –समीक्षा में सौन्दर्य को ही कलागत अनुभव का मूल्य मानकर उसके आधार पर व्यवहारिक समीक्षा का आदर्श निश्चित किया गया है। आलोचक की मूल्य दृष्टि कृति पर 'शासन' ही करती है,कृतिगत मूल्य से अनुशाषित कम ही होती है। आलोच्य कृति के मूल्यांकन की प्रक्रिया में समीक्षक को कृति के आधार पर ही अपना नया वैचारिक संगठन करना चाहिए। कृति के मूल्यांकन में समालोचक लक्षण–ग्रंथों के आचार्यों द्वारा निरुपित शास्त्रीय विधि–विधानों के निकष का प्रयोग कर

सकता है। मूल्यों के दो रूप हमारे सामने आते हैं–बाह्यगत तथा अंतरिक। बाह्गत के दो रूप आते हैं–साहित्य–शास्त्रीय तथा साहित्य एवं जीवन प्रसूत। साहित्य– शास्त्रीय प्रतिमान के आधार पर जब हम देखेते है तो ध्यान में आता है कि हिंदी में आधुनिक समालोचना का सूत्रपात सैद्धांतिक रूप से न होकर व्यावहारिक रूप से हुआ है। पं. बालकृष्ण भट्ट ने पश्चिमी व्यावहारिक समीक्षा के अनुरूप कथानक और उसका संगठन,चरित्र–चित्रण,कथोपकथन,भाषा आदि शीर्षकों के अनुसार संस्कृत काव्य सिद्धांतों के आधार पर आलाच्य कृति के गुण–दोष का विवेचन किया। भट्ट जी पर पश्चिमी समीक्षा के व्यावहारिक पद्धतियों का प्रभाव तो था ही साथ ही वे उनमें प्रयुक्त विभिन्न पारिभाषिक शब्दों से भी परिचित थे और उनका प्रयोग अपनी समीक्षा में करते थे।उदाहरण के लिए 'कैरेक्ट्राइजेशन'का प्रयोग कुछ इस प्रकार करते हैं–"हमने जहां तक नाटक देखे उनमें पात्रों की व्यक्ति

(कैरेक्ट्राइजेशन) के भिन्न–भिन्न होने से नाटक की शोभा देखी पर आपके पात्र सबके सब एक ही रस में सम उपदेश देने में लथर–पथर पाये जाते हैं।" इसी प्रार 'परीक्षा गुरु' में 'प्लाट' तथा 'रणमोहनी'में 'ट्रेजडी' का उपयोग करते हैं। व्यवहारिक समीक्षा पद्यति में गुण–दोष प्रदर्शन के कार्य में आचार्य द्विवेदी के प्रतिमान भी मूलतः संस्कृत के आचार्यो के प्रतिमान ही थे। 'सरस्वती' में प्रकाशित हम्मीरहठ की आलोचना में द्विवेदी जी लिखते हैं–"बहुधा हमारे यहां के समालोचक महाशय कागज व छापे की प्रशंसा तथा मूल्य पर अपनी अनुमति प्रकाशित करे पुस्तक के साहित्य संबंधी गुण–दोषों के विषय में या तो एकदम मौन धारण कर बैठते हैं या यदि बड़ा ही साहस किया तो दो एक अत्यंत प्रकट विषयों पर प्रायः प्रशंसा करे कृत–कृत्य मान लेते हैं और ग्रंथ में किसी प्रकार की त्रृति दिखाना तो पाप ही समझते हैं।"

आचार्य रामचंन्द्र शुक्ल ने आलोच्य कृति के कृतिकार की ऐतिहासिक,सामाजिक एवं उसकी मनोवृति संबंधी भूमिका का पृष्ठभूमि में आलोच्य कृति को शास्त्रीय मानदंडों से परीक्षिति किया।'जायसी ग्रंथावली' की भूमिका में आचार्य रामचंन्द्र शुक्ल ने जायसी के व्यक्तित्व से संबंद्ध समस्त पक्षों का विवरण देते हुए 'पद्मावत' की आलोचना में संस्कृत एवं पश्यिमी दोनों काव्यशास्त्रीय प्रतिमानों का प्रयोग किया।उन्होंने रस अलंकार आदि के साथ ही अरस्तू द्वारा प्रतिपादित कार्य–संगठन,अन्विति आदि के आधार पर पद्मावत के महाकाव्यत्व की समीक्षा की है।इसी प्रकार सूरदास के 'भ्रमरगीतसार'की भूमिका के रूप में विद्यार्थियों के लिए लिखे जाने के कारण अधिक व्याख्यात्मक हो गई है।भाव पक्ष के साथ ही कला पक्ष ,भाषा,संगीत–तत्व,अलंकार –विधान ,उक्ति,चमत्कार आदि की छानबीन शास्त्रीय आधारों पर की गई है। किंतु शुक्ल जी के पास अन्य प्रतिमान भी थे और जिसके आधार पर वे सूक्ति और काव्य में भेद करते थे। शुक्ल जी के अनुगामी विद्वानों ने संस्कृत काव्यशास्त्रीय प्रतिमानों के आधार पर ही कृतियों की समीक्षा की है।

हिंदी साहित्य के प्रारंभिक पश्चिमी समीक्षकों –जार्ज ग्रियर्सन, एफ.एस.ग्राउज, फरकुहर,जे.एम.मेकाकी,आर.डब्लू फ्रेजर,गार्सा द तासी आदि विद्वानों ने अपने आलोच्य कृति या कवि की समीक्षा में अपने जीवन–दर्शन का प्रचुर प्रयोग किया है।विशेषतया कबीर और तुलसी की समीक्षा में अपने जीवन–दर्शन से अनुशासित नैतिक एवं धार्मिक मूल्यों को आध ार बनाकर ईसाई मत से साम्य एवं कभी–कभी उसके प्रभाव की भी चर्चा की है।तुलसी काव्यसमीक्षा में ग्रियर्सन श्शास्त्रीय प्रतिमानो की परिधि से बाहर जाकर कवि के वर्णों में स्वाभाविताकता और कृतिगत भाव के साथ अपनी रुचि एवं संस्कार को ही मूल्यांकन का आध ार बनाते हैं–

"तुलसीदास भी भारतीय काव्य–प्रणाली के परंपरागत घने कुहासे से पूर्णतया ऊपर नहीं उठ सके हैं।मैं स्वीकार करता हूँ कि उनके युद्ध वर्णन प्रायः अस्वाभाविक और विकर्षक हैं और कभी–कभी दुःखद और उपहासास्पद के बीच की सीमा का भी अतिक्रमण कर जाते हैं। देशी लोगों की दृष्टि में कवि के लिखे हुए ये ही सर्वोत्तम छंद हैं; पर मैं ऐसा न हीं समझता कि सुसंस्कृति यूरोपीय को इनमें कभी अधिक आनन्द आ सकता है। राम को बराबर विष्णु के अवतार के रूप में प्रस्तुत करने की आवश्यकता भी उनके मार्ग में बाधक हुई है। यद्यपि भावुक भक्त की दृष्टि में यह विनम्र श्रद्धाभव हैपर हम मलेक्षों केलिए तो यह घोर अत्युक्ति ही है। संभवतः यह एक मात्र अपने पूर्वगामी अन्य कवियों से। यह स्थूल वस्तुओं के इतने सूक्ष्म द्रष्ट्रा थे कि इनके बहुत से सत्य और सरलतम पद्यांस इनके उन टीकाकारों की समझ में नहीं आये; जो वस्तुतः विद्वान मात्र थे। और जो अपनी आंखे बंद किए हुए ,अपने चतुर्दिक स्थित सुन्दर संसार में विचरण करते थे। तुलसी साहित्य के संबंध में प्रगतिशील आलोचकों में दो मत रह हैं। पहला मत ऐतिहासिक दृष्टि से पुराना है । इसके अनुसार तुलसीदास सामन्तवादी विचारधारा के समर्थक थे। दूसरों ने इन्हें जनवादी परंपरा का नायक बताया।वस्तुतः यह एकांगी आलोचना का परिणाम है।

आंतरिक मूल्यांकन का प्रयोग हिंदी समालोचना मे पश्चिम की ही देन है।कृति के आधार पर आन्तरिक मूल्यों को आधार बना कर कार्य करने वाले आचार्य हैं–नंददुलारे वाजपेयी। उनके अपने 'सप्तसती' के सात सूत्रों में तीन अंन्तर्मूल्य के प्रतिमान हो सकते हैं और शेष चार बाह्यमूल्य के –प्रथम तीन सूत्र हैं–

1. रचना मे कवि की अन्तर्वृतियों –मानसिक उत्कर्ष,अपकर्ष का अध्ययन।
2. रचना में कवि की मौलितकता,शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता विशालता का अध ययन।
3. रीतियों,शैलियों आथ्र रचना के बाह्यांगों का अध्ययन।

डॉ रामविलासशर्मा ने निराला की 'राम की शक्ति पूजा'में कवि के जीवन की अनुभूति निराशा,पराजय संघर्ष और विजय कामना का नाटकीय रूप देखा है।उनके ही

श्शब्दों में–

"राम की श्शक्तिपूजा जैसी नाटकीयता निराला जी की और किसी भी कविता में नहीं। यहां उन्होंने अपने जीवन की अनुभूति,निराशापराजय,संघर्ष और विजय–कामना को नाटकीय रूप दिया है। आकाश और समुद्र के सम्मिलित गर्जन में राम का व्यक्तित्व कुछ क्षण को मानों खो जाता है। यह क्रियाशील तमोगुण जीवन की परिस्थितियों हैं जिन्हें परास्त करने के लिए राम सदा साधनों की खोज करते रहे हें। रामशक्ति की साधना करते हैं जहां राम समुद्र के किनारे अंधेरे में अकेले बैठें हैं। शिर पर एक मशाल जल रही है और समुद्र के गरजने के साथ रावण क उन्मत अट्टहास सुनाई देता है। यह राम तुलसीदास के मर्यादा पुरुषोत्तम नहीं हैं इनमें ब्रह्म की पूर्णता के बदले मनुष्य की अपूर्णता है। वह अधीर हो जाते हैं,सीता की स्मृति से मोहित हो जाते हैं,आंखों से आंसू भी गिरने लगते हैं इसीलिए शक्ति की साधना इतनी महत्वपूर्ण है। राम के रूप में कवि ने जीवन की परिस्थितियों के एक बार फिर चुनौती दी है। उसके नायक युद्ध के लिए फिर तैयार होते हैं। लेकिन यह महाशक्ति एक दैवी शक्ति है।शक्ति आकर राम का हाथ पकड़ना एक मनोमुग्धकारी चमत्कार मात्र है।राम के संघर्ष का चित्र जितना प्रभावशाली है,उतना उनकी विजय का नहीं। कवि के जीवन में संघर्ष ही सत्य रूप में आया है विजय की कामना अपूर्ण रही है।"

यह मूल्य क्या है–शक्ति का आराधन। यहर आराधन आंतरिक है,इसलिए मौलिक भी है–'शक्ति की मौलिक कल्पना'।

कुछ लोगों का मानना है कि यह समीक्षा अमेरिकी नव–समीक्षकों के प्रभाव से हिंदी में व्याप्त हुई। इस प्रकार के आलोचकों में हैं– श्री विजयदेव नारायण शाही,धर्मवीर भारती, आशोक वाजपेयी,आदि।

व्याख्यात्मक आलोचना–पद्यतियां– व्याख्या का मूल उद्देश्य आलोच्य कृति या कबि के पात्पर्य को स्पष्ट करना तथा उसे सर्वज़नसुलभ बनाना। इस कार्य में वह मूल्यांकन की ओर प्रवृत न होकर व्याख्या को ही अपना लक्ष्य बनाता है। व्याख्या करने की भारतीय पद्यत का स्वरूप जैमिनी दर्शन या पूर्वमीमांशा के तात्पर्य–निर्णय के संबंध में स्पष्ट किया गया है। यद्यपि इस पद्यति का प्रयोग भारतीय साहित्य–समीक्षा में नहीं मिलता है तथापि इस पद्धति इसके आधार पर व्याख्या का कार्य संभव है और कदाचित व्यवहार में रहा हो जसका प्रयोग अब तक मीमांसा–विषयक विवेचनों को छोंड़कर अन्य क्षेत्रों में कभी–कभी होता हों।व्याख्या पद्धति इस प्रकार है–किसी कृति के अभिप्रेत अर्थ को नानने के लिए सात बातों का विचार आवश्यक है–

1. उपक्रम–ग्रंथ का आरम्भ
2. उपसंहार–ग्रंथ का अन्त,निष्कर्ष
3. अभ्यास–ग्रंथ में किसी तथ्य की आवृति

4. अपूर्वता–नवीनता
5. फल– ग्रंथ का उद्देश्य
6. अर्थवाद
7. उपपत्ति

व्याख्या का चाहे जो आधार हो,व्याख्या का मूल आधार कृति की अपनी प्रकृति और आलोचक के अपने दृष्टिकोण के अनुकूल गृहीत आलोचना पद्धति ही है। इस दृष्टि से व्याख्यात्मक आलोचना की निम्नलिखित पद्धतियां हैं।

(अ) ऐतिहासिक समीक्षा–पद्धति एवं सामाज़वादी दृष्टि से प्रभावित प्रगतिवादी (मार्क्सवादी)पद्धति।

(ब) मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा–पद्धति

(स) जीवनचरितात्मक समीक्षा–पद्धति

(द) प्रभाववादी समीक्षा–पद्धति

(इ) टीका समीक्षा–पद्धति तथा तुलमनात्मक समीक्षा–पद्धति

इन समीक्ष–पद्धतियों का प्रयोग कृति के मूल्यांकन और व्याख्या दोनों में होता है।

एतिहासिक समीक्षा–पद्धति–

आलोचको, आलोच्य कृति की व्याख्या के निमित कृति के वास्तविक स्परूप का ज्ञान आवश्यक है। एतदर्थ वह कृति को एक निश्चित देशकाल की पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित करना हैं ऐसा करनें में उसे इतिहास का आश्रय, ग्रहण करा पड़ता है। यह इतिहास कृतिकार के चारों ओर के वातावरण का एवं उस वातावरण के प्रभाव का रूप स्पष्ट करता है। इसके आधार पर सासलोचक कृति में कृतिकार द्वारा गृहीत प्रभाव अथवा कृतिकार में इस प्रभाव के फलस्वरूप आए परिष्कार संस्कार आदि का अध्ययन करता है और कृतिकी व्याख्या करता है।आलोच्य कृति का विषय –वस्तु ऐतिहासिक सामग्री होने पर भी आलोचक की कृति में उस सामग्री के उपयोग –विधि का कल्पना के साथ मिश्रणके अनुपात का अध्ययन करना पड़ता है किंतु उसकी मूल दृष्टि इतने सें ही ऐतिहासिक नहीं हो जाती। उसे कृतिकार के देश–काल से कृति की व्याख्या को संबद्ध कर तत्कालीलन परिस्थितियों में इसकी उपयोगिता की मीमांसा कर अपनी एतिहासकि दृष्टि का निर्माण करना पड़ता है।समालोचक की ऐतिहासिक दृष्टि उसके इतिहास के संबंध में बनी धारणाओं से निर्मित होती है। उसकी दृष्टि में इतिहास से जो तात्पर्य एवं कार्य होगा,उसी के आधार पर वह कृति की व्याख्या करेगा।इसप्रकार जो समीक्षक इतिहास को मात्र घटना–क्रम मानते हैं वे आलोच्य कृति में इन घटनाओं का प्रयोग अथवा प्रभाव ढूढ़गें और उस घटना विशेष के प्रति व्यक्त प्रतिक्रिया के आधार पर कृति की व्याख्या करेगें। इतिहास के संबंध मे उपर्युक्त दृष्टियों का प्रयोग

आलोचना में ऐतिहासिक पद्धति को प्रश्रय देता है।द्विवेदी युगीन आलोचकों में एतिहासिक आलोचना का विशेष महत्व रहा है। बाबू श्यामसुंदर दास ने इस आलोचना पद्धति को चुनकर कबीर के काल–निर्णय ,उनके बीजकों की ऐतिहासिक दृष्टि से परीक्षा कर कबीर के जीवनकाल की सामाजिक,राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों के संदर्भ में काव्य–सौष्ठव का विवेचन किया है और इस दृष्टि से वे कबीर को पहुचे हुए ज्ञानी कहते हैं। –'जैसे कबीर का जीवन संसार से ऊपर उठा हुआ था,वैसे ही उनका काव्य भी साधारण कोटि से ऊंचा है। अतएव सीखकर प्राप्त की हुई रसिकताको उनमें काव्यानन्द नहीं मिलता।' डा.पीताम्बरदास बड.थ्वाल ने भी इसी पद्धति का उपयोग किया है।

ऐतिहासिक पद्धति के द्वार कृति की व्याख्या का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रयास आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया है। उनका 'हिंदी साहित्य','हिंदी साहित्य की भूमिका','हिंदी का आदिकाल' आदि ऐतिहासिक पद्धति में साहित्य की व्याख्या के प्रयास हैं। आचार्य द्विवेदी जी के अनुसार किसी ग्रंथकार के अध्ययन के लिए चार बातों की जानकारी आवश्यक है–

1. वह किस काल में पैदा हुआ ,
2. वह किस जाति और समाज में पैदा हुआ,
3. उसके समसामयिक और पूर्ववर्ती अन्य प्रसिद्ध ग्रंथकार कौन–कौन थे; और उससे उसका कोई संबंध था या नहीं।
4. उसका व्यक्तिगत जीवन क्या और कैसा था?

इन विविध दृष्टियों के साथ ही एक और दृष्टि है जिसे सापेक्षतावादी समीक्षा कहते है।इस समीक्षा दृष्टि के अनुसार प्रत्येक कृति के प्रति प्रत्येकयुग द्वारा व्यक्त प्रतिक्रिया अपने देश–काल के प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष ऐतिहासिक शक्तियों को परिणाम हैं और इसलिए कृति की व्याख्या में उसके युग–विशेष में आलोचक को प्रविष्ट होना पड़ेगा।

मनोवैज्ञानिक अथवा मनोविश्लेष्णात्मक समीक्षा –पद्धतियां– बीसवीं शताब्दी के इतिहास में मनोविज्ञान और उससे प्रस्तुत ज्ञान की अनेक श्शाखा–प्रशाखाओं –मनोविश्लेषण शास्त्र,व्यवहारवादी मनोविज्ञान, बाल–मनोविज्ञान, जेस्टाल्ट मनोविज्ञान–के ज्ञान ने मानव–चिंतन को नई दिशा दी है। मनोवैज्ञानिक आधार पर डा नगेन्द्र ,इलाचंद्र जोशी,देवराज उपाध्याय आदि ने समीक्षा की है। इस सिद्धांत पर आधारित कृति की व्याख्या में तो मनोविज्ञान के सिद्धातों का उपयोग ,मनोविज्ञानिक पद्धति आवश्यक ही नही अनिवार्य हो जाती है। इनमे मनोविश्लेषण के आधार पर फ्रायड की साहित्यिक कृतियों की व्याख्या अधिक प्रेरक एवं आदर्श रही। हिंदी मे किसी कृति का सांगोपांग मनोविश्लेषणात्म व्याख्या का अभी अभाव ही है।

जीवनचरितात्मक समीक्षा–पद्धिति–दिवंगत अथवा जीवित कृतिकारों के जीवन–चरित के ज्ञात रहने पर भी उनकी कृतियों में उनके जीवन का साक्षात प्रतिफलन देखना इस

पद्धति की विडम्बना ही होगी। निराला को ही लेकर जीवन–चरित मूलक व्याख्या का प्रयास डा.गंगा प्रसाद पांडेय ने किया है। कुछ विद्वानों के अनुसार इस पद्धति का यह एक मात्र कार्य है। वस्तुतः इस दिशा में समीक्षकों क्रा न प्रवृति होने का पुमुख कारण न तो साध ारणीकरण का सिद्धांत है और न निवैयक्तिकता का दर्शन । पश्चिमी –साहितय समीक्षा में भी सांतव्यांव के बाद यह पद्धति अधि व्यवहृति न हो सकी और न इसे विशेष महत्व ही मिला।

प्रभाववादी समीक्षा–पद्धति–अब तक वर्णित समीक्षा–पद्धतियों में कृतिकार कृति की व्याख्या दृष्टि –विशेष से करता है। वह कृति जन्य प्रभाव को उसके आनन्द स्रोत होने से भले महत्व देता हो,किंतु वह व्याख्या का अंग मात्र होकर प्रकट होता है। प्रभाववादी समीक्षा में कृति तो मात्र संवेदना–प्रदान केन्द्र हैं आलोचक उससे प्राप्त प्रभाव को व्यक्त करे –चाहे यह प्रभाव और उस प्रभाव की अभिव्यक्ति परस्पर संबंद्ध प्रतीत हो या न हो। वह अपने भाव जगत में उठने वाले झंझाावातें का लेखनी द्वारा मार्ग प्रशस्त करता है।आचार्य श्शुक्ल और द्विवेदी ने जो प्रभाववादी समीक्षा का स्वरूप स्पष्ट किया है वह पश्चिमी प्रभावाभिव्यंजक समीक्षको –एनातोल फ्रांस और उसके अनुयायियों की समीक्षा पर आधारित है।प्रभाववादी समीक्षा में बाह्य प्रतिमानों की आवश्यकता नहीं पड़ती है और यहां भी जब आलोचक रचना की अनुभूति से प्राप्त आनंद की अभिव्यंजना करता है तो किसी बाह्य मूल्य का आरोप नही करता है।इसी से प्रभाववादी समीक्षा और प्रभाववादी पद्धति का अंतर केवल हिंदी समीक्षा में पश्चिमी आलोचना के प्रभाव को स्पष्ट करने के निमित प्रतिपादित व्यावहारिक एवं स्थूल अंतर है,तात्विक या सैद्धांतिक नही। हिंदी के अन्य प्रभाववादी समीक्षक भी पूर्णत बाह्य प्रतिमानों से मुक्त नहीं हो सके हैं और न कृति से संवेदनामात्र ग्रहण कर अपने प्रभाव की अभिव्यक्ति यथेच्छापूर्वक कर सके हैं।

इसके साथ ही हिंदी साहित्य की समीक्षा के क्षेत्र में टीका तथा तुलनात्मक समीक्षा पद्धति एवं आभासी समीक्षाएं भी हैं

3.7 इकाई सारांश/याद रखने की बातें

1. छायावादयुगीन हिन्दी समीक्षकों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का अवदान सम्पूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र में अप्रति स्थान का अधिकारी है।
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी दूसरे ऐसे आलोचक हैं, जिनकी आलोचनात्मक उपलब्धियाँ महत्वपूर्ण और संग्रहणीय हैं। 'हिन्दी–साहित्य की भूमिका' (1940) में उन्होंने आलोचना की ऐतिहासिक पद्धति की प्रतिष्ठा करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि किसी ग्रंथकार का स्थान निर्धारित करने के लिए क्रमागत सामाजिक, सांस्कृतिक एवं जातीय सातत्य को देखना आवश्यक है।

3. द्विवेदी जी का आधुनिक दृष्टिकोण और नवीन मानवतावाद रावीन्द्रिक मानवतावाद से बहुत दूर तक प्रभावित है, परन्तु वह उसकी प्रतिकृति नहीं है। रोमानियत से संपृक्त होते हुए भी वह एक हद तक उससे मुक्त है।

4. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के आलोचनात्मक कृतित्व में 'वाङ्मय–विमर्श', 'बिहारी की वाग्विभूति', 'हिन्दी–साहित्य का अतीत' (दो भाग) और 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं।

5. दूसरे मार्क्सवादी समीक्षक हैं प्रकाशचन्द्र गुप्त जिनकी 'नया हिन्दी–साहित्य' (1946), 'आधुनिक हिन्दी–साहित्य' (1950) और 'हिन्दी –साहित्य की जनवादी परंपरा' (1953) उनकी प्रमुख कृतिएँ हैं।

6. वस्तुतः मार्क्सवादी आलोचकों में डॉ. रामविलास शर्मा की दृष्टि सबसे अधिक पैनी, स्वच्छ और तलस्पर्शी है। 'प्रगति और परंपरा' (1948), 'प्रतिशील साहित्य की समस्याएँ' (1954), 'आस्था और सौंदर्य' (1956) आदि उनके उल्लेखनीय निबंध–संग्रह हैं।

7. साहित्यालोचन की समस्याओं पर जितने गहन अध्ययन और विस्तार के साथ आलोच्य युग में विचार–विमर्श किया गया, उतना छायावाद युग या उसके पूर्व नहीं हुआ था।

8. डॉ. रामविलास शर्मा ने हिन्दी–भाषा और साहित्य की गौरवशाली परंपराओं का अनुसंधान करते हुए नवीन आलोचनादृष्टि का विकास किया। वे मार्क्सवाद की समीक्षा का उपयोग अपने ढंग से करते हैं। मार्क्सवाद के प्रगतिशील तत्वों का उपयोग उन्होंने आलोचना में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचनादृष्टि के समर्थन और ग्रहण के साथ किया।

9. सृजनधर्मिता का आधार रचना और रचनाकार से अधिक अगर किसी पर आधारित होती है तो उसके प्रेमी पाठकों पर है। कवि या रचनाकार से अधिक उसका पाठक और उसकी दृष्टि एक ऐसा पैमाना है जो रचना को कालजयी बनाता है। उसके मूल्य एवं अवमूल्यन के लिए जिम्मेदार होता है।

10. हिंदी आलोचना की यात्रा संस्कृत आलोचना से प्रारंभ होकर तमाम विदेशी साहित्यिक आलोचनओं का सानिध्य ,संसर्ग प्राप्त कर अपने को पुष्ट किया है।

11. आज हिंदी साहित्य आलोचना अपने संस्कृति साहित्य की आलोचना पद्धति से चलकर आलोचना के अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य–चिंतन से सवंर्द्धित और पुष्ट हो रहा है। साहित्य संस्कृत काव्यशास्त्रीय वृत्त से निकलकर पश्चिम के साहित्य और उनकी आलोचनात्मक पद्धतियों और दृष्टियों से संवलित होकर आधुनिक मानव के भावों और विचारों को संवेदना के स्तर पर उजागर करने में प्रवृत साहित्य के विवेचन–विश्लेषण और मूल्यांकन में सक्षम बन सका है।

12. अंग्रेजी के 'क्रिटिसिजम'शब्द के समानार्थक समालोचना, आलोचना ,समीक्षा आदि शब्द हिंदी में व्यवहार में पाये जाते हैं। भारतीय परंपरा की समीक्षा पद्यति में ये शब्द प्रायः पश्चिमी आलोचना के संपर्क से आये हैं।और इन्होंने भारतीय परंपरा के शब्द'शास्त्र'का स्थान ले लिया।

13. डा.उदयभानु सिंह के शब्दों में,''रचना के विषय के इतिहास, सौन्दर्य--सिद्धांत, रचनाकार की जीवनी आदि की दृष्टि से रचना के गुण--दोष और रचनाकार की अन्तर्वृतियों तथा प्रवृतियों का सूक्ष्म विवेचन'' माना जा सकता है। दृष्टि से साहित्य के लालित्य बोध ा कराने वाले उपादानों के गुणों एवं मूल्यों का परीक्षण, साहित्य--सिद्धांतों का प्रतिपादन और कृति के आस्वादन की क्षमता का विकास--ये समीक्षा के तीन प्रमुख लक्ष्य हैं।

14. साथ ही जैसा रेनी वेलेक ने लिखा है,''आलोचना अपने विशिष्ट अर्थ में केवल व्यक्तिगत लेखक या पुस्तक की आलोचना के निमित्त प्रयुक्त न होकर व्यापक अर्थ में निर्णयात्मक समीक्षा,व्यवहारिकसमीक्षा,साहित्यिक अभिरुचि,तथा अद्यावधि प्रमुखतः प्रचलित साहित्य--सिद्धान्तों ,इनकी प्रकृति और साहित्य सृजन ,कार्य ,प्रभाव तथा मानव के अन्य कार्यो के साथ इनके संबंध,भेद,साधन,शिल्प,उद्भव, इतिहास आदि के विषय में चिंतन को बोधगम्य बनाती है।''

15. कृतियों के मूल्यांकन का ही लक्ष्य व्यावहारिक समीक्षा का न होकर उनकी व्याख्या,कृतिकारों के विचारों ,संवेदनाओं ,कृति के विश्लेषण से उसके सौंदर्य का उद्घाटन आदि भी है।

16. आलोचना के त्रिविध स्वरूपों को प्रायः पश्चिमी आलोचना और साहित्य--चिंतन के आध ार पर देखने का प्रयास किया जाता है।इसीलिए यह माना जाता है कि हिंदी आलोचना की आधुनिक प्रवृतियां पश्चिमी आलोचना की विभिन्न कालधर्मी प्रवृतियों से प्रभावित हैं।

17. समीक्षकों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का अवदान सम्पूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र में अप्रतिम स्थान का अधिकारी है। सर्वांगीण आलोचक की विचार सरणि से हिन्दी--आलोचना का प्रभावित न होना आश्चर्यजनक होता है

18. हजारी प्रसाद द्विवेदी दूसरे ऐसे आलोचक हैं, जिनकी आलोचनात्मक उपलब्धियाँ महत्वपूर्ण और संग्रहणीय हैं। 'हिन्दी--साहित्य की भूमिका' (1940) में उन्होंने आलोचना की ऐतिहासिक पद्धति की प्रतिष्ठा करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि किसी ग्रंथकार का स्थान निर्धारित करने के लिए क्रमागत सामाजिक, सांस्कृतिक एवं जातीय सातत्य को देखना आवश्यक है।

19. द्विवेदी जी का आधुनिक दृष्टिकोण और नवीन मानवतावाद रावीन्द्रिक मानवतावाद से बहुत दूर तक प्रभावित है, परन्तु वह उसकी प्रतिकृति नहीं है। रोमानियत से संपृक्त होते हुए भी वह एक हद तक उससे मुक्त है।

20. डॉ. नगेन्द्र ने हिन्दी– आलोचना को व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक दोनों दृष्टियों से सवंर्द्धित किया है। वे रसवादी आलोचक हैं।

21. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के आलोचनात्मक कृतित्व में 'वाङ्मय–विमर्श', 'बिहारी की वाग्विभूति', 'हिन्दी–साहित्य का अतीत' (दो भाग) और 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं।

22. मार्क्सवादी आलोचनाः मार्क्सवादी समीक्षा के पक्षधरों में सर्वप्रथम शिवप्रसाद चौहान का नाम आता है। 'प्रगतिवाद' (1946), 'साहित्य की परख' (1948), 'आलोचना के मान' (1958), 'साहित्य की समस्याएँ' (1959) और 'साहित्यानुशीलन' उनके प्रमुख समीक्षा–ग्रंथ हैं,

23. इस संदर्भ में दूसरे उल्लेखनीय समीक्षक हैं प्रकाशचन्द्र गुप्त। 'नया हिन्दी–साहित्य' (1946), 'आधुनिक हिन्दी–साहित्य' (1950) और 'हिन्दी –साहित्य की जनवादी परंपरा' (1953) उनकी प्रमुख कृतिएँ हैं,

24. वस्तुतः मार्क्सवादी आलोचकों में डॉ. रामविलास शर्मा की दृष्टि सबसे अधिक पैनी, स्वच्छ और तलस्पर्शी है। 'प्रगति और परंपरा' (1948), 'प्रतिशील साहित्य की समस्याएँ' (1954), 'आस्था और सौंदर्य' (1956) आदि उनके उल्लेखनीय निबंध–संग्रह हैं।

25. साहित्यालोचन की समस्याओं पर जितने गहन अध्ययन और विस्तार के साथ आलोच्य युग में विचार–विमर्श किया गया, उतना छायावाद युग या उसके पूर्व नहीं हुआ था।

26. रचनाकार की सृजनशीलता के साथ ही समीक्षात्मक वृति लगातार सक्रिय रहती है।ये समीक्षात्मक प्रवृतियां कवि की काव्य–संबंधी दृष्टियों एवं समकालीन जीवित साहित्यिक परंपराओंएवं सामाजिक ,राजनीतिक,दार्शनिक,सांस्कृतिक परिस्थितियों से अनुप्राणित रहती हैं।

27. संस्कृत काव्यसास्त्र से प्रभावित काल में हिंदी साहित्य–शास्त्र का अपना कोई पृथक् स्वरूप दिखलाई नहीं देता ।

28. संक्षेप में, आधुनिक हिन्दी साहित्य एवं आलोचना युगीन परिस्थितियों के कारण भारतीय परम्परा एवं पाश्चात्य साहित्य के बीच सेतू का काम किया। हिन्दी में अनुवाद द्वारा इस प्रभाव क्षेत्र में आलोचना को अधिक सार्थकता मिला।

29. डॉ. श्यामसुन्दर दास– परिचयात्मक प्रवृत्ति के समीक्षक हैं इनकी समीक्षा संबंधी दो

कृतिया 'रूपक–रहस्य' तथा 'साहित्यालोचन' परिचयत्माक सहित्यालोचन का ऐतिहासिक महत्व है।

30. डॉ. रामविलास शर्मा ने हिन्दी–भाषा और साहित्य की गौरवशाली परंपराओं का अनुसंधान करते हुए नवीन आलोचनादृष्टि का विकास किया।

31. नवलेखन, नई कविता और समसामयिक कविता के विशिष्ट आलोचकों में रामस्वरूप चतुर्वेदी, लक्ष्मीकांत वर्मा, शमशेरबहादुर सिंह, जगदीश गुप्त, मलयज, धर्मवीर भारती, गिरिरज माथुर आदि के नाम उभर का सामने आए हैं।

32. मार्क्सवादी समीक्षा के प्रतिनिधि आलोचकों में आज दो नाम हैं– रमेश कुंतलमेघ और नेमिचन्द्र जैन।

33. आलोचना के इस दौर में डॉ. बच्चन सिंह ने 'आधुनिक हिन्दी–आलोचना के बीजशब्द' (1983), 'साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद' तथा 'आधुनिक हिन्दी–साहित्य का इतिहास' लिखकर महत्वपूर्ण कार्य किया है।

34. डॉ. रामविलास शर्मा का पहला आलोचनात्मक लेख 'निराला जी की कविता' (1934) में प्रकाशित हुआ और उनकी पहली आलोचना–पुस्तक 'प्रेमचन्द (1941) में प्रकाशित हुई।

35. डॉ. रामविलास शर्मा की आलोचना के दो रूप हैं: एक, खंडनात्मक और दूसरा, मंडनात्मक। अपनी खंडनात्मक आलोचना में वे निरंतर लड़ाई लड़ते रहे। उन्होंने अपने, अपनों के और मार्क्सवाद के विरोधियों को कभी बख्शा नहीं।

36. मूल्यों के दो रूप हमारे सामने आते हैं–बाह्यगत तथा अंतरिक। बाह्गत के दो रूप आते हैं–साहित्य–शास्त्रीय तथा साहित्य एवं जीवन प्रसूत।

37. भट्ट जी पर पश्चिमी समीक्षा के व्यावहारिक पद्धतियों का प्रभाव तो था ही साथ ही वे उनमें प्रयुक्त विभिन्न पारिभाषिक शब्दों से भी परिचित थे और उनका प्रयोग अपनी समीक्षा में करते थे।उदाहरण के लिए 'कैरेक्ट्राइजेशन'का प्रयोग कुछ इस प्रकार करते हैं–''हमने जहां तक नाटक देखे उनमें पात्रों की व्यक्ति(कैरेक्ट्राइजेशन) के भिन्न–भिन्न होने से नाटक की शोभा देखी पर आपके पात्र सबके सब एक ही रस में सम उपदेश देने में लथर–पथर पाये जाते हैं।''

39. आंतरिक मूल्यांकन का प्रयोग हिंदी समालोचना मे पश्चिम की ही देन है।कृति के आध ार पर आंन्तरिक मूल्यों को आधार बना कर कार्य करने वाले आचार्य हैं–नंददुलारे वाजपेयी।

40. व्याख्यात्मक आलोचना–पद्यतियां– व्याख्या का मूल उद्देश्य आलोच्य कृति या कवि के पात्पर्य को स्पष्ट करना तथा उसे सर्वजनसुलभ बनाना। इस कार्य में वह मूल्यांकन

की ओर प्रवृत न होकर व्याख्या को ही अपना लक्ष्य बनाता है।

41 ऐतिहासिक पद्धति के द्वार कृति की व्याख्या का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रयास आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया है।

42. मनोवैज्ञानिक अथवा मनोविश्लेष्णात्मक समीक्षा –पद्धतियां– बीसवीं शताब्दी के इतिहास में मनोविज्ञान और उससे प्रस्तुत ज्ञान की अनेक श्शाखा–प्रशाखाओं –मनोविश्लेषण शास्त्र, व्यवहारवादी मनोविज्ञान, बाल–मनोविज्ञान, जेस्टाल्ट मनोविज्ञान–के ज्ञान ने मानव–चिंतन को नई दिशा दी है। मनोवैज्ञानिक आधार पर डा नगेन्द्र ,इलाचंद्र जोशी,देवराज उपाध्याय आदि ने समीक्षा की है।

3.8 अपनी प्रगति की जांच–

1. पश्चिमी आलोचना का हिंदी आलोचना पर प्रभाव बताइये।
2. हिंदी आलोचना के उद्‌भव और विकास पर प्रकाश डालिए।
3. आचार्य रामचंद्रशुक्ल की आलोचना दृष्टि को स्पष्ट करें
4. भारतीय आलोचना पर मार्क्स का प्रभाव बताइये।
5. हिंदी आलोचना का सैद्धतिक पक्ष बताइये
6. व्याख्यात्मक आलोचना की पद्धतियां बताइये।
7. निम्न पर टीप दें–
   1. ऐतिहासिक समीक्षा–पद्धति
   2. जीवनचरितात्मक समीक्षा पद्धति
   3. मनोवैज्ञानिक आलोचना
   4. हिंदी नाट्य आलोचना
   5. सौन्दर्यवादी समीक्षा

(अ) वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर चुनिएं–

3. 'हिंदी साहित्य:बीसवीं शताब्दी'–किसकी कृति है ?
   (क) नंददुलारे वाजपेयी (ख) रामकुमार वर्मा (ग) रामचंद्रशुक्ल
2. बिहारी सतसई की भूमिका'–किसकी कृति है ?
   (क) पद्मसिंह शर्मा (ख) रामकुमार वर्मा (ग) रामचंद्रशुक्ल
3. 'नया साहित्य :नए प्रश्न'–किसकी कृति है ?
   (क) नंददुलारे वाजपेयी (ख) रामकुमार वर्मा (ग) रामचंद्रशुक्ल
4. 'संस्कृति के चार अध्याय'–किसकी कृति है ?

(क) दिनकर (ख) रामकुमार वर्मा (ग) रामचंद्रशुक्ल

5. 'पूर्वोदय'–किसकी कृति है ?
(क) जैनेन्द्र (ख) रामकुमार वर्मा (ग) रामचंद्रशुक्ल

6. 'भारतेन्दु युग और हिंदी भाषा की विकास परंपरा' किसकी कृति है ?
(क) रामविलासशर्मा (ख) रामकुमार वर्मा (ग) रामचंद्रशुक्ल

7. 'रस–मीमांसा'–किसकी कृति है ?
(क) जैनेन्द्र (ख) रामकुमार वर्मा (ग) रामचंद्रशुक्ल

8. 'शुद्ध कविता की खोज' किसकी कृति है ?
(क) डा.नगेन्द्र (ख) रामकुमार वर्मा (ग) रामचंद्रशुक्ल

9. 'दूसरी परंपरा की खोज' किसकी कृति है ?
(क) नामवर सिंह (ख) रामकुमार वर्मा (ग) रामचंद्रशुक्ल

10. 'आत्मनेपद' किसकी कृति है ?
(क) अज्ञेय (ख) रामकुमार वर्मा (ग) रामचंद्रशुक्ल

11. 'समय और हम'– किसकी कृति है ?
(क) जैनेन्द्र (ख) रामकुमार वर्मा (ग) रामचंद्रशुक्ल

12. 'हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास'– किसकी कृति है ?
(क) भागीरथ मिश्र (ख) रामकुमार वर्मा (ग) रामचंद्रशुक्ल

13. 'छायावाद' का पतन– किसकी कृति है ?
(क) देवराज (ख) रामकुमार वर्मा (ग) रामचंद्रशुक्ल

14. 'लोकदृष्टि और साहित्य'– किसकी कृति है ?
(क) चन्दबली पाण्डेय (ख) रामकुमार वर्मा (ग) रामचंद्रशुक्ल

15. 'कविता के नए प्रतिमान'– किसकी कृति है ?
(क) नामवर सिंह (ख) रामकुमार वर्मा (ग) रामचंद्रशुक्ल

16. 'नई कविता के प्रतिमान'– किसकी कृति है ?
(क) लक्ष्मीकांत वर्मा (ख) रामकुमार वर्मा (ग) रामचंद्रशुक्ल

17. 'मानव मूल्य और साहित्य'– किसकी कृति है ?
(क) धर्मवीर भारती (ख) रामकुमार वर्मा (ग) रामचंद्रशुक्ल

18. 'मंथन'– किसकी कृति है ?

(क) जैनेन्द्र (ख) रामकुमार वर्मा (ग) रामचंद्रशुक्ल

19. 'मध्यकालीन बोध का स्वरूप'– किसकी कृति है ?

(क) हजारीप्रसादद्विवेदी (ख) रामकुमार वर्मा (ग) रामचंद्रशुक्ल

20. 'कामायनी:एक पुर्नविचार'– किसकी कृति है ?

(क) मुक्तिबोध (ख) रामकुमार वर्मा (ग) रामचंद्रशुक्ल

21. 'छायावाद'– किसकी कृति है ?

(क) नामवर सिंह (ख) रामकुमार वर्मा (ग) रामचंद्रशुक्ल

22. 'लघुमानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस'– किसकी कृति है ?

(क) विजयदेवनारायण'साही' (ख) नगेन्द (ग) जैनेन्द्र

23. 'निराला की साहित्य साधना'– किसकी कृति है ?

(क) रामविलासशर्मा (ख) नगेन्द (ग) जैनेन्द्र

24. 'तुलसीदास और उनकी कविता' – किसकी कृति है ?

(क) रामनरेश त्रिपाठी (ख) नगेन्द (ग) जैनेन्द्र

25. 'गद्यपथ'– किसकी कृति है ?

(क) पंत (ख) नगेन्द (ग) जैनेन्द्र

26. 'छायावाद पुनर्मूल्यांकन' –– किसकी कृति है ?

(क) पंत (ख) नगेन्द (ग) जैनेन्द्र

27. 'साहित्य का उद्देश्य' –– किसकी कृति है ?

(क) प्रेमचंद (ख) नगेन्द (ग) जैनेन्द्र

28. 'आधुनिक काव्य: निराला और विचार' –– किसकी कृति है ?

(क) नंददुलारे वाजपेयी (ख) नगेन्द (ग) जैनेन्द्र

29. 'वाद–विवाद–संवाद' –– किसकी कृति है ?

(क) रामदहिन मिश्र (ख) नगेन्द (ग) जैनेन्द्र

30. 'बकलम खुद'– किसकी कृति है ?

(क) चंद्रबली पाण्डेय (ख) नगेन्द (ग) जैनेन्द्र

31. 'नवरस' –– किसकी कृति है ?

(क) मिश्र बंधु (ख) नगेन्द (ग) जैनेन्द्र

32. 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' –– किसकी कृति है ?

(क) भगीरथ मिश्र (ख) नगेन्द (ग) जैनेन्द्र

33. 'नई कविता स्वरूप और समस्याएं'–किसकी कृति है ?
(क) नेमिचंद जैन (ख) नगेन्द (ग) जैनेन्द्र

34. 'अधूरे साक्षात्कार'–– किसकी कृति है ?
(क) नेमिचंद जैन (ख) नगेन्द (ग) जैनेन्द्र

35. 'हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास' किसकी कृति है ?
(क) रामस्वरूप चतुर्वेदी (ख) नगेन्द (ग) जैनेन्द्र

36. 'पंत,प्रसाद और मैथिलीशरण' किसकी कृति है ?
(क) दिनकर (ख) नगेन्द (ग) जैनेन्द्र

37. 'त्रिशंकु' किसकी कृति है ?
(क) अज्ञेय (ख) नगेन्द (ग) जैनेन्द्र

38. 'अद्यतन' किसकी कृति है ?
(क) अज्ञेय (ख) नगेन्द (ग) जैनेन्द्र

39. 'एक साहित्यिक की डायरी' किसकी कृति है ?
(क) मुक्तिबोध (ख) नगेन्द (ग) जैनेन्द्र

40. 'संवत्सर' किसकी कृति है ?
(क) अज्ञेय (ख) नगेन्द (ग) जैनेन्द्र

41. 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और जागरण' किसकी कृति है ?
(क) नेमिचंद जैन (ख) नगेन्द (ग) रामविलासशर्मा

42. 'भाषा और समाज'–किसकी कृति है ?
(क) नेमिचंद जैन (ख) रामविलासशर्मा (ग) जैनेन्द्र

43. 'साकेत एक अध्ययन'– किसकी कृति है ?
(क) महावीर प्रसाद द्विवेदी (ख) नगेन्द (ग) जैनेन्द्र

44. 'विचार और अनुभूति'–किसकी कृति है ?
(क) नेमिचंद जैन (ख) नगेन्द्र (ग) जैनेन्द्र

45. 'प्रकीर्णिका'– किसकी कृति है ?
(क) नंददुलारे वाजपेयी (ख) नगेन्द (ग) धीरेन्द्रवर्मा

46. 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग'– किसकी कृति है ?

(क) नंददुलारे वाजपेयी (ख) नगेन्द (ग) नामवर सिंह

47. 'शब्द और स्मृति'– किसकी कृति है ?
(क) नंददुलारे वाजपेयी (ख) निर्मलवर्मा (ग) नामवर सिंह

48. 'छायावाद की प्रासंगिकता'– किसकी कृति है ?
(क) रमेश चंद्रशाह (ख) निर्मलवर्मा (ग) नामवर सिंह

49. निम्न में से कौन रसवादी आलोचक है?
(क) नंददुलारे वाजपेयी (ख) नगेन्द (ग) नामवर सिंह

50. 'कबीर' किसकी आलोचनात्मक कृति हैद्य
(क) नंददुलारे वाजपेयी (ख) नगेन्द (ग) हजारी प्रसाद

51. किस आलोचक को सौष्ठववादी,सौंदर्यवादी,आलोचक कहा जाता है ?
(क) नंददुलारे वाजपेयी (ख) नगेन्द (ग) हजारी प्रसाद

52. निम्न में से कौन–सी नगेन्द्र की आलोचनात्मक कृति नहीं है?
(क) रीतिकाव्य की भूमिका (ख) सिद्धांत और अध्ययन (ग) विचार और अनुभूति

53. निम्न में से कौन मार्क्सवादी आलोचक नहीं हैं ?
(क) प्रकाशचंद्र गुप्त (ख) रामविलाशर्मा (ग) अज्ञेय

54. 'हिंदी साहित्य की जनवादी परंपरा' के रचयिता हैं?
(क) प्रकाशचंद्र गुप्त (ख) रामविलाशर्मा (ग) अज्ञेय

55. 'आस्था और सौन्दर्य' के लेखक हैं ?
(क) प्रकाशचंद्र गुप्त (ख) रामविलाशर्मा (ग) अज्ञेय

56. 'साहित्य संतरण' के लेखक हैं ?
(क) प्रकाशचंद्र गुप्त (ख) इलाचंद जोशी (ग) अज्ञेय

57. 'नई कविता का अत्मसंघर्ष'– के लेखक हैं ?
(क) मुक्तिबोध (ख) रामविलाशर्मा (ग) अज्ञेय

(अ) वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर –

1. हिंदी साहित्यःबीसवीं शताब्दी'–किसकी कृति है ?
(क) नंददुलारे वाजपेयी

2. बिहारी सतसई की भूमिका'–किसकी कृति है ?
(क) पद्यसिंह शर्मा

3. नया साहित्य :नए प्रश्न'--किसकी कृति है ?
(क) नंददुलारे वाजपेयी
4. संस्कृति के चार अध्याय'--किसकी कृति है ?
(क) दिनकर
5. 'पूर्वोदय'--किसकी कृति है ?
(क) जैनेन्द्र
6. 'भारतेन्दु युग और हिंदी भाषा की विकास परंपरा' किसकी कृति है ?
(क) रामविलासशर्मा
7. 'रस–मीमांसा'–किसकी कृति है ?
(ग) रामचंद्रशुक्ल
8. 'शुद्ध कविता की खोज' किसकी कृति है ?
(क) डा.नगेन्द्र
9. 'दूसरी परंपरा की खोज' किसकी कृति है ?
(क) नामवर सिंह
10. 'आत्मनेपद' किसकी कृति है ?
(क) अज्ञेय
11. 'समय और हम'– किसकी कृति है ?
(क) जैनेन्द्र
12. 'हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास'– किसकी कृति है ?
(क) भागीरथ मिश्र
13. 'छायावाद' का पतन– किसकी कृति है ?
(क) देवराज
14. 'लोकदृष्टि और साहित्य'– किसकी कृति है ?
(क) चंन्दबली पाण्डेय
15. 'कविता के नए प्रतिमान'– किसकी कृति है ?
(क) नामवर सिंह
16. 'नई कविता के प्रतिमान'– किसकी कृति है ?
(क) लक्ष्मीकांत वर्मा

17. 'मानव मूल्य और साहित्य'– किसकी कृति है ?
(क) धर्मवीर भारती

18. 'मंथन'– किसकी कृति है ?
(क) जैनेन्द्र

19. 'मध्यकालीन बोध का स्वरूप'– किसकी कृति है ?
(क) हजारीप्रसादद्विवेदी

20 .'कामायनी:एक पुर्नविचार'– किसकी कृति है ?
(क) मुक्तिबोध

21. 'छायावाद'– किसकी कृति है ?
(क) नामवर सिंह

22. 'लघुमानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस'– किसकी कृति है ?
(क) विजयदेवनारायण'साही'

23. 'निराला की साहित्य साधना'– किसकी कृति है ?
(क) रामविलासशर्मा

24. 'तुलसीदास और उनकी कविता' – किसकी कृति है ?
(क) रामनरेश त्रिपाठी

25. 'गद्यपथ'– किसकी कृति है ?
(क) पंत

26. 'छायावाद पुनर्मूल्यांकन' –– किसकी कृति है ?
(क) पंत

27. 'साहित्य का उद्देश्य' –– किसकी कृति है ?
(क) प्रेमचंद

28. 'आधुनिक काव्य: निराला और विचार' –– किसकी कृति है ?
(क) नंददुलारे वाजपेयी

29. 'वाद–विवाद–संवाद' –– किसकी कृति है ?
(क) रामदहिन मिश्र

30. 'बकलम खुद'– किसकी कृति है ?
(क) चंद्रबली पाण्डेय (ख)नगेन्द(ग) जैनेन्द्र

31. 'नवरस' — किसकी कृति है ?
(क) मिश्र बंधु

32. 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' — किसकी कृति है ?
(क) भगीरथ मिश्र

33. 'नई कविता स्वरूप और समस्याएं'–किसकी कृति है ?
(क) नेमिचंद जैन

34. 'अधूरे साक्षात्कार'— किसकी कृति है ?
(क) नेमिचंद जैन

35. 'हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास' किसकी कृति है ?
(क) रामस्वरूप चतुर्वेदी

36. 'पंत,प्रसाद और मैथिलीशरण' किसकी कृति है ?
(क) दिनकर

37. 'त्रिशंकु' किसकी कृति है ?
(क) अज्ञेय

38. 'अद्यतन' किसकी कृति है ?
(क) अज्ञेय

39. 'एक साहित्यिक की डायरी' किसकी कृति है ?
(क) मुक्तिबोध

40. 'संवत्सर' किसकी कृति है ?
(क) अज्ञेय

41. 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और जागरण' किसकी कृति है ?
(ग) रामविलासशर्मा

42. 'भाषा और समाज'–किसकी कृति है ?
(ख) रामविलासशर्मा

43. 'साकेत एक अध्ययन'– किसकी कृति है ?
(क) महावीर प्रसाद द्विवेदी

44. 'विचार और अनुभूति'–किसकी कृति है ?
(ख) नगेन्द्र

45. 'प्रकीर्णिका'– किसकी कृति है ?

(क) नंददुलारे वाजपेयी

46. 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग'– किसकी कृति है ?

(ग) नामवर सिंह

47. 'शब्द और स्मृति'– किसकी कृति है ?

(ख) निर्मलवर्मा

48. 'छायावाद की प्रासंगिकता'– किसकी कृति है ?

(क) रमेश चंद्रशाह

49. निम्न में से कौन रसवादी आलोचक है?

(ख) नगेन्द

50. 'कबीर' किसकी आलोचनात्मक कृति हैद्य

(ग) हजारी प्रसाद

51. किस आलोचक को सौष्ठववादी,सौंदर्यवादी,आलोचक कहा जाता है ?

(क) नंददुलारे वाजपेयी

52. निम्न में से कौन–सी नगेन्द्र की आलोचनात्मक कृति नहीं है?

(ख) सिद्धांत और अध्ययन

53. निम्न में से कौन मार्क्सवादी आलोचक नहीं हैं ?

(ग) अज्ञेय

54. 'हिंदी साहित्य की जनवादी परंपरा' के रचयिता हैं?

(क) प्रकाशचंद्र गुप्त

55. 'आस्था और सौन्दर्य' के लेखक हैं ?

(ख) रामविलाशर्मा

56. 'साहित्य संतरण' के लेखक हैं ?

(ख) इलाचंद जोशी

57. 'नई कविता का अत्मसंघर्ष'– के लेखक हैं ?

(क) मुक्तिबोध

3.9 चर्चा और स्पष्टीकरण के बिन्दु छात्र स्वयं निकालें

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3.10 आगे की पढाई

1. आलोचना :इतिहास तथा अध्ययन–डा. एस.पी.खत्री
4. समीक्षाशास्त्र– डा.दशरथ ओझा
5. समीक्षाशास्त्र– आचार्य सीताराम चतुर्वेदी
6. साहित्य–सिद्धांत–रामअवा द्विवेदी
7. आधुनिकहिंदी साहित्य में आलोचना का विकास
8. हिंदी आलोचना उद्‌भव और विकास–डा भगतवस्वरूप मिश्र
9. हिंदी साहित्य का इतिहास–रामचंद्रशुक्ल
10. हिंदी नवलेखन–डा रामस्वरूप चतुर्वेदी

45

Note

वाग्देवीं तामुपास्महे

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय

राजा भोज मार्ग, कोलार रोड, भोपाल462 016
फोन : +917552424660, फैक्स : +917552424640
वेबसाइट : www.bhojvirtualuniversity.com